महामाहेश्वरश्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्यविरचितः

श्रीतन्त्रालोकः

व्याख्याद्वयोपेतः

[षष्ठो भागः]

कुलपतेः डॉ. मण्डनमिश्रस्य प्रस्तावनया समलङ्कृतः

हिन्दीभाष्यकारःसम्पादकश्च

डॉ. परमहंसमिश्रः 'हंसः

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः

वाराणसी

YOGATANTRA-GRANTHAMĀLĀ

[Vol. 17]

ŚRĪTANTRĀLOKA

OF

MAHĀMĀHEŚVARA ŚRĪ ABHINAVAGUPTAPĀDĀCĀRYA

[PART SIX]

With Two Commentaries

'VIVEKA'

BY

ĀCĀRYA ŚRĪ JAYARATHA

'NĪRAKSĪRAVIVEKA'

BY

DR. PARAMHANS MISHRA 'HANS'

FOREWORD BY

DR. MANDAN MISHRA

VICE-CHANCELLOR

EDITED BY

DR. PARAMHANS MISHRA 'HANS'

VARANASI

1998

Research Publication Supervisor—
Director, Research Institute
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi.

□

Published by—
Dr. Harish Chandra Mani Tripathi
Publication Officer,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221 002.

□

Available at—
Sales Department,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221 002.

□

First Edition, 1000 Copies
Price Rs. 180. 00

□

Printed by—
VIJAYA PRESS,
Sarasauli, Bhojubeer
Varanasi.

योगतन्त्र-ग्रन्थमाला

[१७]

महामाहेश्वरश्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्यविरचितः

श्रीतन्त्रालोकः

[षष्ठो भागः]

श्रीमदाचार्यजयरथकृतया

'विवेक'व्याख्यया

डॉ० परमहंसमिश्रकृतेन

'नीरक्षीरविवेक'-हिन्दीभाष्येण

कुलपतेः डॉ०मण्डनमिश्रस्य प्रस्तावनया च समलङ्कृतः

सम्पादकः

डॉ० परमहंसमिश्रः 'हंसः'

वाराणस्याम्

२०५५ तमे वैक्रमाब्दे १९२० तमे शकाब्दे १९९८ तमे खैस्ताब्दे

अनुसन्धान-प्रकाशन-पर्यवेक्षकः —
निदेशकः, अनुसन्धान-संस्थानस्य
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालये
वाराणसी ।

प्रकाशकः —
डॉ० हरिश्चन्द्रमणित्रिपाठी
प्रकाशनाधिकारी,
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य
वाराणसी–२२१ ००२.

□

प्राप्ति-स्थानम् —
विक्रय-विभागः,
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य
वाराणसी–२२१ ००२.

□

प्रथमं संस्करणम्, १००० प्रतिरूपाणि
मूल्यम्—१८०=०० रूप्यकाणि

□

मुद्रकः —
विजय-प्रेस
सरसौली, भोजूबीर
वाराणसी

प्रस्तावना

शैवागमवाङ्मये स्वात्मख्यातेरर्थवत्तां चरितार्थयन् अर्चिष्मानिवार्चिषां राशिं प्रसारयन् सर्वत्र साम्प्रतमपि विद्योतते श्रीतन्त्रालोकः। स्वात्मसंविद्वपुषः परमेश्वरस्य परमशिवस्यानुत्तरत्वं जीवेऽपि सामान्यतयैवेति समुद्घोषयन् तस्मिन्नेव सर्वम्, स एव सर्वम्, सर्वमयश्च स एवेति सिद्धान्तयन् शिवसामरस्यपीयूषरसेनाद्यापि विश्वमभिषिञ्चतीति सौभाग्यमेवास्माकं सर्वेषामिति।

श्रीतन्त्रालोकस्य संरचयितारो महामाहेश्वराचार्या विश्वविश्रुताः शैवागमिकशिरोमणयः पञ्चमुखगुप्तहृदयांशा विमलकलालालसालालिता-स्तदुभययामलभावविसर्गोदितगभस्तिगौरवाः सब्रह्मचारिशिष्यैः प्रार्थिताः श्रीतन्त्रालोकालोकमयीमिमां पूर्णार्थां प्रक्रियां प्रवर्त्तितवन्त इति।

एतेषां प्रातिभप्रभाभास्वरतां समवलोक्य शक्यते वक्तुं यदभिनवगुप्तप्रज्ञायाः पारं वेत्ति केवलं संवित्तिशक्तिरेव यथार्थतयेति तां संवित्तिं च केवलमिमे मनीषिण एव विदन्ति नान्य इति। शैवाद्वयभावसंविभूषितां सर्वातिशायिनीं भावभूमिं साधनया स्वात्मसात्कृत्य स्वयमप्यवाप्य संविद्वपुष्ट्वं पारमैश्वर्यमेते सोमानन्दोत्पलदेवदिव्यपरम्परायां पारिवृढ्यं संवहन्तः प्रज्ञापुरुषानद्याप्यतिशेरते, नात्र संशीतिलेशः।

विश्वविश्रुता देशिकचक्रचूडामणय एते कश्मीरे आजीवनं सुखं श्वसन्तश्चत्वारिंशदधिकगौरवग्रन्थान् सङ्ग्रथयन्तो न केवलं तन्त्रशास्त्र एव वैचक्षण्यम्, अपि तु साहित्यशास्त्रेऽपि शैवसिद्धान्तसामरस्यदर्शननिश्च्योतरूपं रसतत्त्वं प्रतिष्ठाप्य स्वात्मनः प्रामाण्यं प्रथयाञ्चक्रुः।

एतादृशमहर्षिमहितानां पारदृश्वनां श्रीतन्त्रालोकनाम्नी शैवीयं संहिता सम्प्रति पारमहंस्यं स्पृशति। **डॉ० परमहंसमिश्रप्रवर्तित-नीरक्षीरविवेक-**भाष्यभूषिता वाराणसीस्थसम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयतः प्राकाश्यमेति क्रमिकतयेति हर्षस्य विषयः। तत्र क्रमे षष्ठोऽयं भागः प्रकाशितः प्रकाशयति च प्रत्यभिज्ञादिप्रथितप्रथामिति। नेदीयस्येव कालकलाशकले सप्तमोऽपि भागः प्राकाश्यमानेतुं तत्परोऽस्तीत्यध्यवसायशीलो हंसाभिधोऽयं साधकः साधुवादैः सभाज्यतेऽस्माभिरिति। अहमस्य ग्रन्थस्य प्रकाशनप्रसङ्गे विश्व-विद्यालयस्यास्य प्रकाशनाधिकारिणे **डॉ० हरिश्चन्द्रमणित्रिपाठिने,** ग्रन्थस्यास्य मुद्रकाय 'विजय-प्रेस' इत्याख्ययन्त्रालयसञ्चालकाय **श्रीगिरीशचन्द्राय** च शुभाशंसनं समुपाहरन् ग्रन्थमिमं तन्त्रशास्त्रमनीषिप्रवरेभ्यः समुपहरामीति।

वाराणस्याम्
वैशाखपूर्णिमायाम्,
वि० सं० २०५५

मण्डनमिश्रः
कुलपतिः
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य

स्वात्म विमर्श

'स्व' की सर्वमयता में विन्दु का वैराज्य, विसर्ग के सर्जन की लालसा का लास्य, सकार के सृष्टिसीत्कार और सद्भावमयी सत्ता का स्वारस्य ये सभी समर्थतया समाहित हैं। 'स्व' में 'व' वर्ण उन्मेष के प्रतीक 'उ' कार का परिर्वात्तत रूप है। उसने अनुत्तर-प्रतीक 'अकार' रूप परमशिव का आश्रय ग्रहण किया है। वरुण बीज बन विश्व में अमृत की वह वर्षा करता है। 'स्व' का यह स्वारस्य है।

प्रत्येक आगमिक की आत्म-सत्ता में 'स्व' का स्वातन्त्र्य शाश्वत उल्लसित रहता है। वह स्वात्म की साधना में विमर्श की पेशलता का साक्षात्कार करता है। शैवसमापत्ति की तन्मयतामयी स्फुरत्ता में प्रकाश की रश्मियां उसके अस्तित्व को उद्दीप्त करती हैं और उस पर अनुग्रह की वर्षा होती है। उसका व्यक्तित्व शैव सुधा से अभिषिक्त हो जाता है। उसकी शरीर-सीमा असीम से सम्पृक्त हो जाती है। उसका स्वात्म विमर्श विश्व-विमर्श बन जाता है।

श्रीतन्त्रालोक के सन्दर्भ में सन्दृब्ध यह स्वात्मविमर्श तान्त्रिक वाङ्मय का विमर्श है। श्रीतन्त्रालोक स्वयं शैवविमर्श का शाक्तानुसन्धान करने वाला सुधा-सिन्धु है। उसके अनन्तानन्त विमर्श विन्दुओं के महासामरस्य में तान्त्रिक तारङ्गिकता का स्पन्दात्मक उद्रेक है। अब तक इस उद्रेक से पाँच रत्नों की निष्पत्ति हो चुकी है। यह छठाँ रत्न निष्पन्न है। यद्यपि यह प्रकाश निकष पर निकषायित है, फिर भी शैवशासन के परिवृढ प्राज्ञ पुरुषों के विमर्श निकष पर निकषायित करने के लिये माँ सरस्वतो के करकुशेशयों में इसे अर्पित कर दिया गया है।

महामाहेश्वर श्रीमदभिनवगुप्त के जीवन काल में केवल भारतवर्ष ही नहीं, सारी एशिया महाद्वीप में आगमिक परम्परा का पूरा प्रचार और प्रसार था। ऐसे क्रान्तदर्शी साधक थे, जिनके लिये सारा दृश्य अदृश्य विश्व पूरो

तरह समर्पित था। उनकी प्रतिभा के प्रकाश के समक्ष अज्ञान, आवरण और मायात्मकता की ऐन्द्रजालिक विडम्बनायें प्रस्तुत होने से पहले ही विगलित हो जाती थीं। श्रीतन्त्रालोक में आये हुए कुछ ऐसे प्रयोग हैं, जिनके अद्भुत और आश्चर्यकारी प्रभाव को देखकर स्तब्ध रह जाना पड़ता है। एक बार यह सोचना पड़ जाता है कि, लोग कितने उच्चस्तरीय सिद्ध थे! उनके चामत्कारिक व्यक्तित्व का वैराज्य, और उनकी मेधा की महनीयता का साम्राज्य कितना विशाल था।

इसके सम्बन्ध में दो तीन उदाहरण दिये जा सकते हैं। पहला उदाहरण है—शिवहस्त विधि का। वह एक अद्भुत प्रयोग था। समस्त सिद्धियों का वह एक अनुपम और अनुभव के निकष पर कसा हुआ सांसिद्धिक निदर्शन था। शिष्य के ऊपर, उसके हृदय देश पर शिवहस्त के प्रयोग की चर्चा कई स्थान पर श्री तन्त्रालोक में है। उस समय प्रायः ऐसे सिद्ध पुरुष थे, जो इस विषय के पारङ्गत विद्वान् थे, प्रयोक्ता थे और इन क्रियाओं से साधना की धारा का सन्धान करते थे। शिष्यों या समाज के उत्तरदायो पुरुषों पर वे इसके प्रयोग से शास्त्रों की गौरवपूर्ण गुणवत्ता का तथा उनके महत्त्व का ख्यापन करते थे। ऐसे लोगों की उस युग में बहुतायत थो।

दूसरा आश्चर्यमय प्रयोग और भी विचित्र था। यज्ञ का आचार्य इसे स्वयम् परेतासु के प्राणों को मुक्त कराने के उद्देश्य से करता था। इस प्रयोग का नाम 'महाजाल प्रयोग' है। साधना के बल से अपनी प्राण रश्मियों का ब्रह्माण्ड मण्डल में संप्रेषण, उसी रश्मि-चक्र से मृत दीक्ष्य के प्राणों का आकर्षण, स्वकीय प्राण पीयूष से उस समीहित प्राण का संतर्पण और उस मृत की मुक्ति का अनुग्रह ये सारी क्रियायें आचार्य के पारमेश्वर स्वरूप की ही प्रत्यायक हैं। उस समय ऐसे महाप्राज्ञ पुरुषों से यह भारत भूमि विभूषित थी और धरणी धन्य हो उठी थी। आगमिकों की इस विमर्श-पीयूष राशि का सनातन प्रवाह नैगमिक विचार-धारा के समानान्तर प्रवर्त्तित था। दोनों वैचारिक प्रतिद्वन्द्विता के प्रमाण तत्कालीन शास्त्र हैं, जिनमें एक दूसरे के विचारों के खण्डन में सारी क्षमता खपा दी गयी प्रतीत होती है। सामाजिक संरचना. चातुर्वर्ण्य, वर्णाश्रम व्यवस्था, स्पृश्यास्पृश्व

भावना, याज्ञिक विधायें, मन्त्रों के प्रयोग बहुदेववाद और एकेश्वरवाद, सार्वात्म्यवाद आदि ऐसे विषय थे, जिनके दृष्टिकोण में कभी सामञ्जस्य नहीं हो सका था। समञ्जसता का प्रयास तो था किन्तु क्षीण था। वैचारिक द्वन्द्व उग्र था। यह उग्रता आगमिकों और नैगमिकों दोनों में समान रूप से पायी जाती है। अस्तित्ववादी और अनस्तित्ववादी, ईश्वर और अनीश्वरवादी वैदिक दार्शनिकों में भी द्वन्द्व था।

इसी तरह आगमिक शासन में प्रधानतया शैवदर्शन में ही षडध्वान्तर्गत त्रिक, कुल, क्रम और मत दार्शनिक दृष्टियों के साथ सिद्धान्त, वीर, लाकुल, कापालिक, गुह्य, वाम, दक्ष का पारस्परिक वैमत्य पूरी तरह प्रचलित था। साधक श्रेणी के लोग इस वैचारिक द्वन्द्व को दूषण जन्य कलङ्क पङ्क मानते थे। इसको लगाकर प्रक्षालन करने की अपेक्षा वे अपनी क्षमता के अक्षय स्रोत का साक्षात्कार करने में लगे थे। उन्होंने वैश्वात्म्य के विराट् विस्तार को स्वात्म की सीमा में समेट कर विमर्श की सुधा से उसे अभिषिक्त कर दिया।

उन्होंने सारी दार्शनिक वैचारिकता को जो केवल विचारों की उड़ान मात्र थी, उसे विधि का आधार दिया। बौद्धिकता को क्रिया में उतार लिया। ज्ञानं भारः क्रिया विना को उन्होंने क्रियायोग में चरितार्थ कर दिया। आकाश गंगा को उन्होंने धरा पर अवतरित कर लेने का भगीरथ प्रयास किया। अनन्त की असीमता को विन्दु की सीमा में समाहित कर बीज से पुनः वृक्ष बन जाने को बलवत्ता प्रदान कर दी।

विन्दु को महासमुद्र बन जाने की अदृश्य अलौकिक स्पन्दनशीलता का उन्होंने प्रत्यक्षसाक्षात्कार किया। विन्दु को नाद में परिवर्त्तित होने की प्रक्रिया के वे साक्षी बन गये। उस उन्मिषितव्यता के उल्लास को उन्होंने 'क्षेप' को सञ्ज्ञा प्रदान की। विन्दु के बाह्य की ओर उल्लसित होने की यात्रा के वे सहभागी बने। साधना में आज्ञा चक्र की भूमिका में विन्दु के निरोधिका-रूप अवरोध को ध्वस्त कर नाद में समाहित होने की अयत्नज सक्रियता को यत्नज बनाने की दीक्षा दी। नाद से नादान्त की यात्रा में जिस स्पन्द का उन्होंने अनुभव किया, वह अप्रत्याशित था। वह एक क्रान्ति थी। चेतना

वहाँ ऊर्ध्व की ओर गतिशील हो रही थी। वह 'चिदुद्बोध' था। उससे शक्तिमत्ता का सामर्थ्य मिला। व्यापिनी की व्यापकता का उत्कर्ष मिला। वह एक उद्दीप्ति ही थी, जिसे तन्त्रयात्रा में सर्वप्रथम आचार्य साधक ने अनुभूत किया। संवित्ति पुलकित हो रही थी और साधना की भित्ति पर समना का चित्र उभर आया। इस प्रकार आगमिक आचार्यों ने विन्दु को शैव सद्भाव के महासमुद्र में सामाहित कर दिया था। श्री तन्त्रालोक में इस प्रक्रिया का प्रवर्त्तन है।

जीवन को परमेश्वर ने अनन्त अदृश्य आयामों से सुसज्जित कर दिया है। वैदिक दार्शनिकों ने, औपनिषदकों ने और स्थितप्रज्ञ साधकों ने इसके विभिन्न पक्षों का साक्षात्कार किया।

श्री तन्त्रालोक उसी साक्षाकार का तान्त्रिक निकष है। शास्त्रकार ने इस निकष को छत्तीस तत्त्वों की आभा से विभूषित किया है। वे स्वयं महान् सिद्ध साधक थे। योगिनीभू थे, गर्भकौल थे और प्रज्ञावादी परिवृढ पुरुष थे। उनकी रसना में सरस्वती की प्रतिष्ठा की गयी थी। उनकी लेखनी से तन्त्र की अद्भुत सुधाधारा आजीवन प्रवाहित होती रही। आज सारा विश्व उनकी सर्वतोमुखी सास्स्वत साधना से चमत्कृत है।

श्री तन्त्रालोक की आलोक रश्मियों से विश्व का कोई विषय अछूता नहीं। किसी दार्शनिक दृष्टि में वह व्यापकता प्राप्त नहीं होती, जो श्री तन्त्रालोक की अभिनव दृष्टि में है। कला, तत्त्व और भुवनों से भरे ब्रह्माण्ड की वृंहणशील व्यापकता को इसने आत्मसात् किया है। पद, मन्त्रों और वर्णों के आन्तर उल्लास को श्री तन्त्रालोक में आत्मसात् कर विश्वफलक पर स्थूल रूप ग्रहण करने की स्पन्दनशीलता को वर्णन का विषय बनाया गया है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि, वर्ण ही स्थूल पञ्चमहाभूतों के रूप में अभिव्यक्त हैं। वर्णों, पदों और मन्त्रों के रहस्योद्घाटन के लिये और सत्य के साक्षात्कार के लिये दीक्षा की परम्परा का प्रवर्त्तन किया। शरीर को अशरीर में, स्थूल को सूक्ष्म में, 'इदम्' को 'अहम्' में अशिव को शिव में, नश्वर को अनश्वर में अनुप्रवेश के अभिनव आयाम से दीक्ष्य को परिचित कराया,

प्राणापानवाह के सेतु की सरणी पर अग्रसर कर दिया और अधमता को ऊर्ध्व के आसन पर ला बिठलाया। ऐसे महान् गुरुजनों, साधकों, आचार्यों और महनीय शास्त्रकारों का भारतीय समाज ऋणी है।

अद्यतन सन्दर्भ में भी साधना की, क्रियायोग में उतरने की दीक्षा की और अपनी महान् पावन परम्परा की महती आवश्यकता है।

श्रीतन्त्रालोक आप का आवाहन कर रहा है। इसके स्वाध्याय से जिजीविषा पर पड़ी रेणु का निराकरण आप अवश्य कर सकेंगे, इसमें तनिक सन्देह नहीं। यह अभिनव प्रवर्त्तित शास्त्र अध्येता को साधना के अध्व पर अग्रसर होने का अधिकार देता है। क्रिया की सक्रियता से सम्पृक्त कर देता है और जीवन में अभिनव आयामों की सुमनावली के सौरभ का सम्भार भर देता है।

इस छठें भाग में आह्निक १६ से लेकर २७वें आह्निक तक के १२ आह्निकों का समावेश हुआ है। आह्निकों के समावेश की दृष्टि से यह सबसे बड़ा भाग है और दीक्षा की व्यापक परीक्षा की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण भाग है। एक स्थान पर इतनी सामग्री किसी अन्य ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है। यह कहा जा सकता है कि, साधना विधि, चर्याविधि, दीक्षाविधि, रहस्योद्घाटन विधि और अध्व प्रकाश की दृष्टि से यह एक अनमोल ग्रन्थरत्न है। इस छठें भाग को मिलाकर श्रीतन्त्रालोक के ४५८० श्लोकों के भाष्य का प्रकाशन और २७ आह्निकों का मुद्रापण सम्पन्न हो गया है।

नीर में नृतत्त्व को आप्यायित करने की तात्त्विकता का अमृतद्रव उल्लसित है। क्षीर में शिव-शक्ति के वात्सल्य का वरदान है। श्रीतन्त्रालोक नर-शक्ति-शिवात्मकता का सौमनस्य है। 'हंस' ने नीर-क्षीर-विवेक की प्रकृति-प्रदत्त-प्रक्रिया का ही प्रवर्त्तन किया है। 'शिवहस्त' मेरे शिर पर, 'शक्ति'-सुधा मेरे विमर्श में और 'नरत्व' मेरे अस्तित्व में 'त्रिक' बनकर उन्मिषित हैं। परमेष्ठि गुरु का अनुग्रह, परमगुरु की कृपा और दीक्षा गुरु का 'हंस' की मनीषा में वत्सल समावेश इस भाष्य के उपजीव्य आश्रय हैं, मुख्य हेतु हैं और 'हंस' को परमहंस बनाकर इस पूर्णार्या-प्रक्रिया का अदृश्य रूप से प्रसार कर रहे हैं।

श्री तन्त्रालोक के छठें भाग का प्रकाशन, प्रकाशन अधिकारी सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय डॉ० हरिश्चन्द्रमणि त्रिपाठी को सक्रियता का निदर्शन है। संस्कृत 'सारस्वत पुरुष' इनके पुरुषार्थ को इनकी अहन्ता में चरितार्थ करें। इस मङ्गलमयी समीहा के साथ हार्दिक आशीर्वाद। प्रिय गिरीशचन्द्र जी, संचालक विजय प्रेस, विशेष रूप से साधुवाद के अधिकारी हैं। तन्त्र का आलोक इनके प्रेस को प्रकाश प्रदान करता हुआ विश्व को आलोकित कर रहा है।

इस प्रकाशन अवसर पर निरन्तर उत्साहवर्धक अपने मित्र डॉ० रामजी मालवीय, आचार्य और अध्यक्ष तन्त्रागम विभाग सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय का अभार व्यक्त कर रहा हूँ। स्नेहास्पद प्रिय डॉ० शीतलाप्रसाद उपाध्याय भी विश्वविद्यालय के वरिष्ठ प्राध्यापक हैं। इन्हें पूरे प्रकाशन सहयोग के लिये हार्दिक आशीर्वाद।

अन्त में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ० मण्डन मिश्र को अपना हार्दिवय अर्पित करता हूँ। इनके त्रिस्रोतस् तत्त्वावधान में १९९६ में चतुर्थ भाग, १९९७ में पञ्चम भाग प्रकाशित हो चुके हैं और १९९८ में इस छठें भाग का भी प्रकाशन प्रसन्नता का विषय है। इनके उत्तरोत्तर उत्कर्ष की समीहा के साथ परमाम्बा की परानुकम्पा के प्रसादमय आह्लाद का अनुसन्धान।

वसन्तपञ्चमी
वि० सं० २०५४

डॉ० परमहंस मिश्र
ए ३६, बादशाहबाग, वाराणसी

षोडशतममाह्निकम्

सारनिष्कर्षः

समय-दीक्षा प्राप्त शिष्य समयी कहलाता है। समयी दीक्षित शिष्य को पुत्रक दीक्षा देने की विधा इस दर्शन की प्रधान विधा है। पुत्रकत्त्व की सिद्धि कैसे होनी चाहिये, इस जिज्ञासा की शान्ति के लिये शास्त्रकार यह उद्घोषित करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं कि, पुत्रक दीक्षा की विधि शिवनिरूपित विधि है। इस शास्त्र परम्परा के प्रवर्त्तक स्वयं शिव हैं। उन्होंने पुत्रकत्व की सिद्धि की विधा का स्वयं निरूपण किया है। इस आह्निक में सर्वप्रथम उसी का निरूपण किया जा रहा है।

दैशिक शिरोमणि गुरुदेव इस दीक्षा की प्राप्ति के लिये उपस्थित होते हैं। वे भी चाहते हैं कि, शिष्य अब योग्य हो गये हैं। अब इन्हें पुत्रक दीक्षा दी जानी चाहिये। उसके लिये शिवनिरूपित विधि का ही वे अनुसरण करते हैं। यहाँ वही विधि प्रदर्शित है—

१. सर्वप्रथम 'अधिवास' आवश्यक है। 'अधिवास' पारिभाषिक शब्द है। इसकी परिभाषा यहाँ नहीं दी गयी है। प्रसङ्गानुकूल यह समझा जा सकता है कि, जिस स्थान पर पुत्रक-दीक्षा सम्बन्धी सामुदायिक याग करने का विचार किया जा चुका है, वहीं गुरु और शिष्य पहले उस क्षेत्र में घर से अलग जाकर रहने की व्यवस्था करें। रात वहीं बितायें। यह इस उपक्रम की पूर्व भूमिका है। इसे व्रतनिष्ठ होने के संकल्प का श्रीगणेश कह सकते हैं।

२. दूसरे दिन नित्य कृत्य सम्पन्न कर लेने के अनन्तर मण्डल रचना का उपक्रम करना चाहिये। मालिनीविजयोत्तर तन्त्र और अन्य तन्त्रों में भी इस विधि का उल्लेख है। इस मण्डल में पुत्रक दीक्षा के लिये जो याग सम्पन्न होता है, उसे 'सामुदायिक याग' या 'सर्वाध्वसंशुद्धि याग' कहते हैं।

३. मण्डल के अन्दर ही यह याग करना चाहिये। पहले मण्डल रचना पुनः चक्र रचना का क्रम यहाँ अपनाया जाता है। श्रीसिद्धान्त तन्त्र में भी इसका उल्लेख है। शास्त्रकार श्रीमालिनी विजयोत्तर तन्त्र में उल्लिखित विधि को ही प्रमुखता देते हैं।

४. मण्डल में ६, ८, १६ और २४ चक्रों का निर्माण अपेक्षित है। २, ३, ४, ८, १६ और २० चक्रों के निर्माण को भी मान्यता है। इस याग में अध्वसंशुद्धि भी होती है। अध्वा छः हैं। १. वर्ण, २. पद, ३. मन्त्र, ४. कला, ५. तत्त्व और ६. भुवन। इनके दो विभाग १-वर्णाध्वा और २-कलाध्वा के हैं। वर्णाध्वा के तीनों और कलाध्वा के कला और तत्त्व इन दोनों की ही शुद्धि से सर्वाध्व शुद्धि हो जाती है।

५. त्रैशिरस शास्त्र में ३२ और ६४ चक्रों के निर्माण की आज्ञा भी दी गयी है।

६. त्रिशूलाब्ज मण्डल सर्वोत्कृष्ट मण्डल माना जाता है। सभी पक्ष-कारों को चाहिये कि, वे त्रिशूलाब्ज मण्डल की अवश्य रचना करें।

७. पर्यायवृत्ति से त्रिशूलकमलों पर तीन देवियों की प्रतिष्ठा कर पूजा करनी चाहिये। मध्य में परा, सव्य में परापरा और अपसव्य में अपरा की प्रतिष्ठा ही पर्यायवृत्ति है।

८. मण्डल का मार्जन गन्धवस्त्र से होना चाहिये। इसके बाद ही पूजा-क्रम सम्पन्न होता है।

९. गुरु पंक्ति में १-गणपति, २-दीक्षा गुरु, ३-परमगुरु, ४-परमेष्ठी गुरु, ५-पूर्वसिद्ध, ६-वागीश्वरी देवी और ७-क्षेत्रपाल यह सात पूर्वसिद्ध प्रसिद्ध वर्ग ही परिगणित हैं। इनकी पूजा ईशान कोण से प्रारम्भ करनी चाहिये।

१०. (अ) त्रिशूलाब्ज पूजन में मध्य में परा के साथ भैरव सद्भाव का पूजन करना चाहिये।

(आ) वामशूल में अपरा देवी के साथ नवात्मा (नौ भेद भिन्न) भैरव सद्भाव और (इ) दक्षशूलाब्ज में परापरा देवी के साथ रतिशेखर भैरव सद्भाव की पूजा होती है।

११. यद्यपि परा, अपरा और परापरा दोनों में व्याप्त है किन्तु परा का मध्यावस्थान सर्वदा ध्यातव्य है।

१२. त्रिशिका शास्त्र में एक शूल में भी तीनों को पूजा का विधान स्वीकृत है।

१३. लोकपाल ८ हैं। इनका ध्यान अस्त्रों के साथ होता है। सबके अलग-अलग अस्त्र निर्धारित हैं—

१. इन्द्र,	२. अग्नि,	३. यम,	४. निऋति
(वज्र)	(शक्ति)	(दण्ड)	(खड्ग)
५. वरुण,	६. वायु,	७. कुबेर	८. ईशान
(पाश)	(ध्वज)	(गदा)	(त्रिशूल)

१४. इसी पूजाक्रम में मातृसद्भाव भट्टारक भैरवदेव, विद्याङ्ग और भैरवाष्टक की पृथक् पूजा की जानी चाहिये।

१५. (अ) मातृसद्भाव का अर्थ मातृका शक्ति युक्त या उत्सङ्गगामिनी अघोरेश्वरी से युक्त लेना चाहिये।

(आ) विद्याङ्ग ५ हैं। परापरा मन्त्र में पाँच भाग करने पर ये विद्यायें प्रकाश में आती हैं।

(इ) भैरवाष्टकों की आठ दिशायें पूजा के लिये निश्चित हैं—

१. कपालेश (पूर्व), २. शिखिवाहन (अग्निकोण)

३. क्रोधराज (दक्षिण) ४. विकराल (नैऋत्य)

५. मन्मथ (पश्चिम) ६. मेघनादेश्वर (वायव्य)

७. सोमेश्वर (उत्तर) और ८. विद्याराज (ईशान)

१६. यामल पूजा भी मातृसद्भाव पूजा की तरह अघोरेश्वरी के साथ ही सम्पन्न होती है ।

१७. चक्रदेवी पूजा को शक्ति मण्डल पूजा भी कहते हैं । वामा, ज्येष्ठा, रौद्री, काली, कलविकरणी, बलविकरणी, बलप्रमथनी, सर्वभूतदमनी और मनोन्मनी ये नव देवियाँ ही चक्रदेवी कहलाती हैं ।

१८. मण्डल पूजा में कुम्भ, अस्त्र, कलशीमण्डलस्थ, अनलस्थ और आत्मस्थ का अद्वय भावन आवश्यक है। इसे शिवात्मिका अद्वयव्याप्ति कहते हैं ।

१९. जो ऐसा नहीं कर पाते, उन्हें मन्त्रनाडी प्रयोग करना चाहिये। मन्त्रनाडी प्रयोग एक आध्यात्मिक स्वात्म मण्डल निर्माण की विधि है। इसे अधिकरण चतुष्टयैक्य भी कहते हैं । इसमें प्राण की समीलना क्रिया द्वारा गुरु अपने शिष्य को परमाद्वय भाव में ला बिठलाता है । मण्डल पूजा से शिष्य की परमीकृति सिद्ध हो जाती है ।

परमीकृति की सिद्धि मण्डल की पूजा से होती है। इसमें षोडशोचार या पञ्चोपचार की विधि अपनायी जाती है। इसके अतिरिक्त विभु सर्वसमर्थ विश्वम्भर शिव के समक्ष अन्य विभिन्न वस्तुओं के निवेदन करने की बात भी शास्त्र में वर्णित है। इनमें जीव, धातु, धातुओं से उत्पन्न पदार्थ, सिद्ध पक्व, असिद्ध अपक्व, सिद्धासिद्ध (कुछ पके कुछ कच्चे) और चराचर रूप नैवेद्य स्वीकृत हैं ।

यहाँ विचार जीव रूप नैवेद्य पर करना है । जो जीवित हैं, वे जीव हैं । इनका नैवेद्य रूप से अर्पण पशुबलि का समर्थन करता है। ये जीव १. दृष्ट, २. प्रोक्षित, ३. संद्रष्ट्र, ४. प्रालब्ध, ५. उपात्त, ६. शमित, ७. योजित और ८. निर्वापित आठ प्रकार के होते हैं। निवेदन के बाद ये हवि होते हैं । इस हवि को ग्रहण करने का अधिकार समयाचार सिद्ध साधक को हो है, किसी अनधिकारी को नहीं । ऐसे पशुओं को पशुपति में समाहित करना उत्तम मानते हैं । इससे इनकी सबीजता समाप्त हो जाती है ।

गुरु इन पशुओं की प्राणापान प्रक्रिया में दिव्यता भर देता है। अपनी चिति की चेतना से बलिपशु के कलाजाल के आवरण तोड़ कर स्वात्मसंविद् से पावन कर पशुपतित्व में समाहित कर देता है। इस रहस्य प्रक्रिया से पशु की मुक्ति हो जाती है। इसके लिये गुरु को कई प्रकार के आध्यात्मिक अग्नि-षोमात्मक उपचार करने पड़ते हैं। तब जाकर पशु की निर्वापण-प्रक्रिया पूरी होती है। देवो चक्र से पशु प्राण का भावन होता है। 'फ्रें' बीज से गुरु उसके प्राण का आकर्षण करते हैं। अनधिकारी के लिये पशुबलि वर्जित है। वीर पशु और भी महत्त्वपूर्ण होते हैं। पशुबलि से पशु को आठ लाभ प्राप्त होते हैं। शास्त्र इसमें प्रमाण हैं। पशुबलि में हिंसा की बुद्धि नहीं रखनी चाहिये। विवाह में, स्वार्थ सिद्धि के लिये और उत्सव-समारोह में पशुबलि निषिद्ध है।

मनु के अनुसार पशुघ्न लोग पशुओं के रोमों की संख्या तक के जन्म जन्मान्तरों में उनके द्वारा मारे जाते हैं। त्रिक दृष्टि पशुबलि को हिंसा नहीं मानती। श्रुति भी अग्निष्टोमीय हिंसा को हिंसा नहीं मानतो। श्रीमृत्युञ्जय शास्त्र पशुबलि को चित्ररूपिणी पशु दीक्षा मानता है। शिवोक्तियाँ जो आगम ग्रन्थों भरी हुई हैं, पशुबलि की समर्थक हैं। पशुबलि के लिये सर्वोत्तम पशु वह होता है, जो छः जन्मों तक बलि पा चुका हो।

आनन्द शास्त्र की मान्यता है कि, परम्परा के विरुद्ध आचरण करने वाला सात जन्मों तक पशुयोनि में उत्पन्न होता है। आचार्य उसके लक्षणों को पहचान कर उसी की बलि देते हैं। इसके विभिन्न अङ्गों के चरु परमेश्वर को अर्पित करने का भी विधान है। अन्त में आचार्य शिव से रक्षा-प्रार्थना करता है। फलतः शिष्य को माण्डलिक सुरक्षा मिल जाती है।

मण्डल में विराजमान आचार्य कुण्ड में प्राज्वलित अग्नि की दीप्ति से दीप्तिमन्त रहता है। उसके व्यक्तित्व के ताप से बलिपशु एवं शिष्य दोनों के पाप ताप जल जाते हैं। वही यज्ञ कलश में वरुण बनकर, कुण्ड में अग्नि नारायण बन कर साक्षात् शैवविग्रह में विराजमान रहता है। शिष्यों के प्राणों का परिष्कार करता है। वह अनुग्रह का अधिकार रखता है और शिष्य की परीक्षा कर उसके आकांक्षित अध्ववर्ग की दीक्षा देता है। जैसे सामान्य दर्शन

करने पर 'द्रष्टा', सुनने परश्रोता, स्पर्श करने पर 'स्प्रष्टा', चखने या खाने पर 'भोक्ता' सूँघने पर 'आघ्राता', और 'सोचने पर प्रकल्पक' होता है, उसी तरह आचार्य भी मण्डपस्थ, कुम्भस्थ, अस्त्रस्थ, कलशस्थ और आत्मस्थ रहकर मन्त्रतादात्म्य प्राप्त कर सबके पाशों को दग्ध कर देने की शक्ति से समन्वित होता है। आचार्य का छः प्रकार का शक्तिमन्त रूप भी शास्त्र में वर्णित है। श्लोक १६।८७ द्वारा आचार्य इसके बाद स्वेच्छा से भी अध्वानुसार दीक्षा देता है। अनुसन्धि का बल उसके व्यक्तित्व को परिष्कृत करता है। वह महाव्याप्ति की संवेदना का पावन विग्रह होता है। एक तरह से वह शिवरूप ही हो जाता है।

शिष्य के शरीर में अभिलषित अध्वा का न्यास कर वह शिष्य को धन्य बना देता है। शोध्य अध्वा के अनुकूल समुचित मन्त्रन्यास भी वह करता है। इस प्रक्रिया में भी वह पर, अपर और परापर विधि का प्रयोग करने में स्वतन्त्र होता है। ८४, ९६ और १०८ अंगुलों की शरीर व्याप्ति को वह जानता है। श्रीपूर्व शास्त्र में ६।२४-२७ में इस विधि का निर्देश है। मयतन्त्र में भो यह विधि समान रूप से वर्णित है। इसो तरह नवतत्त्व न्यास, पञ्चतत्त्व न्यास चार, तीन और एकतत्त्व का न्यास गुरुदेव शिष्य के शरीर में अवश्य करते हैं।

संवित्ति देवो देहातीत स्थिति में विश्रान्त होती है। ब्रह्मरन्ध्र से १२ अंगुल ऊपर तक देहातीत स्थिति मानी जाती है। शरीर के ८४ अंगुल में कंचुकों, प्रकृति पुरुष के न्यास गुरु करता है। इसी में ११८ भुवनों का न्यास भी किया जाता है। पूरा भुवनाध्वा इस शरीर में व्याप्त हो जाता है। यह दीक्षा की न्यास पद्धति है। मातृका और मालिनो के न्यास भी गुरु करता है। इसके बाद वर्णाध्वा का न्यास भी आवश्यक होता है।

निवृत्तिकला, विद्या कला, प्रतिष्ठा कला, शान्ता और शान्तातीता कला के सन्दर्भ में भी मन्त्र पद वर्ण और भुवन आदि के न्यास दोक्षा में अपेक्षित हैं। एक वीर योग या यामल योगानुसार मालिनी का न्यास शास्त्र में वर्णित है।

सृष्टि, स्थिति, संहार और अनाख्य यह चार प्रकार का सृष्टिचक्र माना जाता है। इसे श्रुतिचक्र भी कहते हैं। ७० शोधक मन्त्रवर्ग भी न्यस्त होते हैं। यह सारा का सारा शोध्य शोधक मन्त्र वर्ग इसी सन्दर्भ में चरितार्थ होता है।

इसके बाद सद्यः उत्क्रान्ति दीक्षा का क्रम भी आता है। सारी दीक्षा पाँच लाख सत्तानबे हजार आठ सौ भेदों वाली होती है। भेद की यह गणना एक सामान्य गणना है। यदि इसे,

१. शोधक और शोध्य दृष्टि से

२. इतिकर्त्तव्यता के भेद से

३. सकल, निष्कल, साङ्ग, निरङ्ग आदि भेद की दृष्टि से,

४. सकीर्ण और असंकीर्ण दृष्टि से और

५. शोध्य और शोधक शक्ति रूप देवियों के दो या तीन के सामरस्य एवं स्वतन्त्र भेद की दृष्टि से आकलित किया जाये, तो कितने भेद होंगे, यह कहा नहीं जा सकता। यह प्रश्न किया जा सकता है कि, ये भेद अपनी सार्थकता नहीं रखते। ऐसा कहना किन्तु उचित नहीं। विमर्श वरिष्ठ आचार्य शिष्य की योग्यता और मान्त्रिक स्तरीयता के आधार पर इनमें से किसी एक का आश्रय ले सकता है। इस दृष्टि से इनकी सार्थकता स्वतः सिद्ध हो जाती है।

महामाहेश्वर शास्त्रकार इस सन्दर्भ में अपने लिये 'गुरु' शब्द का विशेष प्रयोग कर यह उपदिष्ट करना चाह रहे हैं कि, यदि अपने पास पुष्कल कोष हो, लक्ष्मी का विलास हो, देश और काल अनुरूप हों, अनुकूल हों, तो अपवर्ग की उपलब्धि में भी इस कर्म-विज्ञान का संग्रह आवश्यक और अनुसरणीय है। चित्त की वृत्तियों के वैचित्र्य का चिरन्तन चाञ्चल्य निर्नियन्त्रण नहीं होना चाहिये। हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि, किसी रूढ़ि में न पड़ जाँय। रूढ़ियों को शिवात्मक बनाकर उनका परिष्कार करना शिष्य और आचार्य दोनों का कर्त्तव्य है। इस प्रक्रिया से मूढ़ भी शिवात्मक हो जाता है। क्रमिक रूप से परिष्कृत शिष्य शैवतादात्म्य संवलित हो जाता है।

'गुरु शिष्ययोरभेदः' इस न्याय के अनुसार गुरु में तादात्म्य भाव की उपलब्धि के साथ 'गुरु शिवयोरभेदः' इस दृष्टि का मेल हो जाने पर शिव का तादात्म्य सहज संभाव्य हो जाता है और शिष्य शिवशक्तिपात पवित्रित हो जाता है। यदि जीवन में कहीं विकल्प वृत्ति का कुछ शेष रह भी जाय, तो देहान्त के अनन्तर उसे मोक्ष की उपलब्धि अवश्य हो जाती है।

शास्त्रकार तो मोक्ष को भी एक प्रकार की दिव्यता से दिव्य, चिरन्तन वैचित्र्य से युक्त भोग ही मानते हैं। जिसे निर्बीज दीक्षा दी गयी होती है, उसे संस्कार, शेषवर्तन और समय लोप आदि के दोष नहीं लगते। ये जीवन्मुक्त ही हो जाते हैं। सबीज दीक्षा प्राप्त शिष्य के जीवन में अनेक प्रकार के शास्त्रीय और सांसारिक दोषजन्य विघ्न जाल आते ही रहते हैं। इन्हें भोगों के भोग लेने पर ही मोक्ष मिलता है।

समय लोप न हो, इसका ध्यान बुभुक्षु शिष्य को अवश्य रखना चाहिये। एक स्थान पर तो यहाँ तक कहा गया है कि, समय लोप से सौ वर्षों तक क्रव्याद होना पड़ता है। समयाचारपालन गुरु और शिष्य दोनों का कर्त्तव्य है। शास्त्रकार के अनुसार अभ्यास के बल पर ही सही, जिसने गौरवपूर्ण गुरुत्व को उपलब्ध कर लिया है, आचार्य बन गया है और क्रियायोग सिद्ध हो चुका है, वह शिष्य को भी परमकल्याण के उज्ज्वल पथ पर आरूढ़ कर सकता है।

शिष्य को मन्त्रात्मक और कई प्रकार के न्यासों से समन्वित करने की चर्चा पहले आ चुकी है। प्रसङ्गवश गुरुवर्य शिष्य को और किन न्यासों से समन्वित करें, इसकी आवश्यकता का अनुभव गुरु को होता है। वह पहले शोध्य अध्वा का न्यास भी करता है। इसके बाद शोधक मन्त्रों का न्यास भी करता है। समस्त तत्त्व जाल को विशुद्ध करने के लिये वर्णाध्वा का न्यास होता है। यद्यपि सभी अध्वा बन्ध के कारण माने जाते हैं फिर भी इनका शोधन कर इनके मायीय दोष का निराकरण करना चाहिये। वर्णाध्वा भी शोध्य है। इसे शुद्ध कर शोधक भाव से संवलित करना चाहिये। वर्ण शोध्य है फिर भी ये शोधक हो जाते हैं। वर्ण मातृका और मालिनी क्रम के अनुसार निर्धारित हैं। परापरा मन्त्र के जितने वर्ण हैं, उनके पद पृथक्-पृथक् मान्य हैं। इनमें पञ्चब्रह्मवक्त्र का षडङ्ग न्यास समस्त तत्त्वों के साथ किया जाता

है। इस क्रम में मूलान्त, मायान्त, शक्त्यन्त और निष्कल दृष्टि से परा, अपरा और परापरामन्त्रों का न्यास विधिपूर्वक आचार्य करता है। इसके सविस्तर वर्णन इस आह्निक में उपलब्ध है। इन न्यासों का उद्देश्य देह शुद्धि, तत्त्व शुद्धि, भूत शुद्धि और वृत्ति शुद्धि है। इसमें सृष्टि और संहारात्मक दोनों क्रम अपनाये जाते हैं।

शोधक मन्त्रों की रश्मियों की प्रकाशात्मकता से समस्त पाशजाल ध्वस्त हो जाते हैं। गुरु का अनुग्रह ऊपर से शिष्य को कृतार्थ कर रहा होता है।

एक सिद्धान्त है कि, 'कर्मक्षय होने पर अपवृक्तता होती ही है। कर्मक्षय भोग से होते हैं। वृत्तियों का परिष्कार दीक्षा से विभिन्न न्यासों द्वारा दिव्यता से सम्पन्न होता है। इस प्रसङ्ग में एक नया सन्दर्भ आ जुटता है। युगपद जनन और भोग का यह सिद्धान्त प्राचीन काल से मनोषियों की मनीषा को मन्थित करता है।

आत्मा एक व्यापक तत्त्व है। इसी व्यापकता के परिवेश में विश्वात्मक भावराशि उल्लसित है। विश्व-भाव भावित आत्मा को यह अनुसन्धान नहीं होता कि, मैं इससे भावित हूँ। अणु को भी यही दशा होती है। क्यों ऐसा होता है ? एक शब्द है, 'मनोनुसन्धि'। अनेक जन्मों का संकुचित अणु जब परिष्कृत अणु बनता है तो क्या होता है ? पूर्व भोगों का अनुसन्धान यों भी व्यर्थ है पर अणु तो उन्हीं में डूबा हुआ है। यह विश्व के संयोग का विषफल है। अमृत में इसे परिवर्त्तित करना है। आत्मा मन से सन जाता है। मन इन्द्रियों में रम जाता है। इन्द्रियाँ विषयों का रस लेने लगती हैं और हो जाती है छुट्टी ! आत्मा माया की घुट्टी पोने में आत्मविस्मृत हो जाता है। इससे छुटकारा तभी मिल सकता है, जब अतीन्द्रिय ज्ञान का प्रकाश विकसित हो जाये।

योगियों का अतीन्द्रिय ज्ञान तीन स्तरों पर होता है। १. योगानुसन्धान, २. मन्त्रानुसन्धान और ३. क्रियायोग। इनमें अनवरत संलग्न साधक नैर्मल्य के उच्चस्तर पर आरूढ हो जाता है। प्रत्यय दीक्षा में भी परानुसन्धान होता है।

दीक्षा में द्रव्य और मन्त्रयोग द्वारा यागक्रिया सम्पन्न करना आवश्यक है। तिल घी आदि हविष्य मन्त्र द्वारा अग्निसात् होकर एक नयी दिव्यता को जन्म देते हैं। विज्ञान दीक्षा में इनकी आवश्यकता नहीं रह जाती। विज्ञान दीक्षा में कुछ विशेष सावधानी बरतनी पड़ती है।

मन्त्रों के बीजात्मक, पदात्मक या संहितात्मक प्रयोग भी स्थूल प्रयोग माने जाते हैं। जब प्रौढ़ शिष्य गुरु से मन्त्रग्रहण करता है, तो वह मन्त्रों के अन्तराल में प्रवेश कर रहस्य का दर्शन करता है। वह परामर्श की भूमि पर मन्त्र के तैजस स्वरूप को स्वात्म भूमि पर पड़ते देखता है। यह एक नयी अनुभूति होती है। इसे मन्त्र का 'संजल्प' कहते हैं। यह मन्त्रात्मक विमर्श होता है। स्वात्म विमर्श से इसका तादात्म्य हो जाता है।

गुरु भी अपने संजल्प की सुधा से शिष्य को अभिषिक्त करते हैं। इधर शिष्य का संजल्प और उधर गुरु की संजल्प सुधा का अभिषेक। वह एक चामत्कारिक रहस्य क्षण होता है। वहाँ चमत्कार घटित होता है। शिष्य को शैव प्रकाश की रश्मियाँ स्वात्मसात् कर लेती हैं। दीक्षा का वह अनमोल फल होता है।

संजल्प के सम्बन्ध में शङ्का भी होती है। संजल्प मध्यमा वाक् के माध्यम से होता है। मध्यमा वाक् शब्द व्यापार समाश्रिता वाक् है। पर-विमर्श में यह शब्दमयता नहीं रह जाती। विमर्श शुद्ध मन्त्रात्मक स्तर पर होता है। वहाँ शाब्दिक स्थूल भाव सम्भव नहीं। उस स्तर पर गुरु और शिष्य के संजल्प-विमर्श शिवता से संम्पृक्त हो जाते हैं।

इस स्तर पर ग्राह्यग्राहक रूपिणी मन्त्रशक्ति का आकलन होना स्वाभाविक है। यह ज्ञान हो जाता है कि, मन्त्र शक्ति परामर्श स्वभाव वाली होती है। आन्तर भाव से वह सतत समुच्चरद्रूपा होती है। साधक को सर्वार्थ-प्रतिपत्ति उसी भूमिका में होती है। मन्त्र माँ बन कर शिष्य साधक को अपनी दुग्ध सुधा से तृप्त और आप्यायित कर देता है।

मन्त्र शक्ति परामर्श स्वभाव वाली मानी जाती है। परामर्श भी दो प्रकार का होता है। १. शुद्ध परामर्श और २. अशुद्ध परामर्श। इस तरह

परामर्श के आधार पर मन्त्र भी दो प्रकार के हो जाते हैं। इसे मन्त्रभेदक परामर्श कहते हैं। श्री पौष्कर शास्त्र के अनुसार त्रैगुण्य से प्रभावित ब्रह्माण्ड सञ्चालक देवों के उपासक अशुद्ध परामर्शों से ग्रस्त होते हैं। शिवशासन के सभी मन्त्र शुद्ध और उनके परामर्श भी शुद्ध तथा इनकी उपासना भी उच्च श्रेणी की मानी जाती है। श्री मतङ्ग शास्त्र के अनुसार शैवशासन विज्ञ मन्त्रज्ञ गुरु साक्षात् शिव स्वरूप हो जाते हैं।

यहाँ गहराई से विचार करने की आवश्यकता है। परामर्श को मन्त्रभेदक क्यों माना गया है ? वैष्णवादि उपासना मार्ग के मन्त्रों के परामर्श अशुद्ध माने जाते हैं। मन्त्रशक्ति को भी परामर्श स्वभाव वाली मानते हैं। प्रश्न यह है कि, परामर्श होता कैसे है ? यदि हम यह कहें कि, स्वतन्त्र संजल्प से परामर्शोदय होता है, तो तुरत दूसरा प्रश्न उठ खड़ा होता है कि, यह संजल्प कहाँ से उत्पन्न हुआ ?

इस सन्दर्भ में एक अनुभवी उपदेष्टा की स्थिति पर विचार करें। वह उपदेश देता है। श्रोता सुनता है। उपदेश शिष्य में प्रतिसंक्रान्त होता है। यह संजल्प की सामान्य प्रक्रिया में घटित होता है।

वास्तविकता यह है कि, आदि गुरु परमशिव के संजल्प ही अमायीय और मायीय परम्पराओं में आज भी प्रतिसंक्रमित हो रहे हैं। यहाँ से भेद-मयता का यद्यपि आरम्भ होता है, पर यह परम्परा शाश्वत है और अनवस्था रहित है। लक्ष्य अमायीय भाव को ही आत्मसात् करना है। इस अव्याहत परम्परा के अनुसार शुद्ध संजल्प शक्ति से समुदित परामर्श आदिगुरु के संजल्प का अनुजल्प बनकर विश्व में प्रवर्तित है। आदिम सूक्ष्म संजल्प आज भी स्थूल संजल्पों में प्रतिसंक्रमित है। इसीलिये सारे विकल्पों, संजल्पों और परामर्शों को ध्यान में रखकर ही गुरु में मन्त्र तन्त्र वैशारद्य रूप गुण का प्राधान्य शास्त्र स्वीकृत करते हैं।

शिष्य गुरु प्रदत्त मन्त्र का अनुभावन करता है। वह तत्समानसांजल्प होता है। गुरु द्वारा मन्त्र संजल्प और शिष्य के संजल्प में समान कक्ष्यत्व स्वाभाविक है। इस सन्दर्भ में एक उदाहरण पर विचार करना आवश्यक

है। गोबर में कीट उत्पन्न होता है। उस कीट से भी कीट उत्पन्न होते हैं। गोमय के अतिरिक्त भी कीट उत्पन्न होते हैं। उनसे भी कीट उत्पन्न होते हैं। दोनों से दो प्रकार के कीट उत्पन्न हुए। कीड़ों के भेद को देखने में उसके संजल्प में भी भेद हो जाता है। ऐसी अवस्था में भी कीटोत्पत्ति रूप एक अर्थक्रिया की अनुभूति का ही प्राधान्य होता है। उसी तरह मन्त्र और संजल्प में भेद रहने पर भी एक ही अर्थ क्रिया की अनुभूति का प्राधान्य रहता है। उसका यह सत्य संजल्प शिवात्मक ही होता है। वही सत्य संजल्प समन्वित मन्त्र भोग और अपवर्ग दोनों को हस्तामलकवत् उपलब्ध कर देता है। इसीलिये शिव सूत्र में 'इसकी कथा ही जप हो जाती है' यह कहकर संजल्पात्मकता का ही महत्त्व प्रतिपादित किया गया है।

इस शास्त्रार्थ रहस्य को इस आह्निक के अन्त में सम्यक्तया विश्लिष्ट किया गया है। यह स्पष्ट रूप से उद्घोषित भी किया गया है कि, मन्त्र और संजल्प की अनुभूतियों के तारतम्ययोग के अभ्यास से भाव्यवस्तु की स्पष्ट अनुभूति हो जाती है। साथ ही संजल्प का निर्ह्रास हो जाता है। संजल्प उपाय बनकर विगलित हो जाता है और मन्त्र के अधिष्ठातृदेव का स्वतः साक्षात्कार हो जाता है। उस समय जिस विमर्श का सद्भाव होता है, उसे अकृत्रिम विमर्श कहते हैं। संवित्तादात्म्य समापन्न सिद्ध गुरु का संकल्प ही कल्याणकारी होता है।

इस विमर्श के उपरान्त हेयोपादेय-विज्ञान विज्ञ साधक क्रियायोग दीक्षा और ज्ञान योग दीक्षा के द्वारा शाङ्कर साक्षात्कार के रहस्य का स्वयं भेदन कर होता है। इस तत्त्वैक्य की सिद्धि के लिये मन्त्र का आश्रय ग्रहण करता है। शिव का अन्तः साक्षात्कार कर निर्विकल्पान्त की उपलब्धि कर कृतार्थ हो जाता है।

इस प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण हेतु एकमात्र दीक्षा है। पहले समयी बनता है। पुनः पुत्रक दीक्षा प्राप्त करता है। प्रत्येक स्थिति में इस आम्नाय के अनुसार दीक्षा ही मोचिका मानी जाती है। इसमें गुरु के लिये भी निर्देश है कि, उसे क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये। जैसे—बुभुक्षु के कर्मों का शोधन अवश्य करणीय माना गया है। किसी भी स्थिति

में मुमुक्षु के शुभकार्यों का शोधन नहीं होना चाहिये। बुभुक्षु के शुभ कार्यों का शोधन उस समय आवश्यक हो जाता है, जब वह राजभोग और स्वर्गादि-भोग वासनाओं का परित्याग कर मात्र मोक्ष को आत्मसात् करने की प्रक्रिया में संलग्न हो जाय! शैव शासन की मान्यता है कि, शाङ्कर योग की सिद्धि के लिये दीक्षा अनिवार्यतः आवश्यक उपादान है। बिना दीक्षा के इसमें प्रवेश असंभव है।

इस तरह इस आह्निक में मण्डल अधिवास, मण्डल-रचना, श्री पूर्वशास्त्र के अनुसार मण्डल का निर्देश, सिद्धातन्त्र की विद्या, और अपने मत का प्रारम्भ में उल्लेख किया यया है। पुनः मण्डल के अन्तर्गत प्रतिष्ठित देवों की पूजा, लोकपाल पूजा, मन्त्रनाडी प्रयोग, शिवात्मिकाव्याप्ति का अवगम और महत्व, परमीकृति रूप शुद्धि, बलि (पशु) का समर्थन, पशु बलि में हिंसा बुद्धि का निषेध, शिवहस्त विधि, मण्डलस्थ होम विधान, मन्त्र के सन्दर्भ में स्वात्म को ६ प्रकार से देखने का महत्त्व, परोक्ष दीक्षा, विभिन्न न्यास विधान, वर्णाध्वा न्यास, षड्विध अध्वा का शोधन, मन्त्र, शोध्य और शोधक रहस्य, दीक्षा के ५९७८०० भेद, परा, अपरा और परापरा मन्त्रों के न्यास, जननादि वियुक्ता दीक्षा, विकल्प, संजल्प और विमर्श परामर्श पर एक शास्त्रार्थ आदि का विशद वर्णन इस आह्निक में किया गया है।

सप्तदशमाह्निकम्

सार निष्कर्षः

यह सत्रहवाँ आह्निक भैरवतादात्म्य दायिनी प्रक्रिया के रूप में प्रख्यात है। इसमें जननादि समन्विता दीक्षा की परीक्षा और समीक्षा है। इसका नाम विक्षिप्त दीक्षा पकाशक आह्निक है। विक्षिप्त शब्द विस्तृत अर्थ में प्रयुक्त है। यह दीक्षा महा प्रयोजना इतिकर्त्तव्यता के रूप में जीवन की आवश्यक अंग मानी गयी है। इसके कुछ विन्दु बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। जैसे,

१. मण्डल, कुम्भ, अग्नि, शिष्य और स्वयं गुरुदेव इन पाँचों को ऐक्यप्रदा व्याप्ति का दृष्टिकोण। यह एक महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक परिवेश है। दीक्षा के लिये मण्डल की रचना की गयी। उनमें अमृत कलश की प्रधान के रूप में प्रतिष्ठा हुई। उसी कलश पीयूष से दीक्ष्य को अभिषिक्त करना होता है। अङ्ग भूत अग्नि की स्थापना हुई। शिष्य का परिष्कार अग्नि में आहुतियाँ प्रदान करके ही सम्पन्न होता है। आचार्य इनका संयोजन कर भैरव तादात्म्य के नये आयाम का आविष्कार करता है। इसलिये इन पाँचों की साम्यप्रदा व्याप्ति इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हो जाती है।

२. शिष्य के परिष्कार की दूसरी प्रक्रिया के अनुसार उसको भुजा, ग्रीवा और शिखा में तीन गाँठों वाले, नर, शक्ति और शिवात्मक त्रित्व की दृष्टि से त्रिवृत् तथा आणव, कार्म और मायीय ग्रन्थियोग से युक्त, शरीर के ८४ अंगुल और ९६ अंगुल माप के बराबर सूत्र से बने यज्ञ सूत्र से आगन्तुक, सहज और शाक्त पाश पञ्जर को बाँधना आवश्यक माना जाता है। आह्निक के प्रारम्भ में ही इसके महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। छान्दोग्य के श्वेतकेतु के उपदेश प्रसङ्ग के उद्धरणों द्वारा इस प्रक्रिया का समर्थन आचार्य जयरथ ने किया है।

३. तीसरी प्रक्रिया तत्त्वशुद्धि भी अपनायी गयी है। सर्वप्रथम धरातत्त्व की शुद्धि के साथ नर तत्त्व की शुद्धि का विधान है। इसके बाद माया तत्त्व की उसके बीज मन्त्र से शुद्धि की जाती है। इसी सन्दर्भ में आवाहन, यजन तर्पण आदि का स्वच्छन्द तन्त्रानुसारी वर्णन भी अत्यन्त विशद रूप से वर्णित है।

आवाहन एक प्रकार का सम्बोध माना जाता है। यह आदि सिद्ध आराध्य का ही सम्बोधन होता है। इसमें शाक्ती दशा का उल्लास अनुभूत होता है क्योंकि आराध्य की पूज्यता की आवेश्यमानता इसमें स्पष्ट रूप से झलकती सी जान पड़ती है। बिना पूज्य भाव के किसी का आवाहन नहीं किया जा सकता। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि, नर और शिव भाव में मन्त्रों का नियोजन न कर शाक्त भाव में ही करना चाहिये।

सम्बोध, सम्बोधना प्रकाश और प्रकाशता के सन्दर्भ में प्रकाश्य की परकर्तृक प्रकाशना को समझाने का प्रयास करते हुए शास्त्रकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि, परकर्तृक प्रकाशना में प्रकाश की प्रकाशता नहीं होती। इसलिये प्रकाशता की ही मुख्यता होती है। प्रकाशता ही स्वतन्त्रता मानी जाती है। यह भी निश्चित है कि, पूज्यता प्रकाश और प्रकाशता अर्थात् स्वतन्त्रता में होती है। प्रकाश्य में नहीं। इसलिये जब प्रयोक्ता 'देवम् आवाहयामि' यह प्रयोग करता है, तो यह ऊहन करना पड़ता है कि, देव कौन है? 'देवं गणेशम् आवाहयामि' प्रयोग में ऊहन की आवश्यकता नहीं होती। यहाँ पूज्यता का पता तुरत हो जाता है।

इस तरह धरातत्त्व का आवाहन होने पर शिष्य के शरीर पर विशेष न्यास कर गुरु 'शिवहस्त' विधि का प्रयोग करता है। गुरु अपनी गौरवमयी ऊर्जा को शिष्य की ऊर्जा में समञ्जस कर देता है। शिष्य धन्य हो उठता है। शिष्य की वृत्तियों का परिष्कार हो जाता है और विकार निराकृत हो जाते हैं। शिष्य गुरु के तैजस परिवेश में तप्तदिव्य काञ्चन बनने की ओर अग्रसर हो जाता है। गुरु अपने क्रियायोग से शिष्य को नया जीवन देने में संलग्न होते हैं। शिष्य के सभी संस्कार भी गुरु संपन्न करते हैं। उसकी विधि इस प्रकार है—

शिष्य के प्रकाश की ऊर्जा को अपनी ऊर्जा से गुरु ऊर्जस्वल बनाता है। शिव की संवित्तिमयी ऊर्जा ही शिष्य के प्राण के रूप में पुलकित होती है। गुरु जब शिष्य के प्राण को अपनी ऊर्जा के परिवेश में समाहित करता है, तो वहाँ तीन क्रियायें होती हैं। १ शिष्य के शरीरबन्ध में बँधे प्राण में नयी गतिशीलता, २. गुरु के शरीर की प्राण ऊर्जा में समाहित होने के कारण नवीन स्थान की उपलब्धि और ३. अपने कर्म-स्वातन्त्र्य की उपलब्धि। इन दिव्यताओं से संवलित शिष्य का दूसरा जन्म होता है। गुरु उसके नये शरीर की संरचना कर लेता है। यह शिष्य के गभार्धान पुंसवन, निष्क्रमण आदि संस्कारों का प्रवर्त्तन है, जो गुरु की कृपा से हो रहा होता है।

शिष्य के तत्त्वपाशों का उच्छेद करने के लिये गुरुदेव पराविद्या का प्रयोग करते हैं अथवा पंचदशात्मक मन्त्र का प्रयोग करते हैं। भाष्य में इनका

पूरा विवरण है। पाशच्छेद प्रक्रिया पूरी करने पर हवन करना भी आवश्यक है। इसमें घी तिल आदि हविष्यान्नों या द्रव्यों का प्रयोग होता है। हवन के बाद धरातत्त्वेश्वर का आवाहन कर गुरु यह निवेदन करता है कि, हे ब्रह्मदेव! आप अनामय पथ के पथिक मेरे शिष्य के मुक्तिपथ को सदा प्रशस्त रखें। कभी किसी प्रतिबन्ध की सम्भावना न हो, ऐसी कृपा करें।

इसी प्रकार जल आदि तत्त्वों की प्रक्रिया में ये विधियाँ अपनायी जाती हैं। फिर कलातत्त्वगत पाशों का भेदन कर शिष्य को निष्कलता की ओर प्रेरित करते हैं। कार्ममल को मन्त्र के वैश्वरूप्य के साहाय्य से वह्निसात् करने की प्रक्रिया भी शिष्य के प्राण परिष्कार की एक अंग होतो है। कर्मपाश के मन्त्र भी ऊह विधि से भाष्य में स्पष्ट उल्लिखित हैं।

माया तत्त्वान्त पाशप्लोषण करने के बाद शुद्धविद्या स्तर में अनुप्रवेश होता है। शुद्धविद्या से ईश्वर, ईश्वर से सदाशिव पद में अनुप्रवेश में गुरु ही प्रमाण माना जाता है। यह ध्यान देने की बात है कि, सदाशिव पद में भी आणवमल की उपस्थिति बनी रहती है। यह दो प्रकार की हाती है। १. अधिकार की सूक्ष्मतम अहम् भावना और २. भोग की सूक्ष्मतम संस्कारवादिता। इन अधिकार और भाग के संस्कारों का निराकरण गुरु के अनुग्रह द्वारा ही सम्भव है। इस प्रक्रिया में स्वयं प्राप्त प्रज्ञा के कारण शैवशक्तिपात की भी महती उपयोगिता मानी जाती है।

इस तरह आणवपाश को दग्ध करने के उपरान्त मायोय पाश का दहन भी आवश्यक होता है। शास्त्रकार ने १७।७६ में इसकी स्पष्ट चर्चा की है। गुरु की कृपा, शास्त्रवर्ग के अनुसरण और स्वात्मसंविरसमुल्लास के बल पर साधक शिष्य उत्तरोत्तर तत्त्वों में अनुप्रवेश करते हुए शैवसंवित्ति की महामहनीय चेतना में अनुप्रवेश पा लेता है। इन विययों का उल्लेख इसी ग्रन्थ के ८।७-८, १५।२२६-२३८, २६५-२७३, २६४; १६।७७, ९०-९२; १५।३१० के प्रसङ्गों में किया गया है। अध्येता को इन सन्दर्भों का अध्ययन कर इसमें प्रौढ़ता प्राप्त करनी चाहिये।

शास्त्रकार ने अपनी सिद्ध अनुभूतियों को इस आह्निक में विशद अभिव्यक्ति दी है। मूलाधार से शून्यधामाब्ज की साधना यात्रा की सारी रहस्यवादिता का उद्घाटन कर महामाहेश्वर ने सार्वयुगीन साधकों का परम कल्याण किया है। इसे स्वयम् अभ्यास के द्वारा उपलब्ध हुआ जा सकता है। शास्त्रकार श्लोक ९१ द्वारा यह स्पष्ट घोषणा करते हैं कि, इस पथ का पथिक 'न भूयः पशुतामेति' अर्थात् वह शाश्वत मुक्त हो जाता है। पूरा सत्रहवाँ आह्निक इसी चर्चा में चरितार्थ है।

अष्टादशमाह्निकम्

सार निष्कर्षः

विक्षिप्त दीक्षा के बाद इस प्रकरण में शास्त्रकार में संक्षिप्त दीक्षा को विवेचना की है। यह दीक्षा शिवतापत्तिप्रदा दीक्षा मानी जाती है। इसमें न तो रजः प्रयोग की प्रक्रिया अपनायी जाती है, न अधिवास की आवश्यकता होती है। मण्डल निर्माण के लिये भूपरिग्रह आवश्यक होता है। इसमें उसकी भी कोई अपेक्षा नहीं होती। जहाँ कहीं भी मनःपूत स्थान में शिव की पूजा की जाती है। मानसिक रूप से अध्वाओं का ध्यान कर सारे ऐसे आयोजन सम्पन्न किये जाते हैं, जिनसे जननादि रहित दीक्षा प्रक्रिया पूरी हो सके। गुरु के ऊपर ही यह सब निर्भर है कि, वह इसे किस तरह कहाँ और कब पूरी करे। शिष्य के तत्त्वों का शोधन परामन्त्र से ही हो जाता है। स्वनिर्मित परामन्त्र युक्त, स्वाहा समन्वित पद से तत्त्व शोधन करता हूँ—इस भाव से भरित वाक्य योजन ही मन्त्र बन जाता है। इससे शोधन कर आह्निक सौ या हजार बार आहुतियाँ भी प्रदान की जाती है।

इस दीक्षा का सारा उतरदायित्व स्वभ्यस्तज्ञानवान् गुरु का होता है। गुरु जिस विधि का निर्देश करे, शिष्य को उसका आचरण करना

चाहिये। मालिनी विजयोत्तर तन्त्र में इस विषय का दिशा निर्देश है। इस सम्बन्ध में साधनात्मक विधि का निर्देश परामन्त्र प्रयोग के आदेश में संकेतित है। परामन्त्र को साधक हो जानता है। इसीलिये स्वभ्यस्त शब्द का प्रयोग किया गया है। यह एकतत्त्वान्ता दीक्षा है, जिसे शिवभावैक-भावित गुरु ही दे सकता है। किरण शास्त्र आदि में भगवान् शिव ने स्वयम् इसका प्रवर्त्तन किया है।

इसमें मातृका-युग्म वर्णों के प्रयोग की चर्चा की गयी है। इन्हीं से तत्त्वों का शोधन हो सकता है। अथवा पिण्डमन्त्र से भी तत्त्व शोधन करने की परम्परा है। श्री ब्रह्मयामल शास्त्र कहता है कि, संक्षिप्त दीक्षा में अभ्यासी और ज्ञानवान् गुरु का बड़ा महत्त्व है। सर्वाध्व-सामान्या व्याप्ति का दृष्टिकोण अपनाते हुए याग को विस्तार न देकर संक्षेप में ही सम्पन्न करना चाहिये। वास्तव में विक्षिप्त (विस्तृत) याग में तन्मयीभूति की सिद्धि नहीं होती। निरन्तर करने से वह हो भो सकती है किन्तु इसे उत्तम पक्ष नहीं माना जाता। दीक्षोत्तर तन्त्र और किरण तन्त्रों में इसका विशद वर्णन उपलब्ध है। संक्षिप्त दीक्षा को मोक्ष विधि का पालन सरलता से सभी लोग कर सकते हैं। अकूत धन राशि खर्च कर उपलब्धि से वञ्चित रहने में कोई बुद्धिमानी नहीं मानी जा सकती।

एकान्नविंशमाह्निकम्

सार निष्कर्षः

इस आह्निक में सद्यः समुत्क्रान्ति दीक्षा का निरूपण किया गया है। मन्त्र के प्रयोग से तत्काल मृत्यु को वरण करने को आकुल मरणासन्न व्यक्ति के लिये यह अत्यन्त उपयोगी दोक्षा मानी जाती है। मृत्यु तत्काल घटित हो जाय और आसन्नमृत्यु जीव अपनी पुनर्जन्म की नयी यात्रा शुरू करे, उसमें

यह सहायक होती है। देहपात होने पर शिवता की प्राप्ति हो जाय, इस उद्देश्य से भी मालिनी विजयोत्तरतन्त्रानुसारी यह दीक्षा दी जाती है। शांकरी दीक्षा को प्राप्त कर तत्काल शैवमहाभाव को उपलब्ध हो जाय, एतदर्थ गुरुवर्य शम्भुमूर्त्ति शंभुनाथ द्वारा आदेश प्राप्त कर शास्त्रकार इसे लेखन करने में प्रवृत्त हो सके।

गुरु के लिये इस आह्निक में यह स्पष्ट निर्देश है कि, वह उत्क्रान्ति दीक्षा कब दे, कैसे दे और किन स्थितियों में दे। सब का विचार करने के बाद ही वह इस प्रक्रिया में प्रवृत्त हो। उसे यह भी निर्देश दिया गया है कि, अपक्वमल, शेषकामिक विग्रह व्यक्तियों का उत्क्रमण न करे। यह गह्वरशास्त्र का भी निर्देश है। शिष्य जरा ग्रस्त हो, व्याधि से परिपीडित हो, उस कष्ट मुक्ति एवं परामुक्ति के उद्देश्य से ही सद्यः उत्क्रान्ति दीक्षा के द्वारा व्यक्ति को शैवमहाभाव में योजित करे। इस दीक्षा को परतत्त्व नियोजिका और समुत्क्रमण दीक्षा भी कहते हैं।

उचित समय का निर्णय कर गुरुदेव इसकी तत्काल व्यवस्था करें, यही उचित है। सर्व प्रथम इसलिये मर्मकृन्तनी क्षुरिका के प्रयोग का आदेश है। अत्यन्त दीप्तिमती इसे क्षुरिका-न्यास भी कहते हैं। कालानल के समान प्रज्वलित यह दँतोली होनी चाहिये। इसके बाद आग्नेयी धारणा द्वारा शिष्य के मर्म को भो उद्दीप्त कर लिया जाता है। इसकी अन्य विधियों का प्रयोग कर लेने के बाद चार उपायों का आश्रय लेना चाहिये। वे हैं—१. षोडशाधार २. षट्चक्र, ३. लक्ष्यत्रय और ४. खपञ्चक का अनुसन्धाम।

१. षोडश आधार निम्नलिखित हैं—

१. कुल, २. विष, ३. मूल, ४. अग्नि, ५. पवन, ६. घट, ७. सर्वकाम, ८. संजीवनी, ९. कूर्म, १०. लोल, ११. सुधाधार, १२. सौम्य, १३. गगनाभोग, १४. विद्याकमल, १५. चतुष्पथ और १६. नाडी। इन आधारों को भाष्य में परिभाषित किया गया है।

२. षट्चक्र—

१. नाडीचक्र (जन्म स्थान) २. माया चक्र, ३. योगी चक्र, ४. भेदन चक्र, ५. दीप्ति चक्र और छठाँ शान्त चक्र। इनका उपयोग आवश्यक है।

३. लक्ष्यत्रय—

१. अन्तर्लक्ष्य, २. मध्यलक्ष्य और ३. बहिर्लक्ष्य

४. खपञ्चक—

१. अनन्त (जन्म स्थान), २. व्योम (नाभि), ३. हृद्व्योम (अनाहत चक्र परिवेश) ४. मध्य व्योम (आज्ञा का विन्दु परिवेश) और ५. नाद व्योम (इसका स्थान नाद और नादान्त का परिवेश है ।

इसके अतिरिक्त साधनात्मिका दीक्षा का एक अन्य पक्ष भी शास्त्र में स्वीकृत है । उसका क्रम इस प्रकार है—

ज्ञानात्मक शाश्वत प्रकाश के प्रतीक त्रिशूलाब्ज सहस्रार के अधोमुख कमल के ऊर्ध्वनाल से समुदित होता है । उसमें मध्य शूलाब्ज में परावाग्देवी का उल्लास है । दक्षपार्श्व में अपरा और वाम पार्श्व में परापरा देवियों का उल्लास होता है । जिस समय परा संविद् साधना का अनुसन्धान साधक कर रहा होता है, उस समय इन देवियों को दीप्ति का परिवेश उसे भी प्राप्त हो जाता है । गुरु के निर्देश के अनुसार उसे वेदन, बोधन, भ्रग, दीपन, ताडन, तोदन और चलन नामक सात क्रियाओं को सम्पन्न करते हुए आगे बढ़ना पड़ता है ।

नासिक्य द्वादशान्त शिवविन्दु और शक्ति विन्दु युगल के अन्तराल में त्रिशूल के विलय को आध्यात्मिक प्रक्रिया अपनानी पड़ती है । कुल गह्वर शास्त्र के अनुसार ऐसा साधक शिष्य स्वयं सस्कार सम्पन्न हो जाता है । गुरु को उसके सस्कार करने की चिन्ता नहीं करनी चाहिये । न तो उसका निर्वाप या श्राद्धादि संस्कार करना चाहिये क्योंकि वह इस स्तर से बहुत ऊपर उठ चुका होता है । यह सारा वर्णन दीक्षोत्तर तन्त्र में वर्णित है । साथ ही यह स्पष्ट संकेत है कि, इच्छा मृत्यु के लिये वह्नि से संपुटित हंस को रुद्र-विन्दु से समन्वित कर जिस बीज मन्त्र की निष्पत्ति होती है, उसका जप करना चाहिये । इस प्रक्रिया से मृत्यु प्राप्त साधक को तत्काल मुक्ति हो जाती है ।

यह सब सिद्धयोगीश्वरी मत में भा उपवर्णित है । यह उत्क्रामणी दीक्षा कहलाती है । इसे सामान्य व्यक्ति को नहीं देना चाहिये । जिस व्यक्ति को प्राणचार [प्राणापानवाह] का अभ्यास नहीं है, वह इसे झेल नहीं सकता ।

इस विद्या को गुरु स्वयं साधक के कर्णकुहर में अर्पित करे या किसी प्रतिनिधि आत्मीय या पुरोहित से भी सम्पन्न करा सकता है। इसे ब्रह्मविद्या कहते हैं। इसमें होम का विधान है। सद्यः उत्क्रान्ति दीक्षा देने का अधिकारी गुरु ही होता है। वही यह निर्णय करता है कि, वह किसे दे और किसे न दे। अपने ज्ञान, मन्त्र, क्रियायोग और ध्यान से वह सद्यः उत्क्रान्ति दीक्षा देने में समर्थ होता है। जो कुछ हो, शास्त्रकार का यह सम्मत है कि, ज्ञान के सद्भाव में ही ब्रह्मविद्या की शक्ति का चमत्कार देखने को मिलता है।

यहाँ कुछ समस्यायें भी आती हैं। मान लीजिये, गुरु ने सद्यः उत्क्रान्ति दीक्षा दी। शिष्य के प्राणपखेरू उड़ गये। मृत्यु हो गयी। कभी कभी मृत्यु के बाद शिष्य के अवशेष कर्म बच रहते हैं। समस्या यह है कि, उनका भोग तो करना ही पड़ेगा। कहा गया है कि, "भोग से ही कर्मक्षय होता है।" शास्त्रकार की यह मान्यता है कि, सारे भोग इस ब्रह्म विद्या के प्रभाव से तत्काल ही भुक्त होकर क्षय हो जाते हैं। कुछ क्षीण बचे कर्म निष्प्रभावी हो जाते हैं।

गुरु इतना प्रभावशाली होता है कि, प्राण पखेरू के उड़ जाने की अकुल दशा में बिना क्रिया के भी उत्क्रान्ति विद्या का प्रयोग कर शिष्य के प्राणों को कञ्चुकों के जाल से निकाल कर अभीष्ट तत्त्ववर्ग में योजित कर देता है। गुरु के उपलब्ध न होने पर समयी या पुत्रक भी यह दीक्षा देकर शिष्य का उद्धार कर सकता है। इससे इनके समय का लोप नहीं होता। वरन् एक प्रकार का पुण्य ही होता है। मुमूर्षु का उपकार ही हो जाता है।

सद्यः उत्क्रान्ति नामक यह दीक्षा बड़ी ही महत्त्वपूर्ण है। इसे शास्त्रकार ने अपने गुरुदेव की आज्ञा के अनुसार ही इस आह्निक में वर्णन का विषय बनाया है। मालिनी विजयोत्तर तन्त्र में इस विद्या का उल्लेख है। इसका स्वयं प्रयोग भी किया जा सकता है। गुरु इस विद्या के प्रयोग का सर्वोच्च अधिकारी होता है। शिष्य नियतियन्त्रणाविधि के द्वारा अपने ऊपर नियन्त्रण रखता हुआ साधना में संलग्न रहता है। उसके लिये निर्दिष्ट है कि, वह अपने मन्त्र और अपनी अक्षमाला को गुरु को भी न सुनाये न दिखलाये। भगवान् शास्त्रकार कह रहे है कि, यह सद्यः उत्क्रान्ति दीक्षा प्राण के समान संगोपनीय है।

विंशतितममाह्निकम्

सारनिष्कर्षः

यह आह्निक प्रत्ययदायिनो तुलाशुद्धि दोक्षा का प्रकाशन करता है। इसलिये इस आह्निक का नाम ही तुला दीक्षा रखा गया है। शास्त्रकार ने इस दीक्षा को 'मूढाजनाश्वासदायिनी' संज्ञा से विभूषित किया है। विज्ञ जन तो सर्वदा सचेत रहता है। मूढ जन की सोयी हुई मनीषा कुछ प्रत्यक्ष चमत्कार देखकर विश्वास करती है। इसके लिये सबसे पहले इस आह्निक में एक उदाहरण का आश्रय लिया गया है। आग की लपटों वाली धोरणो को प्रदर्शक अपने हाथ में उठाकर कुछ निर्धारित दाने डालता है। वे जल जाते हैं। अब वे बोज जम नहीं सकते। उससे लोग यह विश्वास कर लेते हैं। इसी प्रकार तप की आग में जलकर कर्म बीज अवश्य जल जाते हैं। इस बात को श्रीमान् गुरुदेव श्री शम्भुनाथ ने कहा था।

जो गुरु जप, होम, अर्चा, ध्यान आदि में सिद्ध होकर इस सप्रत्यया, दीक्षा का प्रयोग करता है, वह लोक पूज्य हो जाता है। अवधूत, आचार-रहित व्यक्ति और तत्त्व ज्ञानी व्यक्ति को यह दोक्षा नहीं दी जानी चाहिये। यह सर्वमान्य तथ्य है कि, स्वप्रत्यय ज्ञान निश्चायक होता है। स्वात्म विश्वास के आधार पर सामान्य व्यक्ति कह उठता है कि, उस महात्मा ने अपनी हथेली से विभूति की वर्षा की। वह महात्मा आग के अंगारों पर और बहते हुए जल में भी चल सका। न जला और न डूब सका। प्रत्यक्ष स्वप्रत्यय ज्ञान फलान्तर की उत्पत्ति नहीं करते। ध्यान आदि से उत्कर्ष जनक फलान्तर उत्पन्न होते हैं। श्रीतन्त्रसद्भाव और श्री पूर्व शास्त्र में इन विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

आनन्द उद्भव, कम्प, निद्रा और घूर्णि ये पाँचों प्रत्ययदायी क्रियायें हैं। इनसे आविष्ट शिष्य की परोक्षा गुरु करता है। इन्हीं के आधार पर पाशस्तोभ, पशुग्राह और शेषवर्त्तन की क्रियायें गुरु पूरो करता है। लाघवमन्त्र के प्रयोग से शिष्य के भार को हल्का बनाकर तुला के पलड़े पर बिठाने पर शिष्य का पलड़ा उठ जाता है। इससे सामान्यजन को तुरत

शास्त्र पर, गुरु पर और मन्त्रों पर विश्वास जम जाता है। इस विषय के प्रसिद्ध मन्त्र का उद्धार भी शास्त्र में किया गया है। श्री तन्त्रालोक नामक इस ग्रन्थ के ३०।९३-९४ में भी इसका उद्धार किया गया है।

श्री तन्त्रराज नामक ग्रन्थ में तुला शुद्धि का सन्दर्भ है। आचार्य जयरथ ने उसका उदाहरण भी अपनी विवेक व्याख्या में दिया है। उसके अनुसार कुछ सीमा तक समतोल पाषाण या २७ फूल से बनी माला को तुला के एक ओर और दूसरी ओर शिष्य को बिठाने पर शिष्य का पलड़ा हल्का हो जाता है। इस दीक्षा के उपरान्त शेष वर्त्तन की प्रक्रिया गुरु पूरी करता है।

एकविंशतितममाह्निकम्

सार निष्कर्षः

परोक्ष दीक्षा प्रकाशन नामक इस आह्निक में शास्त्रकार ने उन विशिष्ट विधियों का उल्लेख किया है, जिनके प्रयोग से देश और काल दोनों दृष्टियों से परोक्ष व्यक्तियों को दीक्षा देकर उनका उद्धार किया जा सके। परोक्ष व्यक्तियों में कई प्रकार के लोग आते हैं। जैसे—

१. गुरु को सेवा में शिष्य लगा हुआ हो। भक्ति भावना से ओत प्रोत शिष्य की वहीं मृत्यु हो गयी। अभी उसे दीक्षा भी नहीं मिली थी कि, वह देश और काल दोनों से परोक्ष हो गया।

२. दीक्षा की इच्छा लिये मर गया व्यक्ति।

३. अधर शास्त्र में दीक्षित वह व्यक्ति, जो ऊर्ध्व शास्त्र की दीक्षा के इच्छुक हैं और गुरु से दूर देश में निवास करते हैं या मर चुके हैं।

४. समय दीक्षा से दीक्षित किन्तु पुत्रक दीक्षा के आकांक्षी जोवित या मृत पुरुष।

५. डिम्बाहत, योगेशोभक्षित, अभिचारमृत, शस्त्रघात, लूटपाट यन्त्रघात और समयोल्लङ्घन-पश्चात्ताप में मृत व्यक्तियों को परोक्ष दीक्षा दी जा सकती है।

इस विषय स्कन्द-शिव संवाद के उदाहरण द्वारा भी सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि "मरणोपरान्त दोक्षा मुक्ति के उद्देश्य से दी जातो है और उसे पारोक्षी दीक्षा भी कहते हैं।"

इसके कुछ ऐसे लोगों की गणना भी की गयो है, जिन्हें पारोक्षी दीक्षा दी जा सकती है—

पहाड़ की चोटी से गिरकर मृत, पेड़ की डाल टूटने या प्रमादवश पकड़ ढीली पड़ने से गिर कर मृत, गले में फाँसी लगाकर मृत, ट्रक आदि शकटों से कुचल कर मृत, आग से जलकर मृत, घर ढह जाने से मृत, नदियों, जलाशयों, कूपों समुद्रादि में डूबकर मृत, मूढगर्भ, गर्भस्राव से मृत, भैंसे या दुष्ट जानवरों के हमले से या काटने से मृत, आत्मघात से मृत, गोघ्न, ब्रह्मघ्न, मातृघ्न, पितृघ्न, रोगमृत लूतादिविस्फोट मृत तथा अन्यान्य राजा, आलसी आदि असंख्य कारणों से मृत व्यक्तियों को दीक्षा यद्यपि पारोक्षी ही है किन्तु इसे 'मृतवती पारोक्षी' दीक्षा के नाम से जाना जाता है।

शिवदायिनी मृतोद्धारो दीक्षा उस समय भी दी जानी चाहिये, जब कि, उसके बन्धु बान्धव, उसकी स्त्री, मित्र, पुत्र अथवा अन्य कोई शुभेच्छु प्रणत भाव से गुरु से प्रार्थना करे कि, उस व्यक्ति का उद्धार होना चाहिये। उस समय गुरु अवश्य इस मृतोद्धारी दीक्षा का प्रयत्न करे। ये बातें श्री मृत्युञ्जय और सिद्धा आदि शास्त्रों में भी उल्लिखित हैं।

मृतोद्धारी दीक्षा में अधिवास, चरु प्रक्रिया, मण्डल निर्माण, शय्या प्रकल्पन आदि की कोई आवश्यकता नहीं होतो। इस प्रक्रिया में मन्त्र सन्निधान की आवश्यकता होती है। इसके दो भाग किये जाते हैं। १. क्रिया भाग और २. ज्ञान भाग। क्रिया भाग में १. क्रिया २. उपकरण, ३. स्थान,

४. मण्डल, ५. आकृति और ६. मन्त्र। इन छः का आश्रय गुरु लेते हैं। ज्ञान भाग में १. ध्यान, २. योग, ३. भक्ति, ४. ज्ञान, और ५. तन्मयत्व इन विन्दुओं का गुरु यथा सन्दर्भ आश्रय लेते हैं। इन प्रयोगों में यद्यपि किसी बाहरी आदमी का प्रवेश वर्जित है, फिर भी ऐसा हो जाने पर ध्यान नहीं देना चाहिये।

क्रिया भाग के विन्दुओं के सम्बन्ध में कहा गया है कि,

१. क्रिया बहुत संक्षेप नहीं करना चाहिये।

२. उपकरण स्वच्छ और पवित्र हों।

३. स्थान ऐसा हो, जहाँ मन रम जाय।

४. आकृति बनाने में कुश और गोमय का प्रयोग करना चाहिये।

५. मण्डल त्रिशूलाब्ज होना चाहिये और

६. मन्त्र का अधिकार गुरु का है। उसे दीप्त मन्त्रों का प्रयोग करना चाहिये।

इसके बाद गुरु देव आकृति में उस मृत का अध्याहार कर 'महाजाल' विधि का प्रयोग करे। समस्त अध्वाओं के मध्य से मृत चित्त का आकर्षण कर उस आकृति में सन्निधापित करे। महाजाल प्रयोग तन्त्रशास्त्र का अभिनव और अपना आविष्कार है। उसकी संक्षिप्त विधि में ये प्रयोग किये जाते हैं—

१. स्वात्मावस्थान द्वारा स्व में अवस्थिति का प्रयोग।

२. मूलाधार में अश्विनी मुद्रा का प्रयोग।

३. मेरु दण्डों में चक्र चालन।

४. नाड्यध्व का नियन्त्रण और प्राण को दण्डाकार रूप प्रदान करना।

५. स्वप्राण को विश्व प्राण सत्ता में प्रक्षेपण।

६. विश्व को मायात्मकता में भी अपनी प्राणवत्ता को प्रदीप्त रखने की सावधानी।

७. गुरु के प्राणों को संवित्तिमयी ऊर्जा से रश्मियों का जाल बन जाता है। उसमें से विश्व को प्राणसत्ता की मायामयी इन्द्र जालिका में फँसा प्राण दीख जाता है। गुरु तुरत उस प्राण का आकर्षण कर लेते हैं।

८. उस प्राण को सर्वप्रथम अपने प्राण के वात्सल्य से पुलकित कर मण्डल में निर्मित कुश और गोमय से बनी शवाकृति में डाल देता है।

९. गुरु अब मन्त्र का प्रयोग करता है। सम्भवतः वह माया बीज ही होता है।

१०. बीज मन्त्र के साथ मृतात्मा का नाम जोड़ कर उस शवाकृति में मन्त्र की ऊर्जा का बल प्रदान करता है।

११. विघ्नों से बचने के लिये आचार्य आत्म-कवच रूप से अपने को शैवमहाभाव से भावित रख कर क्रिया शक्ति को उदीप्त करता रहता है।

१२. महाजाल के प्रयोग से सारा अध्वचक्र गुरु की मन्त्रमयो महाविधा से प्रभावित रहता है। परिणामतः वह जीव स्वर्ग, तिर्यग्योनि और नरक आदि कहीं भी हो, उसे आना ही पड़ता है।

१३. केवल मनुष्य शरीर में आ जाने वाला वह प्राण शवाकृति में आता है फिर भी देहान्त होने पर इस प्रयोग के फलस्वरूप उसकी मुक्ति हो जाती है।

१४. मनुष्य देह में स्थित उसका प्राण उस शवाकृति में निष्ठ तो होता है पर प्रतिभात नहीं होता है। इसे स्वाधिष्ठिति की व्यापकता कहते हैं।

१५. यद्यपि वह जीव उस कुश गोमयाकृति में आ जाता है पर श्रान्ति और सुषुप्ति के कारण न स्पन्दित होता है, न कुछ जान पाता है, न बोल ही पाता है। इच्छा तो उसमें होती ही नहीं।

१६. जब उस दर्भादि निर्मित आकृति को मन्त्र के माध्यम से अग्नि में निक्षेप करते हैं, तो उस समय उसको मुक्ति हो जाती है।

१७. मन्त्र के बल से उस दर्भज शरीर में स्पन्दन हो जाता है। उससे लोगों को विश्वास हो जाता हैं कि, यह महाजालनामक प्रयोग कितना महत्त्व-पूर्ण है।

यह मृताद्धारी दीक्षा का एक शब्द-चित्र है। इसी तरह जीवत्परोक्ष-दीक्षा भी जा सकती है। व्यक्ति अमेरिका में निवास कर रहा है। गुरु भारत वर्ष में है। वहाँ से वह प्रार्थना करता है कि, मेरी पारोक्षी दीक्षा सम्पन्न करने की कृपा करें। आचार्य इस पर विचार कर यहीं से उसे दीक्षित कर देता है। इस दोक्षा को जोवत्पारोक्षी दीक्षा कहते हैं।

इसमें जाल प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती। इससे उसके मरने का भय बना रहता है। संकल्प मात्र से परोक्षस्थित जीव आकृष्ट हो जाता है। आचार्य इस बात के लिये सावधान रहते हैं कि, दीक्षा का यह मङ्गल अमङ्गल में न बदल जाय। इसलिये इसमें पूर्णाहुति और आकृति का अग्निदाह आदि कर्म नहीं किये जाते। मन्त्रों के प्रयोग द्वारा श्रीजीवत्पारोक्षी दोक्षा सम्पन्न हो जाती है। इस क्रिया की अनुभूति उस पुरुष में हो जाती है।

कुछ अवस्थायें ऐसी होता हैं, जिनमें महाजाल प्रयोग निषिद्ध है। जैसे—

१. यदि आचार्य का ज्ञान परिमित है, पूरी तरह जालाकृष्टि प्रयोग में यदि दक्ष नहीं हैं, तो उनमें पारिमित्य दोष आ जाता है। उन्हें तब यह नहीं करना चाहिये अर्थात् जालाकृष्टि को असमर्थता का अनुभव कर अस्वीकार कर देना चाहिये।

२. ईश्वरता जीवन का वरदान है। अणु पुरुष स्वयं संकोच ग्रस्त रहता है। अतः उसमें ऐश्वर्य का भाव नहीं आ पाता। इसे अनैश्वर्य दोष कहते हैं। अनैश्वर्य दशा में भी स्तरोयता के अभाव के कारण आचार्य जालाकृष्टि प्रयोग न करे, यही उचित है।

३. नियतियन्त्रण—नियति एक कञ्चुक है। कञ्चुक का कसाव ही नियतियन्त्रण कहलाता है। यह एक दोष है। इस आवरण से मुक्त पुरुष हो यह दीक्षा दे सकता है। नियति यन्त्रित आचार्य को जालाकृष्टि प्रयोग नहीं करना चाहिये। रागद्वेष आदि कारण से भी उसे नहीं करना चाहिये। अर्थात् कभी भी अनधिकार चेष्टा अनुचित होतो है।

कभी एक विचित्र घटना घटित हो जाती है। एक व्यक्ति के चार पुत्र हैं। पिता वृद्ध हैं। वे चिन्तित हैं। पुत्र अलग अलग दूर देशों में रहते हैं। सम्पर्क नहीं हो पाता। चारों ने चार आचार्यों से अलग अलग पारोक्षी दीक्षा पूरी करा ली। ऐसी अवस्था में ऊर्ध्व सम्प्रदायाम्नाय के आचार्य की दीक्षा ही बलवतो मानी जाती है। उससे सभी दीक्षाओं के संस्कार हो जाते हैं।

समान सम्प्रदायाम्नाय के कई आचार्यों द्वारा दी गयीं दीक्षायें भी पुष्ट और बलवती हो जातो हैं। भोग लिप्सु की भोग योजना भी इस दीक्षा द्वारा सम्पन्न हो जातो है। भोग से विराग बड़ा कठिन है। भोगेप्सु के लिये तो और भी कठिन माना जाता है।

श्रीमान् धर्म शिव नामक आचार्य की कर्म पद्धति में एक नयी बात की ओर संकेत किया गया है। पारोक्षी दीक्षा की पूर्णाहुति के समय हविष्य जलने पर जो शब्द होते हैं, उनसे इस दीक्षा को अधिकारिता और स्तरीयता की सूचना हो जातो है। जैसे अग्नि में जलते समय चिटचिट शब्द होना, धुँयें का आधिक्य, नीलमेघ की छाया को समानता भरा दृश्य, कम जलना, लपटों की भभक, घोर रूपता, पृथ्वी की ओर चिपकना, कोवे की सो आवाज आदि होने पर जिसे दीक्षा दी जानी है, वह स्तरीय नहीं है यह सूचित होता है। उसे दीक्षा नहीं दी जानी चाहिये।

ब्रह्म हत्या जेसे घोर पातकों और उपपातकों से ग्रस्त जीव की दीक्षा में सावधान रहना चाहिये। उसे देते समय निर्दिष्ट मन्त्र का प्रयोग कर आचार्य संकल्प करे कि, मैं इसके पापों को अग्नि के हवाले कर रहा हूँ। इसमें एक सहस्र होम का विधान है। इसमें नवात्मा मन्त्र के निष्कल, सकल, मायात्रितय कालनियति, राग, प्रधान, बुद्धि, विद्या और पार्थिवांश में निर्धारित प्रयोग कर मन्त्र निर्माण कर लेते हैं। संन्निहित जीवित व्यक्ति के लिये भी इस विधि का प्रयोग किया जा सकता है। अन्त में यह कहा जा सकता है कि, तत्त्ववेत्ता साधक आचार्य पशुभाव से जिस किसी प्रकार से मोचन करे, वही मार्ग उचित है। इस यज्ञ में कृपणता वर्जित है।

द्वाविंशतितममाह्निकम्

सार निष्कर्षः

यह आह्निक लिङ्गोद्धार दीक्षा की अभिनव आविष्कृत विधि के प्रवर्त्तन के उद्देश्य से प्रवर्तित है। किसी दूसरे आम्नाय में इस दीक्षा की परम्परा नहीं है। इसीलिये इसे 'शिवशासनैकनिर्दिष्टा' विधि कहते हैं। बहुत लोग अन्यान्य अधर शास्त्रों के अनुसार अधर दीक्षा ले लेते हैं। जानकारी मिलने पर वे ऊर्ध्वाम्नाय के आचार्य के पास जाते हैं और सब कुछ बताकर दीक्षा लेना चाहते हैं। ऐसे लोगों का लिङ्गोद्धार करना पड़ता है। इसीलिये इसे लिङ्गोद्धार दीक्षा भी कहते हैं। ऊर्ध्वाम्नाय की यह मान्यता है कि, सभी अनुग्राह्य हैं। शैव शासन सबका उद्धार कर सकता है। इस शासन से पतित का कोई सम्प्रदाय उद्धार नहीं कर सकता क्योंकि सभी अधर शासन हैं। इसी ग्रन्थ के १३।३५७-३५९ श्लोकों में ये तथ्य पहले ही प्रतिपादित हैं।

लिङ्गोद्धार दीक्षा का आसूत्रण श्रीपूर्व शास्त्र में भी है। धारणाओं के सन्दर्भ में यह उल्लेख वहाँ किया गया है कि, जो पार्थिव धारणा में योजित है, वहाँ से निवृत्त नहीं होता। अन्त में शिव में समायोजित होकर विराग के मार्ग में अग्रसर हो जाता है। सिद्ध योगेश्वरी मत के अनुसार स्वयं महेश्वर ने कपिल से इस वैदान्तिक विज्ञान की व्याख्या की थी। इन सन्दर्भों से यह ध्वनित होता है कि, अधर शासनस्थ यदि ऊर्ध्वशासन में समायोजित किये जाते हैं, तो उनका उद्धार हो जाता है। यही लिङ्गोद्धार दीक्षा का उत्स है।

लिङ्गोद्धार दीक्षा का एक विशिष्ट क्रम है। वह इस प्रकार है—

१. **शक्तिपात**—गुरु एवं परमेश्वर शिवद्वारा साधक पर शक्तिपात होता है, जिससे उसके अस्तित्व का परिष्कार हो जाता है। इससे शिवतापत्ति का पथ प्रशस्त होता है। शिष्य का संस्कार करने में आणवी, बोधिनी और शोधिनी शक्तियाँ भी सहयोग करती हैं।

२. **मलहानि**—सकल पुरुष में आणव, कार्म और मायीय ये तीनों मल रहते हैं। इन मलों का निराकरण आवश्यक होता है। इनको हटाने के उद्देश्य से ही गुरु निर्मलता के विज्ञान से शिष्य को समन्वित करता है।

३. **पिपासा**—इसी भावना से भावित शिष्य सद्गुरु की शरण में पहुँचता है। शरणागत होने पर ही गुरु शक्तिपात करता है।

४. **दीक्षा**—इसके बाद ही दीक्षा का क्रम आता है।

५. **बोध**—बोधिनी शक्ति के अनुग्रह से ही स्वात्म संविद् वपुष् परमेश्वर का अभेदतादात्म्य सिद्ध होता है।

६. **हेयोपादेयभाव**—भोगवाद हेय और निवृत्ति मार्ग उपादेय है। इस विज्ञान का होना अनिवार्यतः आवश्यक है।

७. **पतिकर्त्तृत्वसंक्षय**--भेदवाद पर आधारित समस्त मान्यताओं का क्षय भी आवश्यक है।

८. **स्वात्म संस्थिति**—स्थितप्रज्ञता के लिये शिष्य को स्वात्म-सत्ता का उत्कर्ष करना चाहिये।

उक्त आठ बिन्दु प्रधानतया साधक के इति कर्त्तव्य माने जाते हैं। जहाँ तक वैष्णव बौद्ध आदि अधर मान्यताओं का प्रश्न है, उनके मन में शैवप्रेरणा से ऊर्ध्वशास्त्रज्ञान का संकल्प समुदित होता है। संकल्प के अनुसार वह ऊर्ध्वाम्नायनिष्ठ गुरु के पास जाता है। उस समय गुरु लिङ्गोद्धार की प्रक्रिया अपनाता है। इस क्रम में जो दीक्षा दी जाती है, उसे लिङ्गोधृति दीक्षा कहते हैं। श्री तन्त्रालोक १३।२८१-२८३ में इस विषय की चर्चा है। उसके अनुसार,

१. ऐसे जिज्ञासु दीक्ष्यों की द्विगुणित संस्क्रिया आवश्यक होती है।

२. अधर-शासनदीक्षा प्राप्त ऐसे लोगों की शिव की कृपा से ही इधर प्रवृत्ति होती है।

इस दीक्षा के क्रम

१. शिष्य को दिन भर उपवास कराकर दूसरे दिन नित्यक्रियोपरान्त स्थण्डिल में भगवान् की पूजा कर समयाचार की शिक्षा देनी चाहिये।

२. गुरु भगवान् से, अधिकार प्राप्त देवों से यह प्रार्थना करता है कि, भगवन् ! इस दोक्षा में प्रवृत्त इस शिष्य की आप रक्षा करें। इसे पूर्वलिङ्ग-परित्याग का पश्चात्ताप न होने पाये।

३. स्नान और अभिषेक के बाद पञ्च गव्य दन्तकाष्ठ का समर्पण कर उसके नेत्रों पर पट्टो बाँध देते हैं और मण्डल में बने निर्धारित स्थान पर उसे बिठला कर गुरु चरणों में नमन का उपदेश करते हैं। इसे प्रणिपात कहते हैं।

मन्त्र विवरण—जिन मन्त्रों से पूजा सम्पन्न की जातो है, उनका संक्षिप्त विवरण शास्त्रकार ने प्रस्तुत किया है। इनमें से किसी एक मन्त्र से ही पूजा होतो है। ये सात प्रकार के होते हैं—

१. प्रणव, २. मातृका, ३. माया, ४. व्योमव्यापो, ५. षडक्षर, ६. बहुरूप और ७. नेत्रमन्त्र।

ये साधारण मन्त्र माने जाते हैं। इनमें से किसी एक मन्त्र से हो पूजा करानो पड़ती है। आचार्य इन्हीं सातों में से एक को शिष्य के लिये अर्पित करता है। शिष्य नियमतः उस मन्त्र का जपकर सिद्धि प्राप्त करता है। आचार्य उसके बाद उसके प्रायश्चित्तों का शोधन करता है। शोधन करने के उपरान्त हवन और पूर्णाहुति करने से उसको लिङ्गोद्धृति हो जाती है।

लिङ्गोद्धृति के अनन्तर दीक्षा कर्म प्रारम्भ होता है। इसमें अधिवास से लेकर स्वेष्ट दीक्षा पर्यन्त सारी विधियाँ पूरी की जाती हैं। यद्यपि आचार्य उसे दोक्षित करता है फिर भी उसको मोक्ष दीक्षा नहीं प्रदान करता। ऐसे शिष्य को पूनर्भू कहते हैं। ऐसे पुनर्भू शिष्यों में भो यदि ज्ञान की ज्योति से उनका अस्तित्व ज्योतिष्मन्त हो जाय, तो उन्हें ज्ञानेद्ध पूनर्भू शिष्य कहते हैं। इन्हें मोक्ष को दीक्षा दी जा सकती है।

उनमें से कुछ ऐसे भो भाग्यशाली होते हैं, जो ज्ञानेद्ध होकर गुरुत्व के स्तर तक पहुँच जाते हैं। वे दूसरे के मोक्ष मार्ग को प्रशस्त करने के अधिकारी हो जाते हैं। श्री देव्यायामल और कामिक शास्त्रों की भी यही मान्यता है कि, ज्ञानेद्ध सर्वाधिकारी हो सकता है। कामिक शास्त्र की एक ऐसी उक्ति है, जिससे यह भी सिद्ध होता है कि, कुछ भी हो, रहस्य का

प्रकाशन नहीं करना चाहिये। एक दूसरे दृष्टिकोण से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि, अज्ञ गुरु का शिष्य भी 'अज्ञ' ही होता है। ऐसे शिष्य और गुरु दोनों का संस्कार आवश्यक होता है।

अज्ञ आचार्य के मुख से मिला मन्त्र भी निर्वीर्य ही होता है। ऐसे मन्त्रों से दीक्षित शिष्य पुनः दीक्षा योग्य होता है। सद्गुरु ऐसे शिष्यों की पहचान कर उन्हें दीक्षा योग्य बनाकर दीक्षा दे। कुछ लोगों के अनुसार दीक्षा किसी भी दशा में दी जा सकती है। शिष्य की परीक्षा रहस्य संवलित ज्ञान की दीक्षा देते समय करनी चाहिये। कुछ भी हो, दीक्षा योग्य, शिष्य को ही दी जाना चाहिये। शिष्य का भी यह परम कर्त्तव्य है कि, सद्गुरु समझकर ही शरणापन्न होवे। यदि उसकी समझ में यह बैठ जाय या उस गुरु की अज्ञता का बोध हो जाय, तो वह उस गुरु का तत्काल परित्याग कर दे।

तिरोहित शिष्य की तो सबसे बड़ी पहचान यही कि, यदि वह तिरोहित होता, तो सद्गुरु की शरण में जाने की प्रवृत्ति ही उसमें न होती। उसके मन में ऊर्ध्वोपाय विवेक की आकाङ्क्षा ही न होती। सिद्धान्त मतवाद के अनुसार शिष्य को चौसठ भेद वाले भैरवीय सम्प्रदाय में दीक्षित करना आवश्यक है। एक शिष्य को सिद्ध वीरावली शास्त्र के अनुसार पुनः भैरव सद्भाव तन्त्र के अनुसार दीक्षा दी गयी। इसके बाद उसे इससे भी ऊर्ध्वावस्थित कुल मार्ग की दीक्षा दी गयी। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि, सारे अधरस्थ शिष्य लिङ्गोद्धार दीक्षा से अनुगृहीत किये जा सकते हैं।

शास्त्रकार का यह मत है कि, हृदय देश में विराजमान भगवान् महेश्वर की प्रेरणा से जो शिष्य विस्तृत शास्त्र-ज्ञान चाहता है, वह निश्चित रूप से सद्गुरु की शरण में पहुँचता ही है। उसे यह भी ध्यान रखना है कि, विविध ज्ञान प्राप्त करने के लिये विविध गुरुजनों से ज्ञान प्राप्त करने में संकोच नहीं करना चाहिये। श्री 'मत' शास्त्र में लिखा है कि, आमोदार्थी भृङ्ग जैसे एक पुष्प का परित्याग कर दूसरे पुष्पों का रस पान करने के लिये

अन्यान्य पुष्पों पर पहुँचता है, उसी तरह विज्ञानार्थी शिष्य एक गुरु को छोड़ कर अन्यान्य गुरुजनों से ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इसका उत्तम पक्ष यह है कि, शिष्य पहले गुरु से पूछकर दूसरे गुरु के पास जाये।

यह ध्यान देने की बात है कि, विद्या की प्राप्ति और ज्ञान की उपलब्धि कोई भृङ्ग की आमोद-यात्रा नहीं है। इस जिगमिषा में मोक्ष का मर्मस्पृक् मनोज्ञ मधुपान छिपा हुआ है। इसलिये सर्वज्ञान निधान गुरुदेव की शरण ग्रहण करनी चाहिये।

त्रयोविंशतितममाह्निकम्

सार निष्कर्षः

इस आह्निक में अभिषेक विधि का उपक्रम है। शिष्य की समय-दीक्षा के उपरान्त पुत्रक दीक्षा दी जाती है। यह सबीजा दीक्षा भी होती है। यह दीक्षा गुरु और साधक दोनों के लिये आवश्यक होती है। यह अधिकारिणी दीक्षा कहलाती है। दैशिक परम गुरु सामान्य गुरु और साधकों की तपस्या को, मेधा को, विद्या और विज्ञान को अपने अनुभव के निकष पर निकषायित करते हैं। उसके बाद ही अभिषेक-सम्पन्न करते हैं। अभिषिक्त करने के उपरान्त वे अपना अधिकार भी उसको सौंप देना चाहते हैं। उनको यदि यह विश्वास नहीं हुआ कि, यह दीक्षा के उपरान्त विज्ञानवान् हो गया है, तो वह अभिषिक्त करने को बाध्य नहीं।

श्रीमत्कामिक शास्त्र में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि, जो विज्ञानवान् नहीं है। वह दैशिक का अधिकार अभिषेक के उपरान्त भी नहीं पा सकता। गुरु स्तरीय शिष्य के तीन गुण बड़े ही महत्त्वपूर्ण होते हैं।

१. वह बुभृषु हो, २. भविष्यत् उत्कर्ष के प्रति जागरूक हो और ३. ज्ञान विज्ञान के संवर्धन में सतत संलग्न हो। इन गुणों से विभूषित व्यक्ति को अभिषेक के बाद देशिक अपना अधिकार सौंप सकता है। अधिकार सौंपे जाने के उपरान्त भी देशिक का सर्वाधिकार सुरक्षित रहता है। उसका कोई निषेध नहीं कर सकता।

सिद्ध यागेश्वरी और कचभार्गव शास्त्रों के अनुसार ज्ञानवान् गुरु हो सर्वोत्तम गुरु हो सकता है। उसे पद वाक्य प्रमाणज्ञ, शिवभक्तियोगसम्पन्न, समस्तशिवशास्त्रार्थबोद्धा और कारुणिक होना चाहिये। श्री देव्यायामल शास्त्र में अयोग्य के लक्षणों पर भी प्रकाश डाला गया है। श्रीपूर्वशास्त्र के अनुसार शिष्य के हृदय कमल को ज्ञान सूर्य की रश्मियों से विकसित कर देने वाला गुरु ही वास्तविक गुरु है। योगचार तन्त्र के अनुसार जो जिस तन्त्र में दीक्षित है, उसे उसी मार्ग में अधिकार का प्रयोग करना चाहिये। इसलिये गुरु स्तरीय दीक्षित भो ऐसे गुरु का हो वरण करे, जो सम्पूर्ण-ज्ञानवान् हो। ऐसे ज्ञानी गुरु के देश कुलाचार और देह आदि लक्षणों का विचार नहीं करना चाहिये। देशिक गुरु के चरणों में उपस्थित होकर साधक शिष्य सर्वप्रथम गुरु पूजन करे। नियमित हवन प्रक्रिया पूरी करे। पुनः गुरु चरणों में उपस्थित होकर अपने मनोरथ को उसे सुना दे। साधक शिष्य मन्तव्य को सुन और गुन कर चौसठ कलशों के जल से उसे अभिषिक्त करे।

अभिषेक के उपरान्त देशिक आचार्य अभिषिक्त शिष्य की इति-कर्त्तव्यता का उपदेश दे। अभिषेक के उपरान्त अभिषिक्त को जिस अधिकार की प्राप्त होती है, उसे सब सुना दे। उसे यह भो बता दे कि, भविष्य में अब वह भी शिष्यों को अमिषिक्त कर सकता है। ज्ञानोत्तर तन्त्र में लिखा हुआ है कि, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वेंश्य, शूद्र, स्त्रो, नपुंसक आदि जितने भी हों, इस सम्प्रदाय के लोगों को बिना किसी परोक्षा लिये दीक्षा देनी चाहिये। ज्ञान और रहस्य प्रकाशन के समय भले हो साधक शिष्य को स्तरोयता को परीक्षा ली जा सकती है।

गुरु को ज्ञान का मूल माना जाता है। वह शिष्य के लिये सप्तसत्री का उपदेश करे। सप्त-सत्री में सात मुख्य बातों का समावेश होता है—

१. दीक्षा, २. व्याख्या, ३. कृपा, ४. मैत्री, ५. शास्त्रचिन्तन, ६. शिवैक्य और ७. अन्नादि दान। शिष्य इन बिन्दुओं को व्यावहारिकता को चरितार्थ करे। इसमें परोपकार के साथ स्वात्म कल्याण भी निहित है।

यथार्थ उपदेश देने वाले को ही आचार्य कहते हैं। क्रिया सम्पादन आदि सभी अवसरों पर कभी भी उसकी अवज्ञा नहीं होनी चाहिये। वह तो संसार सागर से पार उतारने वाला है। कभी भी उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये।

अभिषिक्त गुरु समाज और सम्प्रदाय दोनों के प्रति उत्तरदायी होते हैं। उनका यह कर्त्तव्य है कि, वह छः माह की सीमित अवधि में अपने ज्ञान को असीमित सन्दर्भों के रहस्यरिक्थ से विभूषित कर लें। अपने को और अनुजनों को शैवमहाभाव की तन्मयता में प्रवृत्त कर दें। उनके पाशों को छिन्न भिन्न करने का भरपूर प्रयत्न करें।

शैव-तन्मयता के सम्बन्ध में शास्त्र की मान्यता है कि, गुरु शास्त्र-विहित विद्याव्रत की विधाओं का अनुसरण करे—

हृच्चक्र से उठाकर नाद रूपा शक्ति को द्वादशान्त में निरूढ करने की प्रक्रिया अपनाये। इसमें सौषुम्न पथ का आश्रय ले। हृदय से द्वादशान्त तक की कुण्डलिनी जागरण के क्रम में ज्वलत्प्रभ मन्त्र की जप प्रक्रिया से अपने को दिव्य बनाकर प्राण सूर्य की ज्वाला में अपानचन्द्र के सोमरस रूपी आज्य की आहुति करे। इस प्रक्रिया से साधक मोक्ष का अधिकारी हो जाता है। श्री देव्यायामल शास्त्र में भी मूलाधार से लेकर उन्मना तक की अन्तर्यात्रा का बड़ा विशद वर्णन है। उसमें स्पष्ट घोषणा है कि, उन्मना के अन्त में परम शिव का साक्षात्कार हो जाता है। मन्त्रवीर्य की सिद्धि के लिये विद्याव्रत का अनुपालन आवश्यक माना जाता है। स्पन्द शासन में भी यह स्पष्ट कहा गया है कि, इस व्रत को पूरी तरह आक्रान्त कर सर्वज्ञबलशाली साधक के मन्त्र इतने शक्तिमन्त हो जाते हैं कि, जैसे इन्द्रियाँ विषयाधिकार में प्रवृत्त करती हैं, उसी तरह ये मन्त्र साधक को सर्वाधिकार सम्पन्न बना देते हैं। वह दीक्षा देने का भी अधिकारी हो जाता है।

इस सन्दर्भ में परीक्षा की चर्चा भी की गयी है। विपरीत प्रश्नों के उचित उत्तर से योग्यता का परिज्ञान हो जाता है। ब्रह्मयामल शास्त्र भी इसका समर्थन करता है। वह नित्याओं के अर्चन का उपदेश भी करता है। १६ स्वरों में षोडश नित्याओं का सृष्टि और संहार कम से अर्चन इस व्रत का ही एक अंग माना जाता है। शास्त्र के अनुशासन में रहते हुए दैशिक अपने शिष्यों को भी इसी तरह प्रतिष्ठित करने के लिये अपनी देशना का प्रयोग करे। बिजलो की तरह कौंध कर ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा यदि विलीन हो जाये, तो उस शिष्य को अयोग्यता स्पष्ट हो जाती है। ऐसे शिष्य से भविष्यत्-उत्कर्ष की आशा नहीं करनी चाहिये। उससे लोकापकर्ष ही सम्भव है, उत्कर्ष नहीं।

ऐसी दशा में विज्ञान का अपहरण करने का आदेश भी शास्त्र देता है। विज्ञानापहृति का विज्ञान भी आश्चर्यजनक विज्ञान है। इससे शिष्य को दिया हुआ गौरवज्ञान समाप्त हो जाता है और शिष्य मूढ़ का मूढ़ ही रह जाता है। उसको गुरु प्रदत्त शक्ति समाप्त हो जाती है। किन्तु यह विज्ञानापहृतिकी प्रक्रिया खेल, मनारञ्जन और और द्वेषवश नहीं अपनानी चाहिये। यह प्रक्रिया तिरोभावमयी प्रक्रिया होती है। गुरु शिव रूप होता है। उसने अनुग्रह कर मन्त्र दिया, विज्ञान की दीक्षा दी। शिष्य ने उसका दुरुपयोग किया। विवश होकर ही गुरु विज्ञान का अपहरण करता है। उस समय यह विज्ञान था। आज इसकी जानकारो नहीं प्राय है। दुर्भाग्य की बात तो यही हाती है कि, शिष्य ने गुरु विज्ञान के विपरोत आचरण कर समाज का, स्वात्मको और गुरु परम्परा को धता बताया। अन्यथा उससे विज्ञान का अपहरण ही क्यों करना पड़ता।

गुरु और शिष्य का सम्बन्ध बड़ा पवित्र होता है। सूर्य की किरणों से कमल कोष विकसित होता है और किरणाभाव में मुकुलित ही रह जाता है। शिष्य का भी यह कर्त्तव्य होता है कि, यदि उसके ज्ञान की भूख किसी एक से शान्त न हो, तो वह अन्य गुरु को शरण में जा सकता है। इस सन्दर्भ में अधर और ऊर्ध्व शासन के अन्तर पर भी ध्यान देना चाहिये। त्रिकदर्शन ऊर्ध्व दर्शन है, अन्य सभो अधर दर्शन। इसलिये सभी परिस्थितियों पर ध्यान

देते हुए किसी त्रिक दैशिक का आश्रय लेना ही श्रेयस्कर है। यह निश्चय है कि, ज्ञानवान् गुरु ही श्रेष्ठ है। ज्ञान उसका गुण है, अज्ञान उसका दोष। इन दोषों गुणों को ध्यान में रखकर सर्वदा सर्वथा अपने श्रेयः साधन की सिद्धि के उद्देश्य की पूर्त्ति में संलग्न रहना चाहिये।

शास्त्र में गुरु पर नियन्त्रण या उसका परित्याग करने की भी चर्चा है। उत्पथ में प्रतिपन्न, कार्य और अकार्य के विवेक से रहित, लोक विरुद्ध आचरणरत गुरु का अनुशासन या परित्याग अच्छा माना गया है। यह भी कहा गया है कि, समयाचार भ्रष्ट आचार्य का परित्याग कर देना चाहिये। आमोदार्थी भृङ्ग की पुष्पान्तर यात्रा की तरह गुर्वन्तर यात्रा भी करनी चाहिये। जो भी हो गुरु शिष्य के उत्कर्ष का सहभागी बने और शिष्य गुरु के हितचिन्तन के साथ आत्मोत्कर्ष की चिन्ता करे, यही उचित और श्रेयः साधक मार्ग है।

चतुर्विशतितममाह्निकम्

सारनिष्कर्षः

यह आह्निक अत्येष्टि संस्क्रिया की रहस्यवादिता का उद्घाटन करता है। अन्य शास्त्रों में वर्णित अन्त्येष्टि विधि में आडम्बर का आश्रय लिया गया है। उससे इष्टि के उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती। वस्तुतः इसके रहस्य की ओर ध्यान देना आवश्यक है। वास्तव में इसे यज्ञ का रूप प्रदान किया गया है। इसका लक्ष्य यह है कि, अधर मार्गी, अदीक्षित, शक्तिपात रहित, ऊर्ध्वशासन में दीक्षित होकर भी समयाचार रहित, समयोपहति, प्रक्रियोपहति और श्रद्धोपहति से सदोष अवस्था में मृत्यु हो जाने पर ऐसा कुछ करना चाहिये, जिससे इनकी मुक्ति हो जाय। दीक्षोत्तर शास्त्र की ही यह मान्यता है कि, प्रमादवश उपघात हो जाने के कारण सदोष लोगों का भी कल्याण हो जाय।

सिद्धान्त में यह स्पष्ट उल्लेख है कि, मृतोद्धारी दीक्षा के समय या तो शव-शरीर उपलब्ध होता है, या कुश आदि का पुतला बना कर उसे प्रतिष्ठित कर दीक्षा का कार्य किया जाता है। दोनों अवस्थाओं में शास्त्रोक्त विधाओं का प्रयोग करना चाहिये। किसी प्रकार का प्रमाद व्यक्तित्व को दूषित करता है। इस दूषण से उद्धार का यही एक मार्ग है। इसमें प्रयुक्त मन्त्रों का संहार क्रम से प्रयोग होता है। संहार क्रम अन्त्य से प्रारम्भ होता है और आदि उत्स तक पहुँचता है। इसलिये मन्त्र के अन्त्यवर्ण से प्रारम्भ कर आदि वर्ण तक पहुँच कर अर्थात् प्रयोग कर इसे सफल बनाने का उपक्रम करते हैं।

यह सारी विधि श्मशान विधि होती है। इसमें मण्डप निर्माण आदि की कोई आवश्यकता नहीं होती। कुलगह्वर शास्त्र में लिखा गया है कि, रोधन, वेधन, घट्टन और ताडन क्रियाओं के बाद योजन द्वारा दीक्ष्य को परतत्त्व में योजित करना चाहिये। आचार्य इन चारों क्रियाओं का विशेषज्ञ होता है। वह इन आध्यात्मिक और मान्त्रिक प्रयोगों द्वारा ऐसा चामत्कारिक प्रयोग करता है, जिससे मृतात्मा का उद्धार हो जाता है। यदि उसके संस्कार-जन्य दोषों से मुक्ति न भी मिले, तो भी वह खेचर तो अवश्य हो जाता है। कभी कभी शवशरीर के वाम अंगों में स्पन्दन भी हो जाता है। उससे सद्यः प्रत्यय होता है। दर्शक चमत्कृत हो उठते हैं। इस प्रक्रिया में शव के जीवन काल के पुर्यष्टक प्रकल्पन के साथ साथ प्राण का आकर्षण, तर्पण और हवन भी आवश्यक होता है।

इसमें चक्रों और चक्रदेवताओं का उपयोग आचार्य करते हैं। अनेक आगमिक प्रमाण देकर जयरथ ने इस आह्निक को सुरज्जित किया है और इसकी प्रामाणिकता को सिद्ध किया है। माधव कुल नामक शास्त्र को विशेष रूप से अपनाने का आग्रह इस आह्निक में है। शिव की पूजा, चक्रार्चा, प्रथम, तृतीय चतुर्थ दशम एकादश दिवसों में पूजा, वत्सर पूजा, वर्णपूजा अमापर्व-पूजा आदि सारे प्रयोगों का उल्लेख इस आह्निक में है। आधुनिक सन्दर्भ में इस इष्टि विधा पर अवश्य ध्यान देना चाहिये।

पञ्चविंशतितममाह्निकम्

सारनिष्कर्षः

इस आह्निक में सामान्यतया श्राद्धविधि का वर्णन है। सिद्धातन्त्र से यह सूचना मिलतो है कि, त्रिकमार्ग में भो श्राद्ध आवश्यक है। अन्त्येष्टि प्रक्रिया से जो विशुद्ध हो जाते हैं, अथवा अभो अशुद्ध हो रह जाते हैं, उनके लिये इसका उपयोग आवश्यक है।

इसमें भी आचार्य को दक्षता और योगसिद्धि आवश्यक मानी जाती है। सर्वप्रथम पूर्वोक्त विधि से हवन, पुनः नैवेद्य हाथ में लेकर अन्नमयी शक्ति-रूपिणी वृंहिका शक्ति से समन्वित मानकर साध्य को उसमें समाविष्ट करने का पूरा प्रकल्प पूरा करे। पुनः इसके भो भाग्यांश को भोक्त्रंश में नियोजित कर दे। इस प्रक्रिया से साध्य में सद्यः शिवीभाव उत्पन्न हो जाता है। इस एक विधि से हो साध्य की कृतार्थता सिद्ध हो जाती है फिर भी अन्य शान्ति के लिये अन्य विधियाँ अपनाना भो अच्छा माना जाता है।

जो ज्ञानो पुरुष होते हैं, उनकी मृत्यु के उपरान्त कोई विधि उनके लिये उपयोगी नहीं होतो। वे तो तत्त्वज्ञानार्क से विध्वस्त-ध्वान्त होते हैं। उनका श्राद्ध अनावश्यक होता है। उनके परिवारजन शिष्य जन, उनके पुत्रों पौत्रों के लिये उनके मृत्यु दिवसको पर्व के रूप में मानते हैं क्योंकि वह दिन ब्रह्म सायुज्य का दिन होता है। इसी तरह उनके जन्म दिन को जयन्ती की तरह मानते हैं हैं क्योंकि वह दिन प्रकाश अवतरण रूप पर्व होता है।

इस प्रक्रिया की एक विशिष्ट विधि नाडी प्रवाहण है। माता, पिता, गुरु और गुरु पत्नी के पर्वदिन पर मातृपक्ष के लिये वामनाडी प्रवाह और पिता या गुरु के लिये दक्षनाडी प्रवाह अपने अनुकूल कर उसमें ही नैवेद्य आदि का निवेदन करना चाहिये। किसी ऊर्ध्वमार्गस्थ प्रज्ञा-पुरुष के श्राद्ध में गुरु, देव और अग्नि का तर्पण आवश्यक है। इसमें चक्रेष्टि को सम्पादन का भी विधान है। कभी भी श्रौत विधि नहीं अपनानी चाहिये क्योंकि वह पाशव विधि है। पाशव विधि से यही तात्पर्य निकालना चाहिये कि, श्रौत श्राद्ध में स्वर्ग प्राप्ति और पुनः संसृति का संसरण ही उद्देश्य होता है। तान्त्रिक विधि में मोक्ष ही लक्ष्य होता है।

जैसे टूटे घंटे से अनुरणनपूर्वक क्वणन नहीं होता, उसी तरह श्रौत विधि से किसी लक्ष्य को सिद्धि नहीं होती। नाडी प्रवाहण की विधि का शास्त्र में उल्लेख है। इससे सरलता पूर्वक अनुकूल नाडो प्रवाहण हो जाता है। शक्तिपात के क्रम में दैशिक जोव को मुक्त बनाने को जिन विधियों को अपनाता है, वे सभो निर्वाणप्रद होती हैं। मतङ्ग शास्त्र में क्रियापाद, योगपाद और चर्या पाद आदि माध्यमों से मुक्ति की चर्चा शिव और नारद के कथोपकथन के रूप में की गयो है। यह भो कहा गया है कि, परमेश्वर शिव के सर्वानुग्रह सामर्थ्य में किसी का सन्देह नहीं करना चाहिये। मतङ्ग तन्त्र में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि, पृथ्वी से प्रारम्भ कर शिव पर्यन्त ३६ तत्त्वों का विवेक जिसे हो जाता है, उसे मुक्ति के लिये तरसना नहीं पड़ता। इसलिये तत्त्वविवेक, दीक्षा और स्वात्मसांसिद्धिकता से मुक्ति हस्तामलकवत् हो जातो है। यह भक्ति से सिद्ध होतो है।

यह भी इस सन्दर्भ में सोचना चाहिये कि, मृत्यु का वास्तविक कारण क्या है? क्या विषपान, योग, शस्त्राघात, असाध्य व्याधियाँ, आकस्मिक यन्त्राघात, गन्त्रीघात आदि मृत्यु के कारण हो सकते हैं? नहीं। लोग जहर पीकर भी जोते रहते हैं। सर्प से दंशित, असाध्य व्यधिग्रस्त आदि भी चङ्गे हो जाते हैं। अतः यही निश्चय करना चाहिये कि, भोगक्षय ही मृत्यु का कारण है। भोगक्षय होने पर छोटे कारणों से भी मृत्यु हो जातो है। इसलिये मुक्ति के लिये भोगक्षय स्थिति में पहुँचना सर्वेश्वर के प्रसाद पर निर्भर करता है। उसे पाने के लिये भक्ति का आश्रय लेना चाहिये।

दीक्षादि औपचारिक उपाय मात्र हैं। वास्तविक मुक्ति की उपाय शक्तिपातैकलक्षणा अनुध्या रूपा भक्ति ही है। अव्यभिचारिणी भक्ति का समर्थन सभो शास्त्र करते हैं। पाशव शास्त्रों में वर्णित भक्ति द्वैत भाव को पोषिका होती है। अतः वह उच्च स्तरीय भक्ति नहीं। उच्चस्तरीय भक्ति तादात्म्यलक्षणा भक्ति है। इसमें अद्वयवाद की कुसुमावली का सौरभ भरा होता है। इसी प्रकार की श्राद्धविधि अपनानी चाहिये। यह समस्त सन्देह-सन्दोह के आतङ्ककलङ्ककलुष का निराकरण करती है।

षड्विंशतितममाह्निकम्

सारनिष्कर्षः

शेष वृत्ति नामक यह लघुकाय आह्निक कई दृष्टियों से बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इस शास्त्र में समयदोक्षा से लेकर श्राद्धान्त विधियों का निरूपण किया गया है। इस निरूपण का लक्ष्य हो यह है कि, शिष्य संस्कार सम्पन्न हो सके। भोग और मोक्ष या दोनों को प्राप्ति कैसे सम्भव हो, उसके लिये शिष्य प्रयत्नशोल तभो रह सकता है, जबकि प्रेरक गुरु का वरदहस्त सदा शिष्य पर उठा रहे। दीक्षा साक्षात् मोचिका नहीं होतो। वह संस्कार सिद्धि में ही चरितार्थ हातो है। ऐसे दोक्षित व्यक्तियों के जोवन में कुछ ऐसे कार्य शेष रह जाते हैं। जिनका अनुपालन आवश्यक होता है। उसे शास्त्र में शेषवर्त्तन कहते है।

जहाँ भोग का व्यवधान नहीं होता, ऐसो पुत्रकादिको दो गयो निर्बीज दोक्षा साक्षात् मोचिका मानो जातो है। सांसिद्धिक प्रज्ञा-पुरुष ओर निर्बीज दोक्षा प्राप्त पुरुषों को शेष वर्त्तन के लिये शास्त्र भो छूट देते हैं। चाहे बुभुक्षु हो या मुमुक्षु दोनों त्रिप्रत्यय ज्ञान अर्थात् गुरुतः, शास्त्रतः और स्वतः प्राप्त ज्ञान के आधार पर स्वात्म को संस्कार सम्पन्न रखने के लिये समान रूप से प्रयत्नशोल रहें, यहो उत्तम है। अपने शासन में रहकर भुक्ति अथवा मुक्ति के लिये निरन्तर सक्रिय रहना चाहिये। परापेक्षा को उपेक्षा कर स्वतः सक्षम भाव से संलग्न रहने पर ही मोक्षलक्ष्मी का साक्षात्कार होता है।

इसके लिये सन्ध्या का अनुष्ठान, देववर्ग, गुरु, अग्नि और शास्त्र का अभिनन्दन वन्दन, श्रद्धापूर्वक अर्चन एवं स्वाध्याय, प्राणि वर्ग के प्रति दया भाव, समस्त नित्य और नैमित्तिक पर्व गत समारोह और आराधन, जप, पवित्रक विधि, दोक्षा के अनुशासन सम्बन्धी नियमों का अनुसरण और स्वात्म संविद्वपुष् परमेश्वर के तादात्म्य का समावेश ये सभी आवश्यक इतिकर्त्तव्य रूप से सम्पन्न करने चाहिये। गुरु इस बात के लिये नित्य सावधान रहे कि, मेरा शिष्य अपने कर्त्तव्यों का पूरो तरह पालन कर रहा

है। शिष्य को वीर्य व्याप्ति समन्वित मूल मन्त्र से समन्वित करे और परमेश्वर की तन्मयता का रहस्य उसको अभिव्यक्त कर दे।

आगम कहता है कि, "जिसके हृदय में स्वत: समर्थ सत्तर्क उदित होते हैं, उसे सर्वत्र अधिकार प्राप्त हो जाता है। वह स्वात्म-संवित्ति देवियों से अभिषिक्त हो जाता है।"

गुरु ऐसे उत्तम कोटि के शिष्य को वितत विधि का उपदेश करे। प्रत्यय हो जाने पर उसे मुख्य मन्त्र को भी अर्पित कर दे। वास्तव में मन्त्र यद्यपि वर्णात्मक होते हैं, किन्तु उनका परामर्शात्मक रूप ही महत्त्वपूर्ण होता है। पुस्तकस्थ मन्त्र निर्वीर्य होते हैं। उनका तेज पुस्तक से प्रस्फुटित नहीं होता। अत: मन्त्र गुरु से ही ग्रहण करना चाहिये।

इन तथ्यों से यह सिद्ध हो जाता है कि, मन्त्रों की वीर्यवत्ता का ही महत्त्व है। सिद्धातन्त्र भी यही मानता है। इस सम्बन्ध में शास्त्रकार ने एक महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर अध्येता का ध्यान आकृष्ट किया है। उनका कहना है कि, पुस्तकलब्ध मन्त्रों की वीर्यवत्ता का ज्ञान जिन्हें हो जाता है, वे सामान्य पुरुष नहीं होते। वे भैरवीय संस्कारों से सम्पन्न होते हैं। उन्हें सांसिद्धिक प्रज्ञापुरुष कहते हैं। यह उनके स्वात्मविज्ञान का चमत्कार माना जा सकता है।

गुरु गुप्ति नामक मर्यादा की रक्षा करते हैं। सबको मुख्य ज्ञान अर्पित नहीं करते हैं। एक शिष्य का अनुष्ठान दूसरा शिष्य तक नहीं जान पाता। शिष्य को वे शोधनत्रयी प्रक्रिया की पद्धति से परिचित कराते हैं और यह निर्देश देते हैं कि, पूजा का सामान्य क्रम न्यास, ध्यान, जप, मुद्रा प्रदर्शन और पूजा के क्रम के अनुसार अपनाया जाता है।

कालाधिकार में, चार सन्ध्याओं का वर्णन है। वे एक सन्ध्या में भी सम्पन्न की जा सकती हैं क्योंकि इसमें सौविध्य होता है। आवाहन का विशिष्ट अर्थ है। त्रिकदर्शन के अनुसार आवाहन परमेश्वर शिव का नहीं होता वरन् वासना ही आवाहित होती है। वासना ही विसर्जित होती है। इष्ट आराध्य तो सूक्ष्म और स्थूल रूपों में सर्वत्र विद्यमान है। मन्त्रों के आवाहन के बाद पुष्प और आसव आदि से पूजा भी करनी चाहिये।

पूजा के बाद तर्पण का भी विधान है। तर्पण न करने पर वह हानिप्रद हो जाता है। बुभुक्षु और मुमुक्षु साधकों में बड़ा अन्तर होता है। बुभुक्षु साधकों की विधि नियति नियन्त्रित होती है। मुमुक्षु की विधि में कोई विधि निषेध नहीं होता। जैसे लाल कपास से ही लाल तूल की निष्पत्ति सम्भव है और लाल तूल का चाहने वाला लाल कपास ही बायेगा। उसी तरह फला-काङ्क्षी फलेच्छा साधिका पूजा करना आवश्यक मानता है। वहीं मुमुक्षु को नैश्रेयस विधि में काई 'विशेष' आवश्यक नहीं माना जाता।

चित्तत्त्व स्वातन्त्र्यसार माना जाता है। स्वातन्त्र्य आनन्दघन होता है। इसलिये चित्तत्त्व की उपलब्धि के लिये हृदयाह्लाददायिनी पूजा ही अपेक्षित मानी जाती है। शास्त्रकार ने स्वात्म पूजा के स्वोपज्ञ तीन श्लोकों का प्रस्तुत कर अध्येता वर्ग का विधिगत प्रेरणा देने के लिये इस तरह सम्बोधित किया है, जिससे उनका अन्तर्याग सिद्ध हो सके। मुद्रा, जप, पूजा के अनन्तर विसर्जन में बोधैकात्म्यभाव के रहस्य का ध्यान रखना आवश्यक है। इसमें हवन की अपेक्षा भी होती है।

प्रसाद वितरण के बाद गुरुवृन्द और अन्य पीठादिकों को वितरण के बाद जो बचता है, उसका यज्ञशेष भाग स्वयं ग्रहण करे। शेष भाग अगाध जल में प्रक्षिप्त कर देना चाहिये। अगाध जल में रहने वाले मीन श्रीमन्मीन-नाथ द्वारा पूर्व में ही दीक्षित कर दिये गये होते हैं। उनके यज्ञ शेष खाने से पुण्य होता है। अदीक्षित जीव जन्तुओं द्वारा इसे खा लेने पर बड़ा दोष होता है, ऐसा शास्त्र कहते हैं। मकर, वानर, खर, विडाल, कलविङ्क, सारिका, काक, उन्दुर, सारमेय, शृगाल, सूकर, नकुल और नास्तिक आदि के खाने से अनेकानेक विघ्नों और रोगों आदि का भय होता है, ऐसा गुरुजन कहते हैं।

निष्कर्षतः पण्डित पुरुषों को कोई ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिये, जो लोक विरुद्ध हो। श्रीमत नामक शास्त्र में यह स्पष्ट उल्लेख है कि, जिनसे आदर्शों की सुरक्षा की आशा समाज करता है, उन्हें अशुद्ध आचरण नहीं करना चाहिये। जीवन को उत्कर्ष की दिशा में अग्रसर करने वाली ये विधियाँ बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। सदा सावधान रहकर इन्हें सम्पन्न करते रहना चाहिये।

सप्तविंशतितममाह्निकम्

सार निष्कर्षः

श्रीमालिनीमत नामक शास्त्र में एक विशिष्ट पूजा का उल्लेख है, जिसे लिङ्गपूजा कहते हैं। इस ग्रन्थ में भी उक्त शास्त्र के आधार पर शास्त्रकार ने इसकी चर्चा की है।

नियम यह है कि, आध्यात्मिक लिङ्ग की पूजा करनी चाहिये। रहस्य-समावेश सिद्धिप्रद की बाह्य पूजा अनुचित है। ज्ञानोत्तरा शास्त्र के अनुसार याग प्रिय शिव को बाह्य प्रतिष्ठा नहीं होनो चाहिये। इस विषय में अन्य शास्त्रों के अतिरिक्त अपनो शास्त्र गत मान्यता को चर्चा विस्तार पूर्वक की गयी है।

पुत्रक और साधक को गुरु से आज्ञा लेकर हो बाह्य प्रतिष्ठा करनी चाहिये। लिङ्ग के कई प्रकार और भेद होते हैं। बाण, रत्न, मौक्तिक, रौप्य, आन्न, वास्त्र, गन्ध धातु, स्वर्ण, द्रव्यात्मक लिङ्गों की पूजा तो की भी जा सकती है किन्तु पाषाण लिङ्ग-पूजा कभी नहीं करनी चाहिये।

लिङ्ग के मान के सम्बन्ध में कहीं चर्चा नहीं को गयी है। न यह आवश्यक है। लक्ष्य पूजा है। नाप तोल नहीं। मन्त्र शुद्धि आवश्यक कार्य है। सूत्र, पात्र, ध्वज, वस्त्र, स्वयम्भू, बाण और नदी प्रवाह गत नर्वदेश्वर सदृश लिङ्ग विशिष्ट रूप से पूज्य हैं। जैसे लिङ्ग में पूजा सम्पन्न करने का विधान है, उसी तरह 'तूर' में भी पूजा की जातो है। इस तूर-पूजा का भो सिद्धि की दृष्टि से बड़ा महत्त्व है। जालजर्जर, छिद्र युक्त, जंग लगे तूर का प्रयोग वर्जित है। पिचुशास्त्र, सिद्धातन्त्र आदि शासनों की दृष्टि का श्री तन्त्रालोक भी समर्थन करता है। उत्तम पक्ष यह है कि, वज्र सूची से से नये तूर को निर्मापित कर उसी में पूजा करे। ऐसा तूर प्रत्येक दृष्टि से सुन्दर दोख पड़ना आवश्यक माना जाता है।

इसी तरह के विधान अर्घपात्र के सम्बन्ध में भी व्यक्त किये गये है। श्री ब्रह्मयामल में भी अर्घपात्र सम्बन्धी चर्चा है। उसे गाय के मुख के

समान होना चाहिये। उसकी पेंदी हस्ति उदर अथवा कूर्म की पेंदी की तरह की होनी चाहिये। ऐसे अर्घपात्र को पूजा में प्रयुक्त करना उचित माना जाता है।

इसी तरह पूजा में अक्षसूत्र का प्रयोग होता है। वीर धातु, मुक्ता रत्न, सुवर्ण धातु और जल से उद्‌भूत और विशेष कर रौद्राक्ष अक्षसूत्र अत्यन्त उत्कृष्ट माना जाता है। सभी अक्ष सूत्रों में रौद्राक्ष उत्तम होता है। १०८, तदर्ध अर्थात् ५४ मणियों से, उसका भी आधा अर्थात् २७ मणियों की भी अक्षमाला पर जप किया जा सकता है। रुद्राक्ष में ५ पाँच मुख स्वाभाविक रूप से होते हैं। इनकी संगति विशेष रूप से चित्, आनन्द, ज्ञान इच्छा और क्रिया रूप शिव के पाँच गुणों से बिठायी जा सकती है। इस में शक्ति और शक्तिमान् की भावना की दृष्टि से द्वैध का आकलन किया जा सकता है। इस तरह पाँच मुखों से पाँच चिदादिशक्तियों का गुणन ५×५=२५ हो जाता है। आद्यन्त शक्तिशक्तिमान् योग करने पर २७ और मध्य मणि सुमेरु के मिलाकर एक माला २७ मणियों की पूरी माला हो जाती है।

इसी तरह ५१, १०८ और ११५ मणियों की मालायों भी निर्मित की जाती हैं। मालिनीविजयोत्तरतन्त्र ११५ मणियों की माला को ही महत्त्व देता है। इसके अतिरिक्त कोई दैशिक-शिरोमणि तत्त्व, भुवन, कला, मन्त्र, पद और वर्ण की संख्या मिलाकर माला को नया रूप दे सकता है। मातृका और मालिनी वर्ण माला के मूल मन्त्रों का जप रुद्राक्ष की इन्हीं मालाओं पर किया जाना चाहिये।

जहाँ तक अर्घपात्र का प्रश्न है, यह नारिकेल, बिल्व, स्वर्ण, रजत अथवा किसी यज्ञाङ्ग रूप से स्वीकृत काष्ठ से बनाने चाहिये। अर्घपात्र में 'वीर' निष्कम्प रस भर कर की गयी पूजा महत्त्वपूर्ण होती है। इसे अधोमुख रखने का विधान है। कार्य के समय उसे रिक्त नहीं रखना चाहिये। पूजोपरान्त उसे पुनः अधोमुख रखना ही उचित है।

श्री भैरवकुल नामक शास्त्र के अनुसार, कुलपर्व पूजा में स्थण्डिल, अग्नि, मूर्त्ति वस्त्र, लिङ्ग, पात्र, पद्म, मण्डल, घट, अस्त्र समुदाय कलश और

सूत्र आदि उपकरणों का प्रयोग करना चाहिये। इसो तरह, घर की पूजा और श्मशान पूजा के भी पृथक् पृथक् उपकरण प्रयुक्त होते हैं। अकाम पुरुषों को इन उपकरणों और पूजा विधियों में प्रवृत्ति नहीं होतो।

किसी साप्ताहिक, मासिक, अर्धवार्षिक या वार्षिक सत्रों में अपनो स्तरीयता को सतत परिष्कृत करते हुए पूजा सम्पन्न करनी चाहिये। सभो तरह की पूजा का उद्देश्य तन्मयीभाव की प्राप्ति ही मानी जाती है। आवाहन न्यास पूजन तर्पण आदि का भो यही उद्देश्य है। अघोरेश और स्वच्छन्द तन्त्र में भी इस विषय का वर्णन उपलब्ध है। वहाँ यह स्पष्ट उल्लेख है कि, मण्डल के सम्बन्ध में शास्त्रों द्वारा जिस प्रकार के या जैसे 'मान' निर्धारित किये गये हैं, उनके अर्धमान या अर्द्धार्ध मान के भी मण्डल बन सकते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि, सामाजिक, आर्थिक और शास्त्रोय मान्यताओं के परिप्रेक्ष्य में ही ये कर्मकाण्ड सम्बन्धो कार्य भी सम्पन्न किये जा सकते हैं।

वस्तुतः इस आह्निक का नाम लिङ्गार्चा प्रकाशन है। लिङ्ग क्या है? उसके कितने प्रकार के भेद हो सकते हैं या उनमें कौन लिङ्ग उत्तम होता है, इन विषयों का वर्णन करते हुए शास्त्रकार प्रसङ्गानुकूल अर्घपात्र आदि विषयों का और उनके निर्धारित समय आदि का वर्णन किया है। अन्त में शास्त्रकार ने स्वयं कहा है कि,

'लिङ्गार्चा बहुप्रकारभिन्ना मानी जाती है।'

इति शिवम्

विषयानुक्रमः

ग्रन्थनिष्कर्षभाग

[१]

ग्रन्थभाग

[२]

षोडशतममाह्निकम्

अ— [१-१६०]

सप्तदशतममाह्निकम्

आ— [१६१-२३४]

अष्टादशतममाह्निकम्

ऊनविंशतममाह्निकम्

ई—   [२४५-२८३]

विशतितममाह्निकम्

एकविंशतितममाह्निकम्

क— [२९७-३४३]

द्वाविंशतितममाह्निकम्

त्रयोविंशतितममाह्निकम्

चतुर्विशतितममाह्निकम्

ए— [४४५-४६१]

पञ्चविंशतितममाह्निकम्

ऐ— [४६२-४८३]

षड्विंशतितममाह्निकम्

सप्तविंशतितममाह्निकम्

औ— [५३१-५६५]

४. परिशिष्ट भाग—[३]

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्यविरचितः

श्रीराजानकजयरथाचार्यकृतविवेकव्याख्यया विभूषितः

डॉ॰ परमहंसमिश्रकृत-नीर-क्षीर-विवेक-हिन्दीभाष्यसंवलितः

श्रीतन्त्रालोकः

[षष्ठो भागः]
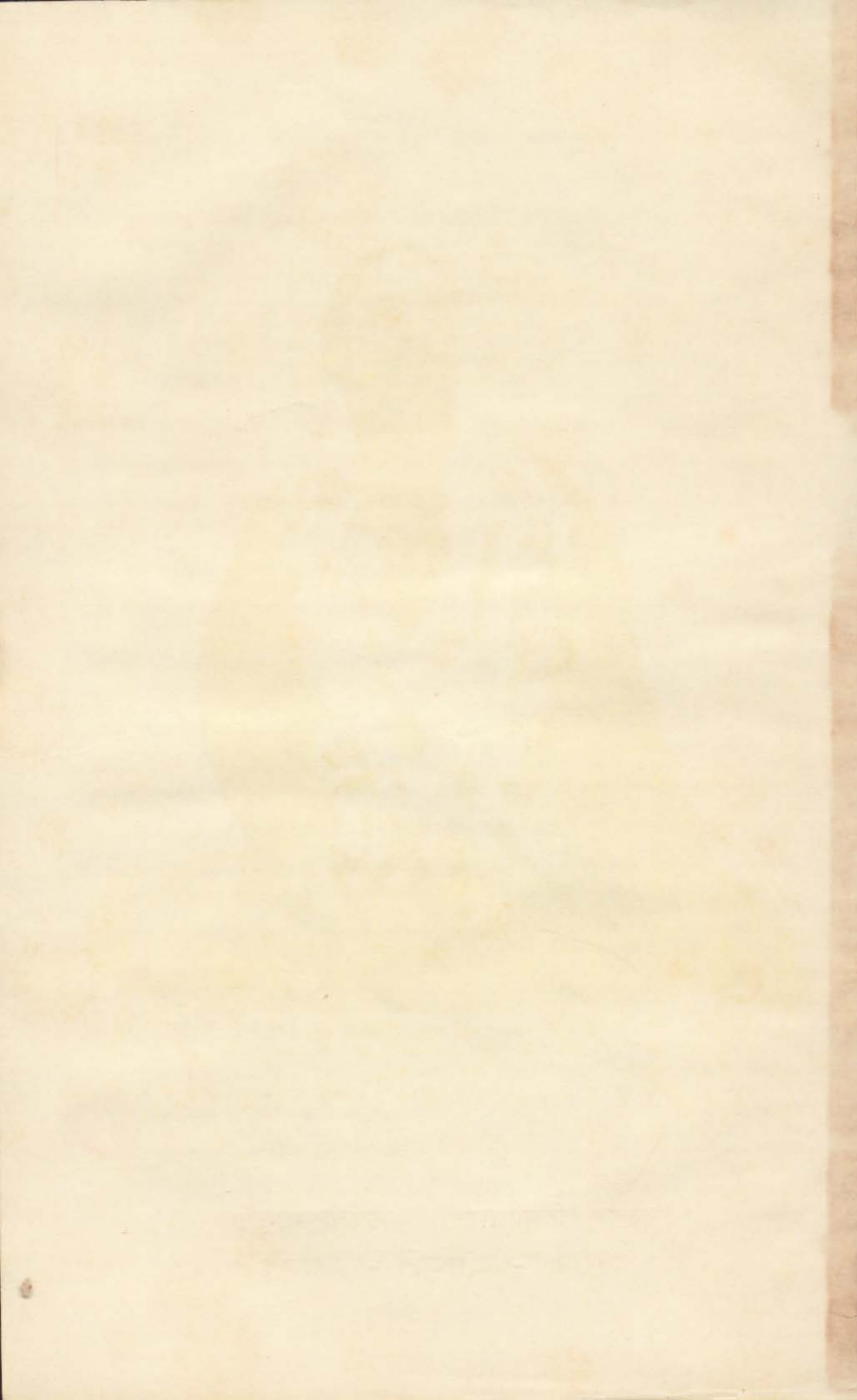
अथ

श्रीतन्त्रालोके

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचिते
श्रीजयरथकृतविवेकाख्यव्याख्योपेते
डॉ० परमहंसमिश्रकृत-नीर-क्षीर-विवेक-हिन्दीभाष्यसंवलिते

षोडशमाह्निकम्

प्रणमामि निखिलपाशप्रवाहसंभेदबलभद्रम् ।
बलभद्रं प्राणाश्वप्रचारचातुर्यपूर्णबलम् ॥

इदानीं समयदीक्षानन्तरं भाविनीं पुत्रकदीक्षां निरूपयितुं द्वितीयार्धेन प्रतिजानीते

अथ पुत्रकत्वसिद्ध्यै निरूप्यते शिवनिरूपितोऽत्र विधिः ।

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तपादविरचित
श्रीराजानक-जयरथकृतविवेकाख्यव्याख्योपेत
डा० परमहंसमिश्रविरचित-नीर-क्षीर-विवेक-
हिन्दीभाषाभाष्य-संवलित

श्रीतन्त्रालोक

[भाग ६]

सोलहवाँ आह्निक

जय बलभद्र ! प्रणाम नित, पाशज-महाप्रवाह ।
सबल-नियामक नय-चतुर, शोधक रवि-शशि-वाह ॥

बलभद्र परमकल्याणकारी उस शक्तिमन्त तत्त्व की संज्ञा है, जो रवि-शशि रूप प्राण और अपान के प्राकृतिक प्रवाह को बलपूर्वक नियन्त्रित कर जीवन का वरदान विश्व को प्रदान करता है। प्राण रूपी तुरंग इस

तमेवाह

यदा तु समयस्थस्य पुत्रकत्वे नियोजनम् ।
गुरुत्वे साधकत्वे वा कर्तुमिच्छति दैशिकः ॥ १ ॥

दिव्य नियामक के नियन्त्रण में रहकर अपने संचरण के सत्पथ से विचलित नहीं हो सकता । उसकी प्रचार-पद्धति की चातुर्यपूर्ण बलवत्ता से विभूषित बलभद्र की कृपा से जयरथ परम सन्तुष्ट हैं ।

विश्व पाशों के अभिशाप से ग्रस्त है । पाशबद्ध पशु ही पशु होता है । समस्त जीव जगत् पाश के प्रवाह में बहने को बाध्य है । यह प्रवाह महामाया के कुहकसिन्धु में समा रहा है । सिन्धु के संगम को 'संभेद' कहते हैं । प्राण-प्रवाह के सिन्धु-संगम रूपी संभेद को भी भेदने में दक्ष बलभद्र सदा समादरणीय है । इस आह्निक के प्रारम्भ में ऐसे सबल बलभद्र को जयरथ इस मङ्गल-श्लोक के माध्यम से प्रणाम कर रहे हैं । उनकी सदा जय हो ।

प्रकरण पुत्रक-दीक्षा के निरूपण का है । "आत्मा वै जायते पुत्रः" के अनुसार पुत्र भी प्राण समान ही प्रिय होता है । उसे चातुर्य पूर्वक त्रिक-पथ में प्रवृत्त करने का कार्य बलभद्र सदृश दैशिक शिरोमणि गुरु ही कर सकता है । गुरु ही पाश प्रवाह संभेद को भिन्न कर सकता है । वह भैरव की भद्र साधना से सबल होता है । इसलिये उसे बलभद्र कहते है । वह शाश्वत प्रणम्य है ।

बलभद्र जयरथ के बड़े भाई जान पड़ते हैं । उन्होंने बड़े प्रेम से अपने प्रिय अनुज को इस मुक्तिप्रद त्रिक-पद्धति की दीक्षा दी होगी । बलभद्र भैरव के व्याज से अपने अग्रज का नाम-नग इस श्लोक की अंगूठी में जड़ देने के शिल्पी का चातुर्य भी अनुपम है ।

पन्द्रहवें आह्निक में समय-दीक्षा के सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन किया गया है । समय दीक्षा के बाद ही पुत्रक-दीक्षा दी जाती है । शैलीगत सरणी के अनुसार द्वितीय अर्द्धाली से पुत्रक-दीक्षा के सन्दर्भ का श्रीगणेश कर रहे हैं । श्लोक की प्रथम अर्द्धाली पन्द्रहवें आह्निक के उपसंहार में प्रयुक्त है ।

तदाधिवासं कृत्वाह्नि द्वितीये मण्डलं लिखेत् ।
सामुदायिकयागेऽथ तथान्यत्र यथोदितम् ॥ २ ॥

सामुदायिकमेव यागं निरूपयति

षडष्टतद्द्विगुणितचतुर्विंशतिसंख्यया ।
चक्रपञ्चकमाख्यातं शास्त्रे श्रीपूर्वसंज्ञिते ॥ ३ ॥

समयी शिष्य को पुत्रक दीक्षा के लिये शिव-निरूपित उस विधि का शास्त्रकार द्वारा कथन किया जा रहा है, जिससे उसके पुत्रकत्त्व की सिद्धि सम्पन्न हो सके।

उस विधि की अवतारणा के लिये इस प्रथम कारिका को विशेष रूप से प्रस्तुत कर रहे हैं—

जिस समय समय-दीक्षा में उपस्थित शिष्य को पुत्रक-दीक्षा में नियोजित करने की प्रक्रिया अपनाने की आवश्यकता का गुरु अनुभव करता हो, अथवा गुरुत्व से गौरवान्वित करने के लिये विशिष्ट साधना की सिद्धियों में संलग्न करना चाहता हो, उस समय दैशिक गुरु इस प्रक्रिया को अवश्य अपनावे ॥१॥

इसके लिये उसे क्या करना चाहिये इसका निर्देश करते हुए शास्त्रकार कह रहे हैं कि, उस समय अधिवास करने के उपरान्त दूसरे दिन एक नये मण्डल का शास्त्र में कहे गये नियमों के अनुसार लेखन करना चाहिये। वहाँ सामुदायिक याग की व्यवस्था होनी चाहिये।

यह सामुदायिक याग कैसे हो, इसको स्पष्ट कर रहे हैं कि ६,८,१६ और २४ संख्या के चक्र उसी मण्डल की परिधि में निर्मित करना चाहिये। सामुदायिक याग का तात्पर्य सभी ५ अध्वावर्ग को साथ ही अर्चित करने से है। इनमें तत्त्व, वर्ण, पद, मन्त्र और कला ही गृहीत हैं। श्रीपूर्वशास्त्र के नवम अधिकार के ८०-८२ श्लोकों मे इनका संकेत है किन्तु वहाँ २,२,४,८,१६ और बीस की संख्याओं का उल्लेख सर्वाध्वसंशुद्धि के प्रकरण में है। सर्वाध्वसंशुद्धि ही सामुदायिक याग है ॥ २-३ ॥

द्वात्रिंशत्तद्द्विगुणितं श्रीमत्त्रैशिरसे मते ।
असख्यचक्रसंबन्धः श्रीसिद्धादौ निरूपितः ॥ ४ ॥

अत्र चोभयत्रापि त्रिशूलाब्जमेव मण्डलमुचितमित्याह—

तस्माद्यथातथा यागं यावच्चक्रेण संमितम् ।
पूजयेद्येन तेनात्र त्रिशूलत्रयमालिखेत् ॥ ५ ॥

त्रिशूलत्रितये देवीत्रयं पर्यायवृत्तितः ।
मध्यसव्यान्यभेदेन पूर्णं संपूजितं भवेत् ॥ ६ ॥

वर्तना मण्डलस्याग्रे संक्षेपादुपदेक्ष्यते ।
आलिख्य मण्डलं गन्धवस्त्रेणैवास्य मार्जनम् ॥ ७ ॥

---

३२ और इसके दूने ६४ चक्र निर्माण का उल्लेख श्रीमत्त्रैशिरस-शास्त्र में है। श्रासिद्धातन्त्र आदि में तो यहाँ तक निरूपित किया गया है कि, इतने चक्र निर्मित किये जाँय, जो असंख्य हों। उनकी गिनतो करने की भी आवश्यकता नहीं ॥ ४ ॥

चाहे वह पुत्रक-दीक्षा हो अथवा, गुरुत्व और साधकत्व में नियोजन करने के लिये मण्डल निर्माण का सन्दर्भ हो, दोनों स्थलों पर त्रिशूलाब्ज-मण्डल निर्मिति ही योग्य है। यही कह रहे हैं—

जैसे भी हो, जितने चक्रों से अन्वित यागस्थल का निर्माण करना हो, अथवा याग के आदर्श का निर्वाह करना पड़े, वहाँ त्रिशूलाब्ज की रचना अवश्य करनी चाहिये। तभा वह मण्डल त्रिशूलाब्ज मण्डल माना जा सकता है। उसी मण्डल में यह पूजा करनो चाहिये ॥ ५ ॥

पर्याय वृत्ति से त्रिशूलत्रय में देवीत्रय परा, परापरा और अपरा का उल्लास शाश्वत रूप से होता है। इन देवियों का मध्य, सव्य और अपसव्य क्रम से पूजन करना चाहिये ॥ ६ ॥

यह त्रिशूलाब्ज मण्डल आगे कैसा हो ? इसमें किस आचार शैली का

कृत्वा स्नातो गुरुः प्राग्वन्मण्डलाग्रेऽत्र देवताः ।
बाह्यगाः पूजयेद् द्वारदेशे च द्वारदेवताः ॥ ८ ॥
मण्डलस्य पुरोभागे तदैशानदिशः क्रमात् ।
आग्नेय्यन्तं गणेशादीन् क्षेत्रपान्तान् प्रपूजयेत् ॥ ९ ॥
गणपतिगुरुपरमाख्याः परमेष्ठी पूर्वसिद्धवाक्क्षेत्रपतिः ।
इति सप्तकमाख्यातं गुरुपङ्क्तिविधौ प्रपूज्यमस्मद्गुरुभिः॥१०॥
तत आज्ञां गृहीत्वा तु पुष्पधूपादिपूजितम् ।
पूज्यमाधारशक्त्यादि शूलमूलात्प्रभृत्यलम् ॥ ११ ॥

निर्वाह करना चाहिये, इसका उपदेश संक्षेप में यहाँ कर रहे हैं। मण्डल का आलेखन कर सुगन्धित वस्त्र से उसको सफाई करनी चाहिये ॥ ७ ॥

मार्जन करने के बाद स्नान आदि से निवृत होकर गुरुदेव पहले की तरह पुनः अन्तर्देवताओं की पूजा करें। पुनः बाह्यग देवताओं को पूजा होनी चाहिये। द्वार पर द्वार-देवताओं को पूजा भी अनिवार्यतः आवश्यक है ॥ ८ ॥

मण्डल के पूर्व भाग में ईशान कोण से आरम्भ कर अग्नि कोण तक गणेश आदि से क्षेत्रपाल पर्यन्त गुरुजनों की पूजा होनी चाहिये ॥ ९ ॥

गणपति, दीक्षागुरु, परमगुरु, परमेष्ठी गुरु, पूर्वसिद्धवागीशोरूपा गुरु और क्षेत्रपति गुरु ये सात गुरु पंक्ति में पूज्य गुरु माने जाते हैं। इस गुरुसप्तक का कथन हमारे पूज्य गुरुजनों ने किया है। पूर्वसिद्ध वे गुरु हैं, जिन्होंने इस दर्शन का आविष्कार किया। उनकी परम्परा का अब पता भी नहीं है। वर्तमान गुरु क्रम इस पंक्ति में सम्मिलित नहीं होता। इससे यह सिद्ध हो जाता है। वाक् शब्द वागीशी शक्ति का द्योतक है ॥१०॥

गुरु परम्परा के इस सन्दर्भ से परिचित हो जाने के बाद पूजन का विशेष कार्यक्रम अपनाना चाहिये। इसके लिये भी सर्वप्रथम गुरुदेव की आज्ञा लेनी चाहिये। उनका आदेश मिलने के बाद पुष्प, धूप आदि

शिवान्तं सितपद्मान्ते त्रिशूलानां त्रये क्रमात् ।

पर्यायवृत्तित इति क्रमेण । अग्र इति एकत्रिंशाह्निके । बाह्यगा देवता इति बाह्यपरिवारः । पूर्वसिद्ध इति एतद्दर्शनावतारक आद्यो विच्छिन्नसन्तानः, यस्तु अद्यतनः प्रतिनियतप्रक्रान्तशास्त्रनिष्ठो विशिष्टो गुरुक्रमः स न बाह्यपूजायां पूज्य इत्यनेन कटाक्षितम्, यद्वा विशिष्टायामेव गुरुपङ्क्तौ पूज्यायामेतदादीतरमपि प्रपूज्यमिति । वागिति वागीश्वरी ॥

अत्रैव गुणप्रधानभावेन सभैरवस्य देवीत्रयस्यावस्थितिं दर्शयितुमाह

मध्यशूले मध्यगः स्यात्सद्भावः परया सह ॥ १२ ॥

वामे चापरया साकं नवात्मा दक्षगं परम् ।

त्रिशूले दक्षिणे मध्यशृङ्गस्थो रतिशेखरः ॥ १३ ॥

पूजन-योग्य पदार्थों से गुरु की, आधार शक्ति की और एतदतिरिक्त अर्चनीयों की अर्चना कर लेनी चाहिये ।

इसके बाद त्रिशूलाब्ज-पूजा की विधि अपनानी चाहिये । यह शूल-मूल से प्रारम्भ होती है और शिवान्तपर्यन्त समाप्त होती है । त्रिशूलाब्ज में दक्ष, मध्य और वाम तीन शूल होते हैं । इन तीनों में अद्वय शिवभट्टारक श्वेत पद्म में ही समुल्लसित रहते हैं, जहाँ उनकी अन्तर्याग के ही माध्यम से पूजा होती है ॥११॥

त्रिशूलाब्ज के मध्य, दक्ष और वामशूलों में भैरव के साथ परा, परापरा और अपरा नामिका ये तीन देवियाँ कहाँ-कहाँ रहतीं हैं, इसी का उपदेश कर रहे हैं—

मध्यशूल में मध्यम भैरव सद्भाव, परा देवी के साथ रहते हैं । वाम शूल में नौ भेद भिन्न भैरव अपरा देवी के साथ विराजमान होते हैं । अन्तिम दक्षिण शूल में मध्य शृङ्गस्थ रतिशेखर परापरा देवी के साथ विद्यमान रहते हैं । त्रिशूल में वाम-दक्षिण भाग मध्यशृङ्ग की अपेक्षा से माने जाते हैं । यदि साधक की दृष्टि से देखा जाय, तो यह कहा जा सकता हैं कि, दक्ष भुजा की ओर ब्रह्मरूप भैरव सद्भावपूर्वक भवानी परापरा के साथ हैं । बाँयें त्रिशूल में नवात्माभैरव अपरा देवी के साथ विराजमान हैं । इसके

स्यात्परापरया साकं दक्षे भैरवसत्परे।
वामे त्रिशूले मध्यस्थो नवात्मापरया सह ॥ १४ ॥
स्यात्परे परया साकं वामारे संश्च भैरवः।

वाम इति मध्यापेक्षया। परमिति अन्यदवशिष्टं रतिशेखरपरापरलक्षणम्। दक्षिण इति साधकापेक्षया। दक्ष इति तत्रैव, अर्थादवशिष्टायामरायाम्। वाम इति साधकापेक्षयैव। पर इति अन्यस्मिन्नवशिष्टे वामारे। संश्च भैरव इति सद्भावभैरवश्चेत्यर्थः। च पूर्वापेक्षया। येषां पुनः

अतिरिक्त पर वामार में सद्भाव भैरव परा देवी के साथ विद्यमान हैं। इसे इस चित्र के माध्यम से समझा जा सकता है—
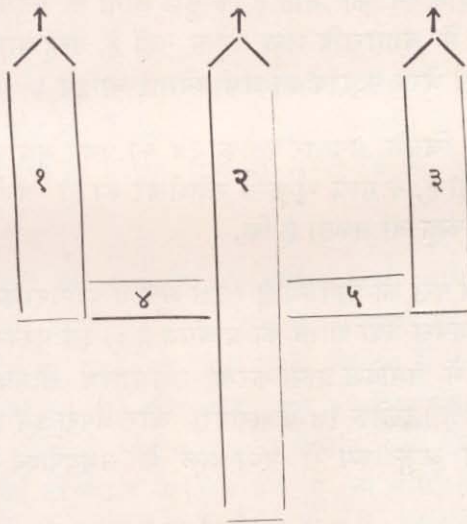
१.	नवात्मा भैरव सद्भाव	अपरा
२.	मध्यग भैरव सद्भाव	परा
३.	रतिशेखर सद्भाव	परापरा
४.	अवशिष्ट भैरव	वामार
५.	अवशिष्ट भैरव	दक्षार

'स्यात्परे परया साकं वामारे संश्च भैरवः ।'

इत्यर्धं नास्ति, तैः पूर्वतो दक्षे भैरवसत्पर इत्येव योज्यम् ।

'स्यात्परापरया साकं वामारे रतिशेखरः ।'

इत्येवं तु गतार्थत्वादुपेक्ष्यमेव । एवं मध्यशूले परायाः प्राधान्यम्, दक्षिणे परापरायाः, वामे चापरायाः, इतरद्देवीद्वयं पुनरङ्गतया सर्वत्र पार्श्वयोरित्युक्तं स्यात् । एवमपि परादेव्या एव त्रिशूलत्रयेऽपि साक्षादवस्थानमन्ययोः पुनः श्लिष्टतया न तथा इत्यन्यवैलक्षण्येन प्राधान्यात् तस्या एव सर्वगतत्वम् ॥

यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि कुछ लोगों के अनुसार श्लोक १५ की पहली अर्धाली में वामारादि शब्द प्रयुक्त नहीं है, उन्हें वामार शब्द की जगह दक्ष शूल में ही भैरव सद्भाव का अर्थ लगाना चाहिये ।

इसी तरह जिनके अनुसार श्लोक १४ की प्रथम अर्धाली में 'वामारे रतिशेखरः' पाठ नहीं है, वे मध्य शृङ्गस्थ रतिशेखर का ही अर्थ गृहीत करें । निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि,

मध्य शूल में परा का प्राधान्य है । दक्ष शूल में परापरा का प्राधान्य है और वाम शूल में अपरा देवी शक्ति का प्राधान्य है । इस प्रकार देवीत्रय के साथ भैरव सद्भाव में समावेश प्राप्त करना उत्तमोत्तम साधक का अन्तिम सोपान माना जाता है । श्लोक १४ में परापरा और अपरा इन दो देवियों का वर्णन है, वे मात्र अङ्ग रूप में मध्य शूल के उभयपार्श्व में उल्लसित होती हैं ।

एक दृष्टि से देखा जाय, तो परा देवी ही तीनों शूलों में साक्षात् विद्यमान रहती हैं । अन्य तो परा देवी से श्लिष्ट रहकर ही अपने पृथक् अस्तित्व में भासित हैं । जिस तरह स्वातन्त्र्यमयी परा स्वतन्त्र भासित है, उसी तरह ये दोनों भासित नहीं होतीं । पार्थक्य प्रथा में अस्तित्वगत संश्लेष का चमत्कार ही उनमें उच्छलित होता है । इस प्रकार प्राधान्य के कारण परापरा और अपरा से इसकी विलक्षणता स्पष्ट हो जाती है । साथ ही साथ

अत एवाह

इत्थं सर्वगतत्वे श्रीपरादेव्याः स्थिते सति ॥ १५ ॥

यागो भवेत्सुसंपूर्णस्तदधिष्ठानमात्रतः ।

एकशूलेऽप्यतो यागे चिन्तयेत्तदधिष्ठितम् ॥ १६ ॥

अविधिज्ञो विधानज्ञ इत्येवं त्रीशिकोदितम् ।
ततो मध्ये तथा दक्षे वामे शृङ्गे च सर्वतः ॥ १७ ॥

यह भी स्पष्ट हो जाता है कि, परा देवी ही मुख्य रूप से सर्व व्यापक तत्त्व है ॥ १२–१४ ॥

इस प्रकार परा देवी के सर्वगतत्व की सिद्धि हो जाने पर और उसके अवस्थान की बात मन में बैठ जाने पर हृदय के श्रद्धा के पुष्प खिल उठते हैं। पूरण स्वभाव होने के कारण याग भी परा देवी की अनुकम्पा से पूर्ण हो जाता है ॥१५॥

परा देवी के अवस्थान की पूर्णानुभूति हो जाने पर याग की विधि सद्यः परिपूर्ण हो उठती है। मध्य शूल के अवस्थान और उसमें देवी अधिष्ठान का ज्ञान हो जाने पर एवं उसके चिन्तन से स्वाभाविक सन्तुष्टि साधक को होती है। यह तुष्टि और उसकी मानसिक सन्तुष्टि देवी के अनुग्रह के कारण ही होतो है और याग सुसम्पूर्ण मान लिया जाता है। देवीत्रय का उक्त त्रिशूलाब्ज अधिष्ठान एकाब्ज शूल में भी अधिष्ठित जान कर चिन्तन किया जाता है और इससे माया का क्षपण होता है। इस सन्दर्भ में जानकारी ही महत्त्वपूर्ण है। ज्ञान ही दर्शन है, साक्षात्कार है। इन त्रिशूल कमलों को न देखने वाला भी सिद्धि का अधिकारी होता है ॥१६॥

श्रीपरात्रीशिका शास्त्र में तो अविधिज्ञ तक को विधिज्ञ माना गया है (परात्री० १९)। यदि कोई साधक न क्रिया करता है और न उसकी जानकारी रखता है, इस तरह क्रिया और ज्ञान दोनों से वंचित है। कहने

लोकपालास्त्रपर्यन्तमेकात्मत्वेन पूजयेत् ।
परत्वेन च सर्वासां देवतानां प्रपूजयेत् ॥ १८ ॥

के लिये तो निष्क्रिय, भोगोपाय संलग्न पशु सदृश ही है, किन्तु वह भी विधानज्ञ हो जाता है। विधानज्ञ शब्द में विधान भी है और ज्ञा रूप ज्ञान भी है। इस तरह वह याग की क्रियाओं का आविष्कार कर लेता है तथा उसका जानकार भी हो जाता है। याग की यह वृत्ति उसके (साधक के) प्रयास, साधना और श्रद्धापूर्वक अभ्यास से उदित हो जाती है। इसमें कारण समस्त शक्तियों का सर्वत्र अधिष्ठान ही है। इन शक्तियों का विमर्श ही 'हृदय' है। इन्हें हम पुस्तकों में उल्लिखित नहीं पा सकते। पर-शक्तिपात के फलस्वरूप ही इसका उद्रेक हो पाता है।

इसलिये एक शूल में ही अर्थात् चाहे बाँयें शूल में, बिचले शूल में या दक्ष शूल में से किसी एक में भी शक्तियों का अनुचिन्तन होना चाहिये। ये शक्तियाँ ही अदृश्य दीक्षा दे देतो हैं। दीक्षा शब्द में दा धातु से शक्तिदान और क्षा से मायात्मकता का क्षय ये दोनों ही अर्थ निहित हैं ॥१७॥

लाकपालों से अस्त्रपर्यन्त एकात्मभाव से पूजन करना चाहिये अथवा सभी देवताओं में परासद्भाव की दृष्टि से परत्वमयी पूजा करनी चाहिये। यहाँ लोकपाल और अस्त्र दोनों शब्द विचारणीय हैं—

लोकपाल—निवृत्ति कला में मात्र एकतत्त्व पृथ्वी तत्त्व ही गृहीत है। सारे लोकपाल सृष्टिमण्डल रूपी पृथ्वी तत्त्व मण्डल से ही सम्बद्ध हैं। ये मिश्रित कर्म की परिपक्वता से युक्त रहते हुए लोकों के अधिकार प्राप्त करने वाले आधिकारिक पुरुष होते हैं। अधिकार एक प्रकार का देवी माँ का सामान्य अनुग्रह होता है। आगम प्रामाण्य है कि "मलादीनामपाके तु सामान्यानुग्रहो भवेत्" (श्री भास्करराय भा० दी०, पृ० ४९५)।

ये वज्र आदि आयुध धारण करते हैं। इनकी पूजा शास्त्रों में विहित है—"लोकपालाँस्तथाभ्यर्चेद् वज्राद्यायुधसंयुतान्" (फे० तन्त्र १५।२७)।

८ लोकपालों को पूजा मण्डप के अन्दर होती है। यों दिक्पाल दश होते हैं और क्षेत्रपाल बाह्यतः अभ्यर्चनीय होते हैं।

लोकपाल जगत् के अधिष्ठाता होते हैं। ये भगवान् की शक्ति के प्रतीक माने जाते हैं। आगमिक मान्यताओं के अनुसार दश में से केवल आठ ही पूज्य हैं। कपालेश आदि भैरवों से अधिष्ठित और आठ शक्तियों की व्याप्ति के कारण लोकोत्तर रूप से इनकी पूजा होती है। इनके आठ अस्त्र भी होते हैं (स्व० २।१२५-१२६)। वे इस प्रकार हैं—

क्रम सं०	लोकपाल	अस्त्र
१.	इन्द्र	वज्र
२.	अग्नि	शक्ति
३.	यम	दण्ड
४.	निऋृति	खड्ग
५.	वरुण	पाश
६.	वायु	ध्वज
७.	कुबेर	गदा
८.	ईशान	त्रिशूल

अस्त्रों से युक्त रहने पर ये सास्त्र लोकपाल कहलाते हैं। मन्त्र बनाते समय मन्त्रों को दीप्त करने के लिये पहले ओङ्कार (ॐ) लगाने की प्रथा है। जैसे—"ॐ इन्द्राय वज्रहस्ताय नमः" यह प्रायोगिक मन्त्र बनता है। यह नमस्कारावसानक सास्त्र इन्द्र लोकपाल का मन्त्र बनता है। अस्त्र मन्त्र बनाने के लिये एक दूसरा प्रयोग भी करते हैं। जैसे—

'ॐ हः अस्त्राय फट्' इस मन्त्र के बीच में ऊपर का मन्त्र भी पिरो देने को प्रथा है। लोकपालों की अस्त्र सहित नाम ले लेकर एक-एक कर आवरण सहित एक बार ही और समस्त देवताओं से पर अर्थात् उत्कृष्ट मानकर परत्वमयी पूजा करनी चाहिये।

अस्त्र—अस्त्रमन्त्र शान्तातीता नामक पाँचवीं कला के अन्तर्गत गृहीत हैं। अस्त्र और नेत्र ये मन्त्र अन्य हृदय आदि मन्त्रों से उच्च कोटि के माने जाते हैं। शैव और शाक्त परम्परा में अस्त्रान्त मन्त्रों से अङ्गन्यास करते हैं।

श्रीमन्तं मातृसद्भावभट्टारकमनामयम् ।
ततोऽपि भोगयागेन विद्याङ्गं भैरवाष्टकम् ॥ १९ ॥

अस्त्र मन्त्रों से दिग्बन्ध होता है। पूजा-पद्धतियों के अनुसार इन मन्त्रों के विभिन्न रूप[1] और परिणाम माने जाते हैं। शुक्ल और कृष्ण पक्ष की दृष्टि से भी इस पर विचार किया जाता है। लोकपालों के आठ अस्त्र प्रसिद्ध ही हैं। इन अस्त्रों के साथ मन्त्रोच्चार से लोकपाल प्रसन्न होते हैं। पहले दीपन ओङ्कार फिर लोकपाल के पहले दीर्घ सान्त 'ह' का प्रयोग होता है। इसके अतिरिक्त लोकपाल से अस्त्र पर्यन्त का रहस्यार्थ निवृत्ति कला से शान्तातीता कला पर्यन्त होता है। इसमें सर्वत्र अखण्ड सद्भाव परमेश्वर की एकत्वमयी पूजा ही सर्वोत्तम मानी जाती है। सभी लोकपाल देव हैं और यद्यपि पृथक्-पृथक् पूज्य माने जाते हैं फिर भी ये लोकपाल एक ही चिदर्चि की चिन्मय चिनगारियों के रूप में व्यक्त होते हुए भी पर-परमेश्वर के पर प्रतीकरूप में भी पूजनीय हैं ॥१८॥

श्रीमान् मातृसद्भाव-भट्टारक, अनामय परमेश्वर ही भोगाकांक्ष कामेश्वर रूप भी हैं। उनकी पूजा यदि करनी है और भोगभाव की भूमिका का निर्वाह भी करना है, तो यह भोग भी यागमय बना देना चाहिये। साधक के व्यवहार मात्र में वाग्यज्ञ, श्वासयज्ञ, जठराग्निसमर्पणयज्ञ, दानधर्म ओर कर्मयज्ञ सभी शिवरूप आराध्य के लिये होना चाहिये। यह भोगयाग का विशाल दृष्टिकोण है। इसे साधक को सर्वदा अपनाना अनिवार्य है। श्रुति भी यज्ञ को प्रथम धर्म मानती है।

इस भोगयाग के अन्तर्गत सारे विद्याङ्ग और भैरवाष्टक दोनों समाहित हो जाते हैं। इनका यामलपूजन और चक्रदेवियों का बाह्य भाग में ही पूजन करना उचित है। समस्त लोकपालों की अस्त्रमन्त्रों के साथ पूजा गन्ध, फल और आसव आदि से करनी चाहिये। इस पूजा में भक्ति का बहुत महत्त्व है। यहाँ की भक्ति तथा वैष्णवादि की खण्डित भक्ति के अन्तर को समझना चाहिये। त्रिकदर्शन कर तादात्म्य अथवा चिदैक्यदाढर्च अर्थ भी लेना चाहिये।

---

१. स्व० त० २।१०९-११३।

यामलं चक्रदेवीश्च स्वस्थाने पूजयेद् बहिः ।
लोकपालानस्त्रयुतान् गन्धपुष्पासवादिभिः ॥ २० ॥

इसमें वित्तशाठ्यरूपी कृपणता नितान्त वर्जित है। सक्षम रहते हुए भी जो साधक वित्तशाठ्य करता है, उसे अधम कोटि में गिना जाता है। इस श्लोक में आये कुछ शब्दविशेष ध्यान देने योग्य हैं। जैसे—१. विद्याङ्ग, २. भैरवाष्टक, ३. यामल, ४. चक्रदेवी।

१. विद्याङ्ग–अघोर मूलमन्त्र के ५ विद्याङ्ग माने जाते हैं—(अ) अघोरेभ्यो (आ) अथ घोरेभ्यो (इ) घोरघोरतरेभ्यश्च (ई) सर्वतः शर्व सर्वेभ्यो (उ) नमस्ते रुद्ररूपेभ्यः—ये पाँच विद्याङ्ग हैं। इनसे मिलकर मन्त्र रूप निष्कल शिव का विद्यादेह निर्मित होता है। इस शरीर के तीन नेत्र हैं—१. ॐ २. जुं और ३. सः। इनमें प्रथम, ऊर्ध्व नेत्र है, द्वितीय दक्ष नेत्र और तृतीय वाम नेत्र है। इसे पहले और अन्त में लगा कर मन्त्र को सम्पुटित कर जप करना चाहिये।

२. भैरवाष्टक (दिङ्न्यास सहित)—१. कपालेश (पूर्व दिशा में न्यास), २. शिखिवाहन (अग्निकोण), ३. क्रोधराज (दक्षिण), ४. विकराल (नैऋत्य), ५. मन्मथ (पश्चिम), ६. मेघनादेश्वर (वायव्य), ७. सोमेश्वर (उत्तर) और ८. विद्याराज (ईशान)। यही अष्ट भैरवाष्टक में परिगणित हैं। स्वच्छन्दतन्त्र (२।१२४-१२५) के अनुसार लोकेश भी भैरवाष्टक हैं। इनकी उपासना में पृथक्-पृथक् मन्त्र निर्धारित हैं। इनके अंग ही आवरण माने जाते हैं।

३. यामल—स्वच्छन्द शिव की उत्सङ्गगामिनी निरन्तर प्रभु से अवियुक्त अघोरेश्वरी[1] देवी की यामल पूजा करनी चाहिये। कहा गया है—

"अकुलस्यास्य देवस्य कुलप्रथनशालिनी।
कौलिको सा पराशक्तिरवियुक्तो यया प्रभुः" ॥

४. चक्रदेवी—वामा, ज्येष्ठा, रौद्री, काली, कलविकरणी, बलविकरणी बलप्रमथनी, सर्वभूतदमनी और मनोन्मनी हैं। इन्हें शक्ति मण्डल भी कहते हैं ॥ १९-२० ॥

---

१. स्व० त० २।११४-११६।

पूजयेत्परया भक्त्या वित्तशाठ्यविवर्जितः ।
ततः कुम्भास्त्रकलशीमण्डलस्थानलात्मनाम् ॥ २१ ॥

पञ्चानामनुसन्धानं कुर्यादद्वयभावनात् ।
ये तु तामद्वयव्याप्तिं न विन्दन्ति शिवात्मिकाम् ॥ २२ ॥

मन्त्रनाडीप्रयोगेण ते विशन्त्यद्वये पथि ।

सुसंपूर्ण इति पूरणप्रधानत्वाद् अस्याः । अत इति तदधिष्ठानमात्रेणैव यागस्य पूर्णतापत्तेः । श्रीशिकाग्रन्थश्च बहुशो व्याख्यातचरः । स्वस्थान इति अग्नीशादिरूपे । तत इति मण्डलपूजानन्तरम् । अद्वयभावनादिति अहमेव सर्वत्रावस्थित इत्येवंरूपात् । न विन्दन्ति इत्येवमद्वयपरामर्शानुदयात् ॥

यहाँ तक मण्डल की पूजा पूरी होती है । इसके बाद अन्तर्याग और बहिर्याग का क्रम अपनाया जाना चाहिये । मानस याग के बाद ही अर्थात् आन्तरिक दिव्य भाव जगाने के बाद ही बाह्य याग पूरा करना चाहिये । स्वच्छन्दतन्त्र (३।४०) में यह लक्ष्य स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट है । इसे दूसरे शब्दों में मन्त्रसन्धान कहते हैं । मन्त्रसन्धान के बाद ही नाडीसन्धान की प्रक्रिया आती है ।

नाडीसन्धान में कुम्भस्थ अस्त्र, कलशी मण्डलस्थ, अनलस्थ और स्वात्मस्थ इन पाँचों के एकानुसन्धान का सङ्केत ग्रन्थकार कर रहे हैं । स्वच्छन्दतन्त्र (४।४५-४६) में केवल कुम्भस्थ, मण्डलस्थ और अनलस्थ के एकानुसन्धान की बात 'त्रिष्ठ' शब्द के स्पष्ट उल्लेख के माध्यम से कही गयी है । इनका अद्वय भाव से अनुसन्धान करना चाहिये । ग्रन्थकार यह घोषणा सी कर रहे हैं कि, जो शिवात्मिका अद्वयशक्ति को नहीं जानते, वे भी मन्त्रनाडी के इस अनुसन्धानात्मक प्रयोग से अद्वय मार्ग में प्रवेश कर जाते हैं । इसलिये इसका प्रयोग अनिवार्यतः आवश्यक है ।

इस प्रसङ्ग में कुछ तथ्यों पर विशेष ध्यान देना चाहिये—

१. श्लोक २२ में आये हुए अद्वयभावन शब्द केवल शिवात्मक अद्वय भाव की ओर ही सङ्केत नहीं करता, अपितु यह निर्देश सा कर रहा है

तमेव मन्त्रनाडीप्रयोगमाह

स्वदक्षिणेन निःसृत्य मण्डलस्थस्य वामतः ॥ २३ ॥
प्रविश्यान्येन निःसृत्य कुम्भस्थे कर्करीगते ।
वह्निस्थे च क्रमेणेत्थं यावत्स्वस्मिन् स्ववामतः ॥ २४ ॥
मूलानुसन्धानबलात्प्राणतन्तूम्भने सति ।
इत्थमैक्यस्फुरत्तात्मा व्याप्तिसंवित्प्रकाशते ॥ २५ ॥

कि 'स्वात्म' को ही सर्वत्र अवस्थित मानकर अहमात्मक अद्वैत के उल्लास को ही महत्त्व देना चाहिये ।

२. उसी श्लोक में 'शिवात्मिकां व्याप्ति न विदन्ति' यह चर्चा की गयी है । यहाँ यह जानना आवश्यक है कि, साधक की संवित्ति में जब तक शैव महाभाव के परामर्श का उदय नहीं होता, तब तक वह उस अद्वय व्याप्ति का आस्वाद पा ही नहीं सकता ॥२१-२२॥

मन्त्रनाडी प्रयोग—

गुरुद्वारा स्वात्म में निष्कल भावन कर श्लोक २१ के अनुसार कुम्भ में सर्वप्रथम अद्वय भावन करना चाहिये । इसी तरह पाँचों में एकीभावन करना चाहिये । इसके बाद शिष्य के साथ अपने दाहिने द्वार से मण्डप से बाहर आकर मण्डल में स्थित प्रधान देवता के वाम भाग से मण्डल में प्रवेश करना चाहिये । पुनः दाहिनी ओर से निकल कर कलशस्थ की दाहिनी ओर से प्रवेश करना चाहिये । पुनः मण्डलस्थ-स्वात्म के दक्ष भाग से निकल कर पुनः बाँयें से निकल कर अग्निस्थ स्वात्म के दक्ष भाग से प्रवेश करना चाहिये । इस प्रकार एक आध्यात्मिक स्वात्म मण्डल का निर्माण होता है और ये सभी गुरुत्व को गौरवान्वित करते हैं । इसे स्वच्छन्दशास्त्र में महामाहेश्वर क्षेमराज ने अधिकरणचतुष्टयैक्य के रूप में वर्णित किया है[1] । महामाहेश्वर ग्रन्थकार इसे ही ऐक्य स्फुरत्तात्मा व्याप्तिसंवित् कहते हैं । ये सारी बाह्य

---

१. स्व० त० (४।४६-४७) ।

ततो विशेषपूजां च कुर्यादद्वयभाविताम् ।

अन्येनेति दक्षिणेन । इत्थमिति उक्तेन दक्षिणवामाभ्यां निर्गमनप्रवेशलक्षणेन प्रकारेणेत्यर्थः । स्ववामत इति अर्थात्प्रविशेत् । प्राणतन्तूम्भने सतीति स्वात्ममण्डलादीनां परस्परस्य प्राणसमीलना(या)मित्यर्थः, अन्यथा हि कथमैक्यस्फुरत्तात्मायं प्रयोगः सिद्ध्येदित्यर्थः ॥

नन्वत्रापि अद्वयभावेन कोऽर्थ इत्याशङ्क्याह

यच्छिवाद्वयपीयूषसंसिक्तं परमं हि तत् ॥ २६ ॥
तेनार्घपुष्पगन्धादेरासवस्य पशोरथ ।
या शिवाद्वयतादृष्टिः सा शुद्धिः परमीकृतिः ॥ २७ ॥

क्रियायें हैं, जिनमें स्वात्मसंवित् का कलानुसन्धान मुख्य होता है । इसकी एक मौन प्रक्रिया भी है, जिसमें प्राण तन्तु का उम्भन (पूरण) होता है । प्राणतन्तु को प्राणायाम द्वारा कुम्भकस्थ कर स्वात्म-विस्तार की शक्ति प्राप्त करते हैं । पुनः प्राण का वाम और दक्ष अर्थात् इडा-पिङ्गला से रेचन रूप स्वात्म की प्रदक्षिणा की प्रक्रिया पूरी कर अद्वय भावित विशेष पूजा करनी चाहिये । इन बाह्य और आन्तरिक क्रियाओं के द्वारा शिष्य के पाश-जाल को जला देने का महत्त्वपूर्ण काम पूरा होता है ।

आचार्य जयरथ ने अपने विवेक भाष्य में स्वात्ममण्डल शब्द का प्रयोग किया है । स्वात्म में सारा अध्याहार कर आत्मयज्ञ से जो व्याप्ति-संविद् उल्लसित होती है, उससे गुरु में शिष्य के पाशों को जला डालने की क्षमता बनी रहती है । यही प्राणसंमीलना क्रिया भी कहलाती है । शिष्य के नाडी-सन्तान में प्रवेश कर उसका कल्याण करना ही गुरु का लक्ष्य होता है ॥ २३-२५ ॥

अद्वय भाव के प्रयोग से क्या होता है ? इस आशङ्का के उत्तर के लिये नयी कारिकाओं का अवतरण कर रहे हैं—

शिवाद्वय भाव की सुधा से सिक्त शिष्य का अस्तित्व ओजस्विता की परम ऊर्जा से ऊर्जस्वल हो जाता है । उसका दिया हुआ अर्घ, उसके द्वारा

ननु अर्घपुष्पादेः पूजायामुपयोगादस्तु नामैवं परमीकृतिः, पशोः पुनरनया कोऽर्थ इत्याशङ्कां गर्भीकृत्य मण्डलात्मैक्यानुसन्धानानन्तर्येणोद्दिष्टं निवेद्यानां पशूनां विस्तारमभिधातुमाह

निवेदयेद्विभोरग्रे जीवान्धातूंस्तदुत्थितान् ।
सिद्धानसिद्धान् व्यामिश्रान् यद्वा किञ्चिच्चराचरम् ।। २८ ।।

अर्पित पुष्प, उसके द्वारा अनुलिप्त गन्ध और अन्य उपचार सामग्रियाँ सभी भावामृतद्रवदिव्य बनकर उल्लसित हो जाती हैं। उसमें एक नयी शिवाद्वयता-दृष्टि का उदय हो जाता है। वही शिष्य की शुद्धि मानी जाती है। यह शुद्धि उसकी परमीकृति की अवस्था मानी जाती है ।।२६-२७।।

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, पूजा में उपचारों के सदुपयोग में आने वाली वस्तुओं जैसे अर्घ और फूल आदि के अर्पण से परमीकृति की पावन अवस्था प्राप्त होती है, यह तथ्य समझ में आने योग्य है किन्तु पशुरूप पाशबद्ध शिष्य का इन विभिन्न पदार्थों के निवेदन से किस प्रकार परमीकृति या आत्मकल्याण सम्भव है? यह आशङ्का परममाहेश्वर शास्त्रकार के हृदय में है। वे यह पूर्णरूप से जानते हैं कि, विश्वब्रह्माण्ड मण्डल की भेदमयी आडम्बरविडम्बना को ध्वस्त किये विना मण्डलैक्य की सिद्धि नहीं हो सकती। पहले मण्डलैक्य के अनुसन्धान की चर्चा की जा चुकी है। प्रथम आह्निक में निर्दिष्ट अनुजोद्देशोद्दिष्ट क्रमानुसार यहाँ परमाराध्य की प्रसन्नता एवं स्वात्म की वीरभाव को पुष्टि के प्रसङ्ग में उन समस्त निवेद्य पशुओं की चर्चा कर रहे हैं, जिनके निवेदन के लिये आगम-शास्त्र आदेश देता है।

आज पशुहिंसा को असामाजिक कृत्य और अपराध माना जा रहा है। यद्यपि अवैध पशुहिंसा से विभिन्न पशुजातियों के विलुप्त होने का भय उपस्थित है। ऐसी स्थिति में पावन भाव से परमीकृति के उद्देश्य से पशुहिंसा का आगमिक उद्देश्य क्या है? इस सन्दर्भ में सन्दृब्ध कर रहे हैं—

उक्त विचारों को विधि-क्रिया के द्वारा व्यक्त करना यह सिद्ध करता है कि, इसे व्यवहार में लाना शिष्य के लिये अनिवार्य है। शास्त्रकार इसे

जीवन्तीति जीवाः पशवः । सिद्धानिति पक्वान् । न केवलं पश्वादि चरमेवात्र निवेद्यम्, यावदचरमपीत्याह यद्वा किञ्चिच्चराचरमिति ॥२८॥

जीवानिति बहुवचनाक्षिप्तं पशुबहुत्वमभिधत्ते

दृष्टप्रोक्षितसंद्रष्ट्रप्रालब्धोपात्तयोजितः ।
निर्वापितो वीरपशुः सोऽष्टधोत्तरतोत्तमः ॥ २९ ॥
यथोत्तरं न दातव्यमयोग्येभ्यः कदाचन ।
शिवोपयुक्तं हि हविर्न सर्वो भोक्तुमर्हति ॥ ३० ॥

उत्तरतोत्तम इति यथोत्तरमुत्कृष्ट इत्यर्थः ॥३०॥

पृथक्-पृथक् व्याख्यायित करेंगे । इस कारिका में केवल निवेदनीयों की सूची सी दे रहे हैं । उनका कहना है कि भगवान् भूतभावन भैरव विभु के समक्ष—

१. जीवों का निवेदन करना चाहिये ।

२. जीवों में स्वभावतः समुत्पन्न और प्राप्त धातुओं का अर्पण करना चाहिये ।

३. सिद्ध (पक्व), असिद्ध (अपक्व) और सिद्धासिद्ध अर्थात् व्यामिश्रित धातु-द्रव्यों का उत्सर्जन करना चाहिये ।

४. अथवा, जो कुछ चराचर उपलब्ध है, उसका अर्पण करना चाहिये । श्रीमद्भगवद्गीता की यह उक्ति—

"यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥"

इस सन्दर्भ को ही रूपायित करती है ॥२८॥

इन पर अलग-अलग विचार अपेक्षित है—

जीवान्—'जीवन्ति इति जीवाः' इस विग्रह के अनुसार जीव शब्द से जीवमात्र का बोध होता है । यहाँ निवेदनीय पशुओं का ही अर्थ लेना चाहिये । ये आठ प्रकार की श्रेणी में विभक्त हैं और क्रमशः उत्तरोत्तर श्रेष्ठ माने जाते हैं । वे आठों इस प्रकार हैं—

ननु किमेवमस्य हविषो माहात्म्यं यत्सर्वो न भोक्तुमर्हतीत्युक्तमित्याशङ्क्याह

यस्तु दीक्षाविहीनोऽपि शिवेच्छाविधिचोदितः ।
भक्त्याश्नाति स संपूर्णः समयी स्यात्सुभावितः ॥ ३१ ॥

भक्त्याशने हेतुः शिवेच्छाविधिचोदित इति ।

यदुक्तम्

'तस्यैव तु प्रसादेन भक्तिरुत्पद्यते नृणाम् ।' इति ।

अत एव लौल्यादिना भुक्ते प्रत्यवायो भवेदिति भावः ॥३१॥

---

१. दृष्ट, २. प्रोक्षित, ३. संद्रष्टृ, ४. प्रालब्ध, ५. उपात्त, ६. शमित, ७. योजित और ८. निर्वापित। यह ध्यान देने की बात है कि, यथोत्तर श्रेष्ठ इन जीवों को जिस किसी को नहीं दे देना चाहिये। इससे इनके दुरुपयोग की सम्भावना को नकारा नहीं जा सकता। वास्तविकता यह है कि, जो हविष्य मात्र शिव के लिये ही अर्पण करने योग्य है, उसके उपभोग के लिये सामान्य जन अधिकारी नहीं माने जा सकते ॥२९-३०॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि, इस शैव हविष्य में ऐसी क्या महत्ता है, जिसे सामान्य जन उपभोग में नहीं ला सकते। इस पर अपना विचार प्रकट कर रहे हैं—

इसके उपभोग के लिये शैवभक्ति की नितान्त अपेक्षा होती है। शिवेच्छा को अपने जीवन की विधि बनाने में तत्पर रहने वाला और स्वेच्छा को शिवत्व की उपलब्धि के लिये गौण बनाने में संलग्न साधक भले ही दीक्षा विहीन क्यों न हो, यदि भक्ति भाव से भरकर इसको ग्रहण करता है, तो वह सम्पूर्ण रूप से समयी बन जाता है क्योंकि वह शैवमहाभाव से भावित होता है।

शिवेच्छा विधि के सन्दर्भ में आगम की उक्ति है कि, "उसी सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के प्रसाद से मनुष्यों में भक्ति उत्पन्न होती है।"

एतदेव यथोद्देशं पश्वष्टकं लक्षयति

दृष्टोऽवलोकितश्चैव किरणेद्धदृगर्पणात् ।
प्रोक्षितः केवलं ह्यर्घपात्रविप्रुड्भिरुक्षितः ॥ ३२ ॥
संद्रष्टा दर्शिताशेषसम्यक्पूजितमण्डलः ।
प्रालब्ध उक्तत्रितयसंस्कृतः सोऽपि धूनयेत् ॥ ३३ ॥
कम्पेत प्रस्रवेत्स्तब्धः प्रलीनो वा यथोत्तरम् ।
उपात्तो यागसान्निध्ये शमितः शस्त्रमारुतैः ॥ ३४ ॥

केवलमिति अवलोकनपरिहारेण । उक्तत्रितयसंस्कृत इति अवलोकन-प्रोक्षणमण्डलदर्शनलक्षणेन उक्तेन त्रितयेन संस्कृतः कृतसंस्कार इत्यर्थः । यथोत्तरमित्यवलोकने धूननम्, प्रोक्षणे कम्पनम्, मण्डलदर्शने प्रस्रवणम्, यद्वा

इस भक्ति के आधार पर शिवेच्छा का अनुमान लगा लेते हैं। वस्तुतः क्रिया फलानुमेया ही होती है। जो व्यक्ति लालचवश इसका उपयोग करता है, उसे प्रत्यवायों (विघ्नों) का सामना करना पड़ता है ॥३१॥

इस प्रसङ्ग में आठों प्रकार के निवेदनीय पशुओं के प्रकार को परि-भाषित कर रहे हैं—

१. दृष्ट—साधक को शिवेच्छावशीभूत होकर बलि की आकांक्षा उत्पन्न हुई। वह इसकी व्यवस्था के लिये निकल पड़ा। उसे पहले ही उपलभ्य जो पशु दीख पड़ा, वही दृष्ट पशु है। इसे ही अवलोकित भी कहते हैं। इसमें यह रहस्य उद्घाटित होता है कि, शैवरश्मियाँ उसकी आँखों से फूट पड़ती हैं और वह पशु उसी नायन-प्रभा के परिवेश में अपनी अर्पणीयता को व्यक्त कर देता है।

२. प्रोक्षित—वह पशु होता है, जो अर्घपात्र के जल से और उसके विप्रुषों से उक्षित कर दिया जाता है। प्रोक्षण-प्रक्रिया से उसका संस्कार हो जाता है।

३. संद्रष्टा—वह पशु होता है, जो समस्त सम्यक् रूप से पूजित

योजितः कारणत्यागक्रमेण शिवयोजनात् ।
निर्वापितः कृताभ्यासगुरुप्राणमनोर्पणात् ॥ ३५ ॥
दक्षिणेनाग्निना सौम्यकलाजालविलापनात् ।

मण्डल को अपनी आँखों से निहारता रहता हो ।

४. प्रालब्ध—उक्त तीनों संस्कारों से संस्कृत पशु ही प्रालब्ध पशु कहलाता है । प्र+आ+लब्ध तीन पदों से निष्पन्न यह यज्ञपशु के विशेषण रूप में प्रयुक्त एक पारिभाषिक शब्द है । इसकी विभिन्न अवस्थायें प्रत्यक्ष अनुभूत होती हैं—

(अ) कभी-कभी वह अपने पूरे शरीर का जोरों से जैसे झकझोर देते हैं—वैसा झकझोरता रहता है ।

(आ) उसके ऊपर प्रोक्षण का जल पड़ता है । फलतः वह काँपने भी लगता है ।

(इ) प्रस्रवण करता है । उसके शरीर से मानों पसीने की धार फूटती सी जान पड़ती है । मुख से और आँखों से भी पानी छूटने लगता है ।

(ई) स्तब्ध हो जाता है । यज्ञीय-प्रक्रिया को देखकर उसे कुछ आभास सा हो जाता है और वह ठक् सा रह जाता है, निश्चेष्ट हो जाता है ।

(उ) इसके अतिरिक्त मानो उसकी सारी इन्द्रियवृत्तियाँ स्वयं में लीन हो जाती हैं और वह एक अदृश्य छाया में डूब सा जाता है ।

ये पाँचों अवस्थायें यथोत्तरोत्तर बढ़ सकती हैं । आचार्य जयरथ इस बढ़त को तर-तम भाव से होने का उल्लेख कर यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि, पशु के ऊपर एक अदृश्य सत्ता का प्रभाव परिलक्षित होता है ।

५. उपात्त—और ऐसी अवस्थाओं में जी रहे उस पशु को याग-स्थल में निर्धारित वधस्थल पर लाकर बाँध देते हैं ।

निश्चेष्टस्तरतमभावेन गलितनिखिलेन्द्रियवृत्तिश्च भवेदित्यर्थः। शस्त्रमारुतैरित्यत्र वेगवत्त्वप्रतिपादनार्थं मारुतेन निरूपणम्। आत्मनश्च दक्षिणेन प्राणाग्निना सौम्यस्यापानात्मनः पाशवस्य कलाजालस्य विलापनमवलम्ब्य प्राणमनोजयादौ कृताभ्यासेन गुरुणा प्राणमनसोरर्पणात् पाशवप्राणाद्येकीकारेणावस्थानान्निवेदितो यः पशुः, स निर्बीजकरणान्निर्वापित उच्यत इत्यर्थः॥

---

६. शमित—अब वह बलि के लिये मानों परम गति के लिये शान्त हो गया होता है। शान्त होने की इस प्रक्रिया को शास्त्रकार ने 'शमित' शब्द से परिभाषित किया है।

७. योजित—अब उसकी गर्दन पर शस्त्र का एक चोटीला आघातक प्रहार हो रहा है। उस प्रहार की हवा इतनी तेज है, कि उसके प्राण उसी में उड़ रहे हैं। इधर झटके से उसका मुण्ड रुण्ड से अलग हो गया होता है। शरीर धारण का कारण अब समाप्त हो गया है। शिव से उसका समायोजन हो गया है।

८. निर्वापित—साधना के क्रम में साधक प्राणरूपी दक्षिण अग्नि से सोमात्मक अपानरूप पाशव कला जाल का विलापन करता है। उसी क्रम में प्राण पर साधक विजय प्राप्त कर लेता है और सांसिद्धिक गुरु बन जाता है।

ऐसा गुरु प्राण और मन दोनों को अर्पण करने की कला के साथ-साथ एकीभाव से पशु के प्राण और मन को उसी परमतत्त्व में समाहित कर देता है। इस एकीकार की प्रक्रिया से पशु का जीवन अस्तित्व निर्वेदित कर दिया गया होता है। पशु की सबीजता अब समाप्त हो जाती है। इस दशा को निर्बीजकरण कहते हैं।

निर्बीज दशा महत्त्वपूर्ण दशा होती है। पशु पूर्ण रूप से पशुपति में समाहित हो जाता है। ऐसा पशु ही निर्वापित कहलाता है॥३२-३५॥

एतदेव प्रपञ्चयति

तथाह्यादौ परं रूपमेकोभावेन संश्रयेत् ॥ ३६ ॥

तस्मादाग्नेयचारेण ज्वालामालामुपाविशेत् ।
पशोर्वामिन चन्द्रांशुजालं तापेन गालयेत् ॥ ३७ ॥

नाभिचक्रेऽथ विश्राम्येत्प्राणरश्मिगणैः सह ।
परो भूत्वा स्वशक्त्यात्र जीवं जीवेन वेष्टयेत् ॥ ३८ ॥

स्वचित्सूर्येण संताप्य द्रावयेत कलां कलाम् ।
ततो द्रुतं कलाजालं प्रापय्यैकत्वमात्मनि ॥ ३९ ॥

उक्त पशुबलि की प्रक्रिया में क्या-क्या क्रमिक रूप से पशु के स्वरूप में परिवर्त्तन और भाव संक्रमण होते हैं—इसका वर्णन भेद मूलक पारिभाषिक संज्ञाओं के रूप में किया गया है। अब उनका रहस्यात्मक विश्लेषण कर रहे हैं—

गुरुद्वारा सर्वप्रथम पशु के रूप को पारमेश्वर परमरूप में एकीभाव से प्रकल्पित करना चाहिये। उसके बाद आग्नेयचार की (दक्ष प्राणचार) ज्वालाओं से छूटने वाले प्रकाश के तादात्म्य में समाविष्ट करना चाहिये। पशु का अपानचार जो चन्द्रांशु जाल है, उसे उक्त ताप से गला देना चाहिये। गुरु को नाभिचक्र रूप, अधः द्वादशान्त के ऊपर पौर्णमास आवास में पशु की प्राण-रश्मियों के साथ विश्राम करना चाहिये।

गुरुदेव स्वयं परमेश्वर के पर माहेश्वरभाव में स्थित रह कर अपनी शक्ति से पशु के जीव को जीवनतन्तु से आवेष्टित करें। अपनी चिति की चेतना की सूर्य—अर्चियों से उसे रोचिष्मान् कर दें और इतना ताप दें कि, वह कला कला में द्रवित हो जाय। उस कला जाल को तत्काल स्वात्मैक्य में समाहित कर लें। यह ध्यान देने की बात है कि, स्वयं गुरुदेव में इस प्रकार का आध्यात्मिक सामर्थ्य अनिवार्यतः आवश्यक है। यह कोई लड़कों का खेल नहीं, पर-माहेश्वर-साधना का उच्च रहस्यात्मक स्तर है। बिना इसमें सिद्ध

समस्ततत्त्वसंपूर्णमाप्यायनविधायिनम् ।
उन्मूलयेत संरम्भात्कर्मबद्धममुं रसात् ॥ ४० ॥

तत उन्मूलनोद्वेष्टयोगाद्वामं परिभ्रमन् ।
कुण्डल्यमृतसंपूर्णस्वकप्राणप्रसेवकः ॥ ४१ ॥

वामावर्तक्रमोपात्तहृत्पद्मामृतकेसरः ।
हृत्कर्णिकारूढिलाभादोजोधातुं विलापितम् ॥ ४२ ॥

शुद्धसोमात्मकं सारमीषल्लोहितपीतलम् ।
आदाय करिहस्ताग्रसदृशे प्राणविग्रहे ॥ ४३ ॥

हुए बलि के इस महत्त्वपूर्ण कार्य में हाथ नहीं लगाना चाहिये। यहाँ तक दृष्ट, प्रोक्षित, संदष्ट्र, प्रालब्ध, उपात्त, शमित और योजित पशुक्रम का वर्णन आ चुका है ॥ ३६-३९ ॥

इसके बाद पहले से भी अभ्यस्त प्राणचार प्रक्रिया में पारङ्गत, दक्षतम गुरुदेव का दायित्वपूर्ण कार्य सम्पन्न होता है। सर्वप्रथम जीव के कला जाल को स्वात्म में समाहित करना चाहिये। वह अत्यन्त तैजस वेग से स्नेहपूर्ण मुद्रा में सारे तत्त्वों से सम्पूर्ण होता है और उन्हीं तत्त्वों के आप्यायन में अपने सारे जीवन को व्यर्थ गवाँ देता है। ऐसे कर्मबद्ध जीव के मूल को उखाड़ कर अलग कर देना चाहिये। कर्म की जड़ें इतनी मजबूत होती हैं कि, उन्हें रसमय संरम्भ में ही उखाड़ना पड़ता है। जड़ के कट जाने से कर्मद्रुम निश्चय ही सूख जाता है ॥ ४० ॥

इसके बाद उस उन्मीलित-कर्मबन्ध जीव को अपने जीवतन्तुओं से पुनः वेष्टित करना चाहिये। स्वयं बाँयें घूमते हुए कन्द कुण्डली के अमृत से स्वात्म प्राण को अभिषिक्त कर प्राणकोष में ही तन्मय भाव से प्ररूढ होकर वामावर्त्त क्रम से हृदय परिवेश में स्वयं पहुँच कर हृदयारविन्दमकरन्द और केशर से रंग कर स्वयं को सुसज्ज भाव से सनद्ध कर ले। हृदय कमल की कर्णिका में ही उल्लसित रहता हुआ अपने प्राण की ऊष्मा से तपाकर

निःसृत्य झटिति स्वात्मवाममार्गेण संविशेत् ।
आप्याययन्नपानाख्यचन्द्रचक्रहृदम्बुजे　　॥ ४४ ॥
स्थितं तद्देवताचक्रं तेन सारेण तर्पयेत् ।

इह तावदात्मनि निग्रहादिसामर्थ्यान्यथानुपपत्त्या पररूपतां संश्रित्य वह्निज्वालामुचा स्वदक्षिणेन निर्गत्य पशोर्वामेन प्रविश्य तदपानचन्द्रसंबन्धि कलाजालं स्वप्राणाग्नितापेन द्रावयित्वा तन्नाभिचक्र एव निखिलप्राणक्रोडीकारेण स्वावष्टम्भ एव तिष्ठन् स्वमहिम्ना तज्जीवं स्वजीवेन वेष्टयित्वा स्वचिदग्नितापेन तत्कलाजालं विलाप्य संपूर्णरूपतयाप्यायकारित्वादात्मनि एकतां प्रापय्यादरसंरम्भेण तदमुं कर्मबन्धादुद्वेष्टनक्रमेणोन्मूलयित्वा वामावर्तन परिभ्रमन् आसादितहृत्पद्मामृतमयकर्णिकादेशोऽत एव कन्दकुण्डलिन्यमृतापूरितस्वप्राणभस्त्र आचार्यो हृत्कर्णिकायामेव प्ररोहं भजन्नीषल्लोहितपीतलमत एव शुद्धसोमात्मकं स्वप्राणवह्निना विलापितमोजोधातुलक्षणं सारं कुटिलकुञ्चिताकारकरिहस्ताग्रसदृशेन प्राणेनाकृष्य शीघ्रमेव तद्दक्षिणेन निर्गत्य स्ववामेन प्रविश्य स्वात्मानमाप्याययन्नेवमाहृतेन तेन सारेण हृदम्बुजस्थितं देवताचक्रं तर्पयेत् तदेकसमरसं कुर्यादित्यर्थः ॥

विलापित किये हुए पशु के ओज रूपी धातु जिसे शुद्ध सोमात्मक माना जाता है, एवं जो ओज धातु का सारसर्वस्व होता है, साथ ही ईषत् ताम्रवर्णात्मक (कुछ ललाई लिये हुए) पीतल की पीताम्बर पीली प्रभा से पुलकायमान भी होता है, उसे हाथी के अगले हसियावत् दायें हाथ के टेढ़े प्राणरूपी हथियार से खींच कर तत्क्षण उसके दाहिने से निकल कर और अपने वामभाग से प्रवेश कर स्वात्म को पुनः पुनः आप्यायित कर सम्यक् रूप से सक्षम कर लेना चाहिये ।

पुनः तत्काल समाहृत पशु के सोमात्मक सार अमृत से आचार्य के स्वात्महृदयावस्थित देवताचक्र का तर्पण करना चाहिये । इस तर्पण से अग्निषोमात्मक सामरस्य के एक अत्यन्त आनुग्रहिक दिव्य भाव का समुद्भव होता है । इसके फलस्वरूप पशु प्राण की निर्वापन प्रक्रिया एक तरह से पूर्णता की ओर अग्रसर हो जाती है ॥ ४१-४४ ॥

न केवलमेवमोजोधातुमेवाहरेत्, यावदन्यानपीत्याह

अनेन विधिना सर्वात्रसरक्तादिकांस्तथा ॥ ४५ ॥

धातून्समाहरेत्संघक्रमादेकैकशोऽथवा ।

केवलं त्वथवाग्नीन्दुरविसंघट्टमध्यगम् ॥ ४६ ॥

ज्योतीरूपमथ प्राणशक्त्याख्यं जीवमाहरेत् ।

अग्नीन्दुरविसंघट्टमध्यगमिति प्राणापानोदानसंघट्टात्मकहृत्पद्म(मध्य)-मध्यासीनमित्यर्थः ॥

नन्वेवमाहृतैरेभिः किं कुर्यादित्याशङ्क्याह

जीवं समरसीकुर्याद्देवीचक्रेण भावनात् ॥ ४७ ॥

तदेव तर्पणं मुख्यं भोग्यभोक्त्रात्मतैव सा ।

उक्त प्रक्रिया से पशु की ओजधातु का आहरण हो जाता है। साथ ही रस, रक्त मज्जा आदि धातुओं का भी समाहरण किया जाता है। इसे एक-एक कर या सामूहिक रूप से भी सम्पन्न कर सकते हैं। यहाँ यह ध्यान देने की बात है। ये धातु जीव के संस्कार के साथ-साथ प्राप्त होते हैं। धातु सार के समाहरण में सबका समाहरण अपने आप भी सम्पन्न हो जाता है। इसे मानसिक रूप से स्वयं आचार्य समाहृत कर सकता है।

आचार्य का इस विषय का योग्यतातिशय महत्त्वपूर्ण होता है। जीव का पहले कर्मभूमि से उन्मूलन और वेष्टन पूरा हो चुका है। अब स्वयं आचार्य उस जीव के अधिकारी होते हैं। सूर्य-सोम और अग्नि के संघट्ट से हृदयपद्म में ज्योतिष्मान् प्राणशक्ति रूप जीव का आहरण करने से ही सारी प्रक्रिया पूरी हो जाती है। सूर्य सोमाग्नि संघट्ट में प्राण, अपान और उदान वायु उल्लसित रहती है ॥ ४५-४६ ॥

इस प्रकार समाहृत जीव का सामरस्य भाव आचार्य के समर्थ भाव-दार्ढ्य से सम्पन्न होता है। हृदय-पद्मस्थ देवीचक्र का तर्पण (श्लोक ४५)

ननु किमेतत्समन्त्रकं कार्यं नवेत्याशङ्क्याह

अग्निसंपुटफुल्लार्णत्र्यश्रकालात्मको महान् ॥ ४८ ॥
पिण्डो रक्तादिसारौघचालनाकर्षणादिषु ।

अग्निः रेफः, फुल्लार्णः फकारः, त्र्यश्रमेकारः, कालो मकारः, एवं फ्रेम् । तदुक्तम्

'क्रोधो वह्निपुटान्तस्थस्त्र्यश्रकालविभेदितः ।
सेयं रक्तादिसारौघकर्षणे क्षुरिका मता ॥' इति ॥

इसमें प्रमुख और महत्त्वपूर्ण काम माना जाता है। इस स्थिति में भोक्ता और भोग्य भाव का ऐक्य सिद्ध हो जाता है। इसमें नितान्त सावधानी की आवश्यकता होती है ॥ ४७ ॥

यहाँ इस प्रक्रिया में प्रधान रूप से बलि कर्म के महत्त्व पर और इसके विधि निषेध पर ही ध्यान जाता है। प्रश्नकर्त्ता पूछता है कि, इसमें किसी मन्त्र का प्रयोग होता है या यह बलि प्रक्रिया अमन्त्रक ही पूरी की जाती है। उस प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं कि,

हाँ, यह क्रिया मन्त्रात्मक छुरिका प्रयोग से सिद्ध किया जाता है। इसमें अग्नि, संपुट, फुल्लार्ण, त्र्यश्र, काल इन पाँचों के वर्ण समाम्नाय के समन्वय से जिस मन्त्र का निर्माण होता है, वही छुरिका प्रयोग के साथ व्यवहार में लाया जाता है। यद्यपि यह अनुद्घाटनीय है फिर भी कृपा कर आचार्य जयरथ ने इसे स्पष्ट कर दिया है। उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—अग्निसंपुट-रेफ, फुल्लार्ण-फ, त्र्यश्र-एकार, कालकार मकार—इन चारों वर्णों से 'फ्रें' बीजमन्त्र बनता है। यह छुरिका नामक बीजमन्त्र है। इसके विषय में कहा गया है कि,

"क्रोध अग्निसंपुट के अन्तः अवस्थित रहे, उसके साथ त्र्यश्र (तिकोना) एकार लगा हो और उसमें काल जुटा हुआ हो, तो एक बीजमन्त्र समुद्भूत हो जाता है। यह रक्त, मज्जा, सार आदि के खींचने काटने में छुरिका का काम करता है। बलिकर्म में इसका प्रयोग होता है" ॥ ४८ ॥

नन्विदं कियता कालेन कियता वा जपेन सिद्धयेदित्याशङ्कयाह

इत्थं विश्रान्तियोगेन घटिकार्धक्रमे सति ॥ ४९ ॥

आवृत्तिशतयोगेन पशोर्निर्वापणं भवेत् ।

अत्र च प्राक्कोटावभ्यास उपादेय इत्याह

कृत्वा कतिपयं कालं तत्राभ्यासमनन्यधीः ॥ ५० ॥

यथा चिन्तामणौ प्रोक्तं तेन रूपेण योगवित् ।

निःशङ्कः सिद्धिमाप्नोति गोप्यं तत्प्राणवत्स्फुटम् ॥ ५१ ॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि कितने समय और कितने जप के उपरान्त यह कार्य सम्पन्न होता है ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

इस प्रकार विश्रान्ति-सामरस्य प्रक्रियापर्यन्त क्रम में कम से कम आधी घड़ी का समय लगता है। इतना समय इसके लिये पर्याप्त होता है। इसकी सौ आवृत्तियाँ मानसिक रूप से सम्पन्न कर लेने पर निर्वापण की प्रक्रिया पूरी हो जाती है ॥ ४९ ॥

इस प्रक्रिया में अभ्यास अनिवार्यतः आवश्यक है । यही कह रहे हैं—

इस कार्य में निष्णात होने के लिये अनन्य बुद्धि से अर्थात् एक उद्देश्य और एक लक्ष्य की सिद्धि के लिये निष्ठापूर्वक अभ्यास करना चाहिये। अभ्यास इसकी पहली कोटि है । अभ्यास का सारा विधान तत्त्वचिन्तामणि ग्रन्थ में पूरी तरह प्रतिपादित है । योगविज्ञ साधक उन्हीं विधियों का अनुसरण करें, जिनका निर्देश वहाँ किया गया है। अन्तिम सिद्धि कोटि की प्रक्रिया का निर्देश तो यहाँ कर ही दिया गया है । जहाँ तक सिद्धि प्राप्ति का प्रश्न है— यह असंदिग्ध रूप से पूर्ण होती है और मिलती है। हाँ अनन्य भाव से इसे सम्पन्न करना चाहिये। यह सिद्धि प्राणों की तरह गोपनीय है। इस सम्बन्ध की आगमिक उक्ति हैं कि,

"निश्चित रूप से सिद्धि मिलती है। इस विषय में संशय के लिये कोई कारण नहीं हैं। एक तरह से शङ्का पूरी तरह वर्जित की गयी है।

चिन्तामणाविति तत्त्वार्थचिन्तामणौ । तेनेति कृताभ्यासेन । निःशङ्क इति, यदुक्तम्

'निःशङ्कः सिद्धिमायाति शङ्कां तेनात्र वर्जयेत् ।
अलोककरुणाबुद्धिरवीरो हि विनश्यति ॥' इति ।

गोप्यमिति लोकविरुद्धत्वात् ॥ ५१ ॥

एतदेव परोक्षदीक्षायामप्यतिदिशति

परोक्षेऽपि पशावेवं विधिः स्याद्योजनं प्रति ।
प्रवेशितो यागभुवि हतस्तत्रैव साधितः ॥ ५२ ॥
चक्रजुष्टश्च तत्रैव स वीरपशुरुच्यते ।

तत्रैवेति यागभुवि । जुष्ट उपभुक्तः ॥

पशुबलिविषयक झूठी मूठी दया की बात करने वाले और दया दिखाकर इस काम से विरत हो जाने वाले लोग इष्ट सिद्धि नहीं पा सकते । फलतः उनके उद्देश्य का नाश हो जाता है । ऐसा पुरुष 'वीर' नहीं हो सकता । इस प्रक्रिया में निष्णात साधक को ही वीर–भाव प्राप्त होता है" ।

इस पूरी प्रक्रिया और एतद्विषयक सिद्धि को गोपनीय रखने का एक प्रमुख कारण लोकविरुद्धता है । कहा जाता है कि, यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धम्, नाचरणीयम् नाचरणीयम्, ॥ ५०-५१ ॥

परोक्षदीक्षा में भी पशुबलि की यही विधि अपनायी जाती है । श्लोक ३५ में वर्णित योजित पशु के सन्दर्भ में शिवयोजन का प्रकरण आ चुका है । उसी के बाद निर्वापित दशा का वर्णन आता है । यह योजित पशु याग गृह में वधस्थल पर लाकर उसी तरह आघातपूर्ण प्रहार से कारणत्याग करने की स्थिति में पहुँचाया जाता है । वहीं साध्य की सिद्धि में प्रयुक्त होता है और देवी-चक्र का अर्पित होता है एवम् उपभुक्त भी होता है । अब वह वीरपशु कहलाने के योग्य हो जाता है ॥ ५२ ॥

ननु रणापणादौ व्यापादितोऽपि पशुर्यागादौ निवेदनीयस्तत्कथमस्याष्टधात्वमेवोक्तमित्याशङ्कयाह

यस्त्वन्यत्रापि निहितः सामस्त्येनांशतोऽपिवा ॥ ५३ ॥
देवाय विनिवेद्येत स वै बाह्यपशुर्मतः ।

अत्रैव क्रमेण फलं निर्दिशति—

राज्यं लाभोऽथ तत्स्थैर्यं शिवे भक्तिस्तदात्मता ॥ ५४ ॥
शिवज्ञानं मन्त्रलोकप्राप्तिस्तत्परिवारता ।
तत्सायुज्यं पशोः साम्याद्बाह्यादेर्वीरधर्मणः ॥ ५५ ॥
पुष्पादयोऽपि तल्लाभभागिनः शिवपूजया ।

लाभ इति धरादेः । तत्परिवारतेति तत्सामीप्यम् । एवं बाह्यपशोः राज्यम्, इष्टस्य लाभः, यावद्वीरपशोर्मन्त्रसायुज्यमिति ॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि, जो पशु रण और आपण आदि में मारे जाने पर भी याग आदि में निवेदनीय होते हैं, उनकी गणना न कर केवल बलिपशुओं के आठ भेद ही क्यों लिखे गये हैं ? इस पर अपना मन्तव्य प्रकट कर रहे हैं—

जो पशु अन्यत्र भी निहत हो जाते हैं, भले ही वे पूरी तरह समाप्त हो गये हों या आंशिक रूप से आहत होने पर भी कारण त्याग कर चुके हों, उन्हें देवता को अर्पण करना चाहिये । ये पशु उन आठों में बाह्य पशु के रूप से परिगणित होते हैं ॥ ५३ ॥

उनकी बलि से क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में क्रमिक लाभ का वर्णन कर रहे हैं—

राज्य, लाभ और लाभ की स्थिरता, शिव में भक्ति, शिवतादात्म्य, शिव का ज्ञान, मन्त्रलोक प्राप्ति, मन्त्र-शिव परिवार की सदस्यता अर्थात् मन्त्रमयता और शिवसायुज्य ये—सभी लाभ पशु को प्राप्त होते हैं । ये आठ लाभ हैं और इसी प्रकार के लाभ बाह्यधर्मा वीर पशु को भी होते हैं । इस प्रक्रिया में शिव

नन्वेवं शिवपूजनया पशुपुष्पादेश्चराचरस्यापि कस्मात्तल्लाभभागित्वं भवेदित्याशङ्क्याह

एकोपायेन देवेशो विश्वानुग्रहणात्मकः ॥ ५६ ॥
यागेनैवानुगृह्णाति किं किं यन्न चराचरम् ।

अतश्च पशुवेदनादि हिंस्रं कर्मेति न संभावनीयमित्याह

तेनावीरोऽपि शङ्कादियुक्तः कारुणिकोऽपि च ॥ ५७ ॥
न हिंसाबुद्धिमादध्यात्पशुकर्मणि जातुचित् ।

की पूजा में लगने वाले फूल आदि उपचार द्रव्यों की भी सद्गति निश्चित है। वे द्रव्य भी धन्य हो उठते हैं, जो शिव पूजा में प्रयुक्त होते हैं और वीर पशु को तो शिव सायुज्य ही उपलब्ध हो जाता है। इससे इस कर्म की उत्कृष्टता सिद्ध होती है ॥ ५४–५५ ॥

सामान्यतया यह वितर्क किया जा सकता है कि, पशु का लाभान्वित होना तो स्वाभाविक है, पर इन फूलों, उपचार द्रव्यों और चराचर को यह लाभ कैसे मिलता है ? इस पर कह रहे हैं—

एक मात्र यागात्मक उपाय से विश्वानुग्रह विधायक देव देवेश्वर भगवान् भूतभावन प्रसन्न होते हैं। उनके अनुग्रह में सब कुछ आता है। इससे चराचर कैसे वंचित रह सकता है ? चराचर भी तो उनका अनुग्रह रूप ही है। जो चराचर नहीं है वह क्या है ? इसलिये इस याग प्रक्रिया से सभी लाभान्वित होते हैं ॥ ५६ ॥

इसलिये शङ्कालु, कारुणिक, अतएव अवीर पुरुष भी पशुबलि कर्म में हिंसा की बुद्धि न करे। कभी किसी अवस्था में पशुबलि, हिंसा की श्रेणी में नहीं आ सकती। बहुत से लोग पशुओं पर दया का प्रदर्शन कर इस कार्य का विरोध करते हैं, यह ठीक नहीं। बहुत से लोग शङ्काग्रस्त होकर कि, पता नहीं इससे कोई लाभ होगा या नहीं—इससे विरत रह जाते हैं। शङ्कालु होने के कारण इन्हें अवीर कहते हैं। यही दशा कारुणिक की होती है। इसलिये

तेन पश्वाद्यनुग्रहणेन हेतुना शङ्कादियोगादवीरः सविकल्पः कारुणिकोऽपि वा आचार्यो यागादौ पशुकर्मणि कदाचिदपि न हिंसाबुद्धिमादध्यात् नैवं संभावयेदित्यर्थः। नहि नाम विहितत्वादियं हिंसैव स्यात्। यदाहुः

'नह्यग्निष्टोमीयहिंसा हिंसैव भवति'। इति।

यागादन्यत्र पुनरियं हिंसैव निषिद्धत्वात्। यदागमः

'न हठेन पशुं हन्यान्नार्तिभावे कदाचन।
न चोद्देशेन सुभगे यागपूर्वं विधानवित्'॥ इति।

'न विवाहे पशुं हन्यान्नचात्मार्थे कदाचन।
यागकाले महादेवि नेष्टबन्धुसमागमे॥

इन दुर्बलताओं को दूर रखते हुए आचार्य पशुकर्म में कदाचित् उत्पन्न होने वाली दुर्बुद्धि को दूर रखकर यह कार्य निश्चित रूप से साधित करें। यह विहित कर्म है। इसे हिंसा नहीं कह सकते, वेद में कहा गया है कि,

"अग्निष्टोमीय हिंसा हिंसा नहीं होती", यज्ञ के अतिरिक्त पशुबलि अवश्य ही हिंसा ही मानी जाती है। इसमें कोई सन्देह नहीं। इस सम्बन्ध में आगम कहता है कि—

"किसी आग्रह या हठ के कारण पशु का वध नहीं करना चाहिये। किसी आर्त्ति के अवसर पर भी पशु हिंसा नहीं करनी चाहिये। किसी उद्देश्य या किसी काम की सिद्धि के उद्देश्य से भी पशुबलि निषिद्ध मानी जाती है। भगवान् महेश्वर कहते हैं कि—हे सर्वैश्वर्यमयी पार्वति! याग के विधि-विधान में दक्ष आचार्य इस पर अवश्य ध्यान दे कि, बिना याग के यह हिंसामय काम कभी किसी अवस्था में सम्पन्न न हो सके"।

अन्यत्र इस विषय में और भी कहा गया है कि,

"विवाह में पशुबलि कभी नहीं करनी चाहिये। अपने लिये अर्थात् स्वार्थवश भी कभी यह कार्य नहीं करना चाहिये। भले ही वह याग का ही समय क्यों न हो, अपने प्रियजनों, बन्धु-बान्धवों के एकत्र समारोह आदि में सम्मिलित होने पर भी यह काम नितान्त वर्जित है।

क्रीडार्थं न पशुं हन्याद्विना यागाद्वरानने ।
यागकाले ददेद्यो हि मातॄणां तर्पणाय च ॥
एकैके तु सकृद्ददत्ते पूर्वोक्तेन विधानतः ।
जपकोटिसहस्रस्य पूजायुतशतस्य च ॥
तत्फलं प्राप्नुयात्सद्यः पशुयागे कृते सति ।' इति च ।

स्मृतिरपि

'यावन्ति पशुलोमानि तावत्कृत्वो ह मारणम् ।
वृथापशुघ्नः प्राप्नोति प्रेत्य जन्मनि जन्मनि' ॥

(मनु० ४।३८) इति ।

ननु भवत्वेवं, तथापि पशोः प्रथममिदं मारणं नाम महदप्रियमित्याशङ्क्याह

मनोरञ्जन के लिये खेल का आयोजन किया गया होता है। उसमें भी बहुत लोग पशुवध करते हैं। भगवान् कहते हैं कि "सुमुखि ! पार्वति ! विना यागप्रसङ्ग के कभी भी पशुबलि नहीं होनी चाहिये।"

यज्ञ के समय जो यजमान यज्ञकर्त्ता मातृकाओं को तृप्त करने के लिये पशुयाग करता है, वह यदि पूर्वोक्त विधि-विधान के अनुसार इस याग का सम्पादन करने के प्रसङ्ग में एक एक पशु के आलभन की व्यवस्था करता है, तो वह उसके फलस्वरूप करोड़ों हजार जप का फल प्राप्त करता है। हजारों सैकड़ों प्रकार की पूजा-अर्चना से भी अधिक फल की प्राप्ति इससे होती है। पशु याग का ऐसा माहात्म्य है।"

मनुस्मृति (४।३८) भी इस सम्बन्ध में यही कहती है कि,

"पशुओं के वृथा वध करने वाले पशुघ्न कहलाते हैं। वे मरने के बाद असंख्य जन्म-जन्मान्तरों तक हत किये गये पशुओं की जितनी रोमराशि होती है, उतनी बार उनसे भी मारे जाते हैं" ॥ ५७ ॥

पशोर्महोपकारोऽयं तदात्वेऽप्यप्रियं भवेत् ॥ ५८ ॥
व्याधिच्छेदौषधतपोयोजनात्र निदर्शनम् ।

तत्कालं पशोरप्रियमपि भवेत्, मारणमनुग्रहलक्षणो महानयमुपकारो यत्र व्याधिच्छेदादि निदर्शनम् । औषधं क्षारादि, तपः कृच्छ्रादि । यदागमः

'तेषामनुग्रहार्थाय पशूनां तु वरानने ।
मोचयन्ति हि पापेभ्यः पाशौघांश्छेदयन्ति तान् ॥
पशूनामुपयुक्तानां नित्यमूर्ध्वंगतिर्भवेत् ।' (ने. त. २०।९) इति ।

चाहे जो कुछ भी हो, पहले एक बार यह सोचने को विवश हो जाना पड़ता है कि, पशु का वध एक बड़ा ही जघन्य कार्य है ! अतएव अत्यन्त अप्रिय भी है । इस आशङ्का पर अपना मन्तव्य व्यक्त कर रहे हैं—

यह सही बात है कि, सामान्य व्यक्ति ऐसा सोच सकते हैं । किन्तु तथ्य इसके विपरीत है । याग में बलि के लिये पशु का आलभन हिंसा नहीं, अपितु यह पशु के प्रति महान् उपकार ही है । तत्काल तो यह अप्रिय सा लगता है, किन्तु तीन दृष्टियों से इस कार्य की श्रेष्ठता सिद्ध को जा सकती है—

१. व्याधिच्छेद की दृष्टि से—

बलि के बाद पशु का जड़ बन्धन सदा के लिये समाप्त हो जाता है । इससे उसकी जन्मान्तर की व्याधियों का शमन ही हो जाता है ।

२. औषध की दृष्टि से—

बलि के पश्चात् पशु के रक्त-मज्जा-मांस-अस्थि आदि से विभिन्न प्रकार की दवायें तैयार की जाती हैं । क्षार आदि इसी के परिणाम हैं ।

३. तप के आयोजन की दृष्टि से—

आचार्य उसके ऊपर कृपा कर उससे उसके पापों का मोचन करते हैं । कृच्छ्र आदि तप इसी की मुक्ति के उद्देश्य से सम्पन्न होते हैं । इस सम्बन्ध में आचार्य जयरथ आगम प्रामाण्य (ने० त० २०।९) प्रस्तुत कर रहे हैं—

"उन पशुओं पर कृपा के लिये ही बलि कर्म होता है । उनके पापों के मोचन के लिये यज्ञ में उनको प्रयुक्त किया जाता है । उनकी समस्त पापराशि

श्रुतिरपि

'पशुर्वै नीयमानः स मृत्युं प्रापश्यत् स देवान्नान्वकामयतेत्थं तं देवा अब्रुवन्नेहि स्वर्गं त्वा लोकं गमयिष्यामः ।' इति ॥ ५८ ॥

ननु यद्येवं मारणादेव मुक्तिः स्यात्, तत्कृतं दीक्षादिनेत्याशङ्कां शमयितुमागमं संवादयति

श्रीमन्मृत्युञ्जये प्रोक्तं पाशच्छेदे कृते पशोः ॥ ५९ ॥
मलत्रयवियोगेन शरीरं न प्ररोहति ।
धर्माधर्मौघविच्छेदाच्छरीरं च्यवते किल ॥ ६० ॥
तेनैतन्मारणं नोक्तं दीक्षेयं चित्ररूपिणी ।

का छेदन हो जाता है। ऐसे बलि के लिये गृहीत उत्तम पशु को नित्य ऊर्ध्वं गति होती है, इसमें सन्देह नहीं।"

इस विषय में भगवती श्रुति कहती है कि,

"पशु जो याग के लिये याग गृह में ले जाया जा रहा होता है, वह मृत्यु का दर्शन करता है। इसके बाद वह देवताओं को अपनी इच्छा से अवगत कर देना चाहता है। ऐसी बातें देवताओं ने ही उससे की, कि तुम आओ, हम लोग तुम्हें स्वर्गलोक ले चलेंगे" ॥ ५८ ॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि, यदि मुक्ति इतनी सरल है कि, पशुबलि से पशु की मुक्ति हो जाती है, तब तो दीक्षा आदि की प्रक्रिया व्यर्थ ही है? इस आशङ्का का शमन करने के उद्देश्य से आगमिक मान्यताओं का विश्ले-षण करने के लिये कारिकाओं का अवतरण कर रहे हैं—

श्रीमन्मृत्युञ्जय शास्त्र में यह लिखा गया है कि, पशु के पाशों को काट देने के बाद तीनों मलों का निराकरण हो जाता है। परिणामतः इसके बाद शरीर का अङ्कुरण नहीं होता। धर्म और अधर्म दोनों प्रकार के द्वन्द्वों का दलन हो जाता है। फलतः शरीर प्राप्ति का कारण समाप्त हो जाता है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि, इस प्रकार की पशुबलि को मारण नहीं कहा जा सकता। यह तो एक प्रकार की अवरज से भरी दीक्षा की ही एक प्रक्रिया मात्र है।

रूढपाशस्य यः प्राणैर्वियोगो मारणं हि तत् ॥ ६१ ॥
इयं तु योजनैव स्यात्पशोर्देवाय तर्पणे ।

धर्माधर्मैर्घिति शरीरारम्भकस्य । तदुक्तं तत्र

'मूलच्छेदेन हि पशोर्जिघांसन्ति मलत्रयम् ।
मलत्रयवियुक्तस्य शरीरं न प्ररोहति ॥
दीक्षावद्योजनं तस्य पशोर्नैव हि घातनम् ।
व्यापकेन स्वरूपेण स्वशक्तिविभवेन च ॥

मारण की परिभाषा कुछ दूसरी ही है । वस्तुतः पाशों से जकड़े जीव के पाशों का उच्छेद कर शरीर को काट काट कर मृत्यु का ग्रास बना देना ही मारण है । पशुबलि की यह योजना तो मात्र इसीलिये प्रयोग में लायी जाती है कि, पशु-शरीर की बलि से देवों को तृप्त किया जा सके । शरीर का आरम्भ धर्माधर्म के मिश्रित संस्कारों से ही होता है । बलि कर्म के बाद ये संस्कार शुद्ध हो जाते हैं । नेत्र तन्त्र में लिखा गया है कि,

"पशुबलि में मूल का ही उच्छेद होता है । जीवन का मूल तो शरीर ही है । इसके खण्डित होने से जीवन के भोगों का अन्त हो जाता है । पशु जीवन के उच्छेद का उद्देश्य मल[1]त्रय का उच्छेद है । आचार्य पशुवध की इच्छा क्यों करता है ? इसमें उसका यही मन्तव्य होता है कि, पशु का इससे कल्याण होगा । यह निश्चय है कि, तीनों मलों के उन्मूलन के फलस्वरूप शरीर का प्ररोह नहीं हो पाता । यह सारी क्रिया दीक्षा[2] का ही अंग है । अतः पशुयाग पशुघात नहीं माना जा सकता ।

---

१. आणव, २. कार्म और ३. मायीय । इसी तरह एक ही शरीर में स्थूल, सूक्ष्म और कारण ये तीन शरीर भी होते हैं ।

२. दीक्षा भी मुख्य रूप से क्रिया, मान्त्री और वेधा भेद से तीन प्रकार की होती है । (कारणागम १।१३)

त्रोटयन्ति पशोः पाशाञ्छरीरं येन नश्यति ।
शरीरेण प्रनष्टेन मोक्षणं नहि मारणम् ॥
दृढप्ररूढपाशस्य बद्धस्य पुरुषस्य यः ।
वियोगस्तु शरीरेण मारणं तद्विदुर्बुधा' ॥ (ने० त० २०) इति ॥

एतदेवोपसंहरति

तस्माद्देवोक्तिमाश्रित्य पशून्दद्याद्बहूनिति ॥ ६२ ॥

एवं

'..................**पशूंश्च प्रोक्षयेद्बहून् ।**'

इत्यादिकां देवोक्तिमाश्रित्य बहून् नवप्रकारान् पशून् दद्यात् निवेदयेदिति सिद्धम् ॥ ६२ ॥

इसका बड़ा व्यापक प्रभाव होता है । अतः यजमान अपनी शक्ति और अपने विभव के अनुसार पूरी तैयारी के साथ इस प्रक्रिया का सम्पादन कराये । उसका उद्देश्य यही रहे कि, पशु का पाश-जाल उच्छिन्न हो जाये । इस कार्य में शरीर का नाश तो ध्रुव है । शरीर के नष्ट होने से उसके पाश का भी नाश होता है । इसे मारण नहीं कह सकते । वस्तुतः कारण की परिभाषा कुछ दूसरी ही है । ऐसा पुरुष जो दृढ़ रूप से पाशों से जकड़ा हुआ है, उसके शरीर का उसके प्राणों से वियोग करने की क्रिया को विद्वद्वर्ग मारण मानता है" ॥ ५९-६१ ॥

इस विषय का इस प्रकार पूर्ण विश्लेषण कर लेने के बाद इसका उपसंहार कर रहे हैं—

इसलिये देवाधिदेव की उक्ति का आश्रय लेकर बहुत प्रकार से पशुओं को बलि के लिये अर्पित करना ही इस परम्परा के अनुकूल है ।

देवोक्ति का सान्दर्भिक उद्धरण प्रस्तुत कर रहे हैं—

"........बहुत से पशुओं को भगवान् के लिये अर्पित करना चाहिये ।"

इस उक्ति के आधार पर बहुत से पशुओं को निवेदित करना चाहिये—यह सिद्ध हो जाता है । बहुत प्रकार के पशुओं में बहुवचन का प्रयोग किया गया है । बहुवचन में नवधा पशु को गणना को गयी है ॥ ६२ ॥

ननु

'एकजन्मा द्विजन्मा वा सप्तजन्मा समुद्भवेत् ।'

इत्याद्युक्त्या जन्मभेदेनापि पशूनामुत्तमादिरूपत्वमस्तीत्यादि, तदिह कस्मान्नोक्तमित्याशङ्क्याह

निवेदितः पुनःप्राप्तदेहो भूयोनिवेदितः ।
षट्कृत्व इत्थं यः सोऽत्र षड्जन्मा पशुरुत्तमः ॥ ६३ ॥

निवेदित इति तत्तन्मन्त्रसंस्कारद्वारेणापादितपरतत्त्वैकात्म्य इत्यर्थः । पुनःप्राप्तदेह इति कथंचित्संपत्त्ययोगात् ॥ ६३ ॥

पशुओं के सम्बन्ध में बड़ी रहस्यमयी बातें शास्त्र में लिखी गयी हैं। ऐसे त्रिकालदर्शी प्रज्ञा पुरुष थे, जो यह जान लेते थे कि,

"यह पशु एक जन्म में बलि पशु बन चुका है। यह दो जन्मों में इस प्रक्रिया में प्रयुक्त है। यह पशु तो सात जन्मों से बलि का पुण्य भोग रहा है।"

इस उक्ति से जन्मभेद से भी पशुओं के अधम, मध्यम और उत्तम आदि भेद किये जा सकते हैं। यहाँ इसकी चर्चा तक नहीं की गयी है, ऐसा क्यों? इसके उत्तर में शास्त्रकार अपना समर्थन भरा दृष्टिकोण प्रस्तुत कर रहे हैं कि,

एक बार निवेदित किया हुआ पशु, पुनः जो देह प्राप्त करता है, वह एक जन्मा है। यह तथ्य सत्य पर आधारित है। शास्त्रीय-परम्परा के अनुसार विभिन्न मन्त्रों के प्रयोग से यद्यपि वह परतत्त्व से ऐकात्म्य प्राप्त करता है फिर भी कोई ऐसी सांस्कारिक कमी रह जाती है, जिससे उसे शरीर धारण करना पड़ता है।

इसी के परिणाम स्वरूप वह पुनः पशुबलि में गृहीत हो जाता है। इसी तरह वह बार-बार यदि इस प्रक्रिया के लिये चुना जाता है, तो पारखी आचार्य यह जान लेता है कि, यह कितने जन्मों में प्रयुक्त है।

इसी आधार पर उसकी एकजन्मा, द्विजन्मा आदि संज्ञायें निर्धारित की जाती हैं। यदि वह लगातार छह जन्मों तक इस पुण्य का भागी बनता

उत्तमत्वमेवास्य दृष्टान्तोपदर्शनेन द्रढयति

यथा पाकक्रमाच्छुद्धं हेम तद्वत्स कीर्तितः ।
कां सिद्धिं नैव वितरेत्स्वयं किंवा न मुच्यते ॥ ६४ ॥

अत एवास्य परं स्वपरोपकारकत्वमित्याह कां सिद्धिमित्यादि ॥ ६४ ॥

एतदेवागमेन संवादयति—

उक्तं त्वानन्दशास्त्रे यो मन्त्रसंस्कारवांस्त्यजेत् ।
समयान्कुत्सयेद्देवीर्दद्यान्मन्त्रान्विना नयात् ॥ ६५ ॥
दीक्षामन्त्रादिकं प्राप्य त्यजेत्पुत्रादिमोहितः ।
ततो मनुष्यतामेत्य पुनरेवं करोत्यपि ॥ ६६ ॥

रहा हो तो उसे 'छः जन्मा' की संज्ञा दी जाती है। यह पशु उत्तमोत्तम और सप्तजन्मा तो सर्वोत्तम ही है, यह सत्य है और शास्त्रानुमोदित है ॥६३॥

ऐसे पशु को श्रेष्ठता का समर्थक दृष्टान्त प्रस्तुत कर रहे हैं—

जिस तरह बार-बार तपाने पर सोना खरा और शुद्ध होकर ताप्त-दिव्य काञ्चन बन कर चमक उठता है, उसी तरह ऐसा पशु जो बार-बार इस प्रक्रिया में प्रयुक्त है, वह नितान्त शुद्ध हो जाता है। ऐसा पशु परतत्त्व से ऐकात्म्य प्राप्त करने की महती सिद्धि को पा लेता है। वह दूसरों को भी सिद्धि देने में समर्थ हो जाता है और स्वयं भी मुक्त हो जाता है। वह किस-किस सिद्धि को नहीं दे सकता अर्थात् यजमान की सारी मनोकामनाओं की पूर्त्ति करने में समर्थ हो जाता है ॥६४॥

आगमिक प्रामाण्य के आधार पर इस विषय का विसंवादन कर रहे हैं—

आनन्द शास्त्र में यह कहा गया है कि, जो व्यक्ति मन्त्र संस्कारों से सम्पन्न होने पर 'समय' का अनुशासन छोड़ देता है, दिव्य शक्तियों की निन्दा करने लगता है, शास्त्रोक्त विधि का पालन किये बिना 'मन्त्र' देने का काम करने लगता है और पुत्र आदि के मोह से ग्रस्त होकर दीक्षित होने पर भी

इत्थमेकादिसप्तान्तजन्मासौ द्विविधो द्विपात् ।
चतुष्पाद्वा पशुर्देवी चरुकार्थं प्रजायते ॥ ६७ ॥
दात्रर्पितोऽसौ तद्द्वारा याति सायुज्यतः शिवम् ।

एवमिति समयत्यागादि । तद्द्वारेति दात्रर्पणप्रणालिकयेत्यर्थः ॥

तदेवं देवीचरुकार्थमेवास्योत्पत्तेस्तदन्यत्र विनियोगो न कार्य इत्याह

इति संभाव्य चित्रं तत्पशूनां प्रविचेष्टितम् ॥ ६८ ॥
भोग्यीचिकीर्षितं नैव कुर्यादन्यत्र तं पशुम् ।

भोग्यीचिकीर्षितमिति यागादौ देवीनां भोक्तुमभिप्रेतमित्यर्थः । अन्यत्रेति यागात् ॥६८॥

गुरु मन्त्र का परित्याग कर देता है; ऐसा मनुष्य पुनः मानव योनि में उत्पन्न होकर यदि पुनः इन उक्त समयाचारों के पालन में प्रवृत्त हो जाता है, तो उसकी निम्नलिखित गति होती है—

१. एक से सात जन्मों पर्यन्त वह कभी द्विपद अथवा चौपायों की योनि पाता है ।

२. उसके जन्म का उद्देश्य मात्र चरु होता है अर्थात् चरु बनने के लिये ही जन्म लेता है ।

३. दाता के द्वारा अर्पित होकर इसी अर्पण प्रकिया द्वारा शिव सायुज्य प्राप्त कर लेता है । इस तरह उसकी मुक्ति हो जाती है ॥६५-६७॥

इसलिये देवी के चरु बनने के लिये ही उत्पन्न पशु का अन्यत्र विनियोग नहीं करना चाहिये । यही कह रहे हैं—

आचार्य इस पशु सम्बन्धी समस्त सम्भावनाओं का सम्यक् विचार कर यह निर्धारित करे कि, यह देवी-चरु के लिये अर्पित होने योग्य लक्षणों से सम्पन्न पशु है । यह पशुओं के चित्र विचित्र विचेष्टितों से जाना जा सकता है । ऐसे पशु को अन्यत्र भोग्यीचिकीर्षित नहीं करना चाहिये, अर्थात् स्वयं के स्वार्थवश उपभोग की चिकीर्षा कभी नहीं करनी चाहिये । उपभोग की कौन कहे उसके उपभोग की इच्छा भी नहीं करनी चाहिये । वह तो याग

ननु यागयोग्यपशुविषये भवतु नामैवम्, अयोग्यस्तु ढौकितोऽपि ततोऽपसारणीयाऽन्यत्र च स्वेच्छया विनियोज्य एव, तन्नायं नियमो भोग्यो-चिकीर्षितं पशुं नान्यत्र कुर्यादितीत्याशङ्क्याह

नापि नैष भवेद्योग्य इति बुद्ध्वापसारयेत् ।। ६९ ।।
तं पशुं किंतु काङ्क्षा चेद्विशेषे तं तु ढौकयेत् ।

इह

'न शण्ढं च पशुं दद्यात्क्षीणगात्रं नचैव हि ।
नातिवृद्धं नातिबालं स्त्रीपशुं नैव भैरवि ।।'

में मात्र देवी के उपभोग के लिये ही अभिप्रेप्सित होता है । इसलिये वह याग-पशु होता है। याग के अतिरिक्त अन्यत्र उसका उपयोग नहीं करना चाहिये ।।६८।।

प्रश्न करने वाला जिज्ञासु होता है । पशु सम्बन्धी इन बातों को सुन कर वह इस अंश में सन्तुष्ट होकर कहता है कि, मान लिया कि, वह पशु याग योग्य है और उसके साथ ऐसा करना चाहिये किन्तु जो अयोग्य पशु है, उसको दाता द्वारा अर्पित कर दिये जाने पर भी वहाँ (याग स्थान से) हटा लेने योग्य ही माना जाना चाहिये। उसका स्वेच्छा से विनियोग या उपभोग कर लेना चाहिये ही ? इस जिज्ञासा का उत्तर दे रहे हैं—

यह याग योग्य पशु नहीं, यह मानकर इसे याग स्थान से अपसारित नहीं करना चाहिये। यह सोचना चाहिये कि, दाता में इसे अर्पित करने की आकांक्षा किसी विशेष प्रेरणा से उत्पन्न हुई है। अतः इस विशेष आकांक्षा को ध्यान में रख कर इस पशु को याग स्थान से अपसारित नहीं करना चाहिये। वरन् उसे देवी चरु के उद्देश्य से अर्पित कर देना ही उचित मानना चाहिये। इस विषय में आगमों के उद्धरण देकर योग्य-अयोग्य पशुओं का अन्तर प्रदर्शित कर रहे हैं—

बलि के लिये इन पशुओं को अयोग्य माना जाता है—

१. शण्ठ (नपुंसक) २. दुबला-पतला, ३. अत्यन्त बूढ़ा, ४. एकदम

इत्याद्युक्तस्वरूप एष पशुर्यागयोग्यो न भवेदिति बुद्ध्वापि तं पशुं प्रक्रान्ताद्यागान्नापसारयेत्, प्रत्युत

'शृङ्गी युवा च पूर्णाङ्ग एकवर्णः शुभाननः ।
महिषाजाविकश्चैव त्रिविधो यागसिद्धये ॥'

इत्याद्युक्ते विशेषे चेदाकाङ्क्षा, तत्तं विशिष्टमपि पशुं ढौकयेत् येनाकाङ्क्षापरिपूर्त्तिः स्यात् । तेन यावन्त एव पशवो यागे ढौकितास्तावन्त एव दातव्याः, ननु योग्या एवेत्युक्तं स्यात् ॥६९॥

अत एवाह

तावतस्तान्पशून्दद्यात्तथाचोक्तं महेशिना ॥ ७० ॥

तावत इति विशेषाकाङ्क्षापारिपूर्ण्यपर्यन्तान् ॥

नवजात बाल पशु और ५. स्त्री जाति का पशु । भगवान् भूतभावन भैरव ने अपनी भैरवी देवी माँ-परमाम्बा से उक्त बातें कहीं हैं। इन पर विशेष ध्यान देना चाहिये फिर भी इन्हें याग स्थान से अपसारित नहीं करना चाहिये ।

यद्यपि यह परमेश्वर के वचन हैं फिर भी यह पशु याग के योग्य नहीं है, यह समझ कर याग स्थान से उसे हटा लेना इस वचन का प्रासङ्गिक अर्थ नहीं है। वरन् इसका यह अर्थ लगाना चाहिये कि, आकांक्षा का मूल उद्देश्य क्या है ? इस विषय में यह भी कहा गया है कि—

"सींग वाले, युवा, सभी अङ्गों से परिपूर्ण, एक रंग के, सुन्दर दीख पड़ने वाले, आकर्षक मुख वाले भैंसे अथवा भेड़े आदि तीन प्रकार के पशुओं की बलि योग सिद्धि के लिये आवश्यक है।"

इन दोनों वचनों में आकाङ्क्षा की ही प्रधानता प्रतीत होती है। आकाङ्क्षा की सिद्धि के लिये ऊपर के अविशिष्ट पशु भो अर्पित किये जा सकते हैं। इसलिये जितने पशु याग के लिये उपहृत हों, उन सबका अर्पण करना भी श्रेयस्कर ही है, केवल योग्य पशु मात्र नहीं ॥६९॥

इन परस्पर विरोधी वचनों को देखते हुए निर्णय लेना है। इसलिये कहा गया है कि—

एवं पशोः सामस्त्येन विशेषमभिधायांशतोऽप्यभिधत्ते

पशोर्वपामेदसी च गालिते वह्निमध्यतः ।
अर्पयेच्छक्तिचक्राय परमं तर्पणं मतम् ॥ ७१ ॥
हृदन्त्रमुण्डांसयकृत्प्रधानं विनिवेदयेत् ।
कर्णिकाकुण्डलीमज्जपर्शु मुख्यतरं च वा ॥ ७२ ॥
ततोऽग्नौ तर्पणं कुर्यान्मन्त्रचक्रस्य देशिकः ।
तन्निवेद्य च देवाय ततो विज्ञापयेत्प्रभुम् ॥ ७३ ॥

यकृत् कृष्णमांसं प्रधानत्वेन विनिवेदयेत् । कर्णिका लिङ्गिका । कुण्डली परा मण्डलिका । मज्जा अस्थिवसा । पर्शवः पार्श्वनाड्यः । तर्पणमिति प्राग्वत् ॥ ७३ ॥

उन्हीं पशुओं को याग हेतु चयन करना चाहिये, जिनके विषय में महेश्वर भगवान् भैरव ने अपने मन्तव्य प्रकट किये हैं । वे मन्तव्य विशेष आकाङ्क्षा की पूर्त्ति से ही सम्बन्धित हैं, यह भी निश्चित है ॥७०॥

पशुबलि के सम्बन्ध में पूर्ण शरीर सम्बन्धी पूरी बातें यहाँ तक स्पष्ट कर दी गयी हैं । फिर भी अभी कुछ छिटफुट आंशिक और अंगों पर आधारित बातें रह गयी हैं, जिन पर विचार करने के लिये कारिकाओं का अवतरण कर रहे हैं—

पशु की वपा और मेदस यज्ञ की आग में निचोड़ कर डालने के बाद शेष का शक्ति चक्र के लिये अर्पण आवश्यक होता है । इस प्रकार वपा और मेदस के अर्पण को परम तर्पण माना जाता है । इसे अग्नितृप्ति और शक्तितृप्ति की प्रक्रिया कहते हैं ।

पशु की कलेजी, आँतें, मुण्ड, कन्धे और जिगर इन अंगों को प्रधान के लिये निवेदित करना चाहिये । उसकी कर्णिका, कुण्डली, मज्जा और पर्शु ये अंग मुख्य रूप से तथा अन्य अवशिष्ट अंग अग्नि को अर्पित करना चाहिये । मन्त्र चक्रों के विशेषज्ञ दैशिक शिरोमणि आचार्य देवों के अर्पण के बाद इस पूर्ण प्रक्रिया को प्रभु के लिये अर्पित करें ॥७१-७३॥

किं विज्ञापयेदित्याह

गुरुत्वेन त्वयैवाहमाज्ञातः(प्तः) परमेश्वर ।
साक्षात्स्वप्नोपदेशाद्यैर्जपैर्गुरुमुखेन वा ॥ ७४ ॥

अनुग्राह्यास्त्वया शिष्याः शिवशक्तिप्रचोदिताः ।
तदेते तद्विधाः प्राप्तास्त्वमेभ्यः कुर्वनुग्रहम् ॥ ७५ ॥

समावेशय मां स्वात्मरश्मिभिर्यदहं शिवः ।
एवं भवत्विति ततः शिवोक्तिमभिनन्दयेत् ॥ ७६ ॥

शिवाभिन्नमथात्मानं पञ्चकृत्यकरं स्मरेत् ।
स्वात्मनः करणं मन्त्रान्मूर्तिं चानुजिघृक्षया ॥ ७७ ॥

श्लोक ७३ में प्रभु से विज्ञापित करने की विधि का संकेत किया गया है। जिज्ञासु पूछता है कि प्रभु से क्या विज्ञापित किया जाय ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

हे परमेश्वर ! यह दीक्षा याग में आचार्यत्व के निर्वाह के गुरुतर उत्तरदायित्व का मैं जो संचालन कर रहा हूँ, इस पावन कार्य में मैं आपके द्वारा ही आदिष्ट और नियुक्त हूँ। भगवन् ! मेरे ये शिष्य स्वप्न में उपदेश के द्वारा, जप में साफल्य के द्वारा अथवा गुरु माध्यम से ही तुम्हारे द्वारा अनुग्रह के योग्य हैं।

शिव-शक्ति से प्रेरित ये शिष्य इस प्रक्रिया में प्रवृत्त हो सके हैं। ये सभी मेरे माध्यम से वह सब पा चुके हैं, जो इन विधियों से इन्हें प्राप्तव्य थे। अब मात्र आप के अनुग्रह की आवश्यकता है। भगवन् ! आप इन पर अवश्य अनुग्रह करने को कृपा करें। स्वात्म रश्मियों से मुझे भी तादात्म्य के समावेश से समाविष्ट कर लें। मैं भी शिव रूप होने के आधार पर ही आचार्यत्व का निर्वाह कर रहा हूँ। मैं भी शिव ही हूँ।

यह भावना करे कि, शैवसद्भाव-व्याप्ति में व्यापक शिव का वरद हस्त मेरे ऊपर उठा हुआ है। भगवान् की अमृतकला से अमृता वाक उद्भूत

ततो बद्ध्वा सितोष्णीषं हस्तयोरर्चयेत्क्रमात् ।
अन्योन्यं पाशदाहाय शुद्धतत्त्वविसृष्टये ।। ७८ ।।

तेजोरूपेण मन्त्रांश्च शिवहस्ते समर्चयेत् ।
गर्भावरणगानङ्गपरिवारासनोज्झितान् ।। ७९ ।।

आत्मानं भावयेत्पश्चादेककं जलचन्द्रवत् ।
कृत्योपाधिवशाद्भिन्नं षोढाभिन्नं तु वस्तुतः ।। ८० ।।

हो रही है । सुनाई पड़ रहा है—'एवं भवतु' । आचार्य कृतार्थ और कृतकृत्य होकर भगवद्वदनारविन्दनिष्यन्द-रूप सारस्वत वरदान का अभिनन्दन कर रहे हैं ।

यह एक अलौकिक आनन्द का उत्सवास्पद क्षण होता है । अब अपने को शिव से अभिन्न मान कर पञ्चकृत्य करने वाले शिव के रूप में अनुभूत कर भगवान् के पंचकृत्यकारी रूपों का स्मरण करना चाहिये । सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह यही परमेश्वर द्वारा प्रवर्त्तित पंचकृत्य परम्परा में प्रसिद्ध हैं, अपने जीवन में सम्पादित और प्रवर्त्तित पञ्चकृत्य कैसे चरितार्थ हो रहे हैं और हो चुके हैं—इसका आकलन करना चाहिये ।

अपने इन्द्रिय वर्ग, अपने जप में और यज्ञों में प्रयुक्त मन्त्रों और मूर्त्तियों (स्थूल-सूक्ष्म रूप परापरात्मक) को अनुगृहीत करने की आकांक्षा से आकलन का विषय बनाया जाना चाहिये । सफेद पगड़ी पहनकर हाथों में पूजा कर एक दूसरे के पाशों को भस्म करने के उद्देश्य की सिद्धि के लिये और शुद्धविद्या सम्बन्धी तत्त्व के उत्सर्जन के लिये स्वात्म प्रकाश के तेज से तेजस्क ब्रह्म पञ्चक मन्त्रों को शिवहस्त में अर्पित कर देना चाहिये और उसी में अर्चन का आकलन भी करना चाहिये ।

इसके बाद स्वात्म स्वरूप का ऐसा आकलन करना चाहिये मानो स्वच्छ जल में जो स्वयं सुधा के समान है, उसमें सुधाकर के आकर्षक बिम्ब की तरह प्रसन्न और शोभन प्रतीत हो रहा हो । एक होते हुए भी वह जेसे अनेक रूपों में प्रतिबिम्बित हो जाता है, वैसे हो आचार्य भी

अथेति तदाज्ञालाभानन्तरम्। अनेन चाग्नितृप्त्यनन्तरोद्दिष्टं स्वस्य स्वभावस्य दीपनमपि उपक्रान्तम्। मन्त्रान् करणं स्थूलसूक्ष्मतया परापररूपां मूर्ति च स्मरेदित्येष संबन्धः। सितोष्णीषमिति नवात्मना सप्तजप्तम्। अन्योन्यमिति दक्षिणेन वामं वामे [न] च दक्षिणमित्यर्थः। पाशदाहकत्वमेवोपोद्वलयितुं तेजोरूपेणेत्युक्तम्। गर्भावरणगानिति मूलमन्त्रतद्वक्त्ररूपानित्यर्थः। यथोक्तं

'ब्रह्मपञ्चकसंयुक्तः शिवेनाधिष्ठितः शुभः।
पाशच्छेदकरः क्षेमो शिवहस्तः प्रकीर्तितः॥' इति।

विभिन्न रूपों और मुद्राओं में सबको प्रेरित सा करते ही रहते हैं। स्वात्म में इस प्रकार का भावन स्वात्म उत्कर्ष के लिये ही होता है। जल में चमकने के लिये चन्द्रमा किसी के ऊपर आश्रित नहीं होता, स्वयं चमकता है, उसी तरह आचार्य भी यज्ञ संचालन में अनाश्रित भाव से स्वयं समर्थ होता है। भिन्न-भिन्न दीक्षा कर्म में प्रवृत्त प्रसङ्गों में वह विभिन्न उपाधियों को धारण भी करता है। इस तरह चन्द्रमा को तरह भिन्न प्रतीत आचार्य वस्तुतः छह प्रकार का ही होता है।

यहाँ कुछ बातों को विशेष रूप से जानने-समझने की आवश्यकता है। जैसे—

१. अथ (श्लो० ७७)—

यह शब्द प्रारम्भ का द्योतक है। यद्यपि यहाँ कार्य का प्रारम्भ प्रतीत नहीं होता फिर भी भगवान् शिव की आज्ञा मिल जाने के बाद यह पहला कार्य होता है, जिसमें अपने को पञ्चकृत्यकारी समझने की बात की गयी है।

२. पञ्चकृत्यकरं (श्लो० ७७)—

श्लोक ७३ में अग्नि तर्पण की विधि का निर्देश है। श्रीत० के प्रथम आह्निक के अनुजोद्देश में अग्नितृप्ति के बाद स्वात्म को पंचकृत्यकारी शिव के रूप में भावन करना ही उद्दिष्ट है। यह अनुजोद्देशोद्दिष्ट क्रम है।

३. आत्मनः करणं (श्लो० ७७)—

अपने को इस रूप में भावित करना चाहिये कि, मैं ही दीक्षा याग का मुख्य साधक हूँ और इस पद के गुरुतर उत्तरदायित्व का पालन कर रहा हूँ।

एककमिति अनन्यापेक्षत्वादसहायमित्यर्थः। जलचन्द्रवदिति यथाहि वस्तुत एक एव चन्द्रस्तत्तज्जलाधारादिलक्षणादुपाधिभेदात् नाना भवेत्, तथायमपीत्यर्थः ॥ ८० ॥

---

४. मन्त्रान् (श्लो० ७९)—पञ्चकृत्यकारी परमेश्वर के पाँच मुख माने जाते हैं। उन्हें ब्रह्मपञ्चक कहते हैं। इनके अलग-अलग मन्त्र वेदों में निर्दिष्ट हैं। इनके दो विशेषण देकर इनके महत्त्व का ही निर्देश किया गया है। पहला विशेषण है—गर्भावरण से आवृत ये मन्त्र हैं। ये मूल मन्त्र माने जाते हैं। गर्भ ही मूल आधार होता है, जो आवरण से आवृत न रहे तो सृष्टि ही अवरुद्ध हो जाय।

मन्त्रों की दूसरी विशेषता अङ्ग परिवार रूप समुदाय में शैव अधिष्ठान यद्यपि मुख्य होता है पर इन मन्त्रों में शिव की नहीं, इन रूपों की प्रधानता होती है। वे मन्त्र इस प्रकार हैं—

१. ईशान मन्त्र—

ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानां ब्रह्माधिपतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिर्ब्रह्मा शिवो मे अस्तु सदाशिवोम् (महानारायणोपनिषद्)।

२. तत्पुरुष मन्त्र—

तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि, तन्नो रुद्रः प्रचोदयात्।

३. अघोर मन्त्र—

अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्यो घोरघोरतरेभ्यः सर्वतः शर्व सर्वेभ्यो नमस्ते रुद्ररूपेभ्यः।

४. वामदेव मन्त्र—

वामदेवाय नमो ज्येष्ठाय नमः श्रेष्ठाय नमः कालाय नमः कलविकरणाय नमो बलाय नमो बलविकरणाय नमो बलप्रमथनाय नमः सर्वभूत दमनाय नमो मनोन्मनाय नमः।

५. सद्योजात मन्त्र—

सद्योजातं प्रपद्यामि सद्योजाताय वै नमो नमः। भवे भवे नातिभवे भवस्व मां भवोद्भवाय नमः।

अस्य षोढाभिन्नत्वमेव दर्शयितुं तत्प्रतिपादकमागमग्रन्थं तात्पर्यतो व्याचष्टे

मण्डलस्थोऽहमेवायं साक्षी चाखिलकर्मणाम् ।
शुद्धा हि द्रष्टृता शम्भोर्मण्डले कल्पिता मया ॥ ८१ ॥

इस तरह पाँच मुख, पंच ब्रह्म पञ्चवक्त्र नामों से प्रसिद्ध शिव स्वरूपों के ये पाँच जपनीय मन्त्र हैं। शिवहस्त में अर्चना के समय आसनोज्झित हो जाते हैं।

५. शिवहस्त—श्लोक ७९ में इस शब्द का प्रयोग किया गया है। आगम कहता है कि, "पाँचों ब्रह्म ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वामदेव और सद्योजात हैं। इन्हें ब्रह्मपंचक कहते हैं। शिवहस्त पुरुष की यह पहली विशेषता होती है कि, वह इनसे संयुक्त होता है। दूसरी विशेषता उसका शिवाधिष्ठानत्व है। वह शिव से सर्वदा अधिष्ठित होता है। वह समस्त जागतिक आठों पाशों का उन्मूलन करने में समर्थ होता है। अत एव शुभ होता है। वह सबका क्षेम करता है। समस्त अर्जित पुण्यों की वह रक्षा करता है। ऐसे सद्गुण-सम्पन्न प्रज्ञापुरुष को 'शिवहस्त' कहते हैं।"

६. षोढाभिन्न—छह प्रकार के विविध रूपों में आकलित होने वाला आचार्य होता है ॥ ७४-८० ॥

आचार्य के छः प्रकार के भावित होने की स्थितियों का पृथक्-पृथक् शब्द चित्र प्रस्तुत कर रहे हैं—

१. मण्डलस्थ—गौरवर्ण, सर्वाङ्गसुन्दर, आसन पर विराजमान, आकर्षक व्यक्तित्व सम्पन्न सर्वसंचालक, इस मण्डप में सर्वप्रमुख रूप से यह मैं ही शोभायमान हूँ।

२. साक्षी—मैं ही सारी क्रियाओं का साक्षी हूँ। मेरे निर्देश में ही सारे कर्म सम्पादित किये जा रहे हैं।

३. शुद्ध द्रष्टा भाव का प्रकल्पक—

आचार्य कर्तृत्व का अभिमान नहीं रखते अपितु यह आकलन करते हैं कि, मैंने परमेश्वर के शुद्ध द्रष्टाभाव का ही यहाँ प्रकल्पन किया है।

होमाधिकरणत्वेन　　　वह्नावहमवस्थितः ।
यदात्मतेद्धा मन्त्राः स्युः पाशप्लोषविधावलम् ॥ ८२ ॥

साक्षित्वमेव शुद्धेत्यादिना निर्णीतम् । शुद्धेति ननु कर्तृत्वमिश्रा । यदात्मतेद्धा इति गृहीतवह्न्याकारपरमेश्वरावेशवशोन्मिषितदीप्तय इत्यर्थः ॥ ८२ ॥

---

४. अग्नि में आग रूप से स्वयं का प्रकल्पन—

यज्ञ का साधकतम आधार यज्ञ कुण्ड का प्रज्वलित अग्नि होता है। पर यह ध्यान देने की बात है कि अग्नि की दीप्तिमत्ता में आचार्य स्वयं दीप्तिमन्त होता है। अरणि-मन्थन और निर्दिष्ट श्रुतिमन्त्रों का घन गम्भीर निनाद और अग्निनारायण की उत्पत्ति पुनः कुण्ड में उनका जाज्वल्यमान कान्त उद्दीप्त स्वरूप, इन सब में आचार्य का आचार्यत्व ही बल प्रदान करता है।

५. इद्ध मन्त्रों से पाशप्लोषकत्व का साधक—

आचार्य की आचार क्षमता से वे मन्त्र जो गर्भावरण से आवृत होते हैं—अब जागृत हो जाते हैं। इसमें आचार्य की आत्मता (व्यक्तिसत्ता) ही मुख्य कारण होती है। जो आचार्य इतनी क्षमता वाला नहीं होता, उससे मन्त्र इद्ध और सिद्ध नहीं हो सकते। अग्नि के आकार में परिणत परमेश्वर के आवेश से आचार्य का उत्कर्ष उद्दीप्त हो उठता है।

६. पाशों को श्लथ्य करने के लिये कुम्भ में अवस्थान—

याग की यह सारी प्रक्रिया इसी उद्देश्य से संचालित की जाती है, जिससे दीक्ष्य के सभी पाश जिनसे वह बँधा हुआ है, वे शिथिल और उन्मूलित हो जाँय। इस विधि में आचार्य ही अलं (सर्वसमर्थ), उन्मूलक और प्लोषक सिद्ध होता है। यह आचार्य का षोढाभिन्न दर्शन है ॥ ८१-८२ ॥

ननु किं नामैषां पाशप्लोषसामर्थ्यमित्याशङ्क्याह

सामान्यतेजोरूपान्तराहूता भुवनेश्वराः ।
तर्पिताः श्राविताश्चाणोर्नाधिकारं प्रतन्वते ॥ ८३ ॥

आ यागान्तमहं कुम्भे संस्थितो विघ्नशान्तये ।
सामान्यरूपता येन विशेषाप्यायकारिणी ॥ ८४ ॥

पाशों को भस्मसात् करने का सामर्थ्य इनमें है । यह बात श्लोक ८२ में कही गयी है । जिज्ञासु पूछ रहा है कि भगवन् ! इनके पाशप्लोषसामर्थ्य का स्वरूप क्या है ? इस प्रश्न का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

सामान्य तेज रूप के आन्तर अवस्थान में आहूत भुवनेश्वर लाकपाल प्रत्येक पूजा प्रसङ्ग में पूजित होते हैं। उन्हें आस्था और श्रद्धा पूर्वक तृप्त करते हैं। साथ ही उन्हें प्रार्थना मन्त्रों को सुना कर प्रसन्न करने का प्रयत्न करते हैं। इतना करने पर भी लोकपाल अणुपुरुष के अधिकार का प्रवर्त्तन नहीं करते अर्थात् वे आराधक के आन्तर उत्कर्ष के क्षेत्र में कुछ नहीं कर पाते । वस्तुतः उनमें इस प्रकार का सामर्थ्य होता भी नहीं। वे केवल सामान्य विघ्नों के निवारण का काम अवश्य करते हैं। उनके वहाँ यागपर्यन्त रहने से बाहरी बाधायें नहीं हो पातीं ।

आचार्य जयरथ ने सामान्य तेज रूप मन्त्रों की अध्यात्म सत्ता में आन्तर रूप से विराजमान भुवनेश्वरों की स्थिति का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण प्रतिपादन किया है । 'सामान्यतेजोरूपान्तः' शब्द में सामान्य शब्द का प्रचलित अर्थ नहीं है। यह तेज के विशेषण रूप से प्रयुक्त है। तेज भी परमेश्वर के उस तेज की ओर संकेत कर रहा है, जो धाम त्रय को अपने अन्तराल में शाश्वत रूप से सँजो कर उल्लसित हो रहा है। 'धाम'[1] तन्त्रशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण शब्द है। तीन धामों के अर्थ में पर, अपर और परापर धाम परिगणित होते हैं। इसके कई अन्य प्रासङ्गिक अर्थ भी लिये जा सकते हैं।

---

१. श्रीतन्त्रालोक ५।९५

शिष्यदेहे च तत्पाशशिथिलत्वप्रसिद्धये ।
स हि स्वेच्छावशात्पाशान्विधुन्वन्निव वर्तते ॥ ८५ ॥
साक्षात्स्वदेहसंस्थोऽहं कर्तानुग्रहकर्मणाम् ।
ज्ञानक्रियास्वतन्त्रत्वाद्दीक्षाकर्मणि पेशलः ॥ ८६ ॥

ऐसे पारमेश्वर तेज के स्वभाव से संवलित मन्त्र होते है। इस प्रकार के विशिष्ट मन्त्रों से इन भुवनेश्वरों का आवाहन और पूजन आदि किया जाता हैं। इन्हीं मन्त्रों के प्रभाव से वे यागपर्यन्त यागगृह में वर्त्तमान रह कर याग-प्रक्रिया, होता, आचार्य और दीक्ष्य की रक्षा करते हैं। इतना ही वे कर भी सकते हैं। अणु के आणव समावेश से उन्मुक्त कर उनके अधिकार क्षेत्र का विस्तार वे नहीं करते।

ऐसी दशा में गुरु का उत्तरदायित्व दोहरा बढ़ जाता है—एक ओर याग-प्रक्रिया का संचालन और दूसरी ओर दीक्ष्य की अणुता के आवरण को तोड़कर उसके आध्यात्मिक उत्कर्ष के अधिकार की वृद्धि। इसके लिये आचार्य अपने व्यक्तित्व का प्रयोग करता है। वह सोचता है कि, मेरे अन्दर इतना सामर्थ्य है कि, मैं भी स्वयं विघ्नों की शान्ति के लिये इस यज्ञ कलश में यागान्त पर्यन्त रहूँ, जिससे पारमेश्वर तेजः स्वभाव मन्त्रों से ऐकात्म्य प्राप्त भुवनेश्वरों से भी आगे बढ़ कर दीक्ष्य के विशेष अधिकार विकसित हो सकें। उसके वैशिष्ट्य का आप्यायन हो सके। यह निर्णय कर वह ऐसी प्रक्रिया अपना लेता है और याग कर्म आगे बढ़ चलता है।

आचार्य इतने से ही नहीं रुकता। वह शिष्य के देह में भी स्वात्म सता का आपादन करता है। उसमें दैहिक अस्तित्व के अणु-अणु में अपनी इच्छा से व्याप्त होकर उसके आणविक पाशों को झकझोर कर रख देता है। उसका उद्देश्य शिष्य के पाशों का अत्यन्त शिथिल बना देना होता है, जिससे उनका यथा सम्भव शीघ्र उन्मूलन किया जा सके। दीक्षा कर्म में सूक्ष्म सौकुमार्य का सम्पादन करने के लिये वह इतना सक्षम होता है कि, शिष्य का वह देह उस समय उसका देह बन जाता है। वहाँ बैठा हुआ वह शिवसंकल्प करता है कि,

सामान्यतेजोरूपान्तरिति गर्भीकृतधामत्रयपारमेश्वरतेजःस्वभावमन्त्रै-कात्म्यमापादिता इत्यर्थः। आह्वानादि च वक्ष्यमाणम्। अधिकारः स्वभुवनादौ प्रतिबन्धः। कुम्भ इति अर्थात् कर्कर्यां च, अन्यथा हि अस्य षोढाभिन्नत्वं न स्यात्। अत्र हि विघ्नशान्तिमात्रात्मतयावस्थितः समग्रा एव विशिष्टाः क्रियाः पालयेदित्युक्तं सामान्यरूपता विशेषाप्यायकारिणीति। स्वेच्छावशादिति नह्यस्य मलपरिपाकादि अपेक्षणीयं किञ्चिदित्युक्तं प्राक् बहुशः। पेशल इति समर्थः॥ ८६॥

ननु कथमस्य देहादियोगात् पारिमित्येऽप्येवं भवेदित्याशङ्क्य दृष्टान्तयति

शिष्य के ऊपर अनुग्रह रूप शक्तिपात का कर्त्ता मैं स्वयं हूँ। मैं ज्ञान शक्ति, क्रिया शक्ति और स्वातन्त्र्यरूपा विमर्शमयी संविद् शक्ति से संवलित शिव ही हूँ।

आचार्य जयरथ ने अणु के अधिकार के सम्बन्ध में भी जो अर्थ किया है, वह महत्त्वपूर्ण है। इसके अनुसार भुवनेश्वर अपने भुवनों में स्थान देने का अधिकार नहीं देते। यहाँ यह सोचने की बात है कि, दीक्ष्य कभी ऐसी कामना करता ही नहीं। न दीक्षा अथवा याग का ही उद्देश्य होता है कि, दीक्ष्य को उन लोकों की प्राप्ति हो। ऐसी अवस्था में यह विचारणीय विषय मनीषियों की मनीषा पर ही छोड़ने योग्य है।

कुम्भ में आचार्य का अवस्थान उसके सामर्थ्य को परिलक्षित करता है। श्लोक ८१-८२ में आचार्य का पञ्चविध भेद ही परिगणित है। छठाँ भेद जिससे षोढाभिन्नत्व सिद्ध होता है, श्लोक ८४ में वर्णित कुम्भावस्थान सामर्थ्य है। इससे आचार्य द्वारा विशेष आप्यायन होता है। वस्तुतः शास्त्र में यह निर्देश है कि, विघ्नों की शान्ति मात्र के लिये अवस्थित रहकर सारी क्रियाओं का आचार्य स्वयं सम्पादन करे। यह सब आचार्य की क्षमता का ही प्रतीक है। वह स्वेच्छापूर्वक इन क्रियाओं का सम्पादन करता हुआ दीक्ष्य के योगक्षेम का निर्वाह करता है॥ ८३-८६॥

प्रश्न किया जा सकता है कि, आचार्य भी एक देहधारी जीव होता है। उसका एक परिमित परिवेश है। उसमें इतनी सारी सामर्थ्य का आधान कैसे हो सकता है? इस सम्बन्ध में अपना मन्तव्य प्रकट कर रहे हैं—

भिन्नकार्याकृतिव्रातेन्द्रियचक्रानुसन्धिमान् ।
एको यथाहं वह्न्यादिषड्रूपोऽस्मि तथा स्फुटम् ॥ ८७ ॥

एवमालोच्य येनैषोऽध्वना दीक्षां चिकीर्षति ।
अनुसंहितये शिष्यवर्जं पञ्चसु तं यजेत् ॥ ८८ ॥

यथा हि एक एवाहमनेकव्यापारे तत्तदाकारविशेषे च
'मनःषष्ठानोन्द्रियाणि............।' (भ० गी० १५।७)

यह सत्य है कि, मनुष्य एक परिमित देहधारी दोख रहा है पर इसके सम्बन्ध में विचार करें तो यह पता चलता है कि, हर एक व्यक्ति छह तरह के व्यक्तित्व में बँट कर विचार करता है। जैसे—

१. मैं रूप का दर्शन करता हूँ—यहाँ वह द्रष्टा होता है।

२. मैं सुन रहा हूँ—यहाँ वह श्रोता होता है।

३. मैं स्पर्श कर रहा हूँ—यहाँ वह स्प्रष्टा होता है।

४. मैं चख रहा हूँ—यहाँ वह आस्वादक होता है।

५. मैं सूँघ रहा हूँ—यहाँ वह आघ्राता होता है, और

६. मैं संकल्प-विकल्प कर रहा हूँ—यहाँ वह प्रकल्पक होता है।

परिमित होते हुए भी एक ही मनुष्य छह प्रकार के वैचारिक रूप का अधिकारो होता है। इस तरह सभी मनुष्य इस दृष्टि से षोढाभिन्न होते हैं। इसी तरह आचार्य का भो मण्डपस्थ रूप, सर्वसाक्षी रूप, कुम्भस्थ रूप और वह्नि आदि के विविध रूपों में स्वात्म सत्ता को विभक्त कर छह प्रकार से अपना अधिष्ठान बनाकर यज्ञाधिष्ठाता बनना कोई आश्चर्यजनक कार्य नहीं है। इस तथ्य का समर्थन श्रीमद्भगवद्गीता (१५।७) द्वारा भी होता है। वहाँ कहा गया है कि,

"मन को लेकर ये इन्द्रियाँ छह होती हैं।"

इत्युक्तेरिन्द्रियाणां षट्के य एवाहं पश्यामि, स एवाहं शृणोमीत्येवमनुसन्धिमत्त्वेन सर्वजनसाक्षिकं द्रष्ट्रादिरूपतया षोढा भवामि इत्येवं मण्डलवह्न्यादावपीति वाक्यार्थः। येनेति तत्त्वकलादीनामन्यतमेन ॥ ८८ ॥

नन्वत्रानुसन्धानेन किं स्यादित्याशङ्क्याह

अनुसन्धिबलान्ते च समासव्यासभेदतः ।
कुर्यादत्यन्तमभ्यस्तमन्यान्तर्भावपूरितम् ॥ ८९ ॥
ततोऽपि चिन्तया भूयोऽनुसन्दध्याच्छिवात्मताम् ।

अत्यन्तमिति। एवं हि अस्खलितमेव कर्म सिद्ध्येदित्याशयः। अनुसन्दध्यादिति अर्थादात्मन्येव ॥ ८९ ॥

इन इन्द्रियों के षोढाभिन्नत्व के आधार पर एक ही अहंता का प्रतीक व्यक्ति अनेक व्यापारों में व्यापृत रहता हुआ अनेक आकारों और मुद्राओं में जैसे सुनने, सूँघने, खाने-पीने, बोलने आदि में भिन्न भिन्न दीख पड़ता है और तदनुकूल व्यवहार भी करता है। यद्यपि वह है एक ही फिर भी भिन्न भिन्न सा हो जाता है। उसी तरह एक ही आचार्य अनुसन्धि के बल पर कभी कर्त्ता और द्रष्टा आदि रूपों में, कभी मण्डलस्थ रूप में भी वह्निमान् होकर, कभी सर्वसाक्षित्व में और कभी कुम्भस्थ रूप में अपने व्यक्तित्व और कृतित्व का प्रयोग करे तो क्या आश्चर्य ?

'येनैषोध्वना' शास्त्रकार का आर्ष प्रयोगवत् विशिष्ट शब्द है। इसका विग्रह वाक्य है—"येन एषः आचार्यः षोढा व्यवहरन् देशेन कालेन वा उभयेन अध्वना दीक्षां चिकीर्षति"। इस प्रयोग में (येन एष+ष+उ+ऽध्वन्+आ) इतने व्यक्ताव्यक्त शब्दों से शोभमान अर्थ उल्लसित हैं ॥ ८७-८८ ॥

अनुसन्धि का बल आचार्य के व्यक्तित्व को विशिष्ट शक्तियों से समुपबृंहित करता है। उसका कृतित्व पुलकित हो जाता है। वह समास-व्यास प्रक्रिया को समयानुसार अपना कर अभ्यस्त भाव से अन्य तत्त्वों को स्वात्म में अन्तर्निहित कर अपनी चिन्तन शक्ति से स्वात्म में शैव महाभाव का अनुसन्धान करता हुआ याग प्रक्रिया का सम्पादन करता है ॥ ८९ ॥

एतमेवागमग्रन्थं व्याचक्षाणः प्रपञ्चयति

अहमेव परं तत्त्वं नच तद्घटवत् क्वचित् ॥ ९० ॥

महाप्रकाशस्तत्तेन मयि सर्वमिदं जगत् ।
नच तत्केनचिद्बाह्यप्रतिबिम्बवदर्पितम् ॥ ९१ ॥

कर्ताहमस्य तन्नान्याधीनं च मदधिष्ठितम् ।
इत्थं भूतमहाव्याप्तिसंवेदनपवित्रितः ॥ ९२ ॥

मत्समत्वं गतो जन्तुर्मुक्त इत्यभिधीयते ।

तदिति घटवन्नियतरूपत्वाभावात् । तेनेति महाप्रकाशरूपत्वेन पूर्णे हि रूपे सर्वस्यैव सद्भावो भवेदिति भावः । तदिति केनचिद्बाह्येन बिम्बेनानर्पितत्वात् । अत एव न तदन्याधीनं यतो मदधिष्ठितं मय्येव विश्रान्तमित्यर्थः । यदागमः

उसके अनुसन्धान का एक स्वरूप है । वह सोचता है कि, 'मैं ही परम तत्त्व हूँ । जिस तरह एक द्रव्य रूप घड़े का एक नियत और अपरिवर्तनीय जड स्वरूप है, वैसा मैं नियत स्थिर द्रव्य स्वरूप नहीं हूँ । मेरा प्रकाश भी सामान्य प्रकाश नहीं अपितु महाप्रकाश रूप मैं स्वयं हूँ । विमर्श से विसृष्ट यह विश्व इस महाप्रकाश रूप मेरे अन्तर में ही उल्लसित है ॥ ९० ॥

यह विश्व उसमें दर्पण में दूसरे बिम्बों से पड़ने वाले प्रतिबिम्ब की तरह अर्पित नहीं है अपितु उसमें महाप्रकाशमय स्वात्म में स्वात्मतूलिका से समुल्लसित स्वात्ममय ही है । मैं स्वयं कर्त्ता हूँ—यह विमर्श उसमें अनवरत स्पन्दित रहता है । मैं या मेरी प्रक्रिया किसी दूसरे के पारतन्त्र्य में पल्लवित नहीं, वरन् यह सब मेरे द्वारा ही अधिष्ठित है । इस प्रकार आचार्य एक सीमित, संकुचित एवं परिमित व्यक्ति न रहकर महाव्याप्तिमन्त शैव संवेदना से परम पवित्र हो जाता है । इसी पवित्रता के परिवेश में सारा विश्व विश्रान्ति का लाभ प्राप्त करता है । इस विषय में आगम कहता है कि,

'अधिष्ठाता च कर्ता च सर्वस्याहमवस्थितः ।' इति ।

मत्समत्वगमने हेतुरित्थमित्यादि । यदभिप्रायेणैव

'मोक्षो हि नाम नैवान्यः स्वरूपप्रथनं हि सः ।
स्वरूपं चात्मनः संविन्नान्यत् .... ।।' (१।१५६)

इत्यादि प्रागुक्तम् ।। ९०-९२ ।।

ननु पौनःपुन्येनैवंभावनया किं स्यादित्याशङ्क्याह

तापनिर्घर्षसेकादिपारम्पर्येण वह्निताम् ।। ९३ ।।
यथायोगोलको याति गुरुरेवं शिवात्मताम् ।
ततः पुरःस्थितं यद्वा पुरोभावितविग्रहम् ।। ९४ ।।

"मैं स्वयं सर्वाधिष्ठाता और सर्वकर्तृत्व सम्पन्न कर्त्ता के रूप में स्वयं उपस्थित हूँ ।"

आचार्य यह कहने का अधिकारी है कि, मेरी समता को प्राप्त कर लेने वाला जीव मुक्त ही है, यह कहलाने के योग्य हो जाता है ।

इस विषय में श्री तन्त्रालोक (१।१५६) में कहा गया है कि,

"मोक्ष क्या है ? (इसकी बहुत बड़ी परिभाषा करने की आवश्यकता नही । बस इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि) मोक्ष कोई दूसरी वस्तु नहीं, अपितु स्वात्मस्वरूप का प्रथन मात्र है और संवित् ही स्वात्मस्वरूप है, दूसरा कुछ नहीं ।" इस तरह संविद्बोध पुरुष ही मुक्त हैं । बोध ही मुक्ति है । यही त्रिक दर्शन की मान्यता है ।। ९१-९२ ।।

सभी कहते हैं कि बार बार इस स्वात्मरूप का भावन करना चाहिये किन्तु इस भावन से लाभ क्या है ? दृष्टान्त के माध्यम से इस प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं—

लोहे का एक गोलक लेकर लौहकार उसे आग के हवाले कर देता है । उसे भट्ठी में डालकर भाथी से हवा का पुट देते हुए पहले खूब तपाता हैं । इसके बाद उसे पीटता है । पुनः आग में डालकर उसे लाल बना देता है । अब वह आग का गोला बन जाता है । कृष्णवर्णी लौहपिण्ड अब पारम्परिक प्रक्रियात्मक

परोक्षदीक्षणे यद्वा दर्भाद्यैः कल्पिते मृते ।
शिष्ये वीक्ष्यार्च्य पुष्पाद्यैर्न्यसेदध्वानमस्य तम् ॥ ९५ ॥
येनाध्वना मुख्यतया दीक्षामिच्छति दैशिकः ।

पुरःस्थितमिति साक्षाद्दीक्षणे। परोक्षेति देशान्तरस्थतया। मृत इति मरणे सतीत्यर्थः ॥ ९५ ॥

मुख्यतामेव दर्शयति

तं देहे न्यस्य तत्रान्तर्भाव्यमन्यदिति स्थितिः ॥ ९६ ॥

अनेन च शिष्यदेहेऽध्वन्यासविधिरुक्तः ॥ ९६ ॥

ताप आदि से जैसे ताम्रवर्णी अग्निपिण्ड बन जाता है, वैसे ही आचार्य पारम्परिक प्रक्रिया से शिवात्मक हो हो जाता है—इसमें कोई सन्देह नहीं।

ऐसा साक्षात् शिव स्वरूप आचार्य इतना समर्थ हो जाता है कि, वह सामने उपस्थित, सामने भावना के बल पर (उपस्थित की तरह) कल्पित, परोक्षरूप से कहीं भी विद्यमान अथवा मृतक के प्रतीक के रूप में सामने रखे पुतले आदि को भी दीक्षा देकर उन्हें अनुगृहीत कर दे। उन्हें स्वरूप प्रथन की दिशा में अग्रसर कर दे। उनके जीवन की दिशा बदल दे। सामने शिष्य या उसके प्रतीक को देखकर दीक्षा के लिये वह शास्त्रीय विधि से अर्चन की प्रक्रिया पूरी करता है। पुष्प आदि उपचार द्रव्यों से शिष्य में उसी अध्वा की न्यास प्रक्रिया पूरी करता है, जिस अध्वा को शिवाचार्य रूप वह दैशिक शिरोमणि चाहता है ॥ ९३-९५ ॥

अभीप्सित अध्वा को शिष्य शरीर में न्यास करने के बाद अवशिष्ट अध्वा का भी अन्तर्भावन करना आवश्यक होता है। इस तरह शिष्य के शरीर में अध्व-न्यास की प्रक्रिया पूरी की जाती है ॥ ९६ ॥

इदानीं तु शोध्यशोधकयोर्वैचित्र्यमभिधत्ते

शोध्याध्वनि च विन्यस्ते तत्रैव परिशोधकम् ।
न्यसेद्यथेप्सितं मन्त्रं शोध्यौचित्यानुसारतः ॥ ९७ ॥
क्वचिच्छोध्यं त्वविन्यस्य शोधकन्यासमात्रतः ।
स्वयं शुद्ध्यति संशोध्यं शोधकस्य प्रभावतः ॥ ९८ ॥

यथेप्सितमिति गुरोः शिष्यस्य वा । शोध्यौचित्यानुसारत इति

'योजयेन्नेश्वरादूर्ध्वं पिबन्यादिकमष्टकम् ।' (मा० वि० ९।७३)

सर्वप्रथम वह अध्वा जिसकी शिष्य देह में स्थापना की जाती है, उसका शोधन भी आवश्यक होता है। शोधन करने वाले विशिष्ट मन्त्र होते हैं। शोध्य के औचित्य की दृष्टि से उसका न्यास करना चाहिये। इन परिशोधक मन्त्रों के न्यास भी दैशिक की अभीप्सा के अनुसार ही करना चाहिये। जैसा औचित्य हो, वैसा आचरण हो श्रेयस्कर होता है। कहीं शोध्य के (अध्वा) न्यास के बिना भी केवल मन्त्र न्यास से भी शोधक के प्रभाव से शुद्धि हो जाती है।

मालिनीविजयोत्तर तन्त्र (९।७०-७३) में यह स्पष्ट उल्लेख है कि,

"पाशों की शुद्धि को प्रकिया में पहले बाहुपाश और उसके बाद माया की शुद्धि से शिष्य के कण्ठ देश की शुद्धि हो जाती है। विद्या से सकल पर्यन्त आचार्य अपने विचार और दीक्षागत औचित्य तक परापरा का योजना करे। आचार्य इस बात के लिये जागरूक रहे कि, ईश्वर तत्त्व के ऊपर किसी प्रकार का योजन न करे।"

दीक्षा में सकल पुरुष के पाशों का निराकरण आवश्यक होता है। छह पाशों में पाँच बाहुपाश माने जाते हैं। माया कण्ठपाश है। शुद्धविद्या और ईश्वर तक परापर का क्षेत्र समाप्त हो जाता है। विशुद्ध चक्र के ऊपर पिबनी आदि आठ स्थान सहस्रार पर्यन्त होते हैं। बिन्दु, अर्धचन्द्र, निरोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी और समना में किसी प्रकार की अशुद्धि की प्रकल्पना नहीं की जा सकती। योग की भाषा तालु, मूर्धा, पिबनी और ब्रह्मरन्ध्र आदि शब्दों

इत्याद्युक्तं शोध्यानुगुण्यमनुसृत्येत्यर्थः । प्रभावत इति । यदुक्तम्
'अचिन्त्या मन्त्रशक्तिर्वै परमेशमुखोद्भवा ।' (स्व० ४।१५१) इति ॥९८॥

तत्र शोध्यस्यैव तावद्वैचित्र्यमभिधातुमाह

अपरं परापरं च परं च विधिमिच्छया ।
तद्योजनानुसारेण श्रित्वा न्यासः षडध्वनः ॥ ९९ ॥

तद्योजनेति तच्छब्देन अपरादिविधिपरामर्शः ॥ ९९ ॥

का प्रयोग करती है। यह सारा शोधनदायित्व दीक्षा यज्ञ का प्रौढ आचार्य ही पूरा करता है। यह सारी बातें शोध्य से सम्बन्धित हैं।

जहाँ तक शोधक का प्रश्न है—ये दो होते हैं- १. मन्त्र और २. स्वयं आचार्य। इन दोनों का प्रभाव दीक्षा को पूर्ण करता है। मन्त्रों के प्रभाव से शोध्य का शोधन होता है और आचार्य के प्रभाव से प्रक्रिया का शोधन होता है। मन्त्रों के विषय में स्व० तन्त्र (४।१५१) में स्पष्ट निर्देश है कि,

"मन्त्र शक्तियाँ अचिन्त्य होती हैं अर्थात् मन्त्र में कितनी शक्तियों का समावेश है, यह कोई सोच भी नहीं सकता। उसका कारण है कि, सारे मन्त्र परमेश्वर के मुखारविन्द-मकरन्दसुधा-समुद्र के शतपत्र स्वरूप हैं।"

इसलिये मन्त्रों में पारमेश्वर सामर्थ्य की कल्पना भी मनुष्य के वश में नहीं है। मनीषी लोग अपनी मनीषा से इसका मनन मात्र करते हैं ॥९८॥

षडध्व न्यास के सम्बन्ध में याग के आचार्य के लिये विधि का निर्देश शास्त्रकार कर रहे हैं—

देशिक शिरोमणि अपनी इच्छा से ही अपर, परापर और परात्मक विधियों का योजन करे। इन्हीं विधियों पर आधारित षोढान्यास उचित होता है। जैसे शैवी इच्छा से ही विश्व का उल्लास हो जाता है, उसी तरह आचार्य की इच्छा की प्रधानता दीक्षा में भी साक्षात् अपेक्षित है ॥ ९९ ॥

कथं चास्य देहन्यास इत्याह

ललाटान्तं वेदवसौ रन्ध्रान्तं रसरन्ध्रके ।
वसुखेन्दौ द्वादशान्तमित्येष त्रिविधो विधिः ॥ १०० ॥
क्रमेण कथ्यते दृष्टः शास्त्रे श्रीपूर्वसंज्ञिते ।

वेदवसाविति चतुरशीतावङ्गुलानाम् । रसरन्ध्रक इति षण्णवतौ । वसुखेन्दाविति अष्टोत्तरे शते ॥

तमेव तत्त्वोपक्रममाह

तत्र तत्त्वेषु विन्यासो गुल्फान्ते चतुरङ्गुले ॥ १०१ ॥
धरा जलादिमूलान्तं प्रत्येकं द्व्यङ्गुलं क्रमात् ।

देह में अध्वा का न्यास ज्ञान दीक्षा का विषय माना जाता है । शिष्य को यह जानकारी होनी चाहिये कि, हमारा शरीर मात्र एक मांसपिण्ड नहीं, अपितु इसमें सारा विश्व और सारा अध्वावर्ग उल्लसित है । श्रीपूर्वशास्त्र के छठें अधिकार में शरीर की लम्बाई को अङ्गुलों की लम्बाई के अनुसार माप कर कितने अङ्गुल तक किसका और कितने अङ्गुल तक किसका न्यास करना चाहिये, यह निर्दिष्ट है । प्रस्तुत सन्दर्भ में स्वयं शास्त्रकार श्रीपूर्व-शास्त्र का नामोल्लेख कर उसमें निर्दिष्ट विधि का निर्देश कर रहे हैं—

ललाट तक ८४ अङ्गुलों का, ब्रह्मरन्ध्र तक ९६ और द्वादशान्त पर्यन्त १०८ अङ्गुलों तक न्यास होना चाहिये । न्यास की यही तीन विधियाँ श्रीपूर्व-शास्त्र में कही गयीं हैं । उनको क्रमिक रूप से यहाँ कहा जा रहा है ॥१००॥

पैर में नीचे की ओर पञ्चमहाभूतों को अङ्गुल परिमाण के अनुसार न्यास करना चाहिये । गुल्फ तक चार अङ्गुल होता है । इसमें धरा तत्त्व की व्याप्ति माननी चाहिये । जल से मूल तक प्रत्येक तत्त्व दो-दो अङ्गुल की व्याप्ति में न्यस्त करना चाहिये । चूँकि इसमें २३ तत्त्व आते हैं । अतः २३×२=४६ अङ्गुल की व्याप्ति में जल से मूल पर्यन्त तत्त्वों का न्यास करना चाहिये । नाभि से ऊपर ६ अङ्गुल तक यह ४६+४=५० अंङ्गुल पूरे हो जाते हैं । गुल्फ के नीचे के ४ अङ्गुल जोड़ने पर यह संख्या होती है ।

रसश्रुत्यङ्गुलं नाभेरूर्ध्वमित्थं षडङ्गुले ॥ १०२ ॥
पुंसः कलान्तं षट्तत्त्वीं प्रत्येकं त्र्यङ्गुले क्षिपेत् ।
अष्टादशाङ्गुलं त्वेवं कण्ठकूपावसानकम् ॥ १०३ ॥

सदाशिवान्त मायादिचतुष्कं चतुरङ्गुले ।
प्रत्येकमित्यब्धिवसुसंख्यमालिकदेशतः ॥ १०४ ॥

शिवतत्त्वं ततः पश्चात्तेजोरूपमनाकुलम् ।
सर्वेषां व्यापकत्वेन सबाह्याभ्यन्तरं स्मरेत् ॥ १०५ ॥
जलाद्यन्तं सार्धयुग्मं मूलं त्र्यङ्गुलमित्यतः ।
द्वादशाङ्गुलताधिक्याद्विधिरेष परापरः ॥ १०६ ॥

इसके बाद पुरुष तत्त्व से कला पर्यन्त ६ तत्त्वों को ३-३ अङ्गुल की व्याप्ति मानकर ६×३=१८ अङ्गुल में न्यस्त किया जाता है। यह ऊँचाई कण्ठ के कूप तक आती है। माया से सदाशिव पर्यन्त चारतत्त्व (माया, शुद्धविद्या, ईश्वर और सदाशिव) चार-चार अङ्गुल की व्याप्ति मान कर १६ अङ्गुल का क्षेत्र लिया जाता है। यह स्थान कण्ठ रूप से अलिक (ललाट) पर्यन्त होता है। इस प्रकार ललाट तक ५०+१८+१६=८४ अङ्गुल की गणना पूरी होती है।

इसके बाद तेज:स्वरूप शाश्वत शान्त शिवतत्त्व का न्यास करना चाहिये। यह सभी तत्त्वों में व्याप्त सर्वोत्तम तत्त्व है। बाह्य रूप से दृष्टिगत तत्त्वों में वही दृष्टिगोचर हो रहा है और आन्तर रूप से उसकी व्याप्ति तो नितान्त असंदिग्ध है। यहाँ तक ऊपर विधि के अनुसार न्यास दिग्दर्शित किया गया है।

परापर विधि में जल से बुद्धि पर्यन्त २२ तत्त्वों का न्यास करने से पहले पृथ्वीतत्त्व ४ अङ्गुल न्यस्त कर चुके होते हैं। पुनः इन २२ तत्त्वों का सार्धयुग्म मान (सार्धद्वयङ्गुलमान), मूल (प्रधान-प्रकृति) का ३ अङ्गुल-

जलाद्ध्यन्तं त्र्यङ्गुले चेदव्यक्तं तु चतुष्टये ।
तच्चतुर्विंशत्याधिक्यात्परोऽप्यष्टशते विधिः ॥ १०७ ॥

रसश्रुतीति जलादिमूलान्तं तत्त्वत्रयोविंशतेर्द्व्यङ्गुलत्वात् षट्चत्वारिंशदङ्गुलमित्यर्थः। नाभेरूर्ध्वं षडङ्गुल इति तत्पर्यन्तमित्यर्थः। एवमिति षण्णां प्रत्येकं त्र्यङ्गुलत्वात्। प्रत्येकं चतुरङ्गुलमिति येन चतुर्णां चतुरङ्गुलतया षोडशाङ्गुलानि भवन्तीति। अब्धिवस्विति चतुरशीतिः। आ अलिकदेशत इति ललाटदेशान्तमित्यर्थः। अत्रैव जलाद्बुद्ध्यन्तं तत्त्वद्वाविंशतेः प्रत्येकमर्धस्य सकलस्य चाङ्गुलस्य द्वयस्य चाधिक्यात् परापरे परे च विधौ द्वादश चतुर्विंशतिश्चाङ्गुलानि अधिकोभवन्तीति षण्णवतिरष्टोत्तरं शतं चाङ्गुलानां भवतीत्युक्तं जलाद्ध्यन्तमिति। यदुक्तम्

'अपरोऽयं विधिः प्रोक्तः परापरमतः शृणु ।
पूर्ववत्पृथिवीतत्त्वं विज्ञेयं चतुरङ्गुलम् ॥
सार्धद्व्यङ्गुलमानानि धिषणान्तानि लक्षयेत् ।
प्रधानं त्र्यङ्गुलं ज्ञेयं शेषं पूर्ववदादिशेत् ॥
परेऽपि पूर्ववत्पृथ्वी त्र्यङ्गुलान्यपराणि च ।
चतुष्पर्वं प्रधानं च शेषं पूर्ववदाश्रयेत् ॥'

(मा० वि० ६।२७) इति ॥ १०७ ॥

मान सब मिलाकर जितने अङ्गुल बनते हैं, उनमें पूर्व की अपेक्षा १२ अङ्गुल की बढ़ोत्तरी हो जाती है।

पर विधि में जल से बुद्धि पर्यन्त प्रतितत्त्व तीन अङ्गुल की व्याप्ति मानने पर और प्रधान के चार अङ्गुल व्याप्ति मानने पर २४ अङ्गुल की अधिकता हो जाती है। इस तरह परापर में ९६ अङ्गुल में तत्त्व न्यास और पर विधि के अनुसार १०८ अङ्गुल में तत्त्व न्यास का क्रम प्रक्रिया के अनुसार पूरा होता है। अपर विधि की अङ्गुल-गणना मात्र ८४ अङ्गुल की होती है।

इन तथ्यों पर श्रीपूर्वशास्त्र (६।२४–६।२७) की कारिकाओं में प्रकाश डाला गया है। इसके अनुसार भी पृथिवी तत्त्व की व्याप्ति चार

नन्वेवं त्रिविधमाने किं प्रमाणमित्याशङ्क्याह

त्रिविधोन्मानकं व्यक्तं वसुदिग्भ्यो रविक्षयात् ।
मयतन्त्रे तथाचोक्तं तत्तत्स्वफलवाञ्छया ॥ १०८ ॥

वसुदिग्भ्य इति अष्टोत्तराच्छतात् । रविक्षयादिति आवर्तनीयम् । तेन द्वादशानां द्वादशानामङ्गुलानां क्षयादित्यर्थः ॥ १०८ ॥

एवं सामस्त्येन तत्त्वानां न्यासमभिधाय, व्यस्तत्वेनाप्याह

नवपञ्चचतुस्त्र्येकतत्त्वन्यासे स्वयं धिया ।
न्यासं प्रकल्पयेत्तावत्तत्त्वान्तर्भावचिन्तनात् ॥ १०९ ॥
कलापञ्चकवेदाण्डन्यासोऽनेनैव लक्षितः ।

अङ्गुल है। बुद्धि तक ढाई अङ्गुल की व्याप्ति, प्रधान की तीन अङ्गुल की व्याप्ति और शेष को अपर के समान विधि मानी जाती है। पर विधि में भी पूर्ववत् पृथिवी की व्याप्ति, तीन-तीन अङ्गुल अन्य तत्त्व व्याप्ति और प्रधान की चतुष्पर्वं की व्याप्ति की मान्यता है ॥१०१-१०७ ॥

प्रश्न कर्त्ता पूछता है कि अपर, परापर और पर विधियों के इस त्रिविध मान का प्रमाण क्या है ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

मयतन्त्र में यह उल्लेख है कि अपनी अभीसित विधि से अनुकल फल प्राप्त करने के लिये यह तीन प्रकार का मानक प्रयोग में लाना चाहिये। परविधि रूप १०८ अङ्गुल से रवि-क्षय करने पर ९६ अङ्गुल परापर तत्त्व न्यास और ९६ अङ्गुल से रवि-क्षय करने पर ८४ अङ्गुल अपन्यास का औचित्य होता है ॥ १०८ ॥

यहाँ तक सामस्त्य भाव से तत्त्वों के न्यास की चर्चा की गयी है। अब व्यस्त भाव से कैसे न्यास हो सकता है। इसकी चर्चा कर रहे हैं—

न्यास प्रक्रिया में नव, पञ्च, चार, तीन और एक तत्त्वों के न्यास भी विभिन्न प्रकार से किये जाते हैं। वस्तुतः तत्त्वों का वर्ग की दृष्टि से जो अनुगामी रूप होता है, उसे ही कला कहते हैं। कला कलना से सम्बद्ध

तत्र नवतत्त्वन्यासे प्रकृतिः पञ्चाशत्सु अङ्गुलेषु, पुरुषस्त्रिषु, नियतिर्नवसु, कालः षट्सु, मायाविद्येशसदाशिवाः चतुर्षु चतुर्षु, शिवस्तु व्यापकतयेति। पञ्चतत्त्वन्यासे तु धरा चतुर्षु अङ्गुलेषु, जलं षट्चत्वारिंशत्सु, तेजो द्वाविंशतिषु, वायुर्द्वादशसु, आकाशो व्यापकतयेत्यपरोऽयं विधिः। यदुक्तम्—

होता है। यह कलना के सन्दर्भ में एकरूपता को स्वीकार नहीं करती। पार्थक्य के कारण सामस्त्य नहीं रह जाता और व्यस्त भाव उदीयमान होकर नये आकलन को जन्म देता है। जैसे निवृत्ति कला है। पृथिवी से सर्ग की निवृत्ति होने के कारण उसे निवृत्ति कहते हैं। यह प्रतिष्ठा कला से पृथक् हो जाती है। इस कला परिवेश को पार्थिवाण्ड भी कहते हैं। इसके आगे कलना का क्षेत्र बन्द नहीं अपितु प्रत्यावर्त्तित हो जाता है। इस निवर्त्तित शक्ति को ही शास्त्र निवृत्ति कला की संज्ञा देते हैं।

नवतत्त्व विधि में प्रकृति, पुरुष, नियति, काल, माया, विद्या, ईश्वर, सदाशिव और शक्ति का समावेश होता है। एक तत्त्व में केवल शिव तत्त्व का ही न्यास आकलित है। तीन भेद में स्वरूप क्रियाशक्ति, ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति और शिव आकलित हैं। पाँच भेद की विधि में स्वरूपमन्त्र, मन्त्रेश्वर, मन्त्रमहेश्वर, शक्ति और शिव पाँच तत्त्व ही आकलित होते हैं।

'निवृत्ति' कला के बाद 'प्रतिष्ठा' में २४, 'विद्या' में पुरुष से माया तक और शान्ता में शाक्त सर्ग और शान्त्यतीता में शिवतत्त्वों का उल्लास होता है। इनमें वर्णित तत्त्वों का न्यास कलाध्वा में अपेक्षित है। शास्त्रकार कहते हैं कि, याग के प्रधान आचार्य स्वयं यह निर्णीत करें और अपने प्रकल्पन को शिष्य पर चरितार्थ करें। वे इस चिंतन के साक्षी बन सावधानी पूर्वक इस विमर्श के समावेश में रहें कि, तत्त्वान्तर्भाव का रहस्य क्या है? वे यह सोचते रहें कि, एक ही शिव में चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति का शाश्वत अन्तर्भाव है और इस आन्तर उल्लास से ही बाह्य उल्लास का विसर्जन विस्फूर्जित हो उठता है।

नवतत्त्व के न्यास में प्रकृति ५० अङ्गुलों में, पुरुष तीन अङ्गुलों में, नियति नव में, काल ६ में, माया, विद्या, ईश्वर और सदाशिव चार-चार अङ्गुलों में और शिव व्यापक रूप से विन्यस्त किये जाते हैं।

'अधुना पञ्च तत्त्वानि यथा देहे तथोच्यते।
नाभेरूर्ध्वं तु यावत्स्यात्पर्वषट्कमनुक्रमात्॥

धरातत्त्वेन गुल्फान्तं व्याप्तं शेषमिहाम्बुना।
द्वाविंशतिश्च पर्वाणि तदूर्ध्वं तेजसा वृतम्॥

तस्माद्द्वादश पर्वाणि वायुव्याप्तिरुदाहृता।
आकाशान्तं परं शान्तं सर्वेषां व्यापकं स्मरेत्॥' (मा०वि० ६।९)

इतरत्र विधिद्वये तु जलतत्त्व एव द्वादश द्वादशाङ्गुलान्यधिकीभवन्ति इति विकल्पनीयम्। पृथ्वीप्रकृतिमायाशक्तिलक्षणचतुस्तत्त्वन्यासेऽपि एवमेव विधिः। त्रितत्त्वन्यासे तु आत्मतत्त्वं द्वासप्ततिष्वङ्गुलेषु, विद्यातत्त्वं द्वादशसु, शिवतत्त्वं तु व्यापकतयेति। तदुक्तं

पंचतत्त्व न्यास में धरा ४ अङ्गुलों में, जल ४६ अंगुलों में, तेज २२ अङ्गुलों में, वायु १२ अङ्गुलों में और आकाश व्यापक रूप से न्यस्त करने की विधा है।

मालिनी विजयोत्तर तन्त्र के छठें अधिकार के श्लोक ६ से १० तक में पञ्चतत्त्व न्यास की चर्चा है। वहाँ लिखा गया है कि,

"४६ अंगुल नाभि पर्यन्त जलतत्त्व, चरणतल से गुल्फान्त चार पर्व धरा तत्त्व, जलतत्त्व के ऊपर २२ तेज तत्त्व, इसके ऊपर १२ पर्व वायु तत्त्व और आकाशतत्त्व-व्याप्ति भाव से न्यस्त करना चाहिये। यह पंचतत्त्व विधि का निर्देश है।"

दूसरी दृष्टि से जलतत्त्व में १२-१२ अङ्गुल की वृद्धि होती है। तत्त्वों में न्यास के सन्दर्भ में समस्त विकल्पों का आकलन करने के उपरान्त ही आचार्य कोई निर्णय ले, यही उचित है। पृथ्वी, प्रकृति, माया और शक्ति रूप चतुस्तत्त्वों के न्यासों में वैकल्पिक विधियों का आकलन आवश्यक है।

जहाँ त्रितत्त्व-न्यास करने का सन्दर्भ हो, वहाँ ७२ अङ्गुलों में तत्त्व-व्याप्ति मान ली जाती है। इसके आगे विद्यातत्त्व १२ अङ्गुलों में न्यस्त कर शेष ऊर्ध्व में आकाश रूप व्यापक शिवतत्त्व को न्यस्त करने की विधि

'त्रिखण्डे कण्ठपर्यन्तमात्मतत्त्वमुदाहृतम् ।
विद्यातत्त्वमतोर्ध्वं तु शिवतत्त्वं तु पूर्ववत् ॥'

(मा० वि० ६।१०) इति ।

तावतामिति अवशिष्टानाम् । अनेनेति पञ्चचतुस्तत्त्वन्यासेनैव ।

नन्वस्तु एवं त्रिविधं मानं, ललाटाद्यन्तं त्रेधावस्थानमस्येति कुतस्त्यमित्याशङ्क्याह

उक्तं च त्रिशिरस्तन्त्रे स्वाधारस्थं यथास्थितम् ॥ ११० ॥

द्वादशाङ्गुलमुत्थानं देहातीतं समं ततः ।
द्वासप्ततिर्दश द्वे च देहस्थं शिरसोऽन्ततः ॥ १११ ॥
पादादारभ्य सुश्रोणि अनाहतपदावधि ।

अपनानी पड़ती है । मालिनी विजयोत्तर तन्त्र (६।१०) में कहा गया है कि,

"त्रिखण्ड के इस शरीर में कण्ठपर्यन्त आत्मतत्त्व की व्याप्ति स्वीकार की जाती है । इससे ऊपर विद्यातत्त्व की व्याप्ति है और शिवतत्त्व समनाशिखरारूढ है । यह समस्त शास्त्रों की मान्यता है ।"

इस प्रकार पञ्चतत्त्वन्यास विधि, चतुस्तत्त्वन्यास आदि की प्रक्रिया शास्त्रसम्मत सिद्ध हो जाती है । इन न्यासों का उत्तरदायित्व मात्र देशिक शिरोमणि आचार्यवर्य का ही है, यह भी स्पष्ट हो जाता है ॥१०९॥

प्रश्न यह है कि, शरीर का त्रिविधमान तो माना जा सकता है किन्तु इस त्रैविध्य की ललाट, कण्ठ आदि पर्यन्तता का क्या प्रमाण है ? इसी का उत्तर दे रहे हैं—

त्रिशिरःशास्त्र में यह स्पष्ट उल्लेख है कि, स्वाधार में अर्थात् अपने शरीर में ये तीन खण्ड हैं । पैर से प्रारम्भ कर शिर के अन्त तक अर्थात् नादान्त (ललाट) अवस्थान पर्यन्त ८४ अङ्गुल का मान है । यह देह का अपर मान माना जाता है । इस अपर मान के स्वाधार पर ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त १२ अङ्गुल का (ऊर्ध्व द्वादशान्त से १२ अङ्गुल नीचे) का देहातीत उत्थान है ।

इह पादादारभ्य शिरसोऽन्ते नादान्तपदं यावत् ललाटपर्यन्तं द्वासप्ततिर्दश द्वे च चतुरशीतिरङ्गुलानि देहस्थमपरं मानमित्यर्थः। एवं यथास्थितमपरं मानमवलम्ब्य स्वाधारे मुण्डव्योम्नि स्थितं ब्रह्मरन्ध्रान्तं द्वादशाङ्गुलमुत्थानं षण्णवत्यङ्गुलं परापरं मानमिति यावत्। ततोऽपि देहातीतं द्वादशान्तं यावत् समं द्वादशाङ्गुलमेवोत्थानं येनाष्टोत्तरं शतमङ्गुलानां परं मानं स्यात्॥

ननु देहस्यैवं माने वक्तुमुपक्रान्ते कथं तदतीतेऽपि तदुच्येतेत्याशङ्क्याह

देहातीतेऽपि विश्रान्त्या संवित्तेः कल्पनावशात् ॥ ११२ ॥

देहत्वमिति तस्मात्स्यादुत्थानं द्वादशाङ्गुलम् ।
इति निर्णेतुमत्रैतदुक्तमष्टोत्तरं शतम् ॥ ११३ ॥

परस्याः संविदो हि देहातीतेऽपि विश्रान्त्या काल्पनिकं देहत्वमस्तीति तस्मात् ब्रह्मरन्ध्रादपि द्वादशाङ्गुलमुत्थानं देहतयैव स्यादिति निर्णेतुमेतदत्र श्रीत्रिशिरोभैरवे परमष्टोत्तरशतात्मकमुक्तमित्यर्थः॥ ११३ ॥

ललाटान्त ८४ अङ्गुल और इस १२ अङ्गुल के योग से ९६ अङ्गुल का परापर मान माना जाता है।

९६ अङ्गुल के ऊपर स्वाधार पर अवस्थित कपाल के आन्तर आकाश के ऊर्ध्व परिवेश में १२ अङ्गुल एक अन्य उत्थानात्मक उल्लास होता है। यह ९६+१२=१०८ अङ्गुल का ऊर्ध्व द्वादशान्त पर्यन्त का उल्लास माना जाता है। इसे परात्मक उल्लास कहते हैं। यह अपर, परापर और पर मान वाला त्रिखण्डात्मक मान योगियों का स्वानुभूत विषय है ॥११०-१११॥

देह के मान के सन्दर्भ में देहातीत की ये बातें यहाँ किस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिये की गयी हैं, इस आशङ्का के समाधान के लिये कारिका अवतरित की जा रही है—

संवित्ति देवी देहातीत स्थिति में विश्रान्त होती है। अतः जहाँ संवित्ति की विश्रान्ति का आधार आकलित हो रहा हो, वहाँ भी देह का प्रकल्पन अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। इसलिये ब्रह्मरन्ध्र से भी १२ अङ्गुल के ऊर्ध्वोल्लासरूपी उत्थान पर्यन्त देहत्व की कल्पना सत्य पर आधारित है।

एवं तात्त्वं न्यासमभिधाय, भौवनमप्याह

पुरन्यासोऽथ गुल्फान्तं भूः पुराण्यत्र षोडश ।
तस्मादेकाङ्गुलव्याप्त्या प्रत्येकं लकुलादितः ॥ ११४ ॥

द्विरण्डान्तं त्र्यङ्गुलं तु च्छगलाण्डमथाब्धिषु ।
देवयोगाष्टके द्वे हि प्रत्येकाङ्गुलपादतः ॥ ११५ ॥

इति प्रधानपर्यन्तं षट्चत्वारिंशदङ्गुलम् ।
षट्पञ्चाशत्पुराणीत्थं प्राग्धरायां तु षोडश ॥ ११६ ॥

ततोऽप्यर्धाङ्गुलव्याप्त्या षट्पुराण्यङ्गुलत्रये ।
चत्वारि युग्म एकस्मिन्नेकं च पुरमङ्गुले ॥ ११७ ॥

इसी आधार पर त्रिशिरोभैरव शास्त्र में १०८ अङ्गुल का मान भी निर्धारित किया गया है ॥११२-११३ ॥

यहाँ तक तत्त्वों के न्यास की चर्चा की गयी। अब भुवन न्यास[1] का कथन (श्लो० ११४-१३१) किया जा रहा है —

पुरन्यास में गुल्फ पर्यन्त पृथिवी नामक तत्त्व का न्यास होता है। 'भू' नाम के पार्थिवाण्ड में १६ पुर माने गये हैं। यहाँ से एकाङ्गुलमान में प्रत्येक अङ्गुल में लकुल आदि से द्विरण्ड पर्यन्त न्यास होता है। तीन अङ्गुलों में छगलाण्डों को मिलाकर चालीस अङ्गुल की व्याप्ति में न्यास होता है। दो-दो अङ्गुलों में अर्थात् ४ अङ्गुलों में देवयोगाष्टकों का न्यास आवश्यक है। देवयोन्यष्टक[2] का शोधन और न्यास योगाष्टक के साथ ही होता है।

इस ६ अङ्गुल पर्यन्त प्रधान का न्यास किया जाता है। ये प्रत्येक अङ्गुल के चौथाई अंश के क्षेत्र में न्यस्त होते हैं। इस प्रकार यहाँ तक ५६ पुर न्यस्त होते हैं। पहले धरा तक १६ पुरों का न्यास किया जा चुका होता है।

---

१. मा० वि० ६।११-१७।

२. श्रीत० ८।२३६-२३८, २५१-२५२।

सरागे पुंस्पुराणीशसंख्यानीत्थं षडङ्गुले ।
क्रोधेशपुरमेकस्मिन्द्वये चाण्डमियं च वित् ॥ ११८ ॥
संवर्तज्योतिषोरेवं कलातत्त्वगयोः क्रमात् ।
शूरपञ्चान्तपुरयोर्नियतौ चैकयुग्मता ॥ ११९ ॥

षोडशेति चतुर्षु अङ्गुलेषु प्रत्येकमङ्गुलचतुर्भागव्याप्त्या । द्विरण्डान्तमित्येकोनचत्वारिंशत् । छगलाण्डमिति चत्वारिंशत्तमम् । अब्धिष्विति चतुर्षु अङ्गुलेषु । एषामत्र विभागः प्रत्येकाङ्गुलपादत इति । षोडशेति पुराणि अर्थादङ्गुलान्यपि चत्वारि । षट्पुराणीति पुंस्तत्त्वगतानि । चत्वारीति प्रचण्डादिसम्बन्धीनि । युग्म इति अङ्गुलद्वये । एकमिति एकशिवसम्बन्धि । ईश्वरसंख्यानीति एकादश । एकस्मिन्निति अङ्गुले । द्वय इत्यङ्गुलयोः । चाण्डमिति चण्डसम्बन्धि । विदिति विद्या । एवमिति संवर्तपुरमेकाङ्गुलं, ज्योतिष्पुरं द्वयङ्गुलम् । एकयुग्मतेति शूरपुरमेकाङ्गुलं, पञ्चान्तकपुरं द्वयङ्गुलम् ॥ ११९ ॥

ऊपर के ४० पुरों को मिलाकर ५६ पुरों का न्यास यहाँ तक होता है । ४६ अङ्गुलों में हो ये पुर न्यस्त होते हैं ।

इसके बाद आधा-आधा अङ्गुलमान के तीन अङ्गुलों में ६ पुर न्यस्त होते हैं । ये सभी पुरुष-तत्त्वान्तर्गत आते हैं । प्रचण्ड सम्बन्धी चार पुर दो अङ्गुल में न्यस्त होते हैं । एक अङ्गुल में एक शिवतत्त्व को व्याप्ति होतो है । इस प्रकार ६ अङ्गुलों में ११ पुर न्यस्त किये जाते हैं ।

रागतत्त्व सहित १ अङ्गुल में एकादश (११) पुंस्पुर न्यस्त किये जाते हैं । १ अङ्गुल में क्रोधेशपुर, २ अङ्गुलों में चण्ड सम्बन्धी पुर आते हैं । यह विद्यातत्त्व का परिवेश होता है । चार अङ्गुलें में १३ पुर आते हैं ।

आठ भुवनपालों [1] में क्रोधेश और चण्ड ३ अङ्गुलों में न्यस्त दो पुर विद्या क्षेत्र के हैं । शेष संवर्त्त और ज्योतिष्पिङ्गल ३ अङ्गुलों में न्यस्त होते हैं । ये दोनों कलातत्त्व के अन्तर्गत आते हैं । 'पञ्चान्तक' और 'एकवीरेश' ये दोनों

---

१. श्रीत० ८।२७२-२७३ ।

विद्यादौ त्रये चागमोऽपि एतामेव व्याख्यां सहते इति दर्शयितुमाह

श्रीपूर्वशास्त्रे तच्चोक्तं परमेशेन शंभुना ।
उत्तरादिक्रमाद्द्वयेकभेदो विद्यादिके त्रये ॥ १२० ॥

विद्यादौ हि तत्त्वत्रये द्वे द्वे पुरे, तत्र उत्तरमूर्ध्वगं पुर द्वयङ्गुलमधस्तनं त्वेकाङ्गुलमिति प्रतितत्त्वं त्रीण्यङ्गुलानि यावत्त्रिष्वेतेषु नवेति ॥

ननु कथमत्रैषां व्यत्ययेनोपदेश इत्याशङ्क्याह

असारत्वात्क्रमस्यादौ नियतिः परतः कला ।
अथवान्योन्यसंज्ञाभ्यां तत्त्वयोर्व्यपदेश्यता ॥ १२१ ॥

भुवनपाल इन्हीं नाम के भुवनों के साथ नियति तत्त्व में और ३ अङ्गुलों में न्यस्त होते है । इस तरह भौवनन्यास पूर्ण होता है ॥११४-११९ ॥

विद्या, कला और नियति क्रम से यहाँ न्यास विधि का निर्देश है । इन तीनों में श्रीपूर्वशास्त्र की विधि के अनुसार ही न्यास का उल्लेख यहाँ भी किया गया है । यही कह रहे हैं—

श्रीपूर्वशास्त्र (श्रीमालिनी विजयोत्तर तन्त्र) में स्वयं परमेश्वर शिव ने विद्या, कला और राग इन तीनों के तीन-तीन अङ्गुलों के क्षेत्र में दो-दो पुरों के न्यास का विधान किया है । ऊपर के पुर दो अङ्गुलों में तथा नीचे के पुर एक-एक अङ्गुल के क्षेत्र में हैं, प्रति तत्त्व तीन-तीन अङ्गुल के क्षेत्र में पुरों की यह न्यास प्रक्रिया केवल दैशिक शिरोमणि आचार्य के ऊपर निर्भर करती है कि, वे परमेश्वर के वचनों के अनुसार इसे कैसे पूरा करते हैं ॥१२०॥

प्रश्न है कि, विद्या, राग और कला का यह क्रम-व्यत्यय क्यों किया गया है ? इस पर कह रहे हैं कि,

वस्तुतः क्रम का कोई नियम नहीं है । इसमें कोई सार नहीं है कि, आदि में नियति रखी जाय और उसके बाद कला की गणना की जाय । अथवा यह भी सम्भव है कि, एक दूसरे की संज्ञा की जगह किसी दूसरे

एकवीरशिखेशश्रीकण्ठाः काले त्रयस्त्रये ।
कालस्य पूर्वं विन्यासो नियतेरभिधीयते ।। १२२ ।।
अथवान्योन्यसंज्ञाभिर्व्यपदेशो हि दृश्यते ।

एतदेवोपोद्बलयितुं पुनरप्युक्तं कालस्येत्यादि ॥

एतदेव संचिनोति

एवं पुमादिषट्तत्त्वी विन्यस्ताष्टादशाङ्गुले ।। १२३ ।।
ततोऽप्यङ्गुष्ठमात्रान्तं मायातत्त्वस्थमष्टकम् ।
प्रत्येकमर्धाङ्गुलतः स्यादङ्गुलचतुष्टये ।। १२४ ।।
इत्थं द्व्यक्षिण पुराण्यष्टाविंशतिः पुरुषान्निशि ।
पुरत्रयं द्वयोस्त्र्यंशन्यूनाङ्गुलमिति क्रमात् ।। १२५ ।।

तत्त्व की संज्ञा का प्रयोग कर दिया जाय। एकवीरशिखा शास्त्र में, ईश शास्त्र में, श्री श्रीकण्ठ मार्ग में काल में ही विद्या, कला और राग इन तीनों का परिवेश मानते हैं। साथ ही साथ यह भी स्वीकार करते हैं कि, काल के पूर्व ही नियतितत्त्व का क्रम शास्त्र-विहित है। यह भी देखा जाता है कि, किसी अन्य के स्थान पर किसी दूसरी संज्ञा का विधान भी किया गया है। इसमें किसी संज्ञा के प्रति कोई किसी प्रकार का आग्रह नहीं है ॥१२१-१२२॥

ऊपर के कथन का ही संचयन कर रहे हैं—

इस प्रकार पुरुषतत्त्व से लेकर छः तत्त्वों के न्यास १८ अङ्गुलों में करने का क्रम स्थिर रूप से मान लिया गया है। उसके बाद अङ्गुष्ठ मात्र पर्यन्त मायातत्त्वस्थ यह अष्टक (प्रकृति, पुरुष, कला, विद्या, राग, काल, नियति और माया) न्यस्त होता है।

प्रत्येक आधे-आधे अङ्गुल के क्रम से चार अङ्गुलों तक तत्त्वों का न्यास किया जाता है। इसमें १८ अठारह तत्त्वों और चार तत्त्वों के न्यास की प्रक्रिया पूरी होती है। दोनों मिला कर इनकी संख्या २२ तक पहुँचती है। २८ पुर पुरुष से माया पर्यन्त न्यस्त होते हैं। दो अङ्गुलमान को १६ भाग

द्वयोर्द्वयं पञ्चपुरी वैद्यीये चतुरङ्गुले ।
तत ऐशपुराण्यष्टौ चतुष्केऽर्धाङ्गुलक्रमात् ॥ १२६ ॥
ततस्त्रीणि द्वये द्वे च द्वयोरित्थं चतुष्टये ।
सादाशिवं पञ्चकं स्यादित्थं वस्वेककं रवौ ॥ १२७ ॥

इत्थमिति अष्टादशानां चतुर्णां च एकोकारात्मना प्रकारेणेत्यर्थः। द्वयक्ष्णीति द्वाविंशतावङ्गुलानाम्। निशीति तत्पर्यन्तम्। द्वयोरित्यङ्गुलयोः। अङ्गुलद्वये हि षोडशधा विभक्ते प्रतिपुरं भागद्वयं मानमित्युक्तं त्र्यंशन्यूनाङ्गुलमिति क्रमादिति। त्रीणीति पुराणि। द्वय इत्यङ्गुलयोः। तच्च त्र्यंशन्यूनाङ्गुलमानेनेत्यपेक्षणीयम्। वस्वेककमिति अष्टादश पुराणि। रवावित्यङ्गुलद्वादशके ॥ १२७ ॥

एतदेवोभयथापि संकलयति

षोडशकं रसविशिखं वसुद्विकं वसुशशीति पुरवर्गाः ।
वेदा रसाब्धि युग्माक्षि च रवयस्तत्र चाङ्गुलाः क्रमशः॥१२८॥

रसविशिखमिति षट्पञ्चाशत्। वसुद्विकमष्टाविंशतिः। वसुशशीत्यष्टादश। वेदाश्चत्वारः। रसाब्धीति षट्चत्वारिंशत्। युग्माक्षि द्वाविंशतिः। रवया द्वादश ॥ १२८ ॥

करने पर प्रतिपुर दो भाग मान में आते हैं। फलतः तीन अंश न्यून अङ्गुलमान ही निर्धारित होता है। यह सामान्य गणित का विषय है। अतः इसे व्यास पद्धति से लिखने की आवश्यकता नहीं।

दो अङ्गुलों में दो पुर और विद्या क्षेत्र के चार अङ्गुलों में पाँच पुरियाँ भी न्यस्त होती हैं। इसके बाद ईश सम्बन्धी आठ पुरियाँ न्यस्त होती हैं। आधे-आधे अङ्गुल के क्रम में यह न्यास सम्पन्न होता है। सादाशिव क्षेत्र के पुरों की तीन पुरियाँ दो अङ्गुलों में, दो दो अङ्गुलों में पुनः दो, इस प्रकार चार अङ्गुलों में पाँच पुर न्यस्त हो जाते हैं। इस प्रकार १८ पुरों के न्यास पूरे होते हैं। अङ्गुलों का मान मात्र १२ ही होता है ॥१२३-१२७ ॥

एवं चेदं सिद्धमित्याह

अष्टादशाधिकशतं पुराणि देहेऽत्र चतुरशीतिमिते ।
विन्यस्तानि तदित्थं शेषे तु व्यापकं शिवं तत्त्वम् ॥ १२९ ॥
इति विधिरपरः कथितः परापराख्यो रसश्रुतिस्थाने ।
अष्टशरं संख्यानं खमुनिकृतं तत्परे विधौ ज्ञेयम् ॥ १३० ॥

रसश्रुतिस्थान इति षट्चत्वारिंशदात्मनि। अष्टशरमिति अष्टपञ्चाशत् द्वादशानामाधिक्यात्। खमुनीति चतुर्विंशतेराधिक्यात् ॥ १३० ॥

ननु कथं चात्र द्वादशानां चतुर्विंशतेर्वा अङ्गुलानामाधिक्यमित्याशङ्क्याह

लकुलादेर्योगाष्टकपर्यन्तस्यात्र भुवनपूगस्य ।
अधिकीकुर्याद्गणनावशेन भागं विधिद्वये क्रमशः ॥ १३१ ॥

भुवनपूगस्येति षट्पञ्चाशदात्मनः। भागमिति परापरे विधौ किंचिदंशाधिकपञ्चभागलक्षणम्। परे तु किंचिदंशन्यूनार्धाङ्गुललक्षणम् ॥

इस तरह १६, ५६, २८ ओर १८, पुरवर्गों के ४, ४६, २२ और १२ अङ्गुल के मान क्रमशः शास्त्रों में निर्धारित हैं ॥१२८॥

इससे यह सिद्ध हो जाता है कि, ११८ पुर ८४ अङ्गुल के इस शरीर में न्यस्त होते हैं। शेष ९६ और १०८ अङ्गुलों के अन्य मानों के परिवेश में व्यापक शिवतत्त्व न्यस्त होता है। यहाँ तक अपर विधि का वर्णन किया गया। जहाँ तक परापर न्यास प्रक्रिया का प्रश्न है, यह ४६ अङ्गुलों के परिवेश में ही चरितार्थ होता है। पर-न्यास में ५८ मान इस आधार पर मानते हैं कि, इसमें १२ अङ्गुल की वृद्धि हो जाती है अर्थात् ८४ की जगह ९६ अङ्गुल के मान में न्यास होता है। इसी तरह पर-विधि में २४ अङ्गुलमान बढ़ कर ८४ की जगह १०८ अङ्गुलमान हो जाता है ॥१२९-३० ॥

लकुल आदि से योगाष्टक पर्यन्त पुरवर्ग को परापर और पर विधि में १२ और २४ अङ्गुलमानों की वृद्धि करने का विधान है। इस प्रकार यहाँ तक भुवनाध्वा का न्यास पूरा कर लिया गया है ॥१३१॥

एवं भुवनाध्वनो न्यासमभिधाय पदाध्वनोऽप्याह

अपरादिविधित्रैतादथ न्यासः पदाध्वनः ।
पूर्वं दशपदी चोक्ता स्वतन्त्रा न्यस्यते यदा ॥ १३२ ॥
तयैव दीक्षा कार्या चेत्तदेयं न्यासकल्पना ।
तत्त्वादिमुख्यतायोगाद्दीक्षायां तु पदावली ॥ १३३ ॥
तत्तत्त्वाद्यनुसारेण तत्रान्तर्भाव्यते तथा ।
स्वप्रधानत्वयोगे तु दीक्षायां पदपद्धतिम् ॥ १३४ ॥
न्यस्येत्क्रमेण तत्त्वादिवदनानवलोकिनीम् ।

पदाध्वा न्यास प्रकरण—

अपर, परापर और पर (स्थूल, सूक्ष्म और पर) इन तीन भेदों में पदाध्वा का वर्णन श्रीतन्त्रालोक (११।४४-४६) में स्पष्ट रूप से किया गया है। इसमें भी पद एवं मन्त्र दोनों की एकता का भी निर्देश है। पहले के आह्निकों में स्वतन्त्र न्यासमयी-दीक्षा दशपदी रूप से प्रतिपादित है। पद न्यास के माध्यम से ही दीक्षा देने की परिपाटी और उसी के आधार पर न्यास की कल्पना—ये दोनों बातें एक दूसरे पर आश्रित हैं। तत्त्वों की प्रधानता की दृष्टि से अर्थात् मेयांश या प्रमात्रंश के प्राधान्य की दृष्टि से ही दीक्षा में पदावली का प्रयोग दैशिक शिरोमणि को करना चाहिये। किसमें कहाँ किस दृष्टि से तत्त्वों में कौन सा तत्त्व प्रधान है? किसमें किसका अन्तर्भाव होना है—इस पर भी आचार्य का निर्णय ही अन्तिम निर्णय माना जाना चाहिये। स्वात्मप्राधान्य के योग में पद की पद्धति लागू की जाती है। इस पद्धति को तत्त्वादि-न्यास के क्रम में ही निहित मानते हैं। शिष्य को वस्त्र से आवृत कर स्वयं गुरु ही इस प्रक्रिया को पूरा करता है। उसके ऊपर उस समय गुरु जिस मेय भागांश का न्यास करता है, वह उसके जीवन को धन्य बनाने वाली होती है। उस

पूर्वमिति एकादशाह्निकादौ। स्वतन्त्रेति प्रधाना। तत्रेति तत्त्वादौ। तथेति दशधात्वेन। स्वप्रधानत्वयोग एवोपोद्बलितस्तत्त्वादिवदनानवलोकिनोमिति॥

तदेवाह

चतुर्ष्वष्टासु चाष्टासु दशस्वथ दशस्वथ॥ १३५॥
दशस्वथो पञ्चदशस्वथ वेदशरेन्दुषु।
धरापदान्नवपदीं मातृकामालिनीगताम्॥ १३६॥
योजयेद्व्याप्तृ दशमं पदं तु शिवसंज्ञितम्।

समय वह इतना दिव्य भावापन्न रहता है कि, उसके वदन का किसी के द्वारा अदर्शन ही श्रेयस्कर होता है। वदनानवलोकिनी-दीक्षा का प्रचलन आज भी किसी न किसी रूप से है। लोग इसका अर्थ नहीं जानते। 'तत्त्वादिवदनानवलोकिनो' शब्द के अन्य कई अर्थ हो सकते हैं, पर वे परम्परा में मान्य नहीं हैं॥१३२-१३४॥

दशपदो न्यास पद्धति के अङ्गुलों की गणना ४, ८, ८, १०, १०, १०, १५, ४ और १५ अङ्गुलों के क्रम से की जानी चाहिये। धरा पद तो चार अङ्गुलों का प्रसिद्ध हो है। यह पादाङ्गुष्ठ से गुल्फपर्यन्त मानी जातो है। इसके बाद नवपदो न्यास आचरणीय होता है। वस्तुतः धरापद के ४ अङ्गुलों को छोड़ देने के बाद ललाट तक ८० अङ्गुल और आठ पद बचते हैं। इसके ऊपर नाद से उन्मना पर्यन्त केवल शिव-शक्ति रूप नवन्यास मिलाकर ही नवपदी न्यास सम्भव है। इसमें मातृका और मालिनी के अक्षरों का समन्वय आवश्यक होता है। इसमें धरापद रूप प्रथम न्यास-स्थान के अतिरिक्त परापर और पर-विधि की दृष्टि से धरापद के ठीक ऊपर के पाँच पदों को १२-१२

धरापदं वर्जयित्वा पञ्च यानि पदानि तु ॥ १३७ ॥
विधिद्वयं स्यान्निक्षिप्य द्वादश द्वादशाङ्गुलान् ।

वेदाश्चत्वारः । शरेन्दवः पञ्चदश । तत्र संहारक्रमेण एकाक्षरं चतुरक्षरं द्वयं, पञ्चाक्षरं त्रयं, एकं च द्व्यक्षरं, त्र्यक्षरं चेति नवपद्याः विभागः । तदुक्तं

अङ्गुल का मानना आवश्यक होता है। जिससे परापर विधि में ८४+१२= ९६ अङ्गुल को गणना और पर विधि में ९६+१२=१०८ अङ्गुल की गणना ठीक बैठती है। इसका रूप इस प्रकार आकलित करना चाहिये—

स्थान	अङ्गुल	तत्त्व
१ पादाङ्गुष्ठ से गुल्फान्त	४	धरा
२. गुल्फ के ऊपर	८	अप्तेजवाय्वाकाश पञ्चतन्मात्र (१० तत्त्व)
३. उसके ,,	८	शेष २५ तत्त्व
४. ,, ,, ,,	१०	
५. ,, ,, ,,	१०	
६ ,, ,, ,,	१०	
७. ,, ,, ,,	१५	
८. ,, ,, ,,	४	
९. ,, ,, ,,	१५	
३५ तत्त्व	८४ अङ्गुल में नवपदी न्यास	

१०. शिवात्मक १ तत्त्व। यह सर्वव्यापक छत्तीसवाँ तत्त्व है।

यह क्रम सृष्टिक्रम माना जाता है। इसी प्रकार संहार क्रम का न्यास होना चाहिये। संहारक्रम में एकाक्षर, दो चतुरक्षर, तीन पंचाक्षर, द्व्यक्षर एक और त्र्यक्षर क्रम से नवपदी न्यास सम्पन्न होता है। इस सम्बन्ध में कहा गया है कि,

'चतुरङ्गुलमाद्यं तु द्वे चान्येऽष्टाङ्गुले पृथक् ॥
दशाङ्गुलानि त्रीण्यस्मादेकं पञ्चदशाङ्गुलम् ।
चतुर्भिरधिकैश्चान्यद्व्यापकं नवमं महत् ॥'

(मा० वि० ६।२०) इति ।

अत्र च चतुर्भिरङ्गुलैरन्यदष्टमं द्व्यक्षरं पदं, अधिकैरवशिष्टैः पञ्चदशभिरङ्गुलैश्च नवमं त्र्यक्षरं, महत्षोडशाक्षरं दशमं च व्यापकमिति व्याख्यानायोक्तं वेदशरेन्दुष्विति शिवसंज्ञितं दशमं पदं व्याप्त्रिति च । यत्पुनरनेन पञ्चिकायां व्याख्यातं त्र्यधिकैश्चतुर्भिः सप्ताङ्गुलव्याप्त्या अष्टमं पदं

"आदि न्यास चार अङ्गुल, आठ-आठ अङ्गुलों के दो भाग, तीन दशाङ्गुल न्यास, इसके बाद एक पन्द्रह अङ्गुल, पुनः चार अङ्गुल और पुनः नवाँ व्यापक महत्त्वपूर्ण पद है।" (मा०वि० ६।२०)

८४ अङ्गुलों के शरीर में न्यास के लिये नव विभाग कर दिये गये हैं। इन्हीं में तत्त्व न्यास, पद न्यास और वर्णन्यास का विधान दीक्षा के लिये किया जाता है। परम्परा में यद्यपि यह अप्रचलित है किन्तु एक हजार वर्ष पहले दीक्षा में इन न्यासों का महत्त्व शास्त्र के इस प्रकरण में प्रतिपादित है।

श्लोक (१६।१३५-१२७) एवं मा० वि० (६।२०) के प्रस्तुत सन्दर्भ में सृष्टिक्रम और संहारक्रम दोनों क्रमों के न्यास का अनुविधान है। मातृकान्यास की विधि बतायी जा चुकी है। यहाँ मालिनीक्रम का संकेत आचार्य जयरथ ने किया है। उनके अनुसार ४, ८, ८, १०, १०, १०, १५, ४ और पुनः १५ अङ्गुलों में क्रमशः २, १६, १६, २, २, २, २, ४, ३ और १ अक्षर के न्यास का क्रम है। इस तरह ८४ अङ्गुलों में ५० मालिनी-वर्णों का न्यास क्रमानुसार व्यवस्थित हो जाता है। इसके अतिरिक्त दसवाँ स्थान व्यापक स्थान है। उसमें समस्त वर्ण शाश्वत रूप से स्पन्दित रहते हैं।

आचार्य जयरथ ने इस सम्बन्ध में पञ्चिका-व्याख्या की चर्चा की है। उसके अनुसार मालिनी-वर्णों की न्यास-प्रक्रिया का दूसरा क्रम माना गया है।

पारिशिष्ट्यात् द्वादशाङ्गुलव्याप्त्या च नवममिति, तत् तत्त्वक्रमसाम्यापादन-हेवाकिनां केषांचन मतमिति। नहि सर्वंसर्विकया एतदापादयितुं पार्यते इति क्रिमशक्यार्थाभिनिवेशेन। तथाहि भौवने न्यासे द्व्यङ्गुलत्वेऽपि च्छगलाण्डभुवनस्य त्र्यङ्गुलत्वमुक्तं कथं सङ्गच्छताम्। भुवनानि हि तत्त्वैर्व्याप्यन्ते, नतु तानि तैः। नाप्येषां नियततत्त्वगतत्वेनावस्थितेः तत्त्वान्तरेषु अवस्थानं वक्तुं न्याय्यमित्यलं बहुना। पञ्चेति षट्चत्वारिंशदङ्गुलगतानि। निक्षिप्येत्यर्थात् तेष्वेव पञ्चसु पदेषु ॥

इसमें ६५ अङ्गुलों तक ज्यों का त्यों क्रम मान्य है किन्तु आठवाँ तीन अधिक चार अर्थात् ७ अङ्गुल व्याप्ति का और पारिशिष्ट्यात् १२ अङ्गुल का नवाँ पद होना चाहिये। यह तत्त्व-क्रम साम्य प्रतिपादन के पक्षधर किन्हीं हेवाकियों के मतानुसार है। यह मत विवेक व्याख्याकार को मान्य नहीं है। उनका कहना है कि, सभी कुछ सर्वात्मना प्रतिपाद्य नहीं हो सकता। अतः अशक्य अर्थ के प्रति अभिनिवेश नहीं होना चाहिये।

इसी तरह भुवनन्यास के सन्दर्भ में भी विभिन्न मतवाद प्रचलित हैं। जैसे छगलाण्ड भुवन मात्र दो अङ्गुल में जहाँ न्यस्त करना चाहिये, वहाँ उसके लिये कुछ लोग तीन अङ्गुल का क्षेत्र स्वीकार करने के पक्षधर हैं। यह सर्वथा अमान्य है। स्वैरमान्यताओं से परम्परा में विकार आने की सम्भावना होती है।

भुवन तत्त्वों से व्याप्त होते हैं। तत्त्व भुवनों से व्याप्त नहीं होते। यह भी निश्चित है कि, भुवन नियत तत्त्व से ही निर्मित या नियत तत्त्व में ही अवस्थित हैं। इसलिये अन्य किन्हीं तत्त्वों में इनकी अवस्थिति की बात कैसे कही जा सकती है ?

श्लोक १३७ में आये हुए 'पञ्च' शब्द के सम्बन्ध में किन्हीं विकल्पों का निषेध करते हुए स्पष्ट कर रहे हैं कि, जहाँ तक ४६ अङ्गुल का शरीर क्षेत्र आता है, वहीं तक अन्य अर्थात् अपर और परापर विधियों का सम्पादन आचार्य करते हैं ॥ १३५-१३७ ॥

एतदेवान्यत्राप्यतिदिशति

मन्त्राध्वनोऽप्येष एव विधिर्विन्यासयोजने ॥ १३८ ॥
व्याप्तिमात्रं हि भिद्येतेत्युक्तं प्रागेव तत्तथा ।

प्रागिति एकादशाह्निकादौ ।

इदानीं वर्णाध्वानमभिधातुमाह—

वर्णाध्वनोऽथ विन्यासः कथ्यतेऽत्र विधित्रये ॥ १३९ ॥
एकं चतुर्षु प्रत्येकं द्वयोरङ्गुलयोः क्रमात् ।
त्रयोविंशतिवर्णी स्यात् षड्वर्ण्येकैकशस्त्रिषु ॥ १४० ॥

इन्हीं तथ्यों का क्रम अन्यत्र अर्थात् मन्त्राध्वा आदि के न्यास में अपनाया जाता है। यही कह रहे हैं—

जहाँ तक कालाध्वा के अन्तर्गत मन्त्राध्वा का प्रश्न है, उसमें यही विधि अपनायी जाती है। इसमें व्याप्ति का क्षेत्र कुछ भिन्न होता है। यह तथ्य पहले ही अर्थात् ग्यारहवें आदि आह्निकों में यथा सन्दर्भ कह दिया गया है ॥१३८॥

यहाँ वर्णाध्वा के न्यास का क्रम प्रदर्शित करने के लिये कारिका का अवतरण कर रहे हैं—

शरीराङ्गुलों के क्रम ४, ८, ८, १०, १०, १०, १५, ४, १५ के अनुसार पहले वर्णित हैं। इनमें चार अङ्गुलों में १, इसके बाद चार में प्रत्येक में २, २, २, २ वर्ण, छठें १० अङ्गुल के क्षेत्र में २३ वर्ण और शेष १५, ४ तथा १५ अङ्गुलों के क्षेत्र में ६,६ एवं ६ वर्णों के न्यास करने से ५० वर्णों का न्यास ८४ अङ्गुलों में हो जाता है।

इस तरह— { ४, ८, ८, १०, १०, १०, १५, ४, १५=८४ अङ्गुल
　　　　　 १, २, २, २, २, २३, ६, ६,६,=५० वर्ण }

यह चित्र बनता है। यह अनुलोम-क्रम का न्यास है।

प्रत्येकमथ चत्वारश्चतुर्ष्वति विलोमतः ।
मालिनीमातृकार्णाः स्युर्व्याप्तृ शैवं रसेन्दुतः ॥ १४१ ॥

वर्जयित्वाद्यवर्णं तु तत्त्ववत्स्याद्रवीत्रवीन् ।
तां त्रयोविंशतौ वर्णेष्वप्यन्यत्स्याद्विधिद्वयम् ॥ १४२ ॥

एकमिति क्ष ह च यद्वक्ष्यति विलोमत इति। एकैकश इति त्रिष्विति येन त्रिषु षोढा गणनादष्टादशाङ्गुलानि भवन्ति। एवं चतुर्ष्वपि चतुर्धा गणनात् षोडशाङ्गुलानि स्युरित्युक्तं प्रत्येकं चतुर्षु चत्वार इति। रसेन्दुत इति षोडशार्णरूपमित्यर्थः। अन्यद्विधिद्वयं स्यादिति समन्वयः। तत्त्ववदिति। यदुक्तं समनन्तरमेव

'जलाद्यघन्तं सार्धयुग्मं.................।' (१०६)

इत्यादि ॥ १४२ ॥

विलोम न्यास में मातृका और मालिनी वर्णों के आदि ४ पदों में ४-४ वर्ण रखने से वे रसेन्दु अर्थात् ४×४=१६ होते हैं। ये शैव-वर्ण माने जाते हैं। जैसे ललाट से ऊपर के क्षेत्र शिवत्व से व्याप्त होता है, वैसे ही ये १६ वर्ण भी शिवत्व व्याप्ति मय माने जाते हैं। आदि वर्ण को छोड़ कर तत्त्वों की गणना के अनुसार ४×३, ४×३ के क्रम से बारह-बारह वर्णों की गणना के अनुसार वर्ण न्यास किया जाता है।

प्रकृति पर्यन्त २३ अङ्गुलों की गणना की चर्चा तत्त्वाध्वा के सन्दर्भ में की जा चुकी है। वर्णाध्वा में भी इस क्षेत्र में वही विधि अपनायी जाती है। २३ वर्णों के बाद एक एक में तीन बार ६, ६ वर्णों के रखने से ६×३=१८ वर्ण होते हैं। ऊपर के चित्र में यह स्पष्ट कर दिया गया है। इस तरह ९६ और १०८ अङ्गुलों तक के वर्णन्यास की पर और परापर न्यास सम्बन्धी व्यवस्था पूरी हो जाती है। विलोम न्यास में एक तथ्य की ओर व्याख्याकार ने यह ध्यान दिलाया है और स्पष्ट कर दिया है कि, मातृका न्यास के विलोम में चक्रेश्वर 'क्ष' और 'ह' के क्रम से गणना की जायेगी ॥ १३९-१४२ ॥

अत एव श्रीपूर्वशास्त्रे तत्त्वेषु एवैतदादावुपदिष्टम्, अनन्तरं तु तदेव पदादावतिदिष्टमित्याह—

श्रीपूर्वशास्त्रे तेनादौ तत्त्वेषूक्तं विधित्रयम् ।
अतिदिष्टं तु तद्भिन्नाभिन्नवर्णद्वये समम् ॥ १४३ ॥

तत्रत्यमेवातिदेशवाक्यं पठति

द्विविधोऽपि हि वर्णानां षड्विधो भेद उच्यते ।
तत्त्वमार्गविधानेन ज्ञातव्यः परमार्थतः ॥ १४४ ॥
उपदेशातिदेशाभ्यां यदुक्तं तत्पदादिषु ।
भूयोऽतिदिष्टं तत्रैव शास्त्रेऽस्मद्धृदयेश्वरे ॥ १४५ ॥

इस न्यास-प्रक्रिया में किसी प्रकार के ऊहापोह को निराकृत करने के लिये ही श्रीमालिनीविजयोत्तर तन्त्र में तत्त्वों के न्यास के सन्दर्भ में इसे स्पष्ट कर दिया गया है। इसके अनन्तर पद आदि न्यास में भी वही क्रम निर्दिष्ट है। यह तथ्य कारिका के माध्यम से कह रहे हैं—

श्रीपूर्वशास्त्र में इसीलिये तत्त्वों के न्यास के प्रकरण में ही अपर, परापर और पर विधियों के न्यास का निर्देश कर दिया गया है। इसी को भिन्न-योनि मालिनी और अभिन्न-योनि मातृका न्यास-विधि के सम्पादन के लिये अतिदिष्ट किया है।

श्रीपूर्वशास्त्र के अधिकार ६ के २७ २८ श्लोकों में आये अतिदेश वाक्य यहाँ कारिका में उद्धृत कर रहे हैं—

वस्तुतः वर्ण तो मातृका मालिनी में भिन्नाभिन्न क्रम से दो प्रकार के ही माने जाते हैं। दो प्रकार के होने पर भी इनके छह भेद होते हैं। ये छह भेद पर, परापर और अपर विधि के अनुसार माने जाते हैं। इसे ही 'तत्त्वमार्गविधान' कहते हैं। यह इनका पारमार्थिक स्वरूप माना

मातृकामालिनीगतत्वेन द्विविधोऽपि वर्णानां यो भेदः प्रत्येकं वर्णपद-मन्त्रव्याप्त्या षड्विध उच्यते, स पूर्वोक्तक्रमेण तत्त्वमार्गविधिना वस्तुतो ज्ञातव्य इति वाक्यार्थः। अस्मद्धृदयेश्वर इत्यनेन अत्रैव विश्रान्तिस्थानत्वं कटाक्षितम् ॥ १४५ ॥

तदेवाह

पदमन्त्रकलादीनां पूर्वसूत्रानुसारतः।
त्रितयत्वं प्रकुर्वीत तत्त्ववर्णोक्तवर्त्मना ॥ १४६ ॥

उक्तं तत्पदमन्त्रेषु कलास्वथ निरूप्यते।

जाता है। मातृका मालिनी वर्णों के वर्ण, पद और मन्त्र न्यास की पृथक्-पृथक् उपयोगिता के कारण भी इनके छह भेद माने जाते हैं।

उपदेश और अतिदेश विधि क्रम से इनको पदों और मन्त्रों के न्यास के सन्दर्भ में निरूपित किया गया है। यहाँ का वर्णन अतिदेश है। श्रीपूर्व-शास्त्र का मूल वचन उपदेश है। जब वही वचन पद से मन्त्र के सन्दर्भ में लागू किया जायेगा, तो वह अतिदेश रूप से अभिहित होगा। हृदयेश्वर शास्त्र श्रीपूर्वशास्त्र भी है और श्रीतन्त्रालोक में उसका अतिदेश निर्दिष्ट है। इससे यह अर्थ भी निकाला जा सकता है कि, मैं जो कुछ भी लिख रहा हूँ, उसका मूलाधार श्रीपूर्वशास्त्र ही है ॥१४३-१४५॥

श्रीपूर्वशास्त्र के वाक्य सूत्रवाक्य हैं। उनका अर्थक्रम विभिन्न आयामों को सन्दर्भित करने में समर्थ है। वहीं पद, मन्त्र और कला आदि अध्वा के भेदों का पर, परापर और अपर क्रम से त्रितयत्व निरूपित है। उसी के अनुसार आचार्य का यह कर्त्तव्य है कि, न्यास प्रक्रिया के क्रम में इनका ध्यान रखे। जो वहाँ कहा गया है, वह वैज्ञानिक और विधि-सम्मत है। तत्त्वाध्वा और वर्ण आदि अध्वाओं के क्रम उसमें निर्दिष्ट हैं। उसी क्रम और वर्ण के अनुसार श्रीतन्त्रालोक नामक इस ग्रन्थ में भी पदों, मन्त्रों और

पदादीनां

'पादाधः पञ्च भूतानि............. ।' (मा० वि० ६।२)

इत्यादिसूत्राण्यनुसृत्य तत्त्वाद्युक्तवर्त्मना परपरापरावरत्वेन त्रिभेदभिन्नत्वं विदध्यादित्यर्थः । उक्तमित्यनन्तरमेव ॥१४६॥

तदेवाह—

चतुर्षु रसवेदे द्वाविंशतौ द्वादशस्वथ ॥ १४७ ॥
निवृत्त्याद्याश्चतस्रः स्युर्व्याप्त्री स्याच्छान्त्यतीतिका ।
द्वितीयस्यां कलायां तु द्वादश द्वादशाङ्गुलान् ॥ १४८ ॥

कलाओं में निरूपित किया जा रहा है । श्रीपूर्वशास्त्र का वह सन्दर्भ मालिनी विजय (६।२) के "पैरों के नोचे पाँचों महाभूत निहित है........"– इस उक्ति से प्रारब्ध है ॥१४६॥

उसी क्रम का प्रवर्त्तन कर रहे हैं—

निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या और शान्ता इन चार कलाओं में (चतुर्षु) (मा० वि० ६।२-४) वर्ण (२३) और तत्त्व (२३) अर्थात् (रसवेद) ४६ होते हैं। २२ पर्व (मा० वि० ६।७) होते हैं। इसमें तेजस् तत्त्व को आवृति होती है और १२ पर्वों (मा० वि० ६।८) में वायु को व्याप्ति मानी जाती है। अन्तिम शान्तातीता कला व्याप्त्री कला मानी जाती है । इसमें सोलह स्वर भी शिवात्मक ही माने जाते है। निवृत्ति कला ४ अङ्गुलों के क्षेत्र में, प्रतिष्ठा कला ४६ अङ्गुलों के क्षेत्र में, विद्या कला २२ अङ्गुलों के क्षेत्र में और शान्ता कला १२ अङ्गुलों के क्षेत्र में न्यस्त की जाती हैं। इस प्रकार ४+४६+२२+१२ कुल मिलाकर ८४ अङ्गुलों के क्षेत्र (शरीर) में इसी क्रम से इनका न्यास करने का विधान आचार्य करते हैं। पाँचवीं शान्त्यतीता कला व्याप्त्री कला कही जाती है। इसमें १६ स्वरों का उल्लास ९६ अङ्गुल के शरीर में होता है। सहस्रार के ऊपर १२ अङ्गुल के उल्लास से योगी का शरीर १०८ अङ्गुल के ऊँचाई तक उल्लसित होता है ८४, ९६ और १०८ की गणना का शारीरिक दृष्टि से

क्रमात्क्षिप्त्वा विधिद्वैतं परापरपरात्मकम् ।
चतुरण्डविधिस्त्वादिशब्देनेह प्रगृह्यते ॥ १४९ ॥
कलाचतुष्कवत्तेन तस्मिन्वाच्यं विधित्रयम् ।

द्वितीयस्यामिति षट्चत्वारिंशदङ्गुलगतायाम् । आदिशब्देनेति श्रीपूर्ववाक्यगतेन ॥

एवं शोध्यवैचित्र्यमुपसंहरन् शोधकवैचित्र्यमभिधातुमाह

एवं षड्विधमध्वानं शोध्यशिष्यतनौ पुरा ॥ १५० ॥
न्यस्यैकतममुख्यत्वान्न्यस्येच्छोधकसंमतम् ।

शोधकसंमतमिति शोधकतयाभिमतं मन्त्रविशेषमित्यर्थः ॥

बड़ा महत्त्व है। यह प्रकल्पन चक्रों की साधना-पद्धति के अनुसार किया गया है। श्रीपूर्वशास्त्र के अनुसार यहाँ दूसरी विधि भी दी जा रही है।

पर ओर परापर न्यास-विधि में एक नया प्रकल्पन करना पड़ता है। है। निवृत्ति के बाद जहाँ से प्रतिष्ठा कला का ४६ अङ्गुल का क्षेत्र प्रारम्भ होता है, उसी में परापर दृष्टि से १२ अङ्गुल का विस्तार और पर दृष्टि से पुनः १२ अङ्गुल का विस्तार आचार्य करते हैं। न्यास के इस आयोजन में चतुरण्ड विधि की भी पूर्ति हो जाती है। पृथ्व्यण्ड (पार्थिव), प्रकृत्यण्ड (प्राकृत), मायाण्ड (मायीय) और शक्त्यण्ड (शाक्त) यही चार चतुरण्ड माने जाते हैं। जैसे चार कला में तीनों पर, परापर और अपर विधियों का प्रयोग होता है, उसी तरह अण्ड-न्यासविधि में उसी सरणी का अनुसरण करना पड़ता है। उक्त विचित्र विधि में जो वैचित्र्य है, उसे शोध्य वैचित्र्य की संज्ञा दी जाती है; क्योंकि शिष्य ही या उसका शरीर ही मुख्य रूप से शोध्य माना जा सकता है ॥१४७-१४९॥

यहाँ से शाधक-वैचित्र्य की चर्चा का अभिधान कर रहे हैं—

इस प्रकार शोध्य (शिष्य या दीक्ष्य) के शरीर में छह प्रकार के अध्वावर्ग का न्यास करना शास्त्र सम्मत विधान माना जाता है। इसके बाद शोधक दृष्टि की मुख्यता के कारण शोधक सम्मत विशिष्ट रूप से

तदेवाह

अध्वन्यासनमन्त्रौघः शोधको ह्येक आदितः ॥ १५१ ॥

शब्दराशिर्मालिनी च समस्तव्यस्ततो द्विधा ।

एकवीरतया यद्वा षट्कं यामलयोगतः ॥ १५२ ॥

पञ्चवक्त्रो शक्तितद्वद्भेदात्षोढा पुनर्द्विधा ।

एकाकियामलत्वेनेत्येवं सा द्वादशात्मिका ॥ १५३ ॥

उल्लसित विशेष मन्त्रों का न्यास भी दीक्षा-विधि के अनुसार ही आचार्य करते हैं ॥१५०॥

अध्वन्यास के क्रम में यह ध्यान देना चाहिये कि, आसन सम्बन्धी मन्त्रौघ क्या हैं। इसी सन्दर्भ में शोध्य-शोधक भाव का महत्त्व भी विचारणीय है। शोध्य शिष्य होता है, अथवा जिसका संस्कार-परिष्कार किया जाय, वह भी शोध्य होता है। इसी तरह परिष्कृत मन्त्र, गुरु अथवा उपदेष्टा शोधक होता है। जिससे परिष्कार हो वह भी शोधक होता है।

अनुत्तर भाव से अलग यह सारा विश्वात्मक प्रपंच भी शोध्य है। साधक अपने शरीरस्थ समग्र वस्तु तत्त्व सद्भाव को क्रमशः अनुत्तर में विलय करता है ओर इस स्थिति में वह भी शोधक हो जाता है। शोधक रूप प्रमातृ भाव में अवस्थित शिव ही मूलतः शोधक माने जाते हैं। मन्त्र भी शोधन भाव से संवलित होते हैं।

त्रिकदर्शन के अनुसार शोधक, शोधन और शोध्य भाव को इस चित्र द्वारा समझा जा सकता है—

शोधक	शोधन	शोध्य
शिव	शक्ति	नर
शिव-शोधक शिव	शोधनरूपो शोधक	शोध्यरूपी शोधक
सर्वात्मक-दर्शन	शक्तिरूपी शिव	नररूपो शिव
शक्ति-शोधकरूपी शोधन	शोधनरूपी शोधन	शोध्यरूपी शोधन
शिवात्मिका शक्ति	शक्ति रूपा शक्ति	नररूपी नर शक्ति

षडङ्गी सकलान्यत्वाद्द्विविधा वक्त्रवत्पुनः ।
द्वादशत्वेन गुणिता चतुर्विंशतिभेदिका ॥ १५४ ॥
अघोराद्यष्टके द्वे च तृतीयं यामलोदयात् ।
मातृसद्भावमन्त्रश्च केवलः श्रुतिचक्रगः ॥ १५५ ॥
एकद्वित्रिचतुर्भेदात्त्रयोदशभिदात्मकः ।
एकवीरतया सोऽयं चतुर्दशतया स्थितः ॥ १५६ ॥

तत्रासनमन्त्रौघस्तावत् अध्वनि तद्योजनान्यथानुपपत्त्या प्रथममेकः शोधकः, शब्दराशिश्च व्यस्तसमस्ततया द्विप्रकारः, एवं मालिन्यपीति चत्वारो

नर–शोधकरूपी शोध्य	शोधनरूपी शोधन	शोध्यरूपी शोध्य
शिवात्म नर	शक्तिरूपी नर	नररूपी नर

उस वैचारिक परिवेश में इस श्लोक का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। आसन मन्त्रौघ अध्वा में योजन किये जाते है। विना इनके योजन के योजक (शोधक) शिवत्व की समग्रता नहीं आ सकती। इस तरह प्रथमतया अर्थात् आदितः एक ही शोधक[1] (शिव) माना जाता है।

शब्द राशि[2] समस्त और व्यस्त भाव से दो प्रकार की होती है। मालिनो भी समस्त व्यस्त भावमयी होने के कारण दो प्रकार की होती है। शब्द राशि और मालिनी के मिलाकर चार भेद होते हैं। इसी क्रम में जब एक तत्त्व अपने स्वात्म स्वरूप में विश्रान्त होता है और यह क्रम पारम्परिक रूप से आगे बढ़ता है, तो इसे वीर भाव कहते है। एक एक की विश्रान्ति से एक-वीरतामयी स्थिति उत्पन्न होती है। जिस समय दो तत्त्व परस्पर औन्मुख्य की स्थिति में होते हैं, वहाँ एक चमत्कार उत्पन्न होता है। वही यामल भाव है। यामल भाव में दो का भेद परिलक्षित होता है। इसमें क्षोभ और अक्षोभ की दो स्थितियाँ उत्पन्न होती रहती हैं। इस प्रकार ६ × २ = १२ भेद अध्व योजन में स्पष्ट प्रतीत होते हैं।

१. त० १६।१५८; २. त० १५।१३०-१३२ ।

भेदाः। एकवोरतयेति एककस्य स्वस्वरूपमात्रविश्रान्तिमयत्वात्। यामलयोगत इति परस्परौन्मुख्ये चमत्कारतारतम्यात्, येन षण्णां क्षुब्धाक्षुब्धतया द्वादश। एषामेव षण्णां वक्त्रैरेकाकितया यामलतया वा गृहीतैर्द्वादश। एतदङ्गानामेव द्वादशधात्वे सकलनिष्कलतया चतुर्विंशतिः। तृतीयमित्यष्टकं, तेनात्र अष्टकत्रयम्। केवल इति निरुपाधित्वात्, अत एव सर्वत्रानाख्यतयोक्तः। श्रुतीति चत्वारि सृष्ट्यादीनि चक्राणि, तेन सृष्ट्यनाख्यादितया चतुष्प्रकारः॥ १५६॥

नचायमेतावन्मात्रभेद एवेत्याह

अनामसंहृतिस्थैर्यत्सृष्टिचक्रं　　　चतुर्विधम्।
देवताभिर्निजाभिस्तन्मातृसद्भावबृंहितम्　　　॥ १५७॥

इसी प्रकार छह वक्त्र मन्त्रों के एकक और यामल क्रम से भी द्वादश भेद होते हैं। इनके सकल और निष्कल भेद से २४ भेद स्पष्टतया प्रकाश में आते हैं। अघोराष्टक[1], भैरवाष्टक[2] और शक्त्यष्टक[3] के भी यामलोदय के कारण द्विविध भेद सम्भव हैं।

मातृसद्भाव मन्त्रन्यास[4] से भी उत्तम सिद्धि की प्राप्ति होती है। यह मन्त्र सोपाधिक होते हैं। निरुपाधिक भाव में इसे 'केवल' कहते हैं। इनको अनाख्य रूप से सर्वत्र अवस्थिति मानी जाती है। जहाँ तक 'श्रुतिचक्र' का प्रश्न है, इन्हें सृष्टि आदि चार चक्रों में जाना जाता है। इनमें भी शोधक मन्त्र का वही महत्त्व है। श्रुति का अर्थ चार ही होता है क्योंकि वेद चार ही हैं। सृष्टि आदि तीन और अनारूप चक्र को लेकर यह चक्र चार ही माना जाता है। कुल मिलाकर १३ भेद होते हैं। 'एकवीर' भाव मिलाकर इनकी संख्या १४ हो जाती है। श्लोक १५१ से १५६ तक शोधकतया संमत मन्त्रों के भेद पर प्रकाश डाला गया है ॥१५१-१५६॥

सृष्टि, स्थिति, संहार और अनाख्य यह चार प्रकार का सृष्टिचक्र या **'श्रुतिचक्र'** माना जाता है। इस चक्र के अधिष्ठात्री देवता स्वयं इनमें

---

१. त० १६।१५८;　　　२. स्व० त० १।७६-८६।
३. मा० वि० ३।१३-१४.　　　४. मा० वि० ८।३८-४१।

इत्थं शोधकवर्गोऽयं मन्त्राणां सप्ततिः स्मृता ।
षडर्धशास्त्रेषु श्रीमत्सारशास्त्रे च कथ्यते ॥ १५८ ॥

अघोराद्यष्टकेनेह शोधनीयं विपश्चिता ।
अथवैकाक्षरामन्त्रैरथवा मातृकाक्रमात् ॥ १५९ ॥
भैरवीयहृदा वापि खेचरीहृदयेन वा ।
भैरवेण महादेवि त्वथ वक्त्राङ्गपञ्चकैः ॥ १६० ॥

येन येन हि मन्त्रेण तन्त्रेऽस्मिन्नुद्भवः कृतः ।
तेनैव दीक्षयेन्मन्त्री इत्याज्ञा पारमेश्वरी ॥ १६१ ॥

एवं शोधकभेदेन सप्ततिः कीर्तिता भिदः ।
शोध्यन्यासं विना मन्त्रैरेतैर्दीक्षा यदा भवेत् ॥ १६२ ॥
तदा सप्ततिधा ज्ञेया जननादिविवर्जिता ।

निवास करते हैं। मातृसद्भाव की चर्चा पहले की जा चुकी है। इन सबसे युक्त शोधक मन्त्र ७० होते हैं। त्रिक दर्शन में और श्रीसार शास्त्र में इनका विशद वर्णन है।

विपश्चित आचार्य अघोर आदि आठ रुद्रों के अधिष्ठान का प्रकल्पन कर शोध्य का शोधन होना चाहिये। यह शोधन का प्रथम प्रकार है। दूसरी पद्धति यह है कि, एकाक्षर मन्त्रों से ही इनका शोधन करना चाहिये। तीसरा विकल्प यह है कि, मातृका के वर्णक्रम से भी शोधन किया जाय। चौथा प्रकार भैरवीय हृदय के परिवेश में शोधन करने का है। पाँचवें विकल्प के रूप में खेचरी हृदय का प्रयोग भी किया जा सकता है। शोधन क्रम में वक्त्राङ्गों का भी वही महत्त्व है। अधिक क्या कहा जाय, इतना कथन पर्याप्त है कि, जिस जिस मन्त्र से इस तन्त्रप्रक्रिया में 'उद्भव' किया गया हो, उसी मन्त्र से शिष्य को दीक्षित करना चाहिये। यह परमेश्वर की आज्ञा है ॥१५७-१६१॥

मन्त्रैरिति बहुवचनात् परादिसंबन्धिभिस्त्रिभिरित्यर्थः। भैरवीयहृदेति मातृसद्भावमन्त्रेण। खेचरीहृदयेनेति पिण्डनाथेन। भैरवेणेति नवात्माद्यन्यतमेन। येन येनोद्भवः कृत इति य एवाभीप्सित इत्यर्थः।

एवं शोध्यशोधकवैचित्र्यमभिधाय तन्महिमोपनतां दीक्षाभिदमभिधातुमाह

शोध्यभेदोऽथ वक्तव्यः संक्षेपात्सोऽपि कथ्यते ॥ १६३ ॥

इस प्रकार ७० प्रकार के भेद शोधक-सम्मत माने जाते हैं। शोध्यन्यास के विना ही अभीप्सित मन्त्रों से जब दीक्षा दे दी जाती है, तो वह दीक्षा भी महत्त्वपूर्ण होती है। यहाँ तक कहा जा सकता है कि, यह दीक्षा जन्म के बन्धन से मुक्त कर देती है। यहाँ कुछ शब्दों की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। जैसे—

१. मन्त्रैः—मन्त्र शब्द में बहुवचन का प्रयोग किया गया है। इस प्रयोग से यह सिद्ध होता है कि पर, परापर और अपर भेद भी यहाँ विवक्षित हैं।

२. भैरवीयहृदय[1]—मातृसद्भाव भैरवीय हृदय माना जाता है। अर्थात् शक्ति ही शक्तिमान् की हृदय होती है।

३. खेचरीहृदय—पिण्डनाथ। पञ्चपिण्डनाथ का अत्यन्त रहस्यात्मक बीज मन्त्र होता है। परात्रीशिका में इसका विशद विवेचन है। पाँच पिण्ड क्रमशः पार्थिव, प्राकृत, मायीय, शाक्त और शैव माने जाते है। 'पिण्ड[2]', यह पारिभाषिक शब्द है।

४. भैरव—भैरवाष्टक-स्वरूप मिलकर नौ भैरव माने जाते हैं। इनके किसी मन्त्र से शोध्य का शोधन हो सकता है।

५. उद्भवः—भाव की वह भूमिका जिसमें शिष्य आस्थापूर्वक दीक्षा के लिये तैयार होता है। इसमें उसकी इच्छा ही प्रधान होती है। इसीलिये आचार्य जयरथ ने यहाँ 'अभीप्सित' शब्द का प्रयोग किया है ॥१६२॥

शोध्य-शोधक भाव के इस चामत्कारिक स्वरूप का उल्लेख करने के उपरान्त उससे महिमान्वित दीक्षा का अभिधान कर रहे हैं—

---

१. मा० वि० २०।३६; २. मा० वि० २०।१-२,१२-१३,१८,२९।

शोध्यभेदमेवाह

एकत्रिपञ्चषट्त्रिंशत्भेदात्तात्त्वश्चतुर्विधः ।
पञ्चैकभेदाच्चाध्वानस्तथैवाण्डचतुष्टयम् ॥ १६४ ॥

एवं दशविधं शोध्यं त्रिशद्धा तद्विधित्रयात् ।
शोध्यशोधकभेदेन शतानि त्वेकविंशतिः ॥ १६५ ॥

अत्रापि न्यासयोगेन शोध्येऽध्वनि तथाकृतेः ।
शतैकविंशतिभिदा जननाद्युज्झिता भवेत् ॥ १६६ ॥

जननादिमयी तावत्येवं शतद्दशि श्रुतिः ।
स्यात्सप्तत्यधिका सापि द्रव्यविज्ञानभेदतः ॥ १६७ ॥

एक, तीन, पाँच और ३६ भेदों के कारण तत्त्व-दीक्षा चार प्रकार की होती है। अध्वा यों छह होते हैं। इनमें से तत्त्वाध्वा को छोड़ कर शेष पाँच अध्वा भी शोध्य श्रेणी में आते हैं। इसी प्रकार शैवाण्ड को छोड़ कर (पाँच में से १ निकालने पर) चार अण्ड भी शोध्य होते हैं। इस प्रकार (तात्त्व शोध्य १+५ अध्वा+४ अण्ड) कुल मिलाकर दस प्रकार के शोध्य होते हैं। पर, परापर और अपर विधियों के अनुसार इनके ३० भेद स्वीकृत किये जाते हैं। शोध्य-शोधक भेदों की कुल संख्या २१०० होती है। इसमें भी अर्थात् शोध्य अध्वा में भी न्यास के प्रकारों को जोड़ने से पुनः २१०० भेद हो जाते हैं। इस प्रकार २१००+२१००=४२०० भेद होते हैं। यह दीक्षा भी जन्म-मरण बन्धनों से मुक्त करने वाली होती है ॥१६३-१६६॥

जननादिमयी दीक्षा भी ७० अधिक जोड़ने भी ४२७० भेद भिन्ना मानी जाती है। द्रव्य-विज्ञान का इसमें महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। द्रव्य शब्द से क्रिया-प्रक्रिया भी लक्षित होती है। इस प्रकार द्रव्य-विज्ञान की

द्विधेति पञ्चाशीतिः स्याच्छतान्यधिकखाब्धिका ।
भोगमोक्षानुसन्धानाद्द्विविधा सा प्रकीर्तिता ॥ १६८ ॥

अशुभस्यैव संशुद्धया शुभस्याप्यथ शोधनात् ।
द्विधा भागः शुभे शुद्धिः कालत्रयविभेदिनि ॥ १६९ ॥

एकद्विसामस्त्यवशात्सप्तधेत्यष्टधा भुजिः ।
गुरुशिष्यक्रमात्सोऽपि द्विधेत्येवं विभिद्यते ॥ १७० ॥

प्रत्यक्षदीक्षणे यस्माद्द्वयोरेकानुसन्धितः ।
तादृग्दीक्षाफलं पूर्णं विसंवादे तु विप्लवः ॥ १७१ ॥

परोक्षमृतदीक्षादौ गुरुरेवानुसन्धिमान् ।
क्रियाज्ञानमहिम्ना तं शिष्यं धाम्नोप्सिते नयेत् ॥ १७२ ॥

क्रियात्मक विधि के अनुसार दो भेद हो जाने के कारण ४२७०+४२७०= ८५४० भेद हो जाते हैं। इसमें यदि भोग और मोक्ष के दो विभाग किये जाँय तो इनकी बढ़ी संख्याओं का आकलन किया जा सकता है। अशुभ (लोक-धर्मी) की संशुद्धि और शुभ (शिवधर्मी) के शोधन से भोग और मोक्ष भी दो प्रकार के होते हैं। शुभ की शुद्धि भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान तीन भेदों से भिन्न होती है। इन भेदों के भी अनन्त भेद हो सकते हैं। जैसे शुभ की शुद्धि में अतीत, वर्त्तमान और भविष्यत् के तीन-तीन भेद+सामस्त्य—सब मिल कर सात भेद स्पष्ट प्रतीत होते हैं। (शुभ अतीत, शुभ वर्त्तमान और शुभ भविष्य—ये ३ भेद+३ शुद्ध=६ भेद+१ समस्त=७) अशुभ को शुद्धि को मिलाकर भोग का यह क्रम आठ प्रकार का भी हो जाता है। गुरु शिष्य क्रम से इनके पुनः द्विधा भेद स्पष्ट प्रतीत होते हैं ॥१६७-१७०॥

प्रत्यक्ष दीक्षा में शोध्य-शोधक की एकानुसन्धि स्वाभाविक है। इसमें दीक्षा चामत्कारिक फल प्रदान करती है। यदि इसमें कहीं विसंवाद (विरुद्ध विचार) की स्थिति आयी, तो चमत्कार की कौन कहे, विप्लव का

अविभिन्ने क्रियाज्ञाने कर्मशुद्धौ तथैव ते ।
अनुसन्धिः पुनर्भिन्नः कर्म यस्मात्तदात्मकम् ॥ १७३ ॥
श्रीमत्स्वच्छन्दशास्त्रे च वासनाभेदतः फलम् ।
शिष्याणां च गुरोश्चोक्तमभिन्नेऽपि क्रियादिके ॥ १७४ ॥
भोगस्य शोधकाच्छोध्यादनुसन्धेश्च तादृशात् ।
वैचित्र्यमस्ति भेदस्य वैचित्र्यप्राणता यतः ॥ १७५ ॥

पञ्चेति तत्त्वाध्वावशिष्टाः, शोध्यशोधकभेदेनेति त्रिशतः शोध्यानां सप्तत्या शोधकैर्भेदेनेह । सप्ततीति प्रागुक्ता शोधकसंबन्धिनो । एवं सप्तत्यधिकानि द्वाचत्वारिंशच्छतानि, द्रव्येति अनेन क्रिया लक्ष्यते । खं शून्यम्, अब्धयश्चत्वारः, तेन चत्वारिंशदधिकानि पञ्चाशोतिः शतानि । अशुभस्यैवेति लोकधर्मिणः । शुभस्यापीति शिवधर्मिणः । सप्तधेति शुभस्य हि शुद्धावतोतवर्तमानभाविभेदादेकैकभेदास्त्रयः, अतीतवर्तमानातोतवर्तमानभावित्वेन

अभिशाप भो मिल सकता है । परोक्ष मृत शिष्य को दीक्षा आदि में गुरु की ही अनुसन्धि होतो है । वही अनुसन्धिमान माना जाता है । वह अपनी क्रियाशक्ति के प्रभाव से और ज्ञानशक्ति के चमत्कार से शिष्य को उस धाम तक पहुँचा देने में समर्थ होता है, जहाँ शिष्य जाना चाहता है । वस्तुतः क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति में कोई अन्तर नहीं होता । विना ज्ञान के क्रिया का प्रवर्त्तन नहीं हो सकता । इसी तरह बिना क्रिया के ज्ञान का उपयोग ही क्या है । क्रिया से ज्ञान की धारा बढ़ चलती है । कर्मशुद्धि में भी क्रिया-ज्ञान अभिन्नभाव से प्रवृत्त होते हैं । इस स्थिति में अनुसन्धि के स्वरूप और उसकी परिस्थितिजन्य भिन्नता का ध्यान रखना चाहिये । क्योंकि कर्म उसके अनुरूप ही उत्पन्न होंगे । अनुसन्धि से भो वे अनुप्राणित ही होंगे ॥१७१-१७३॥

श्रीस्वच्छन्दशास्त्र में वासना के भेद से फलों के उत्पन्न होने की बात कही गयी है[1] । शिष्यों और गुरुजनों के समस्त क्रियायोग समानप्राय होते हैं, फिर भी वासना की विशिष्टता के कारण फल की विविधता भी अनिवार्य

---

१. स्व १०।७३२-७३५ ।

द्विकभेदा अपि त्रयः, सामस्त्येन चैक इति । अष्टधेति अशुभस्य शुद्ध्या सह । सोऽपीति गुरुः । एवं विभिद्यत इति वक्ष्यमाणेन क्रमेण । विसंवाद इति द्वयोरपि भिन्नानुसन्धानात्मनि । गुरुरेवेति शिष्यस्य दिगन्तरस्थत्वात् मृतत्वाच्च । तथैवेति अभिन्ने । तदात्मकमित्यनुसन्ध्यनुप्राणितम् ॥ १७५ ॥

तत्र शोधकवैचित्र्यमेव दर्शयति

तथाहि वक्त्रैर्यस्याध्वा शुद्धस्तैरेव योजितः ।
भोक्तुमिष्टे क्वचित्तत्त्वे स भोक्ता तद्बलान्वितः ॥ १७६ ॥

शुभानां कर्मणां चात्र सद्भावे भोगचित्रता ।
तादृगेव भवेत्कर्मशुद्धौ त्वन्यैव चित्रता ॥ १७७ ॥

मानी जाती है । भोग की बुद्धि शोध्य में होती है, तो शोधक गुरु में भो होती है । अनुसन्धि में भी भोगदृष्टि का अपना विशिष्ट महत्त्व होता है । उपर्युक्त परिस्थितियों के अनुसार भोग-वैचित्र्यप्रद भोगों की विविधता भी स्वाभाविक है । वास्तव में सबके मूल में वैचित्र्यप्राणात्मकता का दृष्टिकोण ही काम करता है ॥१७४-१७५॥

इसके उपरान्त यहाँ शोधक के वैचित्र्य के सम्बन्ध में अपना मन्तव्य कह रहे हैं—

जिस शोध्य के अध्वा वक्त्रों के द्वारा शुद्ध किये गये हों, उन्हीं वक्त्रों से योजित शोधक मन्त्र होने चाहिये । जो कोई तत्त्व भोग करने में अभीप्सित होता है, वही तत्त्व-भोक्ता को बल प्रदान करता है । भोक्ता उस अभीप्सित तत्त्व की शक्ति से समन्वित हो जाता है ।

जितने शुभ कर्म मनुष्य करता है, उनके ही सद्भाव में भोगवैचित्र्य भी दृष्टिगोचर होता है । उसी प्रकार शुभ कर्म में भी यदि शुद्धता की प्रक्रिया अपनायी जाती है, तो वहाँ एक दूसरे प्रकार का ही वैचित्र्य सबको चमत्कृत करता जान पड़ता है । ये शुभ कर्म के भोग और शुद्ध कर्म के भोग मिलाकर दो प्रकार के हो जाते हैं । भोग का तीसरा प्रकार तत्काल

भोगश्च सद्यउत्क्रान्त्या देहेनैवाथ संगतः ।
तदैवाभ्यासतो वापि देहान्ते वेत्यसौ चतुः ॥ १७८ ॥

प्राक्तनाष्टभिदा योगाद्द्वात्रिंशद्भेद उच्यते ।
मोक्ष एकोऽपि बीजस्य समयाख्यस्य तादृशम् ॥ १७९ ॥

बालादिकं ज्ञातशीघ्रमरणं शक्तिवर्जितम् ।
वृद्धं वोद्दिश्य शक्तं वा शोधनाशोधनाद्द्विधा ॥ १८० ॥

सद्यउत्क्रान्तितस्त्रैधं सा चासन्नमृतौ गुरोः ।
कार्येत्याज्ञा महेशस्य श्रीमद्गह्वरभाषिता ॥ १८१ ॥

उत्क्रान्ति (अकस्मात् हृदय गति के अवरुद्ध होने, अकाल मृत्यु होने अथवा वज्राघात आदि में प्राण छूट जाने की दशा) में देह के साथ ही संगत होने में दीख पड़ता है। इसका चौथा भेद उस समय स्पष्ट प्रतीत होता है, जब अभ्यास के द्वारा देहान्त हो जाने पर वह मृत्यु को प्राप्त होता है। इस प्रकार के चार भेद होते हैं ॥१७६-१७८॥

श्लोक १७० में आठ भेदों वाले भोग का वर्णन आ चुका है। इनके और उक्त चारों के योग से ३२ भेद होते हैं। मोक्ष में जिस कल्पनातीत आनन्द के उपभोग की उपलब्धि होती है; वह यद्यपि एक ही है फिर भी समयाचार के बीज के शोधन और अशोधन भेद से वह दो प्रकार का हो जाता है। बीज के शोधन और अशोधन के भेद बाल-वृद्ध, ज्ञात-सद्यःमृत पुरुष और शक्तिहीनों अथवा विज्ञों को उद्देश्य कर ही स्वीकार किये जाते हैं।

सद्यः उत्क्रान्ति को मिलाकर यह दीक्षा तीन प्रकार की मानी जाती है। यह दीक्षा आसन्न मृत्यु के समय गुरु द्वारा दी जाती है। श्रीमद्गह्वर शास्त्र में यह उल्लेख है कि, स्वयं महेश्वर ने इस दीक्षा का आदेश दिया है ॥१७९-१८१॥

दृष्ट्वा शिष्यं जराग्रस्तं व्याधिना परिपीडितम् ।
उत्क्रमय्य ततस्त्वेनं परतत्त्वे नियोजयेत् ॥ १८२ ॥

पञ्चत्रिंशदमी भेदा गुरोर्वा गुरुशिष्ययोः ।
उक्तद्वैविध्यकलनात्सप्ततिः परिकीर्तिताः ॥ १८३ ॥

एतैर्भेदैः पुरोक्तांस्तान्भेदान्दीक्षागतान्गुरुः ।
हत्वा वदेत्प्रसंख्यानं स्वभ्यस्तज्ञानसिद्धये ॥ १८४ ॥

शोध्यवैचित्र्यं च शुभानामित्यादिना प्रकाशितम् । तदैवेति दीक्षा-सामनन्तर्येण । अभ्यासत इति मन्त्राराधनक्रमेण । द्वात्रिंशद्भेद इति चतुर्णामष्टभिर्गुणनात् । शक्तमिति विद्धदादिरूपम् । सेति सद्यउत्क्रान्तिः । उक्तेति 'गुरुशिष्यक्रमात्सोऽपि द्विधेत्येवं विभिद्यते' इत्यादिना ॥

एतदेव विभज्य दर्शयति

पञ्चाशीतिशती या चत्वारिंशत्समुत्तरा कथिता ।
तां सप्तत्या भित्त्वा दीक्षाभेदान्स्वयं कलयेत् ॥ १८५ ॥

शिष्य को जरा (बुढ़ापे) से जर्जर देख कर और भीषण व्याधियों से व्यथित पाकर गुरु उसे तत्काल उत्क्रान्ति दीक्षा दे और प्राणों के सूत्र से बँधी जीवन की डोरी को तुरत तोड़ने में मदद करे । साथ ही गुरु उसे परतत्त्व में नियोजित करने की प्रक्रिया अपनाये ।

ये उक्त ३५ भेद गुरु और शिष्य के परिवेश को समाहित करने से ३५ × २ = ७० भेद भिन्न हो जाती है । इन भेदों से पहले कहे दीक्षा के भेदों को गुणित करने से जो संख्या हो सकती है, उसे सही रूप में गुरु शिष्यजनों को समझाये । इससे उसके अभ्यास की सिद्धि का भी प्रचार सरलता से हो सकता है ॥१८२-१८४॥

पञ्चकमिह लक्षाणां च सप्तनवतिः सहस्रपरिसंख्या ।
अष्टौ शतानि दीक्षाभेदोऽयं मालिनीतन्त्रे ॥ १८६ ॥

भित्त्वेति गुणयित्वा ॥ १८६ ॥

एव मुक्तान्मुख्यभेदान् संकलयन् भेदान्तराण्यप्यत्र सन्तीत्याह

सप्ततिधा शोद्धृगणस्त्रिंशद्धा शोध्य एकतत्त्वादिः ।
साण्डः षडध्वरूपस्तथेतिकर्तव्यता चतुर्भेदा ॥ १८७ ॥
द्रव्यज्ञानमयी सा जननादिविवर्जिताथ तद्युक्ता ।
पञ्चत्रिंशद्धा पुनरेषा भोगापवर्गसन्धानात् ॥ १८८ ॥
यस्माद्द्वात्रिंशद्धा भोगः शुभशुद्धयशुद्धिकालभिदा ।
मोक्षस्त्रेधा द्विगुणा सप्ततिरितिकार्यताभेदाः ॥ १८९ ॥

द्विगुणेति गुरुशिष्यगतादनुसन्धानभेदात् ॥

पहले दीक्षा ८५४० भेदों से भिन्न कही गयी है[१]। इसे ७० से गुणा करने पर यह संख्या ८५४० × ७० = पाँच लाख सत्तानबे हजार आठ सौ भेद हो जाते हैं। यह विवरण मालिनीविजयोत्तर तन्त्र के अनुसार दिया गया है ॥१८५-१८६॥

इन भेदों के अतिरिक्त भी भेद हो सकते है। इनका संकलन करने पर भेदान्तरों के भी संख्या का पता लगाकर गणनविद्या की चामत्कारिता देखी जा सकती है—

७० प्रकार की शोधकदशा, ३० प्रकार की शाध्यस्थिति, एक तत्त्वादि स्थिति, अण्डचतुष्टय, षडध्वरूपता और उसके चार रूप, द्रव्यज्ञानमयी प्रक्रिया, जननादिविवर्जिता और उससे युक्त दशा सब ३५ प्रकार के होते हैं। पुनः भोग और मोक्ष के अनुसन्धान से जा अन्य भेद होते हैं तथा शुभ, शुद्ध और अशुद्ध दृष्टिकोण से मोक्ष के तीन प्रकार कुल मिलाकर ३५ × २ = सत्तर भेद पहले ही कहे जा चुके हैं ॥ १८७-१८९ ॥

---

१. त० १६।१६८।

भेदान्तराणां सद्भावं दर्शयति

शोधनशोध्यविभेदादितिकर्तव्यत्वभेदतश्चैषा ।
दीक्षा बहुधा भिन्ना शोध्यविहीना तु सप्ततिधा ॥ १९० ॥
मन्त्राणां सकलेतरसाङ्गनिरङ्गादिभेदसंकलनात् ।
शोध्यस्य च तत्त्वादेः पञ्चदशाद्युक्तभेदपरिगणनात् ॥१९१॥
भेदानां परिगणना न शक्यते कर्तुमित्यसंकीर्णाः ।
भेदाः संकीर्णाः पुनरन्ये भूयस्त्वकारिणो बहुधा ॥ १९२ ॥
शोधकशोध्यादीनां द्वित्रादिविभेदसद्भावात् ।

इतरो निष्कलः । उक्तेति दशमाह्निके । असंकीर्णा भेदा इति अर्थादुक्ताः । द्वित्रादीति देवीद्वयेन त्रयेण वेत्यादेः ॥१९२॥

नन्वेवं भेदकथनेन किं स्यादित्याशङ्क्याह

भोगे साध्ये यद्यद्बहुकर्तव्यं तदाश्रयेन्मतिमान् ॥ १९३ ॥

शोधन और शोध्य के विभेद से और इतिकर्त्तव्य भेद से यह अनेक भेदों से भिन्न दीक्षा का आकलन विज्ञ आचार्य करते हैं । शोध्यविहीन दीक्षा ७० (सत्तर) प्रकार की होती है । मन्त्रों के सकल, निष्कल, साङ्ग, निरङ्ग आदि भेदों के संकलन करने पर, साथ ही शोध्य और तत्त्वों के पाञ्चदश्य आदि भेदों के परिगणन करने पर कितने भेद हो सकते हैं, यह नहीं कहा जा सकता । जितने असंकीर्ण अर्थात् जिनकी संकीर्णता निराकृत कर दी गयी हो तथा जिन्हें स्पष्ट रूप से कह दिया गया हो—ऐसे भेद हैं तथा जितने संकीर्ण हैं अर्थात् अनुक्त हैं—इन सबों को मिलाकर भेदों का संकलन और भी कठिन है । शोधक और शोध्य की देवियों के दो या तीन के सामरस्य के भेद की कलना करने पर कलनातीत भेद हो सकते हैं ॥ १९०-१९२ ॥

प्रश्न करते है कि, दीक्षा की सिद्धि में इस अनन्त भेद संकलना की क्या उपयोगिता है ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

कारणभूयस्त्वं किल फलभूयस्त्वाय किं चित्रम् ।
अपवर्गे नतु भेदस्तेनास्मिन्वासनादृढत्वजुषा ॥ १९४ ॥
अल्पाप्याश्रयणीया क्रियाथ विज्ञानमात्रे वा ।

अस्मद्गुरवः पुनरेतन्न मन्यन्ते इत्याह

अभिनवगुप्तगुरुः पुनराह हि सति वित्तदेशकालादौ ॥१९५॥
अपवर्गेऽपि हि विस्तीर्णकर्मविज्ञानसंग्रहः कार्यः ।

भोग के साध्य की सिद्धि के लिये जितना अधिक से अधिक सम्भव हो उसका उपाय करना चाहिये । बुद्धिमान् गुरु अपनी विमर्श शक्ति से जो उचित समझे उसका आश्रय ले । इसलिये भेद का संकलन भी यहाँ उपयोगी हो जाता है । जितने जितने कारण जानकारी में रहेंगे, उनके अनुसार कार्य सम्पन्न कर अनुकूल और कार्यानुरूप फलों की प्राप्ति की जा सकती है । फलों के आधिक्य से क्रियायोग की सार्थकता स्वयं सिद्ध हो जाती है । इसमें किसी प्रकार के आश्चर्य की कोई बात ही नहीं है । जहाँ तक मोक्ष का प्रश्न है—उसमें तो कोई भेद नहीं माना जाता । इसलिये उसमें दृढ़ संस्कार से सम्पन्न साधक द्वारा छोटी से छोटी क्रिया का भी आश्रय लेना उचित नहीं । कभी किसी अवस्था में किसी क्रिया की उपेक्षा भी ठीक नहीं होती । विद्वान् साधक विज्ञान-मात्र के परिवेश का आश्रय लेकर मोक्षरूपी साध्य की सिद्धि करने में समर्थ हो सकता है । इसलिये हर हालत में भेदों की जानकारी उपयोगी होती है—यह सत्य तथ्य है ॥ १९३-१९४ ॥

किसी पाठक के गुरु इस बात को मानने के लिये तैयार न हो तो भी कोई अन्तर नहीं पड़ता, यही कह रहे हैं—

महामाहेश्वर गुरुवर्य अभिनवगुप्त कहते हैं कि, यदि अपने पास विकसित कोष हो, लक्ष्मी का विलास हो, देश और काल अनुकूल हों, तो अपवर्ग में भी विस्तारपूर्वक कर्म का और विज्ञान का संग्रह करना ही चाहिये । इससे विश्व को अभिनव प्रेरणा प्राप्त होती है ॥ १९५ ॥

एतदेवोपपादयति

चिद्वृत्तेर्वैचित्र्याच्चाञ्चल्येऽपि क्रमेण सन्धानात् ॥१९६॥
तस्मिंस्तस्मिन्वस्तुनि रूढिरवश्यं शिवात्मिका भवति ।
तत्त्वमिदमेतदात्मकमेतस्मात्प्रोद्धृतो मया शिष्यः ॥१९७॥
इत्थं क्रमसवित्तो मूढोऽपि शिवात्मको भवति ।
क्रमिकतथाविधशिवतानुग्रहसुभगं च दैशिकं पश्यन् ॥१९८॥
शिशुरपि तदभेददृशा भक्तिबलाच्चाभ्युपैति शिवभावम् ।
यद्यपि विकल्पवृत्तेरपि मोक्षं दीक्षयैव देहान्ते ॥१९९॥

वह अपनी कही हुई बात का प्रतिपादन कर रहे हैं—

चित्त की वृत्तियाँ बड़ी विचित्र होती हैं । चञ्चलता तो इनका स्वभाव ही है । चञ्चलता में भी क्रमशः उनके सन्धान की आवश्यकता होती है । जिस वस्तु में वृत्ति प्रवृत्त होती है, वहाँ उसकी रूढि वस्तुविषयक न रह जाय, इसलिये यह अनिवार्यतः आवश्यक होता है कि, उस वस्तु को शिवात्मक मान कर रूढ़ि को परिष्कृत कर लिया जाय । इस तरह वृत्ति भी परिष्कृत हो जाती है और रूढि शिवात्मिका हो जाती है, यही इसका आशय है । कथ्य का यही यथार्थ है । वस्तु का यही मूल तत्त्व है । इसलिये गुरुवर्य महामाहेश्वर अभिनवगुप्त द्वारा शिष्य प्रत्येक कर्तव्यविन्दु पर सावधान कर दिया जाता है कि, कहीं कर्मसंग्रह में किसी प्रकार का व्यवधान न होने पाये । गुरुवर्य कहते हैं कि, इस प्रकार क्रमशः संवित्ति को परिष्कृत कर लेने पर मूढ़ भी शिवात्मक हो जाता है । क्रमिकरूप से इस प्रकार परिष्कार-प्राप्त शिष्य शैवतादात्म्य संवलित, परशिवशक्तिपातपूत, अनुग्रह-सुभग दैशिक गुरु को भी साक्षात् शिव रूप में ही देखने लग जाता है । इससे शिष्य भी 'गुरुशिष्ययोरभेदः' इस न्याय के अनुसार तादात्म्य भाव भरित होकर शैवी भक्ति के बल से स्वयं शिवभाव की उपलब्धि कर लेता है । यदि शिष्य में विकल्पात्मक वृत्तियों का सद्भाव हो भी तो देहान्त हो जाने पर दीक्षा से उसको मोक्ष

शास्त्रे प्रोवाच विभुस्तथापि दृढवासना युक्ता ।

शास्त्र इति श्रीनिशाटनादौ । तच्च प्रथमाह्निकादौ बहूक्तम् ॥

अत्र चान्येषामभिप्रायान्तरमाह

मोक्षेऽप्यस्ति विशेषः क्रियाल्पभूयस्त्वजः सलोकादिः ॥२००॥

इति केचित्तदयुक्तं स विचित्रो भोग एव कथितः स्यात् ।

ननु यद्येवं न युक्तं, तत् कतरः पक्ष आश्रयणीय इत्याशङ्क्याह

संस्कारशेषवर्तनजीवितमध्येऽस्य समयलोपाद्यम् ॥ २०१ ॥

नायाति विघ्नजालं क्रियाबहुत्वं मुमुक्षोस्तत् ।

की प्राप्ति सरलता से हो जाती है। इस तथ्य का कथन स्वयं विभु सर्वेश्वर भगवान् ने निशाटन आदि शास्त्रों में की है। जो कुछ भी हो वासना की दृढ़ता सर्वत्र अनिवार्यतः आवश्यक होती है ॥ १९६-१९९ ॥

शास्त्रकारों के इस विषय में अनेक मतभेद हैं ! उनकी प्रसङ्गवश चर्चा भी कर रहे हैं—

कुछ लोग कहते हैं कि, मोक्ष में भी कई भेद-वैशिष्ट्य सम्भव हैं। जैसे किसी का कहना है कि, यदि क्रियायोग बहुत अल्प रहा तो उससे साक्षात् मोक्ष न होकर सालोक्य, सायुज्य आदि मुक्तियाँ होती हैं। शास्त्रकार कहते हैं कि, उनका यह कथन नितान्त अयुक्त है। वह भी भोग का एक विचित्र स्वरूप है ॥ २०० ॥

प्रश्न उपस्थित है कि, यदि इनका कथन मानने योग्य नहीं है, तो कौन सा पक्ष अपनाने योग्य है ? इस प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं कि,

मुमुक्षु को संस्कार, शेषवर्त्तन और जीवन सम्बन्धी समयलोप आदि और क्रियाबाहुल्य दोष आदि नहीं होते; क्योंकि उसे निर्बीज दीक्षा दी गयी होती है।

जिसे सबीज दीक्षा दी जाती है, उससे अर्थात् सबीज दीक्षा से संस्कृत पुरुष के जीवन में इस प्रकार के विघ्नजाल आते ही रहते हैं। फिर भी भोगों के भोग लेने के उपरान्त सबीजदीक्षा प्राप्त शिष्य को मोक्ष की प्राप्ति

यस्मात् सबीजदीक्षासंस्कृतपुरुषस्य समयलोपाद्ये ॥ २०२ ॥
भुक्ते भोगान्मोक्षो नैवं निर्बीजदीक्षायाम् ।
इति केचिन्मन्यन्ते युक्तं तच्चापि यत्स्मृतं शास्त्रे ॥ २०३ ॥

अत्रैव हेतुर्यत्स्मृतं शास्त्रे इति ॥ २०३ ॥

तदेवाह

समयोल्लङ्घनाद्देवि क्रव्यादत्व शतं समाः ॥ २०४ ॥

एतदेव निगमयति

तस्माद्गुरुशिष्यमतौ शिवभावनिरूढिवितरणसमर्थम् ।
क्रमिकं तत्त्वोद्धरणादि कर्म मोक्षेऽपि युक्तमतिविततम् ॥२०५॥

होती है। निर्बीज दीक्षा का यह क्रम नहीं है। उसमें अक्रम मुक्ति की पूरी सम्भावना रहती है। जो इस तरह की बात में विश्वास करते हैं, त्रिकदर्शन भी उनका समर्थन करता है। शास्त्रों में भी इस प्रकार के मन्तव्य का प्रकटीकरण किया गया है ॥ २०१-२०३ ॥

शास्त्रों में इस सम्बन्ध में जो बातें कही गयी हैं, जिनका विशेष सम्बन्ध समयलोप आदि से है, उसकी चर्चा कर रहे हैं—

भगवान् शङ्कर एक स्थान पर देवी को सम्बोधित कर कह रहे हैं कि, समय का उल्लंघन करने पर शिष्य को १०० वर्षों तक क्रव्याद होने का अभिशाप मिलता है। यह समय पालन रूप उत्तरदायित्व गुरु और शिष्य दोनों का है। दोनों को ऐसा संयमित व्यवहार करना चाहिये, जिससे शिवभाव में अनवरत निश्चयात्मक रूढ़ि प्रगाढ़ होती रहे। उस भाव भक्ति के वितरण में भी समर्थ हों। ऐसे सामर्थ्यपूर्ण तत्त्वोद्धार आदि के क्रमिकरूप से कर्म सम्पादित होते रहें, जिससे सबीजदीक्षा का उद्देश्य सिद्ध हो सके। मोक्ष की उपलब्धि में अतिशय विस्तार से किये गये ये कर्मं परम उपयोगी होते हैं।

इसमें यह ध्यान देने की बात है कि, जो अभ्यास के बल पर गौरवपूर्ण गुरुत्व को उपलब्ध होने वाला आचार्य है, जिसके क्रियायोग में किसी प्रकार के

स्वभ्यस्तज्ञानस्य गुरोः पुनरेवं न कश्चिन्नियम इत्याह

यस्तु सदा भावनया स्वभ्यस्तज्ञानवान्गुरुः स शिशोः ।
अपवर्गाय यथेच्छं यं कंचिदुपायमनुतिष्ठेत् ॥ २०६ ॥

एवमेतत्प्रसङ्गादभिधाय प्रकृतमेवाह

एवं शिष्यतनौ शोध्यं न्यस्याध्वानं यथेप्सितम् ।
शोधकं मन्त्रमुपरि न्यस्येत्तत्त्वानुसारतः ॥ २०७ ॥

तत्त्वानुसारत इति शोध्याध्वोपलक्षणम् । अनेन च तत्तन्मन्त्रात्मकः परो न्यास आसूत्रितः ॥

तदेवाह

द्वयोर्मातृकयोस्तत्त्वस्थित्या वर्णक्रमः पुरा ।
कथितस्तं तथा न्यस्येत्तत्तत्त्वविशुद्धये ॥ २०८ ॥

सन्देह की आवश्यकता नहीं होती । वह शिष्य को यथेच्छ कल्याण के मार्ग पर आरूढ़ कर सकता है। यदि वह अपनी भावना से शिशु की मुक्ति के लिये किसी उपाय का निर्धारण करता है, वही शिष्योत्कर्ष के लिये सर्वश्रेयः साधक उपाय है । इसलिये ऐसे गुरु पर ही सर्वभाव निर्भर रहकर उसे छूट देनी चाहिए कि, वे जिस उपाय का आश्रय चाहे लें ॥ २०४-२०६ ॥

इस प्रसङ्ग प्राप्त तथ्य को कहने के उपरान्त अब प्रकृत विषय की चर्चा कर रहे हैं—

इस प्रकार शिष्य के शरीर पर यथेच्छ अध्वावर्ग का शोधन कर एवं न्यास कर शोधक मन्त्र को भी तत्त्व के अनुसार न्यस्त करना चाहिये । शरीर के अङ्गुल-अङ्गुल अङ्ग-विभाग पर निर्धारित पद्धति से अध्वा का शोधन, पुनः न्यास कर अनुरूप शोधक-मन्त्रों का न्यास करना ही विधिसंमत है, शिष्य को मोक्ष के महोत्कर्ष के लिये यही अग्रसर कर सकता है ॥ २०७ ॥

मन्त्रात्मक पर-न्यास का आसूत्रण ऊपर कर चुके हैं । इस कारिका में उसे शब्दतः व्यक्त कर रहे हैं—

द्वयोरिति शब्दराशिमालिन्योः ॥ २०८ ॥

ननु

'.......... ...**अध्वा बन्धस्य कारणम् ।'**

इत्याद्युक्त्या वर्णाध्वापि अविशेषाद्बन्धक एव, तत् कथमिहास्य शोध्यत्वेऽपि शोधकत्वमुच्यते इत्याशङ्क्याह

वर्णाध्वा यद्यपि प्रोक्तः शोध्यः पाशात्मकस्तु सः ।
मायीयः शोधकस्त्वन्यः शिवात्मा परवाङ्मयः ॥ २०९ ॥

ननु एकस्यैव शोध्यत्वे शोधकत्वे च किं प्रमाणमित्याशङ्क्याह

दोनों मातृका और मालिनी के तत्त्व की दृष्टि के अनुसार वर्णों के क्रम पहले ही कहे जा चुके है। उनको तत्त्वों की विशुद्धि के उद्देश्य से वहीं न्यस्त करना चाहिये। यह न्यास वर्णाध्वा के सन्दर्भ में प्रयुक्त होता है।

यहाँ एक सन्देह उत्पन्न हो रहा है। शास्त्र में लिखा है कि,

'........अध्वा बन्ध के कारण हैं।'

इस कथन के अनुसार वर्णाध्वा भो सामान्यतः बन्धक ही माना जाना चाहिये। बन्धक हमेशा शोध्य होते हैं। ऐसी स्थिति में वर्णाध्वा के भी शोध्य होने पर इसके शोधकत्व का कथन किस आधार पर कर रहे हैं? इस आशङ्का का समाधान कर रहे हैं—

वर्णाध्वा यद्यपि शोध्य ही है, ऐसा कहा गया है क्योंकि यह पाशात्मक भी होता है। इस दृष्टि से इसे मायीय भी मानते हैं। फिर भी यह ध्यान देने की बात है कि, शोधक भी कोई विचित्र-वैलक्षण्य सम्पन्न औरवर्ण-वर्ण में विराजमान पर वाङ्मयरूप शिव ही है ॥२०८-२०९॥

ऐसा मानने पर गड़बड़ी यह होगी कि, जिस वर्णाध्वा को शोध्य माना गया उसे ही शोधक भी मानना पड़ता है। यह कैसे सम्भव है कि, एक ही वस्तु शोध्य भी हो और वही शोधक भी? इसका कोई प्रमाण है क्या? इस पर कह रहे हैं—

उवाच सद्योज्योतिश्च वृत्तौ स्वायम्भुवस्य तत् ।
बाढमेको हि पाशात्मा शब्दोऽन्यश्च शिवात्मकः ॥ २१० ॥
तस्मात्तस्यैव वर्णस्य युक्ता शोधकशोध्यता ।

अस्मदागमोऽप्येवमित्याह

श्रीपूर्वशास्त्रे चाप्युक्तं ते तैरालिङ्गिता इति ॥ २११ ॥
सद्योजातादिवक्त्राणि हृदाद्यङ्गानि पञ्च च ।
षट्कृत्वो न्यस्य षट्त्रिंशन्न्यासं कुर्याद्धरादितः ॥ २१२ ॥

सद्योज्योति ने स्वायम्भुववृत्ति में यह कहा है कि, भले ही एक पाशात्मक शब्द होता है, वही अन्यत्र शिवात्मक भी होता है । इस आधार पर वर्ण-वर्ण में शोध्यत्व और शोधकत्व दोनों सम्भव हैं ॥२१०॥

अपने आगम का प्रामाण्य भी प्रस्तुत कर रहे हैं—

श्रीपूर्वशास्त्र एवं मालिनीविजयोत्तर तन्त्र में भी यह कहा गया है कि, रुद्रबीज समुद्भूत १६ और योनि समुद्भूत ३४ शक्तिमन्त शब्दों से ये वर्ण आलिङ्गित हैं, अर्थात् इनमें शोध्य-शोधक उभय भाव शाश्वत विद्यमान है । जब वही शिवात्मकतया अनुध्यात होगा तो शोधक होगा, अन्यथा शोध्य ही रहेगा ।

सद्योजात, ईश, तत्पुरुष, अघोर और वामदेवरूप शिववक्त्र-मन्त्रों का हृदय, शिर, शिखा, कवच, नेत्रत्रय इन स्थानों पर छह बार न्यास कर धरा से शिवपर्यन्त ३६ तत्त्वों का न्यास उन्हीं स्थानों पर करना चाहिये । धरा में परापरापर के वैलोम्य से तीन पद हो जाते हैं । क्रमिक न्यास 'हुँ हुः फट्' होगा किन्तु दीक्षा में वैलोम्य के आश्रय के कारण 'फट् हुः हुँ' के विलोम क्रम से न्यास होने पर ही धरा में तीन पद हो जाते हैं । 'हुँ' यह कुण्डलिनी बीज है । यह निरन्तर मूलाधार में निवास करता है । इसीलिये धरातत्त्व का भी प्रतिनिधित्व करता है । विलोमदीक्षा का अर्थ शिष्य को ऊर्ध्व की ओर अग्रसर करना है । परा 'हुँ' है और अपरा 'हुः' (विसर्ग से साथ आकाश के साथ सृष्टि का सीत्कार) । दीक्षा के समय ऊपर की सोपान-परम्परा पर

परापराया वैलोम्याद्धरायां स्यात्पदत्रयम् ।
ततो जलादहङ्कारे पञ्चाष्टकसमाश्रयात् ॥ २१३ ॥
पदानि पञ्च धीमूलपुंरागाख्ये त्रये त्रयम् ।
एकं त्वशुद्धवित्कालद्वये चैकं नियामके ॥ २१४ ॥
कलामायाद्वये चैकं पदमुक्तमिह क्रमात् ।
विद्येश्वरसदाशक्तिशिवेषु पदपञ्चकम् ॥ २१५ ॥
एकोनविंशतिः सेयं पदानां स्यात्परापरा ।

यदुक्तं तत्र

'स तया संप्रबुद्धः सन्योनिं विक्षोभ्य शक्तिभिः ।
तत्समानश्रुतीन्वर्णांस्तत्संख्यानसृजत्प्रभुः ॥
ते तैरालिङ्गिताः सन्तः सर्वकामफलप्रदाः ।' (३।२८) इति ।

चढ़ाने के लिये विलोम क्रम का आश्रय लेते हैं । इसे ही संहारक्रम कहते हैं । संहार का अर्थ है—इस प्रपञ्च से एक एक कर छुटकारा प्राप्त करना । इस संहार से विनाश का अर्थ नहीं लेना चाहिये । यही दशा जल से अहङ्कार की ओर परिष्कार करते हुए चढ़ने की है । शिष्य इसे जिस मन्त्र के साथ उच्चरित करेगा और गुरु जिसका प्रयोग करेगा, वह दूसरा मन्त्र है—'फट् रर रुरु हे पिब' । आचार्य जयरथ ने यह लिखकर रहस्यार्थ की ओर संकेत किया है ।

जल, तेज, वायु और आकाश के साथ मन, इन्द्रियवर्ग, बुद्धि और अहङ्कार इस अष्टक में पाँच बार सार्ध, दो, दो, एक और दो वर्ण वाले इस मन्त्र का न्यास करने से एक तरह से शरीरगत अङ्गों का पूरा शोधन हो जाता है । इस तरह दीक्षा सिद्ध होती है । 'समन्त्रक' इस प्रयोग में गुरु ही पूर्ण अधिकारी होता है ॥२११-२१३ ॥

बुद्धि, प्रकृति और पुरुष-राग नामक तीन तत्त्वों में तीन मन्त्रों के न्यास से शोधन होगा । इस मन्त्र का स्वरूप है—'वम भीषणे भीमे' । दो, तीन और दो वर्णों वाले इस मन्त्र से ३ बार न्यास करने से इन तत्त्वों का शोधन हो जाता है ।

एवमेक एव वर्णः शिवात्मकतयानुध्यातः शोधकोऽन्यथा तु शोध्य इत्यत्र तात्पर्यम् । षट्कृत्व इति शक्तीनां शक्तिमतां च सम्बन्धीनि प्रतितत्त्वं संमील्येत्यर्थः । वैलाम्यादिति दीक्षायां हि संहारक्रम एवोचितः, तेनागमे सृष्टिक्रमेणाभिधानेऽपि एवमेव न्यासः कार्य इत्याशयः । पदत्रयमिति फट् हः हुं सार्धैकैकार्णरूपम् । पञ्चेति फट् रर रुरु हे पिब इति सार्धद्विद्व्येकद्विवर्णात्मकानि । पुंरागेति पुंसा सहिते रागतत्त्वे इत्यर्थः । त्रयमिति वम भीषणे भीमे इति द्वित्रिद्व्यक्षरम् । एकमिति घोरमुखोति चतुरर्णम् । एकमिति हः इत्येकाक्षरम् । एकमिति घोररूपे इति चतुरक्षरम् । क्रमादिति तेन रूपे इति कलायां, घोर इति मायायाम् । पदपञ्चकमिति हुँ परमघोरे ह्लीः अघोरे ओमित्येकपञ्चैकत्र्येकात्मकम् । तत्र विद्यायां पदमेकम्, ईश्वरे चैकम्, सदाशिवे द्वयम्, शक्तिशिवयोश्चैकमिति विभागः ॥

अत्रैव वर्णविभागमाह

सार्धं चैकं चैकं सार्धं द्वे द्वे शशी दृगथ युग्मम् ॥ २१६ ॥
त्रीणि दृगब्धिश्चन्द्रः श्रुतिः शशी पञ्च विधुमहश्चन्द्राः ।

अशुद्ध-विद्या और काल इन दो तत्त्वों में 'घोरमुखि' इस मन्त्र का प्रयोग करना चाहिये । चार अक्षरों के इस मन्त्रांश के न्यास करने से ही तत्त्व शोधन सम्भव होता है ।

नियति तत्त्व में एक बार 'हः' इस एकार्ण-मन्त्र का प्रयोग करना चाहिये । काल और माया इन दोनों में क्रमशः 'रूपे' और 'घोर' इन मन्त्रांशों का न्यास किया जाता है ।

विद्या, ईश्वर, सदाशिव, शक्ति इन शुद्ध तत्त्वों में हुँ परम घोरे ! ह्लीः अघोरे ! ओम् ! एक, पाँच, एक, तीन और एक वर्णात्मक इस मन्त्रांश के न्यास से उक्त तत्त्वों का शोधन हो जाता है[1] । इससे तत्त्वों की जो दिव्यता आवृत थी, उसका आवरण हट जाता है और उनकी मौलिक दिव्यता के प्रकाश से शिष्य स्वयं दिव्य बन जाता है । यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि, विद्या में 'हुँ', ईश्वर में 'परमघोरे', सदाशिव में ह्लीः, शक्ति में 'अघोरे'

---

१. त० ३०।२०-२४ ।

एकान्नविंशतौ स्यादक्षरसंख्या पदेष्वियं देव्याः ॥२१७॥
हल्द्वययुतवसुचित्रगुपरिसंख्यातस्ववर्णाया: ।
मूलान्तं सार्धवर्णं स्यान्मायान्तं वर्णमेककम् ॥ २१८ ॥
शक्त्यन्तमेकमपरान्यासे विधिरुदीरितः ।
मायान्तं हल्ततः शक्तिपर्यन्ते स्वर उच्यते ॥ २१९ ॥
निष्कले शिवतत्त्वे वै परो न्यासः परोदितः ।
परापरापदान्येव ह्यघोर्याद्यष्टकद्वये ॥ २२० ॥
मन्त्रास्तदनुसारेण तत्त्वेष्वेतद्द्वयं क्षिपेत् ।
पिण्डाक्षराणां सर्वेषां वर्णसंख्या विभेदतः ॥ २२१ ॥

और शिव में केवल एकवर्णात्मक 'ओम्' का ही न्यास सर्वमान्य है। इस तरह १,५,१,३,१ कुल मिलाकर १९ पदों में परापरा विद्या उल्लसित होती है। यह पूरा मन्त्र इस प्रकार अपनी दिव्यता का प्रसार करता है। इस मन्त्र का "फट् हुः हुं, फट् रर[1] रुरु हे पिव्र, वम भोषणे भीमे, घोरमुखि ! हः घोररूपे हुँ परमघोरे ह्लीः अघोरे ओम्" यह पूरा विलोम स्वरूप है। इसे पुनः इस रूप में भी कह सकते हैं कि, सार्ध, एक, एक, सार्ध, दो, दो, एक, दो, दो, तीन, दो, चार, एक, चार, एक, पाँच, एक, तीन और एक वर्णों वाला १९ पदों का यह देवी परापरा का दिव्य मन्त्र है। इस मन्त्र में दो टकारों (हल्द्वय) को लेकर ३८ (वसु–८+अग्नि अर्थात् चित्रगु–२) अर्थात् ४० अक्षर होते हैं, अर्थात् पदों को संख्या १९ और वर्णों की संख्या दो हल् अक्षरों को लेकर ४० होती है। मा० वि० (४।१९-२३) के अनुसार निष्कल में–ओम् अघोरे ह्लीः, सकल में–परम घोरे हुँ, माया त्रित्रय में–घोररूपे हः, कालनियति में–घोरमुखि; राग में–भीमे, प्रधान में–भीषणे, बुद्धि में वम पिब हे, विद्या में–रर रुरु फट्, पार्थिव में–हुँ हुः फट्–यह परापरा विद्या का मूल मन्त्र है। यहाँ तक 'परापरा' न्यास का प्रकरण पूर्ण होता है ॥ २१४-२१७ ॥

---

१. तं ३०।२०-२३ ।

अव्यक्तान्तं स्वरे न्यस्य शेषं शेषेषु योजयेत् ।
बीजानि सर्वतत्त्वेषु व्याप्तृत्वेन प्रकल्पयेत् ॥ २२२ ॥
पिण्डानां बीजवन्न्यासमन्ये तु प्रतिपेदिरे ।
अकृते वाथ शोध्यस्य न्यासे वस्तुबलात् स्थितेः ॥ २२३ ॥
शोधकन्यासमात्रेण सर्वं शोध्यं विशुध्यति ।

मह इति सोमसूर्याग्निलक्षणानि त्रीणि। हल्द्वययुतेति हल्द्वयेन अनच्कटकारद्वयेन युता अधिका इत्यर्थः, वसुचित्रग्विति अष्टात्रिंशत् । यदुक्तं

'निष्कले पदमेकार्णं त्र्यर्णकार्णमिति द्वयम् ।
सकले तु परिज्ञेयं पञ्चैकार्णद्वयं द्वये ॥
चतुरेकाक्षरे द्वे च मायादित्रितये मते ।
चतुरक्षरमेकं च कालादिद्वितये मतम् ॥

यहाँ मूलान्त, मायान्त, शक्त्यन्त और निष्कल शब्दों के कूट के माध्यम से शिवतत्त्व सम्बन्धी परा और अपरा मन्त्रन्यास पर प्रकाश डाला गया है—मूलान्तपर्यन्त दो अण्ड पार्थिव और प्राकृत दोनों व्याप्त रहते हैं। इसी सार्ध वर्ण (फट्) के बाद मायान्त की व्याप्ति में एक चतुष्कल (हुँ) वर्ण का तथा शक्त्यण्ड में एक माया बीज (ह्रीं) का न्यास करने का विधान है। यह अपरा मन्त्रन्यास है, जो गुरु द्वारा ज्ञातव्य है। विलोम क्रम से अपरा मन्त्र का यही संकेत है।

पर न्यास में मायान्त हल् (स्) शक्ति रूप स्वर (औ) तथा निष्कल शिवतत्त्व[1] विसर्ग अर्थात् 'सौः' का मन्त्रन्यास विहित है। इस प्रकार परापरा, अपरा और परान्यास-विधियों का विश्लेषण यहाँ किया गया है। परापरा विधि को मन्त्र के साथ दिखलाकर तन्त्र की रहस्यात्मकता का उद्घाटन कर हमने परम्परा के उल्लंघन की धृष्टता की है। यद्यपि अपरा और परान्यासों का सांकेतिक ऊहन किया है फिर भी गुरुजनों को स्वयं निर्देश करना चाहिये। इस रहस्य का संकेत मात्र करना ही यहाँ पर्याप्त है॥ २१८-२१९॥

---

१ मा० वि० ४।२५ ।

रञ्जके द्व्यर्णमुद्दिष्टं प्रधाने त्र्यर्णमिष्यते।
बुद्धौ देवाष्टकव्याप्त्या पदं द्व्यक्षरमिष्यते॥
ततः पञ्चाष्टकव्याप्त्या द्व्येकद्विद्व्यक्षराणि तु।
विद्यापदानि चत्वारि सार्धवर्णं च पञ्चमम्॥
एकैकसार्धवर्णानि त्रीणि तत्त्वे तु पार्थिवे।'
(मा० वि० ४।२३) इति।

मूलान्तमिति प्रकृत्यन्तमण्डद्वयव्यापकमित्यर्थः। एककं वर्णमिति चतुष्कलम्। एकमिति मायाबीजम्। हलिति प्रकरणादमृतबीजम्। एवं स्वरोऽपि औकारः। पर इति विसर्गः।

तदुक्तं

सार्धनाण्डद्वयं व्याप्तमेकैकेन पृथग्द्वयम्।
अपरायाः समाख्याता व्याप्तिरेषा विलोमतः॥
सार्णेनाण्डत्रयं व्याप्तं त्रिशूलेन चतुर्थकम्।
सर्वातीतं विसर्गेण पराया व्याप्तिरिष्यते॥'
(४।२५) इति।

तदनुसारेणेति परापरापदानामेव समनन्तरोक्तां तत्तत्तत्त्वव्याप्तिमनुसृत्येत्यर्थः।

परापरा के पद ही अघोरेश्वरी देव्यष्टक के दोनों अष्टकों में मन्त्र का काम करते हैं। उन ३८ वर्णों में द्व्यष्टकवर्णों का क्षेपन आवश्यक विधि से अपनाना चाहिये। नवात्मक पिण्डाक्षरों के नवात्मकवर्णों के सम्बन्ध के आधार पर ही उनका न्यास होना चाहिये॥ २२०-२२१॥

अव्यक्तान्त 'म' को स्वर में अर्थात् उकार में न्यस्तकर शेष य र व ल आदि को शेष अर्थात् पुरुष आदि में न्यस्त करना चाहिये। अव्यक्त के बाद पुरुष आदि ही शेष रहते हैं। परापरा पदों में जो बीज हैं, इनको प्रकल्पना सभी तत्त्वों में समान रूप से होती है। कुछ विद्वानों ने यह प्रतिपादन भी किया है कि, पिण्डाक्षर युक्त पदों का न्यास भी बीजवत् करना ही उचित है। ऐसा

तदुक्तं

'परापराङ्गसंभूता योगिन्योऽष्टौ महाबलाः ।
पञ्च षट् पञ्च चत्वारि द्वित्रिद्व्यर्णाः क्रमेण तु ॥
ज्ञेयाः सप्तैकादशार्णा एकार्धार्णद्वयान्विताः ।' (३।६०) इति ।

पिण्डाक्षराणामिति नवात्मादीनाम् । संख्या नवादिका । स्वर इति उकारे । शेषं पुरुषादि शेषेषु यादिषु । बीजानीति पिण्डपदविलक्षणानि एकाक्षरादीनि । बीजवदिति पिण्डानामपि प्रतितत्त्वं व्याप्तृतया न्यासः कार्य इत्यर्थः ॥ २२२-२२३ ॥

अन्यस्तमपि शोध्यं केवलेनैव शोधकन्यासेन शुद्ध्यतीत्यत्र किं प्रमाणमित्याशङ्क्याह

श्रीमन्मृत्युञ्जयादौ च कथितं परमेष्ठिना ॥ २२४ ॥

तदेवाह

अधुना न्यासमात्रेण भूतशुद्धिः प्रजायते ।

नन्वेतदत्र देहशुद्ध्यर्थमुक्तमिति कथमिह संगच्छतामित्याशङ्क्याह

देहशुद्ध्यर्थमप्येतत्तुल्यमेतेन वस्तुतः ॥ २२५ ॥

न करने पर शोध्य के न्यास में वस्तु सत्ता के प्रभाव से उत्पन्न स्थिति में शोधक न्यास द्वारा ही सब कुछ शुद्ध हो जाता है ॥ २२२-२२३ ॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि, अन्यस्त शोध्य केवल शोधक न्यास से कैसे शुद्ध हो जाता है और इसमें क्या प्रमाण है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि,

श्रीमन्मृत्युञ्जय आदि शास्त्रों में स्वयं परमेष्ठी परमेश्वर भगवान् शिव ने ही यह बात कही है । यहाँ वही कथन प्रसङ्गवश प्रस्तुत करते हुए कह रहे हैं कि, शोध्य के शोधन हेतु शोधक न्यास से ही भूतमात्र की शुद्धि हो जाती है । यहाँ भूतशुद्धि की उक्ति के आधार पर अङ्ग शुद्धि की बात कैसे मान ली जाय, इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए कह रहे हैं कि,

देहशुद्धि के उद्देश्य से सम्पन्न यह शोधकन्यास वस्तुतः उचित ही है एवं पूर्वोक्त न्यासों की तरह ही फलप्रद है । दूसरे प्रकरणों में कही गयी

अन्यप्रकरणोक्तं　यद्युक्तं　प्रकरणान्तरे ।
ज्ञापकत्वेन　साक्षाद्वा　तत्किं　नान्यत्र गृह्यते ॥ २२६ ॥
मालिनीमातृकाङ्कस्य　न्यासो योऽर्चाविधौ पुरा ।
प्रोक्तः　केवलसंशोद्‌धृमन्त्रन्यासे　स　एव तु ॥ २२७ ॥
त्रिपदी द्वयोर्द्वयोः स्यात्प्रत्येकमथाष्टसु श्रुतिपदानि ।
दिक्‌चन्द्रचन्द्ररसरविशरशरदृग्दृङ्मृगाङ्कशशिगणने ॥ २२८ ॥
अङ्गुलमाने देव्या　अष्टादश वैभवेन　पदमन्यत् ।

तथ्य की बात दूसरे स्थानों पर भी युक्तियुक्त मानी जाती हैं। इसका आधार शोध्य शोधक न्यास का साम्य ही है। प्रकरण वश कहीं पर कही गयी बात को दो तरह से गृहीत करना चाहिये—१. ज्ञापकता की दृष्टि से और २. साक्षात् विषय वस्तु की दृष्टि से। यह पूछा जा सकता है कि, अन्यत्र कही गयी ज्ञापक या साक्षात् शास्त्रीय निर्देश अन्यत्र क्यों नहीं प्रयुक्त किये जा सकते ? ॥ २२४-२२६ ॥

वर्णमाला के दो क्रम शास्त्रों में निर्दिष्ट हैं—१. मालिनी और २. मातृका। मालिनी 'न–फ' प्रत्याहार में पुलकित होती है तथा मातृका 'अ-क्ष' प्रत्याहार में उल्लसित होती है। दोनों स्वरूपों के न्यास अणु की दीक्षा के विभिन्न प्रसङ्गों में व्यक्त किये गये हैं। सर्वत्र न्यास में शोध्य शोधक भाव का उपकल्पन आवश्यक माना जाता है। मातृकामालिनो के उक्त न्यास केवल शोधक मन्त्रन्यास में ही विनियुक्त हैं। शोध्य का यहाँ परिहार किया गया है ॥ २२७ ॥

संहार क्रम में जो त्रिपदी है वह दो-दो अङ्गुल के क्षेत्र में न्यस्त की जाती हैं। इस तरह छह अङ्गुलों में उनका न्यास विहित है। चार पद आठ-आठ अङ्गुलों में न्यस्त करने पर ३२ अङ्गुलों का क्षेत्र इनसे व्याप्त होता है। दिक् (१०), चन्द्र (१), चन्द्र (१), रस (६), रवि (१२), शर (५), दृग् (२), दृग (२), मृताङ्क (१), शशि (१) की गणना के अनुसार ४१ अङ्गुलों में १८ पद न्यस्त

अपरं मानमिदं स्यात् केवलशोधकमनुन्यासे ॥ २२९ ॥
तुर्यपदात्पदषट्के मानद्वितयं परापरपराख्यम् ।
द्वादशकं द्वादशकं तत्त्वोपरि पूर्ववत्त्वन्यत् ॥ २३० ॥

वस्तुत इति शोध्यशोधकात्मनो न्यासस्य साम्यात्। साक्षादिति विधायकत्वेन। किं नान्यत्र गृह्यते इति अपितु गृह्यते एवेत्यर्थः। अङ्गस्येति तत्स्वरूपस्येत्यर्थः। केवलेति शोध्यपरिहारेण, शोध्यसंमीलनायां तु प्रागन्यथोक्त एव वर्णादिक्रमेण न्यासः। स एवेति न्यासः तत्क्रम इति यावत्। त्रिपदीति संहारक्रमेण। द्वयोर्द्वयोरिति अङ्गुलयोः, तेन षडङ्गुलाः। अष्टस्विति अङ्गुलेषु। श्रुतीति चत्वारि, तेन द्वात्रिंशत्। दिगिति दश, चन्द्रेत्येकः, रसेति षट्, रवीति द्वादश, शरेति पञ्च, दृगिति द्वयम्। अष्टादशेति पदानि। वैभवेनेति व्यापकतया, यदुक्तं

'**व्यापकं पदमन्यच्च** .... ।' (६।२४) इति।

केवलेति शोध्यपरिहारेण। तुर्यपदादित्यारभ्य। पदषट्क इति यत्राष्टाङ्गुलानि चत्वारि, दशाङ्गुलमेकमेकाङ्गुलं चैकमिति। उपरीति तेनात्र प्रतिपदमङ्गुलयोर्द्वयं द्वयमधिकीभवतीत्यर्थः॥ २३०॥

होते हैं। यहाँ तक उनका वैभव अर्थात् उनकी व्यापकता है। मा० वि० (६।२४) में कहा गया है कि "अन्य पद नितान्त वैभवपूर्ण अर्थात् व्यापक है।"

यह अपरमान है क्योंकि इसमें शोधक का ही अनुन्यास होता है। त्रिपदीन्यास के अनन्तर तुर्य (चतुर्थ) पद से आरम्भ कर जहाँ तक छठाँ पद आता है, इसमें परापर नामक मान होता है। इसमें भी ८ अङ्गुलों के चार भाग, १० अङ्गुल तथा एक, एक और एक अङ्गुल की व्याप्ति होती है। इसमें यह ध्यान देने की बात है कि, प्रत्येक पद में दो, दा, दो, दो अङ्गुलों की बढ़त होती जाती है। १२-१२ का यह अङ्गुलमान दीक्षा में गुरु द्वारा प्रयुक्त होता है। जहाँ तक परन्यास का प्रश्न है, वहाँ पूर्ववत् निष्कल की न्यासविधि ही विहित है॥ २२८-२३०॥

नन्वस्याः समनन्तरमेव तत्त्वक्रमेण पदानां न्यास उक्तस्तत्कथमिह एतदिदानीमेवान्यथाभिधीयत इत्याशङ्क्याह

केवलशोधकमन्त्रन्यासाभिप्रायतो महादेवः ।
तत्त्वक्रमोदितमपि न्यासं पुनराह तद्विरुद्धमपि ॥ २३१ ॥

महादेवो हि शोध्यानां षट्त्रिंशत्तत्त्वानां क्रमेण तन्न्यासपुरःसरीकारेण उदितमपि शोधकमन्त्रन्यासाभिप्रायेण पुनस्तद्विरुद्धमपि एकान्नविंशतेः पदानां न्यासमाह तदन्यथात्वेनापि अकथयदित्यर्थः ॥ २३१ ॥

तदेव पठति

निष्कले पदमेकार्णं यावत्त्रीणि तु पार्थिवे ।
इत्यादिना तत्त्वगतक्रमन्यास उदीरितः ॥ २३२ ॥

अभी तक तत्त्वों के क्रम से परापरा पदों के न्यास का वर्णन किया गया है। अब प्रचलन में प्रयुक्त कुछ ऐसे न्यास के प्रकार का वर्णन कर रहे हैं, जिसे पूर्व प्रकार से एक तरह से अन्यथा प्रकार ही कहा जा सकता है। इसका क्या कारण है ? इस आशङ्का का समाधान कर रहे हैं—

भगवान् महादेव ने केवल शोधक-मन्त्रन्यास के उद्देश्य से तत्त्व-क्रम से पूर्वकथित न्यासक्रम के विरुद्ध पड़ने वाले न्यास का भी वर्णन किया है। सभी ३६ तत्त्वों के न्यास को पहले प्रस्तुत कर लेने के उपरान्त शोधक-मन्त्रन्यास के अभिप्राय से ही १९ पदों के न्यास का भी औचित्य है। इस क्रम के उल्लेख की आवश्यकता का अनुभव शास्त्रकार ने किया है॥ २३१ ॥

परम्परा का कोई क्रम शास्त्रकार की दृष्टि से ओझल न रह जाये, इसलिये उसी का उल्लेख कर रहे हैं। यह विभाग विद्यात्रय-विभाग कहलाता है। इसका क्रम इस प्रकार है—

निष्कल में एकार्ण पद का और तीन पदों का पार्थिव क्षेत्र में विन्यास होना चाहिये। इसका पूरा वर्णन मालिनीविजयोत्तर तन्त्र के चतुर्थ अधिकार के श्लोक १९ से २३ तक किया गया है। यह तथ्य प्रस्तुत श्लोक के उदीरित शब्द से प्रकट हो रहा है॥ २३२ ॥

पुनश्च मालिनीतन्त्रे वर्गविद्याविभेदतः ।
द्विधा पदानीत्युक्त्वाख्यन्न्यासमन्याद्दशं विभुः ॥ २३३ ॥

उदोरित इति चतुर्थपटले, तच्च समनन्तरमेव संवादितम् । उक्त्वेति षष्ठे पटले, यदुक्तं तत्र

'पदानि द्विविधान्यत्र वर्गविद्याविभेदतः ।
तेषां तन्मन्त्रवद्व्याप्तिर्यथेदानीं तथा शृणु ॥' (६।१९) इति ।

अन्यथादृशमिति तत्त्वक्रमन्यासविपरीतमित्यर्थः ॥ २३३ ॥

तदेवाह

एकैकं द्व्यङ्गुलं ज्ञेयं तत्र पूर्वं पदत्रयम् ।
अष्टाङ्गुलानि चत्वारि दशाङ्गुलमतः परम् ॥ २३४ ॥

चौरासी अङ्गुल के शरीर में वर्गन्यास का क्रम यहाँ दिया जा रहा है । इनकी अर्थात् वर्ग और विद्याओं को व्याप्ति भी मन्त्रवत् महत्त्वपूर्ण है[1] । वर्ग-भेद से अङ्गुलों के क्रम से नवपदी न्यास का वर्णन इस प्रकार है—

१. ४ अङ्गुल = ४ अङ्गुल — पहला पद
८ + ८ = १६ " — { दूसरा पद, तीसरा पद
१० × ३ = ३० " — चौथा, पाँचवाँ और छठाँ पद
१५ = १५ " — ७वाँ पद
१९ = १९ " — ८वाँ और नवाँ पद ॥ २३३ ॥
= ८४ अङ्गुल

परापरा देवी के मन्त्र में १९ पद होते हैं । १९ संख्या वाले इन पदों को २,२,२,८,८,८,८,३,७,१,१,६,१२,५,५,२,२,१ = ८३ अङ्गुलों में १ अङ्गुल मिलाकर ८४ अङ्गुल के शरीर में व्याप्त करना चाहिये । उन्नीसवाँ व्यापक पद माना जाता है । १९ पदों का ही यह विद्या-न्यासक्रम है । तन्त्र-परम्परा का उच्छेद भी नहीं करना चाहिये । इसलिये परापरा देवी के मन्त्र का हमने पहले उल्लेख

---

१. मालि० वि० ६।१८-२० ।

द्वयङ्गुले द्वे पदे चान्ये षडङ्गुलमतः परम् ।
द्वादशाङ्गुलमन्यच्च द्वेऽन्ये पञ्चाङ्गुले पृथक् ॥ २३५ ॥
पदद्वयं चतुष्पर्वं तथान्ये द्विपर्वणी ।

पदत्रयमेकैकं द्वयङ्गुलमिति षडङ्गुलाः । अष्टाङ्गुलानीत्यत्रापि एकैकमिति संबन्धनीयम् । द्वयङ्गुले द्वे पदे इति एकैकं पदमेकाङ्गुलमित्यर्थः । पृथगिति एकैकं पञ्चाङ्गुलमित्यर्थः, अन्यथा हि प्रत्येकं सार्धद्वयाङ्गुलत्वं स्यात् । पदद्वयं चतुष्पर्वेति प्रत्येकं द्विपर्वत्वात् । द्वे द्विपर्वणी इति प्रत्येकमेकपर्वेत्यर्थः ॥ २३४-२३५ ॥

एतदेवोपसंहरति

एवं परापरादेव्याः स्वतन्त्रो न्यास उच्यते ॥ २३६ ॥

स्वतन्त्र इति तत्त्वन्यासाद्यनपेक्षत्वात् । पूर्वं हि शोध्यं तत्त्वादि विन्यस्यैतन्न्यास इत्यस्य तत्पारतन्त्र्यम्, इह तु तत्परिहारेण स्वातन्त्र्येणैवास्या न्यास इति विषयभागः । यदभिप्रायेणैव

'अपरं मानमिदं स्यात्केवलशोधकमनुन्यासे ।'

इत्याद्युक्तम् ।

कर दिया है । उसका स्वयं अभ्यास कर अपने शरीर पर न्यास करने का प्रयत्न साधक को करना चाहिये । इससे साधक का शरीर मन्त्रवत् हो जाता है ॥ २३४-२३५ ॥

परापरा देवी के मन्त्र का यह स्वतन्त्र न्यास है । स्वतन्त्र शब्द के प्रयोग करने का कारण है । पहले जो न्यास क्रम लिखा गया है, उसके अनुसार तत्त्व-न्यास करने के उपरान्त उनसे निरपेक्ष परापरा देवी मन्त्र का न्यास विहित बताया गया है । यहाँ तत्त्व न्यास की अपेक्षा किये विना केवल मन्त्र-न्यास का विधान भगवान् प्रतिपादित करते हैं । अतः यह स्वतन्त्र विधि है । श्लोक २३१ में इसी भाव को लेकर तद्विरुद्ध शब्द का व्यवहार भी किया गया है । इसी तथ्य का आगम की यह उक्ति भी समर्थन दे रही है—

"यह अपर अर्थात् पूर्व कथन के अतिरिक्त मान है । एक तरह से यह केवल शोधक न्यास का ही अनुन्यास क्रम है ।"

अतश्च शोध्यपारतन्त्र्यात् स्वातन्त्र्याच्च द्वैविध्येनोक्तस्यास्य न्यासस्य एकैकद्वयङ्गुलमिति पठित्वा पूर्वस्य पदत्रयस्य चतुरङ्गुलत्वम्, पदद्वयस्य च प्रत्येकं द्वयङ्गुलत्वम्, अन्यच्च षडङ्गुलमेव, प्राच्येन सह तु द्वादशाङ्गुलत्वम्, पदद्वयस्य दशाङ्गुलत्वेऽपि एकस्य त्र्यङ्गुलत्वम्, अपरस्य च सप्ताङ्गुलत्वं द्विविधस्य च पदद्वयस्य प्रत्येकं चतुरङ्गुलत्वं द्वयङ्गुलत्वं चेत्याद्यभिधाय पूर्वापरानुसारितया उभयपक्षमीलनयाङ्गुलव्यत्यासेन व्याख्यायामार्षपाठ-

---

इस प्रकार यहाँ न्यास की दो परम्पराओं का पता चलता है—१. परतन्त्र विधि जिसमें क्रमिक रूप से तत्त्वों के न्यास के ऊपर पुनः मन्त्र न्यास होता था। २. इसमें स्वतन्त्र परापरा मन्त्र रूप शोधक न्यास का विधान है। स्वतन्त्र न्यास के अनुसार ही एक-एक में दो अङ्गुलों के क्रम से ६ अङ्गुलों के न्यास का, जो श्लोक २३४ में किया गया है और पूर्व पद-त्रय का ४ अङ्गुलों के क्रम का निर्देश किया गया है। साथ ही श्लोक २३५ में दो पदों के लिये २-२ अङ्गुलों का क्षेत्र निर्धारित है। इस न्यास में जो क्रम अपनाया जाता है, उसमें जहाँ १२ अङ्गुलों का उल्लेख है, वहाँ दो पदों का १० अङ्गुल का क्रम भी ३ और ७ अङ्गुलों के मिलने से ही सिद्ध होता है। श्लोक २३६ के प्रथम चरण में दो पदों के लिये चार पर्वों का कथन किया गया है। इन कथनों के सम्बन्ध में विचार करते समय व्याख्याकार के सामने बड़ी कठिनाई उपस्थित होती है। आचार्य जयरथ ने इस ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है। वे कहते हैं कि, इसमें पाँच प्रकार के दोष होते हैं—

१. स्वतन्त्र न्यास पक्ष और परतन्त्र न्यास पक्ष दोनों को मिलाकर विचार करने पर अङ्गुलों के क्रम में व्यत्यास उपस्थित हो जाता है।

२. आर्ष पाठ के परित्याग करने का दोष उपस्थित होता है।

३. कष्ट कल्पना करनी पड़ती है।

४. कई स्थानों पर पुनरुक्त बातों का अनुपयोग भी अच्छा नहीं लगता।

५. श्रीमान् गुरुदेव की व्याख्या का अतिक्रम न हो—इसका ध्यान रखना पड़ता है, पर कहीं कहीं यह हो भी जाता है।

इस तरह प्रसङ्गतः यह कहना पड़ता है कि ८४ अङ्गुल के शरीर में जब षडध्वन्यासरूप शोध्य न्यास होता है, तो अङ्गुलों की व्याप्ति का निर्धारण

परित्यागः कष्टकल्पना पुनर्वचनानुपयोगः श्रीमद्गुरुव्याख्यातिक्रमश्चेति दोषाः ॥ २३६ ॥

नन्वेवं देवीद्वयस्यापि न्यासः कस्मान्नोक्त इत्याशङ्क्याह

विद्याद्वयं शिष्यतनौ व्याप्तृत्वेनैव योजयेत् ।
इति दर्शयितुं नास्य पृथङ्न्यासं न्यरूपयत् ॥ २३७ ॥

नन्वेवं शोधकस्य द्विविधेन न्यासेन किं स्यादित्याशङ्कां गर्भीकृत्य फलाविशेषेऽपि प्रक्रियामात्रस्यैव वैचित्र्यमित्याह

एवं शोधकमन्त्रस्य न्यासे तद्रश्मियोगतः ।
पाशजालं विलीयेत तद्ध्यानबलतो गुरोः ॥ २३८ ॥

आर्ष अनुभूति के आधार पर ही किया जा सकता है। जब इसमें कहीं व्यत्यास होने लगता है, तो अनायास मन में यह बात उठती है कि, मूल अनुभूति के प्रति यह एक तरह का विरुद्ध आचरण है। गुरु परम्परा में इस तरह का ध्यान हमेशा रखना पड़ता है। आचार्य इस परम्परा के परिवृढ पुरुष हैं। उनका यह सूक्ष्म निरीक्षण सर्वथा उचित है ॥ २३६ ॥

परापरा देवी के मन्त्र रूप विद्या-न्यास के उपरान्त परा और अपरा विद्याओं के न्यास का उल्लेख उपक्रम-प्राप्त है फिर भी उसका कथन यहाँ नहीं किया है। ऐसा क्यों हुआ है ? इस प्रश्न का समाधान कर रहे हैं कि,

दोनों विद्याओं का नियोग शिष्य के शरीर में व्याप्तृ भाव से करना चाहिये। इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर इसका अर्थात् इस न्यास का निर्देश नहीं किया गया है ॥ २३७ ॥

ऊपर शोधक न्यास का प्रसङ्ग आया हुआ है। उसके दो (स्वतन्त्र और परतन्त्र) भेदों की चर्चा भी है। इन दोनों प्रकार के न्यासों के फल और उनके विचित्र ढङ्ग के विषय में कह रहे हैं—

शोधक मन्त्र एक प्रकार का प्रकाश-पुञ्ज है। इसके वर्ण-वर्ण से रश्मियों की राशि विकीरित होती रहती है। इसका न्यास करने पर

शोध्यतत्त्वे समस्तानां योनीनां तुल्यकालतः ।
जननाद्भोगतः कर्मक्षये स्यादपवृक्तता ॥ २३९ ॥

पाशजालमिति षडध्वरूपम्, तच्चार्थादन्यस्तम् । तत्त्व इत्युपलक्षणम्, तेन षडध्वन्यपि । न्यासश्चार्थसिद्धः ॥ २३९ ॥

चाहे वह स्वतन्त्र विधि से हो या परतन्त्र विधि से हो, अन्यस्त अवस्था में भी शिष्य को आवृत कर विलसित पाशराशि जल कर राख-राख हो जाती है। दोनों ही विधियों का यही एक फल है। गुरुदेव (वर्ण-वर्ण में) दीप्तिमन्त मन्त्र तेज का ध्यान कर शिष्य के शरीर पर इधर न्यस्त करते हैं और उधर पाशि-राशि भस्मसात् होती रहती है। गुरुदेव के ध्यान-बल का ही यह चामत्कारिक प्रभाव होता है। यहाँ पाशराशि का अर्थ छह अध्वाओं का वर्ग ही होता है।

शोध्य तत्त्व रूप यह कला, तत्त्व, भुवन, वर्ण, पद और मन्त्ररूप विश्व को आवृत कर विराजमान अध्वावर्ग जीव मात्र के ऊपर अपना पूरा प्रभाव प्रतिष्ठित कर उल्लसित रहता है। मन्त्र के प्रभाव से इसका विलय तो होता है किन्तु इसके चक्कर में फँसकर जीव मात्र की जो कर्म की गठरी बनती है, उसका क्षय कैसे हो, यह एक प्रश्न रह जाता है। उस गठरी का क्षय तो समानकालीन जन्म और उसके भोग से ही सम्भव है। त्रिकतन्त्र का यह एक अभिनव आविष्कार है।

'भोगादेव क्षयः' यह शास्त्रों को मान्यता भी है किन्तु कहीं अन्य शास्त्रों में युगपद् जनन और भोग की बात नहीं है। जन्म भो कर्मानुसार और भोग भी कर्मानुसार—यह सभी लोग जानते हैं, किन्तु अध्वा के अधीन रहने के कारण सचेत नहीं रह पाते। श्रुति का वाक्य है कि,

"हृदय की गाँठ छिन्न-भिन्न हो जाती है, समस्त संशय नष्ट हो जाते हैं और उसके कर्म भी नाश को प्राप्त करते हैं। यह तब होता है, जब परावर परमेश्वर का दर्शन हो जाय।"

यहाँ भी इसी तथ्य का कथन कर रहे हैं। कर्म भोग हो जाने और स्वात्मसाक्षात्कार हो जाने पर अपवर्ग की उपलब्धि सहज सम्भव हो जाती है॥ २३८-२३९॥

नन्वेवमस्याणोर्युगपदनेकशरीरगतत्वेन भोक्तृत्वेऽपि किमन्योन्यस्यानुसन्धानमस्ति न वेत्याशङ्क्याह

देहैस्तावद्भिरस्याणोश्चित्रं भोक्तुरपि स्फुटम् ।
मनोऽनुसन्धिर्नो विश्वसंयोगप्रविभागवत् ॥ २४० ॥

इहास्याणोः सङ्कुचितस्यात्मनस्तावद्भिर्मन्त्रबलोपनतैर्युगपदवस्थितैरनेकैर्देहैस्तत्तत्कर्मवैचित्र्यारब्धतया चित्रं नानाकारं भोक्तुरपि मानसमनुसन्धानं स्फुटं नास्ति, य एवाहमन्यस्मिन् देहे भुक्तवान् स एवाहमस्मिन्नपि इत्येवमात्मकमस्य ज्ञानं नोदियादित्यर्थः । अत्रैव निदर्शनं विश्वसंयोगप्रविभागवदिति । यथाहि आत्मनो व्यापकत्वात् स्थितेषु विश्वेन भावव्रातेन संयोगविभागेषु अनेन संयुक्तोऽस्मि, अनेन च विभक्तोऽस्मीत्येवं नानुसन्धानम्, तथेहापीत्यर्थः ॥ २४० ॥

युगपद् जनन और भोग के इस अभिनव सिद्धान्त के सम्बन्ध में स्वाध्यायशील पुरुष जिज्ञासा करता है। वह जानना चाहता है कि, जब प्रत्येक अणु के साथ ही कई जन्मों के सारे भोग भोक्तृत्व भाव साथ चलते हैं, क्या शिष्य को उनकी अनुभूति होती है? क्या उसे एक दूसरे का अनुसन्धान रहता है? इन आशङ्काओं का उत्तर दे रहे हैं—

इस प्रकार के मन्त्रबल के प्रभाव से भी एक साथ ही अनेक देहों में पूर्व के संकुचित अणु और उस समय के परिष्कृत अणु को जन्म और कर्मभोग के अपूर्व वैचित्र्य से संवलित भोगानुसन्धान नहीं होते। वह यह नहीं सोच पाता कि, जिन भोगों को मैं अन्यान्य शरीरों में भोग चुका हूँ, उनका ही भोग इस समय भो कर रहा हूँ। उसे इस तरह के ज्ञान की कौन कहे, इनका भान भो नहीं हो पाता।

इसके कारण पर प्रकाश डालने के लिये शास्त्रकार ने 'विश्वसंयोगप्रविभागवत्' शब्द का प्रयोग किया है। यह योगिवर्यों, मनीषियों का अनुभूत सत्य है। यह ध्रुव सत्य है कि, आत्मा व्यापक तत्त्व है। इसकी व्यापकता के परिवेश में भी विश्वात्मक भावराशि ग्रस्त आत्मा को यह अनुसन्धान नहीं होता कि, मैं इससे संयुक्त हूँ और इस भावराशि से विभागयुक्त अर्थात् वियुक्त

ननु असिद्धोऽयं दृष्टान्तो यदस्य व्यापकत्वात् तत्रापि एवमनुसन्धिरस्तु इत्याशङ्क्याह

नियत्या मनसो देहमात्रे वृत्तिस्ततः परम् ।
नानुसन्धा यतः सैकस्वान्तयुक्ताक्षकल्पिता ॥ २४१ ॥

मनसो हि नियतिशक्तिनियन्त्रणया देहमात्र एवानुसंधानात्मा वृत्तिः न तु ततोऽन्यत्र, यतः सा तदीया वृत्तियुगपज्ज्ञानानुदयादेकेन चक्षुराद्यन्यतमेन

'आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन ।'

(न्या० सू० भा० १।१।४)

इत्यादिनोक्त्या स्वान्तयुक्तेन इन्द्रियेण कल्पिता तदधीनेत्यर्थः ॥ २४१ ॥

भी हूँ । यही स्थिति गुरुमन्त्र के बल से परिष्कृत अणु की भी होती है । अनेक आकारों में रहते और कर्म के विविध भोग भोगते हुए भी उसे कभी इस प्रकार का मानस अनुसन्धान नहीं होता ॥ २४० ॥

प्रश्न करते हैं कि, आपका यह दृष्टान्त असिद्ध है, यहाँ लागू नहीं होता । आत्मा व्यापक है किन्तु उसमें अनुसन्धि सम्भव है । इस पर कह रहे हैं कि, मन नियतितत्त्व से नियन्त्रित है । परिणामतः उसकी वृत्ति देह मात्र में ही होती है । देह मात्र का ही अनुसन्धान वह कर सकता है । उसके अतिरिक्त वह अन्य किसी प्रकार का अनुसन्धान नहीं कर सकता । यह भी ध्यान देने की बात है कि, जब वह एक इन्द्रिय से सम्पृक्त होता है, तो उसी का ज्ञान उसे होगा । युगपत् ज्ञानों का उदय उस अवस्था में असम्भव है । न्यायसूत्रभाष्य (१।१।४) में स्पष्ट परिभाषित किया गया है कि,

"आत्मा मन से संयुक्त होता है । मन एक इन्द्रिय से जुटता है और वही इन्द्रिय अर्थ से जुटती है ।"

यही इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष कहलाता है । स्वान्त (मन) से युक्त इन्द्रिय से कल्पित अनुसन्धा मात्र एकांगी होगी । युगपद् ज्ञानानुदय के कारण तादृश

इन्द्रियाणां च नियतवृत्ति ज्ञानमिति कुतस्तदुल्लङ्घनेनापि देहान्तरादौ मनोऽनुसन्दध्यादत एवाह

प्रदेशवृत्ति च ज्ञानमात्मनस्तत्र तत्र तत् ।
भोग्यज्ञानं नान्यदेहेष्वनुसन्धानमर्हति ।। २४२ ।।

भोग्यज्ञानमिति नीलसुखादिविषयं वेदनमित्यर्थः ।। २४२ ।।

ननु यद्येवं, तद्योगिनां प्रातिभज्ञानादावतीन्द्रियार्थविषयं ज्ञानं कस्मादुदियादित्याशङ्क्याह

यदा तु मनसस्तस्य देहवृत्तेरपि ध्रुवम् ।
योगमन्त्रक्रियादेः स्याद्वैमल्यं तद्विदा तदा ।। २४३ ।।

अनुसन्धान असम्भव है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि, यह दृष्टान्त असिद्ध नहीं है ।। २४१ ।।

इन्द्रियों से जान पड़ने वाला ज्ञान 'नियतवृत्ति' ज्ञान कहलाता है। इस नियम को तोड़कर देहान्तरों में मानस अनुसन्धान कैसे सम्भव है? प्रदेशवृत्ति में प्रदेश-शब्द पारिभाषिक है। आत्मा, मन, इन्द्रिय और अर्थ की परिमित सांकेतिक सीमा का क्षेत्र ही प्रदेश होता है। उसका वर्त्तन वस्तुजन्य ज्ञान के साथ होता है। इस प्रकार जहाँ-जहाँ मन कुछ जानने की स्थिति में होता है, उस ज्ञान को भोग्य-ज्ञान कहते हैं। ये दूसरे शरीरों में भले ही वे युगपद् उत्पन्न हों, उनका अनुसन्धान नहीं हो सकता ।। २४२।।

जिज्ञासु भी असामान्य अनुभवों से ओत-प्रोत है। वह पूछ बैठता है कि, हमें यह बताइये कि, योगियों को प्रातिभज्ञान के उत्कर्ष के फलस्वरूप अतीन्द्रियार्थ-विषयक ज्ञान कैसे हो जाता है? इस पर कह रहे हैं कि,

विदन्! आप को यह जिज्ञासा बड़ी ही उत्तम कोटि की है। अनुभव की कसौटी पर कसी हुई है। मन की वृत्तियाँ बाह्य इन्द्रियों के अधीन हैं, यह तो निश्चित है किन्तु यह भी सत्य है कि, योगानुसन्धान, मन्त्रानुसन्धान और

तस्येति बाह्येन्द्रियाधीनवृत्तेरपि, तद्विदेति तस्यातीन्द्रियस्याप्यर्थस्य विदा ज्ञानमित्यर्थः ॥ २४३ ॥

एतत्प्रकृतेऽपि योजयति

यथामलं मनो दूरस्थितमप्याशु पश्यति।
तथा प्रत्ययदीक्षायां तत्तद्भुवनदर्शनम् ॥ २४४ ॥
जननादिवियुक्तां तु यदा दीक्षां चिकीर्षति।
तदास्मादुद्धरामीति युक्तमूहप्रकल्पनम् ॥ २४५ ॥

क्रियायोग की अनवरत साधना के रहस्य सोपानों को पार कर लेने पर और नैर्मल्य की सिद्धि हो जाने पर उन्हें अतीन्द्रिय अर्थों की भी अनुभूति हो जाती है। उनकी सामान्य विदा संविदा बन जाती है और संवित्तादात्म्यबोध के दर्पण में अतीन्द्रिय भी प्रतिबिम्बित हो जाते हैं॥ २४३ ॥

इस रहस्योद्बोध के चामत्कारिक प्रभाव के प्रसङ्ग को प्रकृत (प्रस्तुत) प्रसङ्ग से जोड़ते हुए कह रहे हैं कि,

निर्मल मन जैसे दूर स्थित पदार्थ को भी ऐन्द्रिय-सन्निकर्ष का विषय बना लेता है, उसे देख सकने की शक्ति पा लेता है, उसी तरह प्रत्यय-दीक्षा में शिष्य को उन-उन भुवनों का अनुदर्शन हो जाता है, जिन्हें वह देखना या पाना चाहता है, सबका दर्शन उसे हो जाता है। शक्तिपात से पवित्रित साधक-शिष्यों में भी कुछ ऐसे प्रतिभाशाली होते हैं, जिन्हें इच्छित भुवनों में अनेक देह विषयक अनुसन्धान भी हो जाता है।

जिस समय साधक-शिष्य जन्म-मरण से वियुक्त करने वाली परा-दीक्षा प्राप्त करने की आकांक्षा करता है, उसी समय उसके मन में यह बात भी संस्कारतः उदित होती है कि, मैं इनसे अपना उद्धार करने में समर्थ हो जाऊँ। ऐसी स्थिति में शक्तिपात की शक्ति उसका साथ देती है। यदि जननादि उसे चिकीर्षित नहीं हों, तो भी क्या वह किसी ऊहापोह में नहीं रहता? इस पर कह रहे हैं कि, उस दशा में भी ऊह प्रकल्पन इसके उत्कर्ष का कारण बन सकता है।

यदा शोध्यं विना शोद्धृन्यासस्तत्रापि मन्त्रतः ।
जननादिक्रमं कुर्यात्तत्त्वसंश्लेषर्वाजतम् ॥ २४६ ॥

एकाकिशोद्धृन्यासे च जननादिविवर्जने ।
तच्छोद्ध्रुसंपुटं नाम केवलं परिकल्पयेत् ॥ २४७ ॥

तत्तद्भुवनदर्शनमिति तीव्रशक्तिपातभाजो हि कस्यचित् तेषु तेषु भुवनेषु अनेकदेहविषयमपि अनुसन्धानं स्यादित्यर्थः । युक्तमिति जननादेरचिकीर्षितत्वात् । कुर्यादिति अर्थादनुल्लिखितविशेषतया, अत एवोक्तं तत्त्वसंश्लेषर्वाजतमिति ॥ २४७ ॥

एवं यथेप्सितशोद्धृसंपुटितं शिष्यनाम कल्पयित्वा किं कुर्यादित्याशङ्क्याह

द्रव्ययोगेन दीक्षायां तिलाज्याक्षततण्डुलम् ।
तत्तन्मन्त्रेण जुहुयाज्जन्मयोगवियोगयोः ॥ २४८ ॥

शाध्य के विना शोधक-न्यास का निर्देश शास्त्र देता है, जहाँ उसके अनुसार दीक्षा एवं न्यास हो चुके हैं, वहाँ भी मन्त्र के प्रबल प्रभाव से जनन-मरण वियोग आदि ऊहात्मक क्रम सम्पादित करना हो चाहिये । इसमें तत्त्वों के संश्लेष की कोई अपेक्षा नहीं होती । जहाँ पर अकेले केवल शोधक-न्यास होता है, वहाँ भी जनन आदि क्रम की प्रकल्पना नहीं होती । वह स्थिति गुरुदेव के चामत्कारिक प्रभाव से उत्पन्न होती है । उस समय वह न्यास और शिष्य 'शोद्धृसंपुट' कहलाते हैं । शोधक संपुटित शिष्य के लिये एक नये नाम की परिकल्पना करनी चाहिये और गुरुक्रम में उसी का व्यवहार होना चाहिये ॥ २४४-२४७ ॥

अपनी अभिलाषा के अनुरूप शोधक संपुटित शिष्य के नाम की परिकल्पना कर क्या किया जाय ? इस प्रश्न के सम्बन्ध में कह रहे हैं कि,

तत्तन्मन्त्रेणेति शोद्धृसंपुटितशिष्यनामलक्षणेन । जन्मयोर्गावियोगयोरिति वस्तुतस्तन्निमित्तमित्यर्थः ॥ २४८ ॥

विज्ञानदीक्षायां पुनरेवं कर्तव्यं किञ्चिन्नास्तीत्याह

यदा विज्ञानदीक्षां तु कुर्याच्छिष्यं तदा भृशम् ।
तन्मन्त्रसंजल्पबलात् पश्येदा चाविकल्पकात् ॥ २४९ ॥

दीक्षा में द्रव्य योग नितान्त अपेक्षित होता है । तिल, घी, अक्षत, चावल आदि के योग से बनी शाकल्य से हवनादि याज्ञिक-प्रक्रिया अवश्य पूरी करनी चाहिये । इसमें यह ध्यान रखना चाहिये कि, शिष्य का एक मातृपितृहैतुक जन्म और दीक्षोपरान्त प्राप्त नवनाम विभूषित नूतन जन्म दोनों से सम्बन्धित मन्त्रों का प्रयोग कर हवन होना ही विहित है । इसी तरह जीवन के क्रम में अध्वावर्ग का संयोग, तत्सम्बन्धी किये गये विविध कर्म, संस्कारों के योग और उनके मन्त्रशक्ति से दग्ध हो जानेरूप वियोग के मन्त्रों से भी हवन होना यहाँ आवश्यक माना जाता है । यह सारा विधान शोधक संपुट शिष्य के नये नाम से संकलित होना चाहिये ॥ २४८ ॥

विज्ञान-दीक्षा में इस प्रकार के किसी कार्य की कोई आवश्यकता नहीं होती । इसी सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त कर रहे हैं—

जिस समय शिष्य को विज्ञान-दीक्षा दी जाय, उस समय विशेष सावधानी की आवश्यकता होती है । मन्त्रों के बीजात्मक, पदात्मक या संहितात्मक प्रयोग एक प्रकार के स्थूल प्रयोग हैं । जब मन्त्रों का आन्तर विमर्श उल्लसित होता है, तब परामृष्टा साधक (जो स्वयं साधना के बल पर क्षेत्रज्ञ की स्वतन्त्रता से संवलित होता है) उनके तैजस स्वरूप को अपने 'स्व' भाव में आमृष्ट करने लगता है । परामर्शक साधक के इस मन्त्रात्मक विमर्श को 'संजल्प'[1] कहते हैं । इसी संजल्प के द्वारा जो एक प्रकार का विकल्प ही माना जाता है, निर्विकल्पात्मकता की उपलब्धि सम्भव हो जाती है ।

---

१. श्री तन्त्रालोक १।१०२, ११७-१२१

तन्मन्त्रेति तस्य शोद्धृत्वेनाभीप्सितस्य मन्त्रस्येत्यर्थः। चो भिन्नक्रमो हेतौ, तेन तदा चेति। आ आविकल्पकादिति साक्षात्कारात्मनिर्विकल्पक-विश्रान्तिपर्यन्तमित्यर्थः॥ २४९॥

ननु शब्दात्मा संजल्पः कथमविकल्पके विश्राम्येदित्याशङ्क्याह

विकल्पः किल संजल्पमयो यत्स विमर्शकः।
मन्त्रात्मासौ विमर्शश्च शुद्धोऽपाशवतात्मकः॥ २५०॥
नित्यश्चानादिवरदशिवाभेदोपकल्पितः।
तद्योगाद्दैशिकस्यापि विकल्पः शिवतां व्रजेत्॥ २५१॥

गुरुदेव अपने संजल्प के अमृत से शिष्य को अभिषिक्त करते रहें—यह शक्तिपात की ही एक प्रक्रिया के समान है। जब तक शिष्य को स्वात्म-साक्षात्काररूपिणी निर्विकल्पकता में विश्रान्ति नहीं प्राप्त हो जाती, तब तक गुरु का संजल्प शिष्य के संजल्प को प्रेरित करता रहे। इस दीक्षा-प्रक्रिया से शिष्य का परमकल्याण हो जाता है॥ २४९॥

यहाँ संजल्प के सम्बन्ध में एक प्रश्न खड़ा हो जाता है कि, संजल्प में मध्यमा वाक् का प्रयोग होता है। मध्यमा वाक् भी शब्दमयी ही होती है। सभी प्रकार के विचार शब्दों पर ही आधारित होते हैं। यह एक प्रकार का विकल्प ही होता है। इससे अविकल्प में विश्रान्ति कैसे सम्भव है? इस सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त कर रहे हैं—

विकल्पात्मक संजल्प शब्दरूप होता है। संजल्प की तरङ्गों में ही विमर्श रूपायित होता है। वही विमर्शक मात्र में उल्लसित रहता है। ये सभी विमर्श भी मन्त्रात्मक होते हैं। मन्त्रात्मकता के स्तर पर पाशव-भाव सम्भव नहीं है। अतः इसे अपाशवात्मक और शुद्ध मानते हैं। यह नित्य है। अनादि वरप्रद परमेश्वर शिव से अभेद भाव से उपकल्पित होने वाला यह विश्व के लिये वरदान रूप ही माना जाता है। परमेश्वर शिव से दैशिक शिरोमणि गुरुदेव का भी शाश्वत योजन शास्त्रसिद्ध है। इस आधार पर कह सकते हैं कि, गुरु का विकल्प-संजल्प भी शिवत्व से संवलित रहता है। इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं।

विकल्पस्य हि संजल्पः स्वरूपं यदसौ क्षेत्रज्ञस्वातन्त्र्यात्मकत्वात्परामष्टृस्वभावः। असौ संजल्प एव च मन्त्रात्मा यन्नान्तरीयकश्च विमर्शो निर्विकल्पैकरूपत्वाच्छुद्धः, अत एव

'सोऽयमैश्वरो भावः पशोरपि।'

इत्यादिनयेन अपाशवतात्मकः, अत एव नित्यः

'स्वभावमवभासस्य..............।' (ई० प्र० १।५।११)

इत्यादिनीत्या तदवियुक्तस्वरूप इत्यर्थः। ननु कथमेवंविधविमर्शयोगित्वं संजल्पात्मनः स्थूलस्य विकल्पस्य स्यादित्याशङ्क्योक्तमनादिवरदशिवाभेदोपकल्पित इति। मन्त्रयितुश्चेतःस्वरूपानुप्रवेशादेव विकल्पोऽपि शिवतां व्रजेदविकल्पक एव विश्राम्येदित्यर्थः॥ २५१॥

संजल्प और विमर्श में नान्तरीयकता का सम्बन्ध होता है। निर्विकल्पात्मक होने से ही यह शुद्ध भी होता है। इसी आधार पर आगम कहता है कि,

"पशु में प्रस्फुरित होने वाला यह ऐश्वर भाव है।"

ऐश्वर भाव के कारण ही इसे अपाशवात्मक कहा गया है। ईश्वर प्रत्यभिज्ञा (१।५।११) में स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट है कि,

"विमर्श अवभास का ही 'स्व' भाव है" इस नियम के आधार पर वह नित्य माना जाता है क्योंकि स्वभाव नित्य रूप से अवभास में उल्लसित रहता है। प्रकाश को ही अवभास कहते हैं।

ऐसे ऐश्वर भाव रूप विमर्श के साथ स्थूल शब्दरूप विकल्पात्मक संजल्प का सम्बन्ध कैसे हो सकता है? इस जिज्ञासा की पृष्ठभूमि में ही कहा गया है कि, यह अनादि वरद शिव भाव में ही उपकल्पित होता है।

मन्त्र, प्रयोक्ता के चैतन्यप्रतीकरूप चेतस में स्वरूपतः अनुप्रविष्ट होता है। अतः यह शिवता को उपलब्ध होता है अर्थात् निर्विकल्प शाश्वत शैव महाभाव में ही इसकी विश्रान्ति हो जाती है॥ २५०-२५१॥

नचैतद्युक्तित एव सिद्धमित्याह

श्रीसारशास्त्रे तदिदं परमेशेन भाषितम् ।

तदेव पठति

अर्थस्य प्रतिपत्तिर्या ग्राह्यग्राहकरूपिणी ॥ २५२ ॥
सा एव मन्त्रशक्तिस्तु वितता मन्त्रसन्ततौ ।

या नाम अर्थालोचनात्मिका ग्राह्यग्राहकरूपिणी अङ्गुलिशिरोनिर्देश-प्रख्यतदामर्शमयी अविकल्पकस्वभावा प्राथमिकी प्रतिपत्तिः, सैव सर्वेषां मन्त्राणामनवच्छिन्ना प्रमात्रेकात्मनि अन्तर्गुप्ततया समुच्चरद्रूपा शक्तिः सत्तेत्यर्थः ॥

एवं चेदमनेनोक्तं स्यादित्याह

परामर्शस्वभावेत्थं मन्त्रशक्तिरुदाहृता ॥ २५३ ॥
परामर्शो द्विधा शुद्धाशुद्धत्वान्मन्त्रभेदकः ।

यह बात केवल युक्ति और तर्क पर ही आधारित नहीं है, अपितु इसका आगमिक प्रामाण्य भी है । यही कह रहे हैं—

श्रीसारशास्त्र में स्वयम् परमेश्वर के मुखारविन्द से मकरन्द की तरह यह वागमृत प्रस्फुटित है । वहाँ कहा गया है कि, ग्राह्यग्राहकरूपिणी जो अर्थ को प्रतिपत्ति होती है, वही 'मन्त्रशक्ति' कहलाती है । मन्त्रों की परम्परा में यह विस्तृतरूप से उल्लसित रहती है ।

ग्राह्य और ग्राहक दोनों की सम्मिलित सक्रियता से अर्थ का आलोचन होता है । इसमें एक अविकल्प स्वभावमयी शक्ति होती है । इसी शक्ति से अर्थ की प्रतिपत्ति हो जाती है । अर्थ की प्रतिपत्ति हो जाने पर व्यक्ति अपनी जानकारो के संकेत के लिये ही अंगुलियों और शिर आदि हिलाने का काम करता है । यह प्रतिपत्ति ही मन्त्र शक्ति रूप से शाश्वत उच्छलित होती है । यह आन्तर भाव से सतत समुच्चरद्रूपा होती है । अनवच्छिन्न रूप से मन्त्र में सुगुप्त रहती हुई अभिव्यक्त होती है ॥ २५२ ॥

सच शुद्धाशुद्धरूपतया द्विधा मन्त्रान्भेदयतीत्याह परामर्श इत्यादि ।

एतच्चागमोक्त्यैव विभजति—

उक्तं श्रीपौष्करेऽन्ये च ब्रह्मविष्ण्वादयोऽण्डगाः ॥ २५४ ॥

प्राधानिकाः साञ्जनास्ते सात्त्वराजसतामसाः ।
तैरशुद्धपरामर्शात्तन्मयीभावितो गुरुः ॥ २५५ ॥
वैष्णवादिः पशुः प्रोक्तो न योग्यः पतिशासने ।
ये मन्त्राः शुद्धमार्गस्थाः शिवभट्टारकादयः ॥ २५६ ॥
श्रीमन्मतङ्गादिदृशा तन्मयो हि गुरुः शिवः ।

तन्मय इति शुद्धपरामर्शात्मशिवभट्टारकादिमन्त्रैकात्म्यमापन्न इत्यर्थः ॥

इसलिये मन्त्र शक्ति परामर्श स्वभाव वाली मानी जाती है। परामर्श भी दो प्रकार का होता है—प्रथम शुद्ध और दूसरा अशुद्ध। परिणाम स्वरूप मन्त्र भी दो प्रकार के भेद से युक्त माने जाते हैं ॥ २५३ ॥

श्रीपौष्करशास्त्र में यह स्पष्ट रूप से उल्लिखित है कि, ब्रह्माण्ड के अधिकारी ब्रह्मा, विष्णु और अन्य देववर्ग साञ्जन और अपने दायित्व के प्रधान निर्वाहक होते हैं। इनमें सात्त्विक, राजस और तामस भावों का प्राधान्य होता है। यह त्रैगुण्य भाव अशुद्ध होता है तथा इन देवों की उपासना में लगे हुए लोग अशुद्ध परामर्शों से ग्रस्त होते हैं। इनका गुरु वर्ग भो त्रैगुण्य से भावित ही होता है। परिणामस्वरूप वे पाशबद्ध होते हैं और पशु कहलाते हैं। इन्हें पशुपति अर्थात् शैवशासन परम्परा में अयाग्य माना जाता है। जो शुद्धमार्ग के मन्त्र हैं, जैसे शिव भट्टारक आदि मन्त्र हैं, उन मन्त्रों से शैव-दीक्षा दी जा सकती है। श्रीमन्मतङ्गशास्त्र के अनुसार इन मन्त्रों का विज्ञ और मन्त्रमय हो जाने वाला गुरु साक्षात् शिव हो जाता है ॥ २५४-२५६ ॥

ननु भवतु नाम विकल्पस्य क्षेत्रज्ञस्वातन्त्र्योल्लिखितसंजल्पयोगाद् विमर्शकत्वम्, तद्योग एवास्य पुनः प्रथमतरं कुतस्त्य इत्याह—

ननु स्वतन्त्रसंजल्पयोगादस्तु विमर्शिता ॥ २५७ ॥
प्राक्कुतः स विमर्शाच्चेत्कुतः सोऽपि निरूपणे ।
आद्यस्तथाविकल्पत्वप्रदः स्यादुपदेष्टृतः ॥ २५८ ॥
यः संक्रान्तोऽभिजल्पः स्यात्तस्याप्यन्योपदेष्टृतः ।

अथोच्यते विमर्शादसाविति, तत्सोऽपि कुत इत्याह विमर्शाच्चेत्, कुतः सोऽपीति । एवं हि विकल्पस्य संजल्पयोगाद्विमर्शः, तस्माच्च संजल्पयोग इत्यन्योन्याश्रयं भवेदिति भावः, तदिदमत्रावधार्यमित्याह निरूपण इत्यादि, निरूपणे हि उत्तमवृद्धलक्षणादुपदेष्टुः सकाशात् आद्यः कश्चिन्मूलभूतो विमर्शः

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि, विकल्प से परामर्श योग का आधार क्या है और कहाँ से है ? इतना तो मानने याग्य है कि, क्षेत्रज्ञ स्वातन्त्र्य से उल्लसित संजल्प के योग से विमर्शात्मकता आती है किन्तु इसका उत्स क्या है ? संजल्प और विमर्श को परम्परा का स्रोत किसे समझा जाय ? इस पर कह रहे हैं—

कोई इस विषय में पूछता है कि, स्वतन्त्र संजल्प योग से ही क्या विमर्शात्मकता आ जाती है ? अवान्तर जिज्ञासा यह भी होती है कि, पहले पहल यहाँ कहाँ से उत्पन्न होती है । क्या विमर्श से ही संजल्प होता है ? यदि यही मान लिया जाय तो भी यह पूछा जा सकता है कि, कब कहाँ विमर्श से संजल्प का उदय हो सका ? वास्तव में यह एक उलझी बात हो जाती है कि, संजल्प से विमर्श या विमर्श से संजल्प ? किसे प्रथम स्तरीय माना जाय ? क्या यह अन्योन्याश्रित उदय माना जाय ? इस प्रकार के ऊहापोह की स्थिति में किसी निश्चय पर कैसे पहुँचा जाय ? जो कुछ भी हो, इसके निरूपण के सम्बन्ध में सोचना आवश्यक है । विचार को प्रेरित करने वाला एक उपदेष्टा पर विचार करें । वह श्रद्धेय, वृद्ध और अनुभवी पुरुष है । उससे कोई मूल-

समनन्तरोक्तविकल्परूपतादायी भवेत् यः किल उपदेश्ये प्रतिसंक्रान्तः संजल्पात्मकतां यायात् यद्योगादपि विकल्पस्य परामृष्टृत्वं स्यात्। नन्वेवमुपदेष्टुरप्यसौ कुतस्त्य इत्याशङ्कयोक्तं तस्याप्यन्योपदेष्टृत इति ॥

एवं हि मूलक्षतिकारिणी इयमनवस्था परापतेदित्याशङ्कयाह

पूर्वपूर्वक्रमादित्थं य एवादिगुरोः पुरा ॥ २५९ ॥
संजल्पो ह्यभिसंक्रान्तः सोऽद्याप्यस्तीति गृह्यताम् ।

इत्थं हि यथानुपूर्वमुपदेष्टृक्रममवलम्ब्य सहजविमर्शात्मनः परमेशितुरादिगुरोः सकाशाद्य एव प्राथमिकः संजल्पोऽभितः समन्ताद्यथोत्तरमुपदेश्येषु संक्रान्तः, स एव प्रतिसंक्रान्तवृत्तितया अनुवर्तमानोऽद्यापि मायाप्रमातृपर्यन्तमस्तीति गृह्यतां नैवं काचिदनवस्थेत्यर्थः ॥

भूत मौलिक विमर्श की स्थिति उत्पन्न हुई। वह विमर्श विकल्प रूप हो जाता है। उपदेश्य शिष्य में प्रतिसंक्रान्त हो जाता है। यहाँ वह संजल्प बन जाता है। संजल्प के इस उदय से, विकल्प-संजल्प संयोग से विकल्प ही परामर्श का माध्यम बन जाता है। यहाँ पूछने का अवसर उपस्थित हो आता है कि, श्रद्धेय, वृद्ध और अनुभवी उपदेष्टा को भी वह कहाँ से मिला था ? इस प्रकार इस अनुभूत सत्य को समझा जा सकता है ॥ २५७-२५८ ॥

समझने के इस उपक्रम में एक गड़बड़ी आ पड़ती है। एक ऐसी अनवस्था का उदय होने लगता है, जिससे मूल सिद्धान्त की क्षति होने लगती है। इस पर कह रहे हैं कि, आनुपूर्वी उपदेष्टाओं के क्रम का आलम्बन करते हुए हम उस बिन्दु पर पहुँच जाते हैं, जहाँ आदि गुरु परमेश्वर ही आदि उपदेशामृत की वर्षा करता है। उसी से आदिम संजल्प प्रसृत हुआ और यथोत्तर उपदेश्य (शिष्य) में संक्रान्त हुआ। वह प्रथम संजल्प ही प्रतिसंक्रान्त वृत्ति से अनुवर्तमान होता हुआ आज तक माया प्रमाताओं में भी प्रसरणशील हो रहा है। इस प्रकार अनवस्था स्वयं समाप्त हो जाती है और उत्तर मिल जाता है। यहाँ 'गृह्यताम्' शब्द का प्रयोग एक सूक्ति के रूप में ही किया गया है। इस अर्थ में आज एक मुहावरा प्रचलित है—"मेरी बात को गाँठ बाँध लीजिये"। इस मुहावरे का प्रयोग भी इसी अर्थ में किया जाता है ॥२५९॥

एवं च तन्माहात्म्योपनतो यः कश्चन वैकल्पिको व्यवहारः, सोऽपि ध्रुवं तदात्मैवेत्याह

यस्तथाविधसंजल्पबलात्कोऽपि स्वतन्त्रकः ॥ २६० ॥
विमर्शः कल्प्यते सोऽपि तदात्मैव सुनिश्चितः ।

एवमादिगुरोः प्रभृति प्रवृत्त एक एवेयत्कालपर्यन्तं प्रतिसंक्रान्तवृत्तितयानुवर्तमानस्तत्तदभिजल्पवपुषा स्फुरतीति सिद्धम् ॥

ननु यद्येवं, तद्यत्र शब्दात् शब्दान्तरे व्युत्पत्तो परामर्शभेदोऽस्ति, तत्र किं प्रतिपत्तव्यमित्याशङ्क्याह

घटकुम्भ इतीत्थं वा यदि भेदो निरूप्यते ॥ २६१ ॥
सोऽप्यन्यकल्पनादायो ह्यनाद्दृत्यः प्रयत्नतः ।

इस संजल्पात्मक माहात्म्य के प्रभाव से उपनत जो कोई वैकल्पिक व्यवहार होता है, वह भी निश्चय ही तदात्मक ही होता है, यही कह रहे हैं—

ऐसे संजल्प की शक्ति से यदि कोई स्वतन्त्र विमर्श कल्पित होता है, वह तदात्मक ही होता है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता। यह ध्रुव सत्य तथ्य है। आदि गुरु भगवान् शङ्कर से प्रवर्तित और इतने अनन्तानन्त काल को पार कर आज तक प्रतिसंक्रान्त वृत्ति के स्वभाव से अनुवर्तमान यह प्रवाह उसी संजल्प का अनुजल्प है। यह शाश्वत रूप से प्रवर्तमान रहेगा और तदात्मक ही माना जायगा, यह निश्चय है ॥ २६० ॥

यदि ऐसी बात है, तो यह विचार करना आवश्यक हो जाता कि, जहाँ शब्द से शब्दान्तर में व्युत्पत्ति की प्रक्रिया अपनायी जाती है, वहाँ स्वभावतः परामर्श में भेद प्रतीत होता है। ऐसी स्थिति को क्या समझा जाय? इस पर कह रहे हैं—

घट शब्द का प्रयोग घड़े अर्थ में होता है। इसी अर्थ क्रम में कुम्भ शब्द भी स्मृत हो आता है। घट विमर्श के उपरान्त कुम्भ का शब्दान्तर परामर्श रूप भेद यहाँ उपस्थित हो गया है। इसका निरूपण सरल है क्योंकि स्पष्ट प्रतीत है।

पणायते करोतीति विकल्पस्योचितौ स्फुटम् ॥ २६२ ॥

करपाण्यभिजल्पौ तौ संकीर्येतां कथं किल ।

यदि नाम घटविमर्शात्कुम्भविमर्श इत्येवंप्रकारः परामर्शस्य भेदो निरूप्यते, तदसौ स्वोचितप्राच्यविमर्शपरित्यागात्कल्पनान्तरकारितया प्रयत्नेनापि परिहार्यः । नहि करपाणिशब्दौ करोत्यादानमिति करः, पणायते द्यूतादिना व्यवहरतीति पाणिश्चेति संकल्पयितुं स्फुटमुचितौ कदाचिदपि संकीर्येतामेकपरामर्शाभिजल्पात्मतां भजत इत्यर्थः ॥

यह भेद भी अवान्तर कल्पना को उत्पन्न करता है क्योंकि शब्द से स्वाभाविक रूप से जिस अर्थ का परामर्श होता है, उस प्राच्य विमर्श का परित्याग होने लगता है। घट शब्द से घड़े का परामर्श प्राच्य परामर्श है। 'कुम्भ' में कु-पृथिवी, भ-भरण रूप नये परामर्श से प्राच्य परामर्श का परित्याग तुरत हो जाता है। प्रश्न है कि, क्या यह अनुचित है ? शास्त्रकार कहते हैं कि, यह प्रयत्नपूर्वक छोड़ने योग्य है। यह परामर्श कदापि आदर योग्य नहीं है।

इस दृष्टान्त और उदाहरण के माध्यम से उसी तथ्य को और भी स्पष्ट कर रहे हैं—हाथ के लिये दो शब्द 'कर' और 'पाणि' प्रयुक्त होते हैं। दोनों की व्युत्पत्ति निश्चित रूप से परामर्श भेद उत्पन्न करती हैं। कर की व्युत्पत्ति बनतो है—करोति आदानमिति करः। वह अङ्ग जिससे कुछ ग्रहण किया जाय, वह कर है। जहाँ हम पाणि शब्द का प्रयोग करते हैं, परामर्श भेद तुरत उत्पन्न होता है। वहाँ व्युत्पत्ति बनतो है—पणायते (जुआ इत्यादि का व्यवहार करता है) इति पाणिः, उसे पाणि (हाथ) कहते हैं। ये परामर्श रूप विकल्प के सहजता से प्रतीत होने वाले भेद हैं। हम इन परामर्शों का आदर नहीं करते, इनकी उपेक्षा कर देते हैं और एक ही 'हाथ' अर्थ को स्वीकार करते हैं। अर्थ प्रतीति में ये बाधक नहीं बनते, अपितु एक ही अर्थ के परामर्श का अभिजल्प करते हैं। दोनों परामर्श वास्तविक अर्थ से संकीर्यमाण नहीं होते। ऐसा हो भी नहीं सकता ॥ २६१-२६२ ॥

ननु यद्येवं, तत्संभवन्ती अपि शब्दाच्छब्दान्तरे व्युत्पत्तिः कथमपह्नूयते इत्याशङ्क्याह

शब्दाच्छब्दान्तरे तेन व्युत्पत्तिर्व्यवधानतः ॥ २६३ ॥
व्यवहारात्तु सा साक्षाच्चित्रोपाख्याविमर्शिनी ।

तेन संजल्पासाङ्कर्येण हेतुना व्यवधानतः स्वोचितप्राच्यविमर्शसंनिधापनद्वारेण शब्दाच्छब्दान्तरे घटाभिजल्पादिव कुम्भाभिजल्पे व्युत्पत्तिरवबोधः, वृद्धव्यवहारात्पुनर्नानाकारशब्दसंदर्भविमर्शकारितया सा साक्षादव्यवधानेनैव तत्र सर्वेषां व्युत्पत्तिरित्यर्थः ॥ २६३ ॥

एवमिदमत्र वस्तुसतत्त्वं पर्यवसितमित्याह

तद्विमर्शोदयः प्राच्यस्वविमर्शमयः स्फुरेत् ॥ २६४ ॥
यावद्बालस्य सवित्तिरकृत्रिमविमर्शने ।

यह एक विचित्र स्थिति है। परामर्श भेद स्पष्ट है और इनका अर्थोपपत्ति के क्षण में अपह्नव भी स्पष्ट है। ऐसा क्यों होता है, इस प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं—

शब्द से शब्दान्तर के अभिजल्प जैसे घट शब्द से घट रूप पात्र के अतिरिक्त कुंभ रूप अभिजल्प की प्रतीति का ज्ञान व्यवधान से होता है। यहाँ व्युत्पत्ति और व्यवधान विचारणीय शब्द हैं। व्युत्पत्ति शब्द यहाँ अवबोध अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। शब्द से शब्दान्तर का अवबोध व्यवधान के माध्यम से होता है। शब्द के ध्यान में आते ही उससे जिस अर्थ का संजल्प होता है, उस अर्थ की तत्काल प्रतीति हो जाती है। द्वितीय प्रतीति और प्राच्य प्रतीति रूप विमर्श के औचित्य के दो क्षण होते हैं। दोनों संजल्प परस्पर मिलते नहीं हैं। वहीं आन्तर व्यवधान उदित होता है।

प्राच्य व्यवहार ही वृद्ध व्यवहार है। फिर दूसरे विमर्श अपनी परिस्थितियों पर निर्भर करते हैं। अनेकानेक शब्दों के नाना प्रकार के संदर्भों से नाना विमर्श उत्पन्न होते हैं। प्राच्य विमर्श से साक्षात् अव्यवधानपूर्वक ही अर्थावबोध संभव है, अन्य से नहीं ॥ २६३ ॥

तत् तस्मात् वृद्धपरम्परायातस्वात्मीयविमर्शमय एव घटादेर्विमर्शस्योदयः स्फुरेद्यावदनधिगतशब्दार्थव्युत्पत्तेर्बालस्यापि शब्दसंसर्गयोगात् अकृत्रिमे स्वसंवित् विमर्शने, तेन का वार्ता तद्व्युत्पत्तिभाजो जनस्येत्यर्थः ॥

अत एव च एतद्वैलक्षण्यं मन्त्राणां, येन तत्र परमेश्वरस्यादर इत्याह

तेन तन्मन्त्रशब्दार्थविशेषोत्थं विकल्पनम् ॥ २६५ ॥
शब्दान्तरोत्थाद्भेदेन पश्यता मन्त्र आदृतः ।

उक्त वैचारिक ऊहापोह से यह निष्कर्ष निकलता है कि, प्राच्यविमर्श से होने वाला अर्थावबोध अपने प्रमाता के स्वात्मविमर्शमय अर्थावबोध के रूप में स्फुरित होता है। 'घट' प्रयोग से घड़े का अर्थावबोध भी प्राच्य विमर्शमय ही होता है। जहाँ तक अनधिगत-शब्दार्थ-व्युत्पत्ति बालक का प्रश्न है। उसे शब्द संसर्ग का ज्ञान ही नहीं होता। उसे जो बोध होता है, वहाँ उसका अकृत्रिम अर्थात् स्वाभाविक स्वात्मविमर्श हो काम देता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि, जब बालक को ऐसा स्वाभाविक बोध हो जाता है, तो जो उसकी व्युत्पत्ति से परिचित हैं, उनके अर्थावबोध के सम्बन्ध में क्या कहना ? उन्हें तो प्राच्यविमर्श से अर्थावबोध में कोई बाधा ही नहीं होती ॥ २६४ ॥

जब शब्द से अर्थावबोध में उस प्रकार के वैचित्र्यपूर्ण ऊहापोह आते हैं, तो स्वभावतः यह विचार भी सामने आता है कि, मन्त्रों से होने वाले विचारों में विशिष्ट विमर्शों के कितने वैच्त्र्य हो सकते हैं। इसलिये उन उन विशिष्ट शक्तियों से अभिसंबद्ध शब्दों के अर्थ विशेष से उदित होने वाले संजल्पों का क्या स्वरूप हो सकता है—यह ध्यान देने की बात है। ऐसे मन्त्रों में परमेश्वर का आदर भी स्वाभाविक है क्योंकि इनमें आदि संजल्पों का संस्कार ज्यों का त्यों सुरक्षित है। मन्त्र शब्दार्थं-विशेष से उत्पन्न होने वाला जो विकल्प संस्कार है, उसमें शब्दान्तरों से उत्पन्न भेदों को दृष्टि का वैशिष्टय काम करता है। इन सबका साक्षात्कार स्वयं परमेश्वर ही करने में समर्थ हैं। इसीलिये आगमशास्त्र में स्वयं भगवान् द्वारा ही मन्त्रों का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। यद्यपि शब्दान्तर परविमर्शात्मक होते हैं,

यच्चापि बीजपिण्डादेरुक्तं प्राग्बोधरूपकम् ॥ २६६ ॥

तत्तस्यैव कुतोऽन्यस्य तत्कस्मादन्यकल्पना ।

तेन शब्दान्तराणां तत्तत्प्राच्यस्वविमर्शमयतया स्फुरणेन हेतुना, शब्दान्तरोत्थाद्विकल्पनात् तेभ्यः सहजानवच्छिन्नविमर्शरूपेभ्यो मन्त्रशब्दार्थविशेषेभ्यः समुत्थितं विकल्पनं भेदेन वैलक्षण्येन पश्यता साक्षात्कुर्वता भगवता मन्त्र आदृतः परमोपादेयतयोपदिष्ट इत्यर्थः। तच्छब्दान्तराणां परविमर्शात्मकत्वेऽपि वृद्धव्यवहारपरम्परया यथायथमवरोहक्रमेण स्थूलेन संजल्पात्मना रूपेणापि उदय इत्युक्तम्, मन्त्राणां पुनरनादिगुरोः प्रभृत्यद्यापि अनवच्छिन्नसहजपरामर्शात्मकत्वमविशिष्टमेवेति । अत एव यच्चापि प्राक्

'बीजपिण्डात्मकं सर्वं संविदः स्पन्दनात्मताम् ।

विदधत्—..॥' (७।२)

इत्यादिना बीजपिण्डादेर्बोधरूपत्वमुक्तम्, तत्तस्यैव, नतु शब्दान्तराणामपि तेषां यथायथं स्थूलरूपत्वापत्तेरुक्तत्वात्। तत् तस्मादनवच्छिन्नबोधरूपे बीजपिण्डादौ कस्मादन्यस्य तत्तदुपदेष्टृपरम्परापतितस्य विमर्शान्तरस्य कल्पना, नास्त्यत्र संजल्पनान्तरतुल्यकक्ष्यत्वमित्यर्थः॥

फिर भी परम्परा से प्राप्त वृद्ध व्यवहार क्रमिक रूप से यथातथ रूप में स्थूल संजल्प रूप से सतत अनवरत उदित हो रहे हैं।

जहाँ तक मन्त्रों के जप का प्रश्न है, उनमें इसी अनवच्छिन्न परम्परा का आकलन साधकों को करना चाहिये। इसी शास्त्र में (श्रीत० ७।२) वर्णित श्लोक द्वारा यह प्रतिपादित किया गया है कि "यह बीज पिण्डात्मक सारा मन्त्रवर्ग संवित्तत्त्व की स्पन्दनात्मकता की स्फुरत्ता को ज्यों का त्यों धारण करता हुआ संवित्तादात्म्य के लिये उपाय बन जाता है"।

इस कथन से यह निष्कर्ष भी निकलता है कि, ये बीजपिण्डात्मक मन्त्र-बोध रूप भी हैं। यह विशिष्टता केवल मन्त्र की ही है। अन्य शब्दान्तरों की स्थूल संजल्पात्मक विकल्परूपता के कारण उनका वह विशिष्ट महत्त्व नहीं होता। इसी आधार पर कारिका कहती है कि 'कस्मादन्यकल्पना' अर्थात्

अनेनैवाभिप्रायेण सर्वत्र शास्त्रे गुरोर्मन्त्रतन्त्रविशारदत्वमेव मुख्यं लक्षणमुक्तमित्याह

एतदर्थं गुरोर्यत्नाल्लक्षणे तत्र तत्र तत् ॥ २६७ ॥
लक्षणं कथितं ह्येष मन्त्रतन्त्रविशारदः ।

तदेवं सर्वात्मना मन्त्रार्थपरिशीलनपरेणैव गुरुणा भाव्यमित्याह

तेन मन्त्रार्थसंबोधे मन्त्रवार्तिकमादरात् ॥ २६८ ॥
ऊहापोहप्रयोगं वा सर्वथा गुरुराचरेत् ।

इस महत्त्वपूर्ण अनवच्छिन्न बोधरूप बीजपिण्ड के सामने अन्य साम्प्रदायिक गुरुओं द्वारा उपदिष्ट विमर्शान्तरों की क्या विसात ? ये कभी भी उस महत्त्व को नहीं पा सकते, जो मन्त्रों को प्राप्त है ॥ २६५-२६६ ॥

इसीलिये सभी शास्त्रों में गुरु के लक्षण करते समय यह अवश्य परि-भाषित किया गया है कि, गुरु मन्त्र-तन्त्र का विशारद होना चाहिये, यही कह रहे हैं—

एतदर्थ ही यत्र तत्र शास्त्रों में गुरु के लक्षण को परिभाषित करते समय सदा इन लक्षणों की मुख्यता पर ही बल दिया गया है कि, गुरु मन्त्र और तन्त्र का विशारद होना ही चाहिये ॥ २६७ ॥

इसलिये गुरुस्तरीय प्रत्येक साधक का यह कर्त्तव्य है कि, मन्त्रार्थों के परिशीलन में सदा, सर्वदा और सर्वथा तत्पर रहना चाहिये । यही कह रहे हैं—

इसलिये मन्त्रार्थ के संबोध में मन्त्रों के वार्त्तिक भाग के परिशीलन में आस्थापूर्वक लगा रहे, उनकी आन्तर शाक्त भावराशि को समझने के लिये ऊहापोह का प्रयोग करे, प्रश्नोत्तर क्रम से उन्हें समझने का प्रयत्न करे और अनवरत संबोध को प्रकाशरश्मियों की तरङ्गों में अपने विमर्श को खेलने के लिये छोड़ दे । इसी आचरण से गुरु अपने गौरव की रक्षा कर सकता है । इसमें आचरण में विधि का प्रयोग 'स्वाध्यायान्मा प्रमदितव्यम्' इस उपदेश की ओर संकेत करता हुआ प्रतीत हो रहा है ॥ २६८ ॥

ननु यद्येवंविधो गुरुर्न स्यात्, तदा किं कार्यमित्याशङ्क्याह

मन्त्रार्थविदभावे तु सर्वथा मन्त्रतन्मयम् ॥ २६९ ॥

गुरुं कुर्यात्

मन्त्रतन्मयमिति मन्त्रैकात्म्यमापन्नमित्यर्थः ॥

अत एवाह

तदभ्यासात्तत्संकल्पमयो ह्यसौ ।

ननु दृढनिरूढमन्त्रार्थभावनाभाजो गुरोरपि अन्योऽभिजल्पो मन्त्रसमानमहिमैव, तत्कथमुक्तं मन्त्राणां संजल्पान्तरतुल्यकक्ष्यत्वं नास्तीत्याशङ्क्याह

तत्समानाभिसंजल्पो यदा मन्त्रार्थभावनात् ॥ २७० ॥

गुरोर्भवेत्तदा सर्वसाम्ये को भेद उच्यताम् ।

प्रश्न उपस्थित होता है कि, यदि इस प्रकार का गुरु न प्राप्त हो तो क्या करना चाहिये ? इस शङ्का का समाधान करते हुए कह रहे हैं कि,

यदि मन्त्रार्थविज्ञ गुरु की प्राप्ति न हो, तो ऐसे गुरु का अन्वेषण करना चाहिये, जो मन्त्रों में श्रद्धापूर्वक लीन रहने वाला हो, तन्मय भाव से श्रद्धापूर्वक उनको ही भगवान् मानकर उनमें रम जाता हो । ऐसा गुरु भी भाग्य से ही प्राप्त होता है । यह निश्चय रूप से जानना चाहिये कि, मन्त्रों के सतत अभ्यास से वह मन्त्र संकल्पमय हो जाता है । उसका मन्त्रसंकल्प शिवसंकल्प बन जाता है ।

इस पर जिज्ञासु यह पूछ बैठता है कि, अगर तत्समान अभिसंजल्पवान् साधक मन्त्रार्थभावना से भी गुरु बन सकता है, तो सर्वसाम्य भावन से और संजल्पान्तर भावन से वह गुरु क्यों नहीं बन सकता ? साथ ही मन्त्रों से संजल्पान्तर की समान कक्ष्यता क्यों नहीं हो सकती ? इसी प्रश्न को यहाँ उपस्थित कर रहे हैं कि, ऐसे मान्त्रिक गुरु का सर्वसाम्य में भी कोई अन्तर नहीं पड़ता ॥ २६९-२७० ॥

ननु असिद्धं सर्वसाम्यम्, मन्त्रेतरस्य हि अभिजल्पस्य भिन्नैवानुपूर्वी-त्याशङ्क्याह

अंशेनाप्यथ वैषम्ये न ततोऽर्थक्रिया हि सा ॥ २७१ ॥

वैषम्य इति आनुपूर्व्यादिना मन्त्राद्भेदे। तत इत्यभिसंजल्पात्। सेति मन्त्रकार्या ॥ २७१ ॥

यस्तु सत्यपि भेदे कीटगोमयाभ्यामिव कीटं मन्त्रसंजल्पाभ्यामपि एकामेवार्थक्रियां पश्यति, स शिव एवेत्याह

गोमयात्कीटतः कीट इत्येवं न्यायतो यदा।
संजल्पान्तरतोऽप्यर्थक्रियां तामेव पश्यति ॥ २७२ ॥

यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि, सर्वसाम्य कोई सिद्ध-सिद्धान्त नहीं है तथा यह भी जानना चाहिये कि, मन्त्रेतर अभिजल्प की परम्परा भी भिन्न ही है। साथ ही यह भी ध्रुव सत्य है कि, यदि आंशिक रूप से भी वैषम्य परिलक्षित हो जाता है, तो अर्थक्रिया मन्त्र के चमत्कार से वञ्चित रह जाती है, अर्थात् किसी प्रकार मन्त्रार्था संवित् के प्रकाश की किरणों से निष्पन्न सदर्थ-सम्पत्ति में किसी प्रकार का विकार सह्य नहीं है ॥ २७१ ॥

यहाँ एक नया विचार दे रहे हैं। गोबर से बिच्छू या गुबरेले जैसे कीड़ों की उत्पत्ति होती है। साथ ही इन कीटों से भी कीड़ों की उत्पत्ति होती है। यहाँ गोमय अलग वस्तु है और कीट अलग। दोनों में दोनों से दो प्रकार के कीट उत्पन्न होते हैं। क्या यह सच है? भेद के रहने पर भी कोई पुरुष मात्र कीड़ों के भेद को ही देखता है। उसके कीट-दर्शन में संजल्प का भेद है। संजल्प के इस भेद में भी उसे गोमय कीट की अपेक्षा नहीं होती। वरन् वह एक अर्थ-क्रिया को देखता है।

इसी तरह मन्त्र और संजल्प दोनों में भेद रहने पर भी एक ही अर्थ-क्रिया के अनुभव में निश्चित रूप से निमग्न हो रहता है, वह शिव रूप ही है। इसी तथ्य को इसी दृष्टान्त के माध्यम से व्यक्त कर रहे हैं—

तदैष सत्यसंजल्पः शिव एवेति कथ्यते ।

सत्यसंजल्पत्वमेव दर्शयति

स यद्वक्ति तदेव स्यान्मन्त्रो भोगापवर्गदः ।। २७३ ।।

अनेनैवाभिप्रायेण भगवता

'कथा जपः, (शि० सू० ३।२७)

इत्यासूत्रितम् ॥ २७३ ॥

जो साधक गोमय से और कीट से कीट को प्रधानतः देखता है और इसी तरह संजल्प की अवान्तर तरङ्गों के रहते हुए भी एक ही अर्थ क्रिया को देखता है, ऐसा साधक सत्य संजल्पवान् माना जाता है। उसे शिव रूप प्रमाता ही मानना चाहिये ॥ २७२ ॥

मन्त्र और संजल्प के प्रसङ्ग में यहाँ सत्य संजल्पता का दिग्दर्शन करा रहे हैं—

ऐसा व्यक्ति जो कुछ बोलता है, वह मन्त्र बन जाता है। उसकी वाणी में मन्त्रशक्ति उतर आती है। उसको वाक् अमृतकला की अमरता से सम्पृक्त हो जाती है। उसकी वाणी मन्त्र बन जाती है। वह मन्त्रवाग् भोग प्रदान करने में भी सक्षम है और अपवर्ग की तो वर्षा ही करती है। इसी अभिप्राय से भगवान् शंकर ने शिवसूत्र में आसूत्रित किया है कि,

"साधक की ऐसी सुधामयी वाणी से निकलने वाली शब्द रूप कथा ही मन्त्र हो जाती है और वही जप बन जाता है।"

'कथा जपः' यह बड़ा महत्त्वपूर्ण सूत्र है। बालने वाले का आन्तर केन्द्र प्रकाश से परिपूर्ण हो गया है। वह वह नहीं रह गया है, जो साधना से पहले था। वह हृदय के उस केन्द्र पर विराजमान हो गया है, जहाँ उसका विमर्श हो मन्त्र का संजल्प हो गया है। संजल्प में मान्त्रिक अर्थ-क्रिया उतर आयी है। वह केन्द्र और परिधि पर भी एकरूप ही रहता है। वह जो बोलता है, शब्द का प्रयोग नहीं होता, वह जप ही कर रहा होता है। वह शिव हो गया है। ऐसा आप भी बनिये आप भी शिव हो सकते हैं ॥ २७३ ॥

अस्माकं पुनर्नायं पक्ष इत्याह

नैषोऽभिनवगुप्तस्य पक्षो मन्त्रार्पितात्मनः ।
योऽर्थक्रियामाह भिन्नां कीटयोरपि तादृशोः ॥ २७४ ॥

तत्तन्मन्त्रसतत्त्वानुभवनिभालनोद्युक्तस्य श्रीमतोऽभिनवगुप्तस्य पुनरेतन्न मतं यतस्तादृशोः कीटगोमयप्रभवयोरपि कीटयोर्भिन्नामर्थक्रियामाह तत्र कार्यभेदमभ्युपागमदित्यर्थः ॥ २७४ ॥

ननु यद्येवं, तद्विनापि मन्त्रं मन्त्रार्थभावनातारतम्यभाजः संजल्पमात्रादेव तत्सिद्धिर्भवन्ती कथमपह्नूयते इत्याशङ्क्याह

जिस वैचारिक पक्ष का यहाँ वर्णन किया गया है, वह अत्यन्त उत्तम कोटि का है, इसमें सन्देह नहीं। शास्त्रकार भगवान् अभिनव इस पक्ष से भी सन्तुष्ट नहीं हैं। इनका दूसरा पक्ष ध्यान देने योग्य है। शास्त्रकार स्वात्म-नामोल्लेख पूर्वक यह घोषणा करते हैं कि,

यह पक्ष मुझ अभिनवगुप्त को रुचिकर प्रतीत नहीं होता। इसलिये मैं अभिनव गुप्त (अनवरत मन्त्रों के आन्तरालिक रहस्य से अनुभव में और उनके स्पन्दन के अनुदर्शन में संलग्न शास्त्रकार) यह घोषित करता हूँ कि, यह पक्ष मेरा पक्ष नहीं है। यह मेरा मत नहीं है। यह पक्ष इन्हें क्यों स्वीकार नहीं है ? इस जिज्ञासा के समाधान की दृष्टि को मन में रखकर कह रहे हैं कि, यह विचार कुछ और गहराई की अपेक्षा रखता है। वस्तुतः कीट से भी कीट उत्पन्न होता है और गोमय से भी कीट उत्पन्न होता है। यहाँ कीट कीट में भेद दृष्टिगोचर हो रहा है। साथ ही इनके संजल्प में भी भेदमयी अर्थ-क्रिया की अनुभूति हो रही है। यह संजल्प-भेद मुझे अच्छा लगने वाला नहीं है। इन दोनों में अर्थ-क्रिया का कोई अन्तर नहीं ॥ २७४ ॥

प्रश्न करते हैं कि, यदि ऐसी बात है, तो बिना मन्त्र के मन्त्रार्थ की भावना के क्रमिक उत्कर्ष पर पहुँचे हुए व्यक्ति के संजल्प मात्र से ही उद्देश्य की सिद्धि होती हुई दीख पड़ती है, इसे क्यों सुगुप्त रखा जाता है ? इस पर कह रहे हैं—

मन्त्रार्पितमनाः किंचिद्वदन्यत्तु विषं हरेत् ।
तन्मन्त्र एव

मन्त्रार्पितमना इति मन्त्रवीर्य एव कृतानुसन्धिरित्यर्थः । किंचिदिति श्लोकगाथादि । यदुक्तं प्राक्

'श्लोकगाथादि यत्किंचिदादिमान्त्ययुतं यतः ।
तस्माद्विदस्तथा सर्वं मन्त्रत्वेनैव पश्यति ॥ (३।२२५) इति ॥

ननु मन्त्रार्पितमनस्त्वेनैव यदि विषहरणादि सिद्ध्येत्, तदप्रयोजकेन यस्य कस्यचन शब्दस्य वचनेन किं स्यात्, बाढमित्याह

शब्दः सः परं तत्र घटादिवत् ॥ २७५ ॥

मन्त्र में ही जिसका मन अर्पित हो चुका है वह कुछ भी बोलता हुआ विष आदि उतार देता है और चढ़ते हुए जहर का प्रभाव रुक जाता है। ऐसे पुरुष का जो कुछ बुदबुदाना है, वह सब मन्त्र ही है। उसका अनुसन्धान मन्त्रमय हो जाता है। वह एक तरह से मन्त्र से अनुसन्धि कर चुका होता है। उसकी वह अस्फुट वाणी कोई श्लोक, कोई गाथा, कोई डामर की अटपटी बानी कुछ भी हो सकती है। पहले भी श्रीतन्त्रालोक (३।२२५) में उस सम्बन्ध में कहा जा चुका है कि,

"कोई भी श्लोक हो कोई भी गाथा हो चूँकि यह आदि अनुत्तर वर्ण 'अ' और अन्त्य 'ह' से समन्वित ही होती है। उसमें अहमात्मक परामर्श ओत-प्रोत होता है। ऐसे उत्तम स्तरीय अनुसन्धान का अधिकारी ज्ञाता सारे पद समुदाय को मन्त्रवत् महत्त्व देता है।"

यहाँ भी यह पूछ रहे हैं कि, यदि मन्त्र में मन को अर्पित कर देने से ही विष उतारने आदि की सिद्धि हो जाती है, तो अप्रयोजनीय जिस किसी छन्द या गाथा आदि के बोलने से क्या लाभ ? इस पर गम्भीर होकर इस बात पर जोर देते हुए कह रहे हैं कि,

जी हाँ, वह उच्चरित शब्द भी परात्मक महत्त्व पा लेता है। यह देखा गया कि, कभी किसी रोगी पर दया करता हुआ पहुँचा हुआ फकीर

एतदेव दृष्टान्तमुखेनापि हृदयङ्गमयति

कान्तासंभोगसंजल्पसुन्दरः कामुकः सदा ।
तत्संस्कृतोऽप्यन्यदेष कुर्वन्स्वात्मनि तृप्यति ॥ २७६ ॥
तथा तन्मन्त्रसंजल्पभावितोऽन्यदपि ब्रुवन् ।
अनिच्छुरपि तद्रूपस्तथा कार्यकरो ध्रुवम् ॥ २७७ ॥

तृप्यतीति तत्संभोगचमत्कारसारतया स्वात्मनि विश्राम्यतीत्यर्थः । अन्यदपि ब्रुवन्निति, एवं ह्यन्यवचनेनैव मन्त्रसंजल्परूपतायामनिच्छुरपि तद्रूपः सतताभ्यासवशान्मन्त्रैकमय एवेत्यर्थः । अत एव तथा मन्त्रानुगुण्येनैव कार्यकर इत्युक्तम् ॥ २७७ ॥

ननु मन्त्रसंजल्पेच्छाविरहेऽपि कथं तन्मयतयैवास्यावभासो भवेदित्याशङ्क्याह

साधक यह कहता है कि 'फूट जाय यह घड़ा' और यह बोलते हुए उस पर छड़ी आदि से प्रहार भी कर देता है और रोगी रोगमुक्त हो जाता है । उसका इस प्रकार घड़े इत्यादिवत् प्रयोग में लाये गये शब्द महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं । इस तथ्य को दृष्टान्त के माध्यम से समझा रहे हैं—

एक कामुक पुरुष है । अपनी प्राणप्रिया कामिनो की रति-क्रिया से उत्पन्न आनन्द की मदमाती संजल्पमयी अनुभूतियों से उसका मन भरा हुआ है । उस संस्कार से तन्मयीभाव से भावित वह जो कुछ करता है, उसी में तृप्ति लाभ करता है, अर्थात् संभोग के चमत्कार से आचूल-मूल चमत्कृत होने के कारण स्वात्मविश्रान्ति की उपलब्धि कर लेता है ।

ऐसे ही पर-चमत्कार से स्वात्मविश्रान्ति को उपलब्ध साधक उन मन्त्रों की भावनाओं के समान ही तद्भाव भावित अवस्था में जो कुछ भी अनिच्छा-पूर्वक भी बोल पड़ता है, उसका वह बोलना ही मन्त्रानुगुण्यपूर्ण प्रभाव सम्पन्न होकर कार्यसिद्धि का सम्पादन कर देता है । यह 'ध्रुव' शब्द का प्रयोग कर शास्त्रकार यह कहना चाहते हैं कि, इसमें सन्देह के लिये कोई स्थान नहीं ॥ २७५-२७७ ॥

विकल्पयन्नप्येकार्थं यतोऽन्यदपि पश्यति ।

पर्वतं विकल्पयतो हि प्रमातुर्घटदर्शनं भवेदिति भावः ॥

एतदागमोक्त्या समर्थयति

विषापहारिमन्त्रादीत्युक्तं श्रीपूर्वशासने ॥ २७८ ॥

तथाच तत्र

'तत्त्वे निश्चलचित्तस्तु भुञ्जानो विषयानपि ।
न संस्पृश्येत तद्दोषैः पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥
विषापहारिमन्त्रादिसंनद्धो भक्षयन्नपि ।
विषं न मुह्यते तेन तद्वद्योगी महामतिः ॥' (१८।८१) इति ।

श्लोक २७७ में 'अनिच्छु' शब्द का प्रयोग किया गया है। यह शब्द ही एक जिज्ञासा को जन्म दे रहा है। अनिच्छा में मन्त्रात्मक संजल्प कैसे रह सकता है। उसमें भी तन्मयता में जो अवभास होता है, वैसा अवभास कैसे सम्भव है ? इस पर कह रहे हैं कि,

उसमें ऐसी शक्ति होती है। वह एक अर्थ का विकल्प करता है और दूसरे अर्थ का दर्शन करने में भी समर्थ होता है। 'बोलेगा पर्वत की बात और भोगेगा घड़ा' यह कहावत वहाँ चरितार्थ होती है। इसको आगमोक्ति से समर्थित कर रहे हैं—

श्रीपूर्वशास्त्र (मालिनीविजयोत्तर तन्त्र) में इसी सन्दर्भ को व्यक्त करने के लिये विषापहारी मन्त्रादि की चर्चा की गयी है। वह इस प्रकार है—

"तत्त्व में स्थिरचेता पुरुष विषयों का उपभोग करता हुआ भी विषय दोषों से ग्रस्त नहीं होता। जल में रहने पर कमलदल जैसे जल से निर्लेप रहते हैं, उसी तरह विषय-दोष इन्हें छू भी नहीं पाते। विष को दूर करने वाले मन्त्रों और औषधियों से सन्नद्ध पुरुष विष खा कर भी मूर्च्छा को प्राप्त नहीं होता। उसी तरह महामतिमान् योगी भी विषय मद से मूर्च्छित नहीं होता।"

अत्रायमर्थः—यत् भक्षयन्नपि विषं यथा जाङ्गुलिकः स्वरूपावस्थितमेवात्मानं पश्यति, तथा भुंजानोऽपि विषयान् महामतिर्योगी निश्चलचित्ततया परमेव तत्त्वमिति ॥ २७८ ॥

यत्तूक्तमेवमेव वदन्मन्त्रार्थनिष्ठो यद्विषं हरेत्, तन्मन्त्रस्यैव विजृम्भितम्, नतु तन्नान्तरीयकस्यापि शब्दस्येति । तत्रैव पक्षान्तरमाह

यदि वा विषनाशेऽपि हेतुभेदाद्विचित्रता ।
धात्वाप्यायादिकानन्तकार्यभेदाद्भविष्यति ॥ २७९ ॥

हेतुभेदादिति मन्त्रशब्दाद्यात्मनः । विषनाशे हि मन्त्रवत् संजल्पोऽपि धात्वाप्यायपुष्टयाद्यन्यतमं कार्यं कुर्यादिति ॥ २७९ ॥

एवं मन्त्राणां सत्तामभिधाय प्रयोजनमप्याह

तात्पर्य यह कि, जाङ्गुलिक पुरुष (विषवैद्य) जहर खा लेने 'पर भी स्वरूप में अवस्थित रहता है और अपने को सदा सर्वथा सामान्य ही देखता है, उसी तरह विषय भोग में संलग्न स्थितप्रज्ञ योगी निश्चलचित्त रहने के कारण स्वात्म में ही अवस्थित रहता है ॥ २७८ ॥

पहले यह कहा गया है कि, इसी प्रकार कुछ बोलता हुआ मन्त्रार्थनिष्ठ श्रद्धालु जहर उतार देता है। इस विषापहारी प्रक्रिया में मन्त्रशक्ति की ऊर्जा ही काम करती है। मन्त्र से नान्तरीयकभाव से जुटा हुआ शब्द का यह प्रभाव नहीं होता। इस कथन का एक पक्षान्तर प्रस्तुत कर रहे हैं—

विष के नाश हो जाने पर भी कारण के भेद से वैचित्र्य के दर्शन होते ही हैं। यह विचित्रता मन्त्र के कारण मानने पर अथवा शब्द या संजल्पशक्ति के कारण मानने पर घटित होती है। कार्य भेद से इस विचित्रता का पता चलता है, जैसे—धातु के आप्याय और पुष्टि के कार्य। यदि विष का नाश मन्त्र करता है, तो संजल्प भी धातुओं (सप्त) को आप्यायित या तृप्त कर पुष्टि प्रदान करने का कार्य करता है ॥ २७९ ॥

इस प्रकार मन्त्रों के महत्त्व और उनकी सत्ता की ओर ध्यान आकृष्ट कर एवम् उनकी शक्ति का वर्णन करने के उपरान्त अब उनके प्रयोजन का कथन कर रहे हैं—

तदेदं मन्त्रसंजल्पविकल्पाभ्यासयोगतः ।
भाव्यवस्तुस्फुटीभावः संजल्पह्रासयोगतः ॥ २८० ॥

तदेवमुक्तेन क्रमेण मान्त्रयोः शब्दविमर्शयोरभ्यासतारतम्येन संजल्परूपतादिगुणीभावात् स्वाभिन्नस्य भाव्यमानस्य मन्त्रदेवतात्मनो वस्तुनः स्फुटीभावः साक्षात्कारो भवेदित्यर्थः ॥

नन्वस्य मान्त्रं संजल्पमभ्यस्यतो भाव्यवस्तुसाक्षात्कारः कथं स्यादित्याशङ्क्याह

वस्त्वेव भावयत्येष न संजल्पमिमं पुनः ।
गृह्णाति भासनोपायं भाते तत्र तु तेन किम् ॥ २८१ ॥

ननु यद्येवं, तत्किमस्य संजल्पोपादानेनेत्याशङ्क्याह इममित्यादि । तेन किमिति, उपेये हि लब्धे पुनरुपायस्य किं प्रयोजनमित्यभिप्रायः ॥

इन सभी तथ्यों को समझने के बाद, उनके अभ्यास पर बल देना चाहिये । मन्त्र, उनके संजल्प और विकल्पात्मकता के अभ्यास के योग से भाव्य-वस्तुओं की झलक मिल जाती है । इसी क्रम में मन्त्र देवता के तादात्म्य के उपलब्ध हो जाने पर मन्त्रों के शब्द और उनके विमर्श जब ह्रास को प्राप्त हो जाते हैं, तो मन्त्र के अधिष्ठातृ देवता का स्फुटीभाव अर्थात् साक्षात्कार भी हो जाता है ।

प्रश्न यह है कि, अभ्यास करते है 'मान्त्र संजल्प' का और साक्षात्कार होता है भाव्यमान वस्तु का । यह कैसे ? यही कह रहे हैं—

वस्तुतः साधक जब मन्त्र जप का अभ्यास करता है, तो वह संजल्प का नहीं, अपितु मन्त्रस्थ वस्तु (मन्त्रदेव) का ही भावन करता है, संजल्प का भावन नहीं करता । इस पर पुनः यह पूछा जा सकता है कि, तो फिर सजल्प का उपादान क्यों ? इसका उत्तर इसी कारिका में दे रहे हैं कि, इमम् अर्थात् इस संजल्प के बल से वह मन्त्रदेवता के भासन के उपाय को पा लेता है । इसी क्रम में वह वस्तु भासमान हो जाती है । अधिष्ठातृ देवता का साक्षात्कार कर लेने पर अब किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा नहीं रह जाती है । कहावत है कि 'उपेय की उपलब्धि के बाद उपाय से क्या ?' अर्थात् भाव्य वस्तु का साक्षात्कार ही मन्त्र-जप का एक मात्र लक्ष्य है ॥ २८१ ॥

एतदेवोपसंहारभङ्ग्या प्रतिपादयति

एवं संजल्पनिर्ह्रासे सुपरिस्फुटतात्मकम् ।
अकृत्रिमविमर्शात्म स्फुरेद्वस्त्वविकल्पकम् ॥ २८२ ॥

ननु अविकल्पकेऽपि

'कामशोकभयोन्मादचौरस्वप्नाद्युपप्लुताः ।
अभूतानपि पश्यन्ति पुरतोऽवस्थितानिव' ॥

इत्याद्युक्त्या सदेव न भायादित्यत्रापि वस्त्वेव स्फुरेदिति कस्मादुक्तमित्याशङ्क्याह

निर्विकल्पा च सा संविद्यद्यथा पश्यति स्फुटम् ।
तत्तथैव तथात्मत्वाद्वस्तुनोऽपि बहिःस्थिते ॥ २८३ ॥

बहिरपि हि वस्तुनस्तदधीनैव सत्तेत्यर्थः ॥

इसी तथ्य का उपसंहारात्मक भङ्गी से प्रतिपादन कर रहे हैं -

इस प्रकार जब संजल्प गौण होते हुए क्रमशः तनुता को प्राप्त कर क्षीण हो जाता है, उस समय सम्यक् रूप से परिस्फुटित, स्वाभाविक विमर्श रूप अविकल्पक वस्तु का प्रत्यक्ष साक्षात्कार हो जाता है ॥ २८२ ॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि, अविकल्पदशा में पहुँच जाने पर कुछ विचित्र चित्र बन्द आँखों के रहस्य पटल पर उभरते हैं। आगमिक प्रामाण्य से सिद्ध होता है कि,

"काम, शोक, भय, उन्माद, चौर, स्वप्न आदि उपद्रवों से ग्रस्त साधक अघटित के समान अदृष्टपूर्व वस्तु चित्रों को देखते हैं"

इस उक्ति से यह आभास भी होता है कि, अविकल्पक दशा में भी 'सत्' ही केवल भासमान नहीं होता अपितु वस्तु का भी साक्षात्कार होता है। इस कथन से कि, वस्तु भी स्फुरित होती है, कुछ कमी प्रतीत होती है। इस पर कह रहे हैं कि,

उस समय समुल्लसित निर्विकल्प संविद् जैसा स्फुट देखती है, वह वस्तु प्रत्यक्ष सत् ही है। यह विशेषरूप से ध्यान देने की बात है कि, बाह्य विश्व में मेय रूप से उल्लसित जो कुछ है, वह तदात्मक ही है। बाह्य स्थित वस्तुओं

शिवाभेदभाजो गुरोस्तु विशेषेण यथार्थसङ्कल्पतेत्याह

विशेषतस्त्वमायीयशिवताभेदशालिनः ।
मोक्षेऽभ्युपायः संजल्पो बन्धमोक्षौ ततः किल ॥ २८४ ॥

मोक्षेऽभ्युपाय इत्यर्थात् शिष्यस्य । ननु

'सर्वो विकल्पः संसारः.......... ।'

इत्युक्त्या सङ्कल्पस्य बन्धकत्वं स्यात् प्रत्युत मोक्षाभ्युपायत्वमिहास्य कस्मादुक्तमित्याशङ्क्याह बन्धमोक्षौ ततः किलेति । इह अमायीयशिवताभेदशालिनो गुरोः सङ्कल्पादेव बन्धमोक्षौ स्यातां, किं तु इयान् विशेषो यद् भेदमयतायां बन्धोऽन्यथा तु मोक्ष इति ॥ २८४ ॥

की सत्ता उसी के अधीन है। इसलिये आन्तर सत्ता के साक्षात्कार के साथ यदि बाह्य उल्लास पर भी कभी दृष्टि जाय, तो उस निर्विकल्प संवित् की सत्ता में कोई अन्तर नहीं पड़ता ॥ २८३ ॥

अपनी साधना के बल से संवित्तादात्म्य समापन्न शिवाभेद-सिद्ध गुरु की संकल्पता विशेष रूप से यथार्थ होती है और कल्याणकारिणी होती है। यही कह रहे हैं—

माया के स्तर को पार कर अमायीय नैर्मल्य को प्राप्त शिवता से अभेद रूप से तादात्म्यशाली गुरु का संजल्प शिष्य के मोक्ष का सर्वोत्तम साधन है। यहाँ एक सोचने को बात आती है। एक स्थान पर लिखा है कि,

"सारा विकल्प संसार है .... ।"

इस उक्ति के अनुसार सारे संकल्प बन्धक सिद्ध होते हैं, जबकि यहाँ मोक्ष में संजल्प की उपायशीलता पर ही बल दिया गया है। ऐसा क्यों ? इस पर यह निर्णय शास्त्रकार स्वयं दे रहे हैं कि, ये बन्ध और मोक्ष दोनों शिवताभेदशाली गुरुदेव के संकल्प से ही मिलते हैं। इसमें भी रहस्य की बात यही है कि, भेदमयता के प्राधान्य में बन्ध और अभेदमयता के तादात्म्य से मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥ २८४ ॥

ननु एवमपि अविकल्पकपर्यन्तीभूतादेवास्मादेतन्न्याय्यं न तु अन्यथा, तत्कथं संजल्पमात्रादेव मोक्षो भवेदित्याशङ्क्याह

विकल्पेऽपि गुरोः सम्यगभिन्नशिवताजुषः ।
अविकल्पकपर्यन्तप्रतीक्षा नोपयुज्यते ॥ २८५ ॥

नोपयुज्यत इत्यत्र गुरोः शिवाभेदमयत्व हेतुः ॥ २८५ ॥

न च एतद्युक्तिमात्रसिद्धमेवेत्याह

तद्विमर्शस्वभावा हि सा वाच्या मन्त्रदेवता ।
महासंवित्समासन्नेत्युक्तं श्रीगमशासने ॥ २८६ ॥

मन्त्रो हि स्वत एवाविल्पकसंवित्स्वभाव इति भावः ॥ २८६ ॥

एवं परसंवित्समासन्नत्वादेव मन्त्रादयस्तदायत्ताः सिद्धिं साधयितुं शक्नुवन्तीति दृष्टान्तप्रदर्शनपुरःसरीकारेणाभिधातुमाह

जो कुछ भी हो, संजल्प को मोक्ष में उपाय कहना कुछ तर्कसंगत नहीं लगता। अविकल्प की उस अन्तिम सीमा की पहुँच पर मोक्ष का प्रकाश अनुभूत सत्य है। इस सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त कर रहे हैं—

अभिन्न शिवता से संवलित गुरु के गौरव की दृष्टि से उनमें अविकल्प-पर्यन्त प्रतीक्षा की बात उपयुक्त प्रतीत नहीं होती। उनके विकल्प का वारांनिधि भी शैव महाभाव की भव्यता का ही प्रतीक है ॥ २८५ ॥

ये सारी बातें केवल तर्क पर ही आधारित नहीं है, अपितु आगमिक प्रामाण्य के आधार पर कही गयी हैं। वही कह रहे हैं—

मन्त्र की देवता मान्त्रिक-विमर्श स्वभावशालिनी ही होती है। वह परा संवित् शक्ति में समासन्न रहती है—यह तथ्य श्रीगमशासन में वर्णित है। मन्त्र-देवता का तात्पर्य मन्त्र सविद् की परा शक्ति से ही है। इसलिये यह निर्विवाद रूप से माना जाता है कि, मन्त्र शाश्वत रूप से परासंवित् से समासन्न होते हैं, जो स्वयं निर्विकल्प होती है ॥ २८६ ॥

परसंवित्समासन्न होने के कारण ही मन्त्र, संवित्-शक्ति के अधीन रहने वाली समस्त सिद्धियों को सिद्ध करने में समर्थ होते हैं। इसे दृष्टान्त से समझा रहे हैं—

निकटस्था यथा राज्ञामन्येषां साधयन्त्यलम् ।
सिद्धिं राजोपगां शीघ्रमेवं मन्त्रादयः पराम् ॥ २८७ ॥

परां सिद्धिमिति मोक्षलक्षणाम् । यदुक्तम्

'**अधमा वश्यदा सिद्धिर्मध्यमा खेचरत्वदा ।**
संसारभयविच्छेददायिनी सिद्धिरुत्तमा' ॥ इति ॥ २८७ ॥

एतच्चास्मच्छास्त्रेऽप्युक्तमित्याह

उक्ताभिप्रायगर्भं तदुक्तं श्रीमालिनीमते ।

तदेवाह

मन्त्राणां लक्षणं कस्मादित्युक्ते मुनिभिः किल ॥ २८८॥

कस्मादिति योगविषये हि प्रश्ने कृते किमिति मन्त्रलक्षणमुक्तमिति भावः । यदुक्तं

राजा के निकटस्थ विश्वस्त कृपापात्र जैसे जिस किसी के कार्य को आनन-फानन में पूरा करने में समर्थ होते हैं, उसी तरह मन्त्र आदि भी संविद् सामग्री के विश्वस्त कार्यवाहक हैं। ये भी परासिद्धि के साधन में पूर्ण समर्थ हैं।

परासिद्धि को ही मोक्षलक्षणा-सिद्धि कहते हैं। यही सर्वोत्तम सिद्धि मानी जाती है। एक स्थान पर कहा गया है कि,

"किसी को वश में करने की शक्ति प्रदान करने वाली सिद्धि 'अधम' कहलाती है। खेचरता प्रदान करने वाली सिद्धि, मध्यमा-सिद्धि, मानी जाती है और संसार के महाभय को छिन्न-भिन्न करने वाली मोक्षलक्षणा सिद्धि ही 'उत्तम-सिद्धि' होती है।"

संविद् साम्राज्ञी की सहेली का नाम ही मोक्षलक्ष्मी है ॥ २८७ ॥

मालिनीविजयोत्तरतन्त्र त्रिक-परम्परा का उपजीव्य शास्त्र है। उसमें भी ऊपर कही गयी बातों का सार निष्कर्ष इस रूप में वर्णित है। वही कह रहे हैं कि, माँ पार्वती के साथ बहुत से ऋषि-महर्षि भगवान् भूतभावन से आगमिक रहस्य के उद्घाटन के उद्देश्य से उपस्थित थे। माँ पार्वती ने योग-

'योगमार्गविधिं देव्या पृष्टेन परमेष्ठिना ।
तत्प्रतिज्ञावताप्युक्तं किमर्थं मन्त्रलक्षणम्' ॥ (४।२)

इति ॥ २८८ ॥

एवं मुनिप्रश्नं निर्णेतुकामः कार्तिकेयो योगाङ्गतयैव एतदुक्तमित्यभिधातुमाह

योगमेकत्वमिच्छन्ति वस्तुनोऽन्येन वस्तुना ।
तद्वस्तु ज्ञेयमित्युक्तं हेयत्वादिप्रसिद्धये ॥ २८९ ॥
तत्प्रसिद्ध्यै शिवेनोक्तं ज्ञानं यदुपवर्णितम् ।
सबीजयोगसंसिद्ध्यै मन्त्रलक्षणमप्यलम् ॥ २९० ॥

मार्ग विधि से सम्बन्धित प्रश्न किया। भगवान् शङ्कर ने उनको मन्त्रों के लक्षण बताना शुरू कर दिया था। ऋषियों को यह रहस्य समझ में नहीं आया। स्वामी कार्त्तिकेय भी वहीं थे। ऋषियों से न रहा गया। उन्होंने कार्त्तिकेय से ही यह पूछ लिया कि, कहाँ योगमार्ग का प्रश्न और मन्त्रलक्षण-रूप उत्तर! ऐसा क्यों? मुनियों का प्रश्न इस श्लोक में यहाँ दिया गया है—

"परमेष्ठी भगवान् शङ्कर से देवी ने योगमार्ग विधि सम्बन्धी प्रश्न किया। उन्होंने उसकी प्रतिज्ञा भी की कि, मैं तुम्हें अभी बतला रहा हूँ। जब बताना शुरू किया, तो योगमार्ग के स्थान पर मन्त्रों के लक्षण बताने लगे। स्वामी कार्त्तिकेय! ऐसा क्यों?"

इस प्रकार मुनियों के प्रश्न सुन कर उनका निर्णय करने की आकांक्षा से परिपूर्ण श्री कार्त्तिकेय ने भी योगाङ्ग के रूप से ही इसका समाधान किया। वही कहने के लिये श्रीपूर्वशास्त्र के ४।४-८ तक के वही श्लोक यहाँ उद्धृत किये गये हैं।

श्री कार्त्तिकेय ने उनके सन्देह को मिटाने के लिये कहना प्रारम्भ किया कि, "मुनियों! किसी वस्तु से किसी वस्तु के एकत्व (मिलन) को ही योग कहते हैं। वस्तु ज्ञेय होते हैं। इन्हें जानने से यह पता चलता है कि, कौन वस्तु हेय है और कौन उपादेय है। हेय और उपादेय का मर्म, ज्ञान के विना नहीं

न चाधिकारिता दीक्षां विना योगेऽस्ति शाङ्करे ।
क्रियाज्ञानविभेदेन सा च द्वेधा निगद्यते ।। २९१ ।।

द्विविधा सा प्रकर्तव्या तेन चैतदुदाहृतम् ।
नच योगाधिकारित्वमेकमेवानया भवेत् ।। २९२ ।।

अपि मन्त्राधिकारित्वं मुक्तिश्च शिवदीक्षया ।

एतच्च प्राग्व्याख्यानेनैव गतार्थमिति नेह पुनर्विभज्य व्याख्यातम् ।।

तात्पर्यगत्या तु ग्रन्थकृदेव व्याख्यातुमाह

अनेनैतदपि प्रोक्तं योगी तत्त्वैक्यसिद्धये ।। २९३ ।।
मन्त्रमेवाश्रयेन्मूलं निर्विकल्पान्तमादृतः ।

समझा जा सकता। इसी रहस्य की सिद्धि के लिये भगवान् शङ्कर ने ज्ञान का उपदेश किया, वहीं यहाँ उपवर्णित है। ज्ञान और योग परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं। अतः सबीज योग की सम्यक्‌रूप से सिद्धि के लिये मन्त्रों की परिभाषा दी और यह प्रतिपादित किया कि, मन्त्रों का क्या महत्त्व है। ब्रह्म-शिर, रुद्राणी, पुरुष्टुत, पाशुपत, लोकपाल, विष्णु और प्रजापति आदि मन्त्रों के विषय में यह स्पष्ट कहा गया है कि, योगियों की योगसिद्धि के लिये इनका पूरा महत्त्व है।

उन्होंने यह भी कहा कि शाङ्कर योग में दीक्षा के बिना अधिकार नहीं प्राप्त होता है। यह भी दो प्रकार की है—१. क्रियायोग दीक्षा और २. ज्ञानयोग दीक्षा। अतः दीक्षा के बिना न तो क्रियायोग का ज्ञान हो सकता है और नहीं ज्ञानयोग को ही जाना जा सकता है। मन्त्रों में भी तभी अधिकार प्राप्त होता है, जब शिवदीक्षा से शिष्य दीक्षित हो जाय। इसी शैवी-दीक्षा से मुक्ति भी हस्तामलकवत् हो जाती है।। २८८–२९२ ।।

निष्कर्षार्थ के रूप में ग्रन्थकार स्वयं शैवोदित मर्म का उद्‌घाटन कर रहे हैं—

मन्त्राभ्यासेन भोगं वा मोक्षं वापि प्रसाधयन् ॥ २९४ ॥
तत्राधिकारितालब्ध्यै दीक्षां गृह्णीत दैशिकात् ।

आदृत इत्यनेनास्य तदेकतानत्वमुक्तम् । तत्रेति मन्त्राश्रयणादौ ॥
अतश्चास्य मन्त्रादिमाहात्म्यात्सर्वं भुक्तिमुक्त्याद्यपि सिद्धयेदित्याह

तेन मन्त्रज्ञानयोगबलाद्यद्यत्प्रसाधयेत् ॥ २९५ ॥
तत्स्यादस्यान्यतत्त्वेऽपि युक्तस्य गुरुणा शिशोः ।

युक्तस्येति योजितस्येत्यर्थः, अनेन च योजनिकादेर्भेदोऽप्यासूत्रितः ॥

इन उक्तियों के माध्यम से यह भी कह दिया गया है कि, योगी तत्त्वों के सामरस्य की सिद्धि के लिये मन्त्र का आश्रय ग्रहण करे । विधि में उतरने के लिये मन्त्र द्वार का भी काम करते हैं । मन्त्र ही सभी प्रक्रियाओं के मूल में हैं—विशेषकर मूल मन्त्र (अघोर-मन्त्र) । परापरा, अपरा और परा विद्या के मूल मन्त्रों का आश्रय ग्रहण करे । आदरभाव से आस्था और निष्ठापूर्वक एकतान भाव से निर्विकल्प की उस छोर का स्पर्श कर सके, जहाँ साधनायें और उपासनायें निरपेक्ष हो जाती हैं ।

मन्त्र के अभ्यास से भोग अथवा मोक्ष अथवा दोनों की सिद्धि में संलग्न रहते हुए अपने अस्तित्व को परिष्कृत कर ले । तत्पश्चात् शैवभक्ति योग में अधिकार प्राप्त करने के लिये दैशिक शिरोमणि तन्त्रवेत्ता, त्रिकपरम्परा में परिवृढ गुरुदेव से दीक्षा ले । इस तरह मोक्ष सुलभ हो जाता है ॥२९३-२९४॥

साधक शिष्य के इस अभ्यास योग से 'आराधिता सैव भोगस्वर्गापवर्गदा' की उक्ति के अनुसार उसे भुक्ति और मुक्ति तथा इसके अतिरिक्त भी यथेच्छ सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं । यही कह रहे हैं—

इस दृष्टि से अभ्यास करने पर मन्त्रज्ञान और योग के बल से जो जो समोहित सिद्ध करने के लिये संनद्ध हो जाय, वह सब कुछ उसे उपलब्ध हो जाता है । दैशिक गुरु द्वारा अन्य तत्त्व में यदि ऐसा शिष्य योजित है, तो भी सिद्धि में कोई अन्तर नहीं पड़ता । 'युक्त' शब्द गुरु द्वारा योजित किया हुआ शिष्य होता है । इस प्रयोग द्वारा योजनिका आदि भेदों का आसूत्रण भी किया गया है ॥ २९५ ॥

ननु गुरुणा चेदन्यतत्त्वे योजितः, तत्कथमस्य स्वबलादेव अन्यथा भुक्तिमुक्तिर्वा स्यादित्याशङ्क्याह

दीक्षा ह्यस्योपयुज्येत संस्क्रियायां स संस्कृतः ॥ २९६ ॥

स्वबलेनैव भोगं वा मोक्षं वा लभते बुधः ।

अत एव च दीक्षायां कृतोऽपि समय्यादिनियमो न स्यादित्याह

तेन विज्ञानयोगादिबली प्राक् समयी भवन् ॥ २९७ ॥

पुत्रको वा न तावान्स्यादपितु स्वबलोचितः ।

तावानिति समयी पुत्रको वा ॥

ननु ज्ञानयोगादौ दुर्बलस्य का वार्तेत्याशङ्क्याह

प्रश्न करते हैं कि, गुरु द्वारा अन्य तत्त्व में शिष्य यदि योजित किया गया है, तो क्या शिष्य को अपने बल पर ही अन्यथा बनी भुक्ति और मुक्ति की सिद्धि सम्भव है ? इस पर कह रहे हैं कि,

इसके लिये उसकी दीक्षा की महती उपयोगिता है। इसी से उसका परिष्कार होगा। उसी संस्क्रिया उसे संस्कार सम्पन्न बना देगी। अब वह संस्कृत साधक हो जायेगा। ऐसा स्थित-प्रज्ञ साधक बुध कहलाता है। उसे अपने बल से ही भोग और मोक्ष की प्राप्ति में कोई बाधा नहीं होती ॥२९६॥

इस प्रकार ज्ञानयोग में समर्थ साधक शिष्य को पहले जिन समयी आदि दीक्षा की सांयमिकताओं का पालन आवश्यक होता था, उनके पालन को भी कोई शर्त्त नहीं रह जाती। वह समयी हो या पुत्रक, अब वह इस स्तरीयता से ऊपर उठ जाता है। अब अपने सामर्थ्य के अनुरूप सब कुछ सिद्ध करने में समर्थ हो जाता है ॥ २९७ ॥

प्रश्न करते हैं कि, यह स्थिति तो ज्ञानयोग में समर्थ साधक की है। यदि ज्ञानयोग आदि में दक्ष न हुआ या दुर्बल रहा, तो उसकी क्या स्थिति होती है ? इस पर कह रहे हैं—

यस्तु विज्ञानयोगादिवन्ध्यः सोऽन्धो यथा पथि॥ २९८ ॥

दैशिकायत्त एव स्याद्भोगे मुक्तौ च सर्वथा ।

ननु ज्ञानयोगादिवन्ध्यस्य दैशिकोऽपि किं कुर्यादित्याशङ्क्याह

दीक्षा च केवला ज्ञानं विनापि निजमान्तरम् ॥ २९९ ॥

मोचिकैवेति कथितं युक्त्या चागमतः पुरा ।

पुरेति पञ्चदशाह्निकादौ ॥

दीक्षोचितमेव ज्ञानयोगाद्यधितिष्ठतः पुनः किं स्यादित्याशङ्क्याह

जो साधक विज्ञान-योग आदि में असफल होता है, उसकी तो वही दुर्दशा होती है, जैसी दुर्दशा रास्ते चलते अन्धे की होती है। वह स्वयं कुछ भी करने में असमर्थ होता है। वह भोग और मोक्ष दोनों में दैशिक के अधीन रहने के लिये बाध्य हो जाता है।

प्रश्न पर प्रश्न करते जिज्ञासु पूछ बैठता है कि,

जो ज्ञानयोग आदि में वन्ध्य हो है, अर्थात् असमर्थ और निष्फलता के अभिशाप से अभिशप्त है, उसका देशिक भी क्या कर सकता है? इस सम्बन्ध में कह रहे हैं कि,

केवल दीक्षा भी आन्तर बन्धन की मोचिका ही मानी जाती है। भले ही शिष्य में ज्ञान का अभाव हो, दोक्षा से मोक्ष का मार्ग अवश्य प्रशस्त होता है। इस तथ्य को युक्ति और आगम प्रामाण्य दोनों के आधार पर पहले आये पन्द्रहवें आदि आह्निकों में पूरी तरह प्रतिपादित किया गया है ॥२९८-२९९॥

शिष्य ने दीक्षा ले ली हो, साथ ही दीक्षोचित ज्ञान आदि मार्ग के पालन में लगा भी हुआ हो, तो उसका क्या होता है? इस जिज्ञासा के उत्तर में कह रहे हैं कि,

यस्तु दीक्षाकृतामेवापेक्ष्य योजनिकां शिशुः ॥ ३०० ॥

स्फुटीभूत्यै तदुचितं ज्ञानं योगमथाश्रितः ।

सोऽपि यत्रैव युक्तः स्यात्तन्मयत्वं प्रपद्यते ॥ ३०१ ॥

यत्रैव युक्त इत्यर्थाद्गुरुणा ॥ ३०१ ॥

अतश्चायं गुर्वधीनसिद्धिरेवेत्याह

गुरुदीक्षामन्त्रशास्त्राधीनसर्वस्थितिस्ततः ।

एवमेतत्पुत्रकादिविषयमभिधाय साधकविषयमपि अभिधत्ते

दुष्टानामेव सर्वेषां भूतभव्यभविष्यताम् ॥ ३०२ ॥

कर्मणां शोधनं कार्यं बुभुक्षोर्न शुभात्मनाम् ।

यः पुनर्लौकिकं भोगं राज्यस्वर्गादिकं शिशुः ॥ ३०३ ॥

त्यक्त्वा लोकोत्तरं भोगमीप्सुस्तस्य शुभेष्वपि ।

जो शिष्य दीक्षा में प्रयुक्त योजनिका की अपेक्षा करता हुआ, उसका ही आश्रय लेता हुआ, अपने परिष्कार के लिये अनुरूप और औचित्यपूर्ण ज्ञान-योग का अभ्यास भी करता है, वह भी जिस उद्देश्य की पूर्त्ति में लग जाता है या गुरु द्वारा लगा दिया जाता है, उससे तादात्म्य प्राप्त कर लेता है, अर्थात् उसको सिद्धि में सफलता प्राप्त कर लेता है ॥ ३००-३०१ ॥

इससे यह सिद्ध होता है कि, गुरु, दोक्षा, मन्त्र और शास्त्राभ्यास इनके ही अधीन शिष्य की सारी सिद्धियाँ हैं। सब मिलाकर गुरु की प्रधानता यहाँ दी जा सकती है क्योंकि गुरु से ही दीक्षा, गुरु से ही मन्त्र-ज्ञान और शास्त्रज्ञान प्राप्त होते हैं। इस तरह पुत्रक और समयी आदि के इस प्रसङ्ग का प्रतिपादन गुरु-महत्त्व के सन्दर्भ में पूरा किया गया है। इसी सन्दर्भ में साधक के दिशा निर्देश के लिये कारिका का अवतरण कर रहे हैं—

बुभुक्षोरिति लोकधर्मिणः साधकस्य। शुभेष्वपीति शोधनं कार्यमिति प्राच्येन सबन्धः ॥

अत्रापि क्रियाज्ञानयोः प्राधान्येऽयं विशेष इत्याह

तत्र द्रव्यमयीं दीक्षां कुर्वन्नाज्यतिलादिकैः ॥ ३०४ ॥
कर्मास्य शोधयामीति जुहुयाद्दैशिकोत्तमः ।
ज्ञानमय्यां तु दीक्षायां तद्विशुद्धयति सन्धितः ॥ ३०५ ॥
गुरोः स्वसंविद्रूढस्य बलात्तत्प्रक्षयो भवेत् ।
यदास्याशुभकर्माणि शुद्धानि स्युस्तदा शुभम् ॥ ३०६ ॥
स्वतारतम्याश्रयणादध्वमध्ये प्रसूतिदम् ।

तदिति कर्म । सन्धित इत्यनुसन्धानात् । अस्येति लोकधर्मिणः ॥

वर्त्तमान साधना में संलग्न लोकधर्मी साधक के भूतकालीन और अनागत (भविष्य) में आने वाले सदोष कार्यों का ही शोधन करना चाहिये। शुभ कर्मों के शोधन की कोई आवश्यकता नहीं होतो। जो शिशु लौकिक राज-भोग और अलौकिक स्वर्ग आदि भोगों को अभीप्सा का परित्याग कर केवल लोकोत्तर भोग का ही अभिलाषी हो रहा हो, उसके शुभ कर्मों में भी शोधन की आवश्यकता अनुभूत होती है ॥ ३०२-३०३ ॥

इसमें भी क्रियायोग और ज्ञानयोग को प्रधानता के सन्दर्भ में कुछ विशेष बातों पर ध्यान देना चाहिये। वही कह रहे हैं—

जहाँ द्रव्यमयी दीक्षा की व्यवस्था हो, वहाँ दैशिकशिरामणि 'घी और तिल आदि से इस शिष्य के कर्मों का शोधन कर रहा हूँ' यह मन्त्र बोल कर होम करे।

ज्ञानमयी दीक्षा में संवित्तादात्म्य सिद्ध गुरु के संजल्पात्मक अनुसन्धान के प्रताप से ही उसके दोषों का प्रक्षय हो जाता है। जब इसके अशुभ कर्मों का शोधन कर लिया जाता है और वे शुद्ध हो जाते हैं, तो उसके शेष शुभ कर्म स्वात्म परिष्कार के तारतम्य से उसके शोभन उत्कर्ष की प्रसूति में सहायक होते हैं ॥ ३०४-३०६ ॥

शुभकर्मोपभोगे तु योजनिकास्थानमेवासादयेदित्याह

शुभपाकक्रमोपात्तफलभोगसमाप्तितः ॥ ३०७ ॥
यत्रैष योजितस्तत्स्थो भाविकर्मक्षये कृते ।

तत्स्थ इत्यर्थात् भवेत् । क्षये कृते इत्युपभोगादेव, नहि लोकधर्मिणः शुभकर्मशोधनमाम्नातमित्याशयः ॥

भाविशुभकर्माप्रक्षये पुनरस्य तत्र तत्रोपभोग एवेत्याह

भाविनां चाद्यदेहस्थदेहान्तरविभेदिनाम् ॥ ३०८ ॥
अशुभांशविशुद्धौ स्याद्भोगस्यैवानुपक्षयः ।

अद्यदेहेति दीक्षोत्तरकालभाविनाम् ॥

शुभ कर्मोपभोग की अवस्था में योजनिका प्रक्रिया का ही आश्रय लेकर उसी स्थान का उपयोग करना चाहिये । यही कह रहे हैं—

शुभकर्म विपाक के क्रम में प्राप्त फल भोग की समाप्ति से लेकर जिस साधना में गुरु द्वारा शिष्य योजित हो, उसी के पालन में तत्पर (स्थिरभाव से संलग्न) रहता हुआ अपने कर्मों का भोग के द्वारा क्षय इस तरह करे कि, भविष्य में कर्मक्षय के कारण किसी भोग का भय न रह जाय । तभी वास्तविक स्थिति प्राप्त हो सकती है ॥ ३०७ ॥

जिस साधक के भावी शुभ कर्मों का प्रक्षय नहीं होता, उसके लिये देह से देहान्तर प्राप्ति का परम्परा में सर्वत्र उपभोग के ही अवसर होते हैं । यही कह रहे हैं—

दीक्षा के उपरान्त वर्तमान शरीर से उस पुरुष ने उत्तमोत्तम कर्मों का सम्पादन किया । कर्मों के भविष्य में प्राप्तव्य फल स्वस्थ एवं सुन्दर देहान्तर प्राप्ति में कारण बनते हैं और चूँकि अशुभ कर्मों के अंश की विशुद्धि

अत एवास्य न कुत्रचिदपि दुःखोपभोगो भवेदित्याह

भुञ्जानस्यास्य सततं भोगान्मायालयान्ततः ॥ ३०९ ॥

न दुःखफलदं देहाद्यध्वमध्येऽपि किंचन ।

मायालयान्तत इति मायालयान्तं यावदित्यर्थः ॥

मायालये वृत्ते पुनरस्य किं स्यादित्याशङ्क्याह

ततो मायालये भुक्तसमस्तसुखभोगकः ॥ ३१० ॥

निष्कले सकले वैति लयं योजनिकाबलात् ।

हो चुकी है, केवल शुभ कर्मांश ही अवशिष्ट हैं। अतः शुभ फलों के प्रभाव से भविष्यत् भोगों की सुखदायिनी प्राप्ति उससे निरन्तर होती रहती है। उनका उपक्षय नहीं होता ॥ ३०८ ॥

इसीलिये उसे कभी दुःख भोग के अवसर नहीं प्राप्त होते। यही कह रहे हैं—

सतत सुखद फलोपभोग की उपलब्धि में उसे कोई बाधा नहीं होती। माया के लयपर्यन्त वह सुखोपभोग का सौभाग्य प्राप्त कर लेता है। देहाध्वा को परम्परा में पलते हुए भी बीच में उसका कोई ऐसा कर्म शेष ही नहीं रहता, जिससे उसे किसी दुःखरूपी फल का अभिशाप मिल सके ॥ ३०९ ॥

माया के लय हो जाने के उपरान्त उसका क्या होता है? इस प्रश्न के सम्बन्ध में अपने मन्तव्य व्यक्त कर रहे हैं—

माया के लय के उपरान्त, चूँकि समस्त सुखोपभोगों का आनन्द वह भोग चुका होता है, उसका लय उस अवसर की स्तरीयता के अनुसार योजनिका प्रक्रिया के प्रभाव से कभी भी निष्कल में हो जाता है और यदि ऐसा न हुआ तो सकल परम्परा में वह सन्निवेश प्राप्त कर लेता है ॥३१०॥

आह्निकार्थमेव श्लोकस्य प्रथमार्धेनोपसंहरति

इति प्रमेयं कथित दीक्षा काले गुरोर्यथा ॥ ३११ ॥

इतीत्थमेतत्प्रमेयमिहोक्तं यथा येन प्रकारेण काले शक्तिपातावसरे गुरोर्दीक्षा कार्या भवेदिति शुभम् ॥ ३११ ॥

श्रीमद्गुरुमहिमोदितशोधकशोध्योभयानुसन्धानः ।
षोडशमाह्निकमेतद्व्यवृणोदिह जयरथाभिख्यः ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य श्रीमदभिनवगुप्तविरचिते
राजानकजयरथकृतविवेकाख्यव्याख्योपेते
श्रीतन्त्रालोके प्रमेयप्रकाशनं नाम
षोडशमाह्निकम् ॥ १६ ॥

यहाँ इस आह्निक का उपसंहार कर रहे हैं। पूर्व गृहीत शैली के अनुसार श्लोक के प्रथमार्ध के द्वारा पूरे आह्निकार्थ का निचोड़ व्यक्त कर रहे हैं—

इस प्रकार इस आह्निक में मेरे द्वारा पूर्णरूप से प्रमेय का वर्णन किया गया है। गुरु द्वारा शक्तिपात के कालानुकूल जैसी दीक्षा दी जानी चाहिये, वह सब कुछ इसी सन्दर्भ में उपवर्णित है। पूरा आह्निक दीक्षा को केन्द्र में रखकर ही चरितार्थ हुआ है। यह जीवन में शुभ्र के जागरण की देशना है। यह सबके लिये शुभ हो ॥ ३११ ॥

शोध्य शोधक भाव का यह उभय अनुसन्धान।
गुरुकृपा से सहज संभव लक्ष्य का सन्धान॥
ललित तन्त्रालोक का यह षोडशाह्निक भाष्य।
जयरथाभिध किया मैंने सतत ईशावास्य॥

(जयरथ के उपसंहार श्लोक का पद्यानुवाद)

संवित्ति सूर्यतनया-पुलिने प्रसन्ने
रासे रसं ह्यनुभवन् शिवशक्तिरूपे ।
'हंसो' व्यधत्त रुचिरं चितिरत्नरूपं
संवेद्य-षोडशतमाह्निकभर्गभाष्यम् ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य श्रीमदभिनवगुप्तपादविरचित
श्रीराजानकजयरथकृतविवेकव्याख्योपेत
डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीर-विवेक-भाषाभाष्यसंवलित
श्रीतन्त्रालोक का प्रमेय प्रकाशन नामक
सोलहवाँ आह्निक परिपूर्ण
॥ शुभं भूयात् ॥

अथ

श्रीतन्त्रालोके

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचिते

श्रीजयरथकृतविवेकाख्यव्याख्योपेते

सप्तदशमाह्निकम्

निजशक्तिजनितकर्मप्रपञ्चसंचारचातुरीविभवम् ।
भवतरणबलप्रदतां समावहन्तं बलप्रदं नौमि ॥

इदानीमत्रैव द्वितीयार्धेन महाप्रयोजनामितिकर्तव्यतां वक्तुं प्रतिजानीते

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्य श्रीमदभिनवगुप्तपादविरचित

श्रीराजानकजयरथकृतविवेकाख्यव्याख्योपेत

डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीरविवेक-

भाषाभाष्य-संवलित

श्रीतन्त्रालोक

का

सत्रहवाँ आह्निक

स्वात्मशक्तिज कर्मकलना का प्रचुर संचार
चित्रमय चिति चातुरी कृत तव विभव संभार
सिन्धु सा प्रभु! यह तुम्हारी कृपा से तरणीय
बलद! वर दो, विनत जयरथ, जय वरद वरणीय।

पूर्व स्वीकृत अभिनव शैली के अनुसार आह्निक का आरम्भ उस श्लोक की द्वितीय अर्धाली से कर रहे हैं, जिसकी प्रथम अर्धाली का प्रयोग विगत

अथ भैरवतादात्म्यदायिनीं प्रक्रियां ब्रुवे ।

तामेवाह

एवं मण्डलकुम्भाग्निशिष्यस्वात्मसु पञ्चसु ॥ १ ॥

गृहीत्वा व्याप्तिमैक्येन न्यस्याध्वानं च शिष्यगम् ।

कर्ममायाणुमलिनत्रयं बाहौ गले तथा ॥ २ ॥

शिखायां च क्षिपेत्सूत्रग्रन्थियोगेन दैशिकः ।

आह्निक के उपसंहार रूप में किया जा चुका है। इसमें सम्पूर्ण आह्निक का सार निष्कर्ष है। यह उस वर्ण्य विषय का उपक्रम है, जिसे सोद्देश्य देशना के रूप में इस आह्निक में अभिव्यक्त करना है। इसे व्याख्याकार महाप्रयोजनात्मिका मानते हैं। इसमें दीक्षा की उस विधि का वर्णन करना है, जो जनन से लेकर स्वात्मपरिष्कार पर्यन्त घटित संबोध को उद्‌बुद्ध करती है। इसीलिये इसे जननादिसमन्विता दीक्षा कहते हैं। जीवन का यही महाप्रयोजन है कि, स्वात्म के सम्पूर्ण रहस्य को जान लिया जाय। जिजीविषा की प्रक्रिया के सारे कर्त्तव्य इतिकर्त्तव्यता की श्रेणी में आते हैं। उसी को सारी सक्रियता को सिद्ध करने के लिये शास्त्रकार यह प्रत्यभिज्ञात कर रहे हैं कि,

मैं भैरव तादात्म्यदायिनी प्रक्रिया का इस आह्निक के माध्यम से वर्णन करने जा रहा हूँ। भैरव महाभाव के तादात्म्य को प्राप्ति ही जीवन का वास्तविक उद्देश्य है। यहाँ वही प्रक्रिया वर्णित की जायेगो, जिससे भैरव-तादात्म्य की उपलब्धि हो जाय। इस तरह इस प्रक्रिया की तीन संज्ञायें १. महाप्रयोजना, २. इतिकर्त्तव्यता ओर ३. भैरवतादात्म्यदायिनो इस प्रसङ्ग में प्रयोग में लायी गयी हैं॥

उसी भैरवतादात्म्यप्रदायिनी प्रक्रिया का और उसकी विधिक परम्परा के वर्णन का श्रीगणेश कर रहे हैं—

इस प्रक्रिया में मण्डल, कुम्भ, अग्नि, शिष्य और स्वात्म (गुरुदेव) इन पाँचों की मन्त्रमयी ऐक्यप्रदा व्याप्ति को दृष्टि को प्रमुखता प्राप्त है। दैशिक

कुम्भेत्यत्रैव अर्थात् कर्कर्यप्यन्तर्गता येनोक्तं पञ्चस्विति। सूत्रग्रन्थि-योगेनेति तद्रूपतया इत्यर्थः।

यदुक्तम्

'आगन्तु सहजं शाक्तं बद्धादौ पाशपञ्जरम्।
बाहुकण्ठशिखाग्रेषु त्रिवृत्तित्रगुणतन्तुना॥' इति॥

शिरोमणि इस पञ्चम व्याप्ति को पहले ग्रहण करे। व्याप्ति के ग्रहण का अर्थ व्याप्ति की स्वीकृति है। यह ऐक्य एक प्रकार का आध्यात्मिक परिवेश है, जिसमें ये पाँचों सोद्देश्य जीवन के परिष्कार के अध्यवसाय में समर्थ होते हैं। तत्पश्चात् शिष्यग अर्थात् शिष्य में जिस अध्वा की तत्काल अनिवार्यता हो, उस अध्वा का न्यास करना चाहिये। यह इस प्रक्रिया की दूसरी क्रिया है। इसमें अध्वा का न्यास आवश्यक माना गया है। पहली क्रिया मन्त्रमयी ऐक्य की व्याप्ति की स्वीकृति थी।

इन दोनों क्रियाओं के बाद नर, शक्ति और शिव रूप त्रित्व को दृष्टि से ८४, ९६ अंगुल के सूत्र को बराबर त्रिवृत् कर पुनः त्रिगुणित किये जाने से निर्मित यज्ञसूत्र में कार्म, मायीय और आणव रूप तीनों मलों की तीन ग्रन्थियों का निर्णय करे। इन सूत्र ग्रन्थियों के योग से अर्थात् उन गाँठों में सब की ताद्रूप्य व्याप्ति का ध्यान कर क्रमशः कार्म ग्रन्थि को कर्माश्रय बाहु पर, मायीयग्रन्थि को मायाश्रयांग गले में और आणव ग्रन्थि को शिष्य की शिखा में प्रक्षिप्त करने की प्रक्रिया गुरुदेव अपनायें। यहाँ कुम्भ शब्द से कर्करी का भी ग्रहण किया जाता है। वह भी यज्ञ की अंग के रूप में ही गृहीत है। इस विषय में आगम कहता है कि,

"आगन्तुक (कार्म), सहज (आणवीय) और शाक्त (मायीय) मलों को यज्ञ-सूत्र को गाँठों में बाँधकर बाहु, कण्ठ और शिखा रूप तीनों अंगों में लपेट दे या प्रक्षिप्त करे।"

इस प्रारम्भिक प्रक्रिया में गुरुदेव एक ऐसे वातावरण का सृजन करने में समर्थ हो जाते हैं, जिसका मौलिक प्रभाव समाज पर पड़ता है। शिष्य के हृदय में भी एक ऐसी छाप पड़ जाती है, जो आजीवन उसे प्रेरित करती है॥ १-२॥

एषां च ग्रन्थिरूपतया प्रक्षेपे कोऽभिप्राय इत्याशङ्क्याह

तस्यातद्रूपताभानं मलो ग्रन्थिः स कीर्त्यते ॥ ३ ॥

इतिप्रतीतिदार्ढ्यार्थं बहिर्ग्रन्थ्युपकल्पनम् ।

तस्य पूर्णप्रकाशात्मनः परस्य ब्रह्मणो यदतद्रूपतया भानं संकुचितात्मतया प्रथनम्, स एव स्वरूपस्य तिरोधायकत्वान्मल इति प्रतिरोधकत्वाच्च ग्रन्थिरित्युच्यते। एतदेव द्रढयितुं बहिः पाशसूत्रादावेवं ग्रन्थीनामुपकल्पनम् ॥

यज्ञसूत्र-तन्तुओं में तीन गाँठें देकर शिष्य के अङ्गों पर प्रक्षिप्त करने का उद्देश्य क्या है ? इस प्रश्न का समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं—

शिव का अतद्रूप से भान ही मल है। मल ही ग्रन्थि कहलाते हैं। इसी प्रतीति की दृढ़ता के लिये बाहर गाँठों की कल्पना की जाती है।

जो पदार्थ जैसा है, उसका जो स्वरूप है, उसकी जो वास्तविकता है और उसके जो गुण-धर्म हैं, उनका ज्यों का त्यों भान होना 'तद्रूपतया भान' कहलाता है। इसके विपरीत जो प्रतीति होती है, उसे 'अतद्रूपतया भान' कहते हैं। विश्व परमशिव और शक्ति का उल्लास है। वह सर्वत्र व्याप्त तत्त्व है। वेदान्त की भाषा में उसे 'ब्रह्म' कहते हैं। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की उक्ति के अनुसार सारा उल्लास ही ब्रह्म है। पर यह सब हमें या अणुमात्र को उस रूप में नहीं दीख पड़ता। इदन्ता जब अहन्ता में आत्मसात् हो जाय और जब केवल सर्वत्र परमशिव की सत्ता का ही भान रह जाय, वह भान ही तद्रूपतया भान है। इसके विपरीत प्रतीति को ही 'मल' कहते हैं। संकुचित प्रथात्मकता का बोध मल के कारण होता है। इसे ही 'ग्रन्थि' भी कहते हैं। मल की गाँठ पड़ते ही स्वरूप का तिरोधान हो जाता है। सत्य स्वरूप का प्रतिरोध संकोच को जन्म देता है। इसलिये इसे ग्रन्थि कहते हैं।

गाँठ यदि धागे में पड़ जाय तो धागे का स्वाभाविक रूप नष्ट हो जाता है। धागा आच्छादक भी होता है और पाश का भी काम करता है। पाश रूप धागे में गाँठें डाल कर यह समझाने का प्रयत्न करते हैं कि, सत्य-प्रतीति में ऐसी ही गाँठें पड़ी हुई हैं। इन्हें खोलने पर ही सत्य स्वरूप की

एवमप्येतद्बाह्वादावेव कस्मादुक्तमित्याशङ्क्याह

बाहू कर्मास्पदं विष्णुर्मायात्मा गलसंश्रितः ॥ ४ ॥
अधोवहा शिखाणुत्वं तेनेत्थं कल्पना कृता ।

मायात्मेति तद्गर्भेऽस्याधिकारात् । अधोवहेति प्राणशक्तेर्हृदयान्तं प्रसरणात् ॥ ४ ॥

प्रतीति हो सकती है । मन में दृढ़तापूर्वक ऐसे संस्कार डालने का काम दैशिक-शिरोमणि गुरुदेव करते हैं । अणुता के आवरण में पड़े सकल पुरुष के संस्कारों में परिष्कार के लिये यह अत्यन्त आवश्यक होता है ॥ ३ ॥

इस आवश्यकता के रहते हुए भी यह बाहु आदि स्थानों पर ही ऐसा क्यों किया जाये, अन्यत्र अङ्गों में क्यों नहीं ? इस प्रश्न की दृष्टि से समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं—

१. बाहु कर्म का आस्पद है । कर्म से ही कार्म मल का कञ्चुक कलङ्क जीवन को अकल्पित कालुष्यों से ढक लेता है । फलतः संकोच से ग्रस्त होने के कारण वास्तविक कर्म नहीं कर पाता । अतः बाहु वह महत्त्वपूर्ण अङ्ग है; जिस पर यह निक्षेप आवश्यक होता है । दूसरी बात जो और भी महत्त्वपूर्ण है, वह यह है कि, विष्णु कर्म में ही उल्लसित हैं और बाहु नामक अङ्ग ही उनका अधिष्ठान है । इसीलिये कर्मशुद्धि से वैष्णव तत्त्व का, इसी प्रक्रिया से इस जीवन और इस शरीर का परिष्कार हो जाता है । इससे यह अङ्ग शिवात्मक हो उठता है ।

२. गला रुण्ड और मुण्ड का सन्धि स्थल है । विशुद्ध चक्र का चमत्कार यहीं पर दृष्टिगोचर होता है । स्वर-चक्र सहित साकिनी शक्ति का शाक्त (मायीय) क्षेत्र गला ही है । अतः यहाँ भी सूत्र-प्रक्षेप का निर्देश दिया गया है ।

३. तीसरा स्थान शिखा है । शिखा में उद्योतिनी शक्ति का अधिष्ठान है । प्राण यहीं से हृदय तक पहुँचता है । नीचे की ओर प्राण का प्रवाह होने के कारण इसे अधोवहा कहते हैं । प्राणापानवाह क्रम में प्राण का अधोवाह योगियों को अनुभूत होता है । सामान्यजन इस अनुभूति से वञ्चित ही रह जाते

नन्वेवमपि सूत्रस्य त्रिस्त्रिगुणीकरणे कोऽर्थ इत्याशङ्क्याह

नरशक्तिशिवाख्यस्य त्रयस्य बहुभेदताम् ॥ ५ ॥

वक्तुं त्रिस्त्रिगुणं सूत्रं ग्रन्थये परिकल्पयेत् ।

इदं हि नरशक्तिशिवात्मकमेव सर्वमिति भावः ॥

अत्रैव शास्त्रान्तरीयप्रक्रिययापि व्याप्तिं दर्शयितुमाह

तेजोजलान्नत्रितयं त्रेधा प्रत्येकमप्यदः ॥ ६ ॥

श्रुत्यन्ते केऽप्यतः शुक्लकृष्णरक्तं प्रपेदिरे ।

श्रुत्यन्त इति । यदुक्तं छान्दोग्योपनिषदि श्वेतकेतूपदेशे

हैं । इसी कारण यह अणु स्थान माना जाता है । इस तरह शैव, शाक्त और नरात्मक तीनों तत्त्वों के परिष्कार के लिये इन्हीं तीन अङ्गों को इस प्रक्रिया में अङ्गीकार किया गया है ॥ ४ ॥

यह स्वीकार करने पर भी यह प्रश्न अवशेष रह जाता है कि, यह तीन बार त्रिगुणित सूत्र ही क्यों ? इस पर कह रहे हैं कि,

ऊपर के अङ्ग भी नर-शक्ति और शिवात्मक अधिष्ठान हैं । यह विश्व भी नर-शक्ति-शिवात्मक ही माना जाता है । यह त्रिधा उल्लास ही जागतिक रहस्य है । इनसे ही सम्बन्धित उक्त तीन अङ्ग है । इसी त्रित्व के परिष्कार के लिये तीन बार त्रिगुणित सूत्र ही ग्रन्थि को तोड़ने के लिये परिकल्पित किये जाते हैं ॥ ५ ॥

अन्य शास्त्रों में कुछ अन्य प्रक्रियाओं का भी उल्लेख मिलता है । वही यहाँ दर्शित कर रहे हैं—

तेज, जल और अन्न की यह तिकड़ी जीवन के अनिवार्य आधार-तत्त्व हैं । ये प्रत्येक भी तीन-तीन प्रकार के होते हैं । श्रुत्यन्त अर्थात् उपनिषद् में यह प्रतिपादित है । साथ ही यह भी प्रतिपादित है कि, लाल, श्वेत और कृष्ण रङ्गों के मूल भी तेज, जल और अन्न ही हैं ।

'एकस्मात्परब्रह्मणस्तेजोऽजायत, तत आपस्ताभ्योऽन्नं तदेकैकं त्रिधा समभवत्, तत्राग्नेर्लोहितशुक्लकृष्णानि रूपाण्यभवन्, यल्लोहितं तत्तेजः, यच्छुक्लं तदापः, यत्कृष्णं तदन्नमिति ।'

अत इति तेजोजलान्नत्रितयस्यैवरूपत्वात् । इह साक्षाद्भोगाधारे शरीरे पाशच्छेदादौ क्रियमाणे दाहशोषादयः संभाव्येरन्निति तत्प्रतिकृतिप्राये मुख्यदेहगतानन्तपाशादिसूचनात् तदुच्छेदोपायतया च त्राणात्सूत्रशब्दवाच्येऽस्मिन् पाशच्छेदादि कार्यमिति पाशसूत्रार्थः । यदागमः

'द्वितीयः सूत्रदेहस्तु पाशा यत्र स्थितास्त्विमे ।
बध्याश्छेद्यास्तथा दाह्याः सूत्रस्थाने न विग्रहे' ॥ इति ॥

छन्दोग्य उपनिषद्[1] के श्वेतकेतु के उपदेश के प्रकरण में यह कहा गया है कि,

"एक मात्र विश्वव्याप्त तत्त्व ब्रह्म से तेज उत्पन्न हुआ । उससे जल और उससे अन्न की क्रमिक उत्पत्ति हुई । ये तीनों भी लाल, श्वेत और कृष्ण क्रम से तीन-तीन प्रकार के हो गये । फलतः ब्रह्म से समुद्भूत अग्नि लाल, श्वेत और कृष्ण रूपों में व्यक्त हाता है । जो लाल (लोहित-रक्त) रूप है, वही तेज है । जो श्वेत (शुक्ल–चमकीला सफेद) रूप है, वही जल है । उसका जो कृष्ण (काला-धूमिल-भूरा आदि) रूप है, वही अन्न है ।"

श्लोक में आये हुए 'अतः' शब्द से तेज, जल और अन्न रूपत्रितय के त्रिधात्व का ही तात्पर्य ग्रहण करना चाहिये । यह शरीर साक्षात् भोग का आधार है । इसकी पाश-राशि के उच्छेद की प्रक्रिया में 'दाह' और 'शोष' आदि उपद्रवों की सम्भावना रहती है । इनके ही सन्दर्भ में मुख्य देहगत अनन्त पाशों की सूचना और उनको समाप्त करने के उपायरूपी त्राण, इनके समन्वित अर्थ (पाश की 'सू'चना होने पर उनसे 'त्रा'ण के लिये उपाय करना चाहिये) के लिये ही 'पाशसूत्र' शब्द का आविष्कार किया गया है । यह इस शब्दार्थ की निरुक्त प्रक्रिया श्लोक २-३ में आसूत्रित है ।

---

१. छान्दोग्य उप०, अ० ६ खण्ड ४ (त्रिवृत्करणप्रकरण)

एवं सूत्रक्लृप्तिमभिधाय तत्त्वशुद्धिमाह

ततोऽग्नौ तर्पिताशेषमन्त्रे चिद्व्योममात्रके ॥ ७ ॥
सामान्यरूपे तत्त्वानां क्रमाच्छुद्धिं समाचरेत् ।

सामान्यरूपे चिद्व्योममात्रके इति तत्सात्करणमेव हि नाम अस्मद्दर्शने शुद्धिरित्याशयः ॥ ७ ॥

आगम भी इसका आसूत्रण करता है—

"साक्षात् भोगाधार शरीर प्रथम देह है। द्वितीय सूत्रदेह है। इसी में सारे पाश अवस्थित हैं। इसो सूत्रस्थान में ये बध्य हैं, छेद्य और दाह्य भी हैं।"

इस तरह पाशच्छेद की यह प्रक्रिया दैशिकशिरोमणि गुरुदेव अपनाते हैं ॥ ६ ॥

सूत्र शब्द से सूचना और त्राणसम्बन्धी नैरुक्त व्याख्या और उसकी शक्ति के कथन के बाद अब यहाँ तत्त्वशुद्धि की चर्चा कर रहे हैं—

यही कारण है कि, अग्नि में याजन से समस्त तत्त्वों की शुद्धि हो जाती है। अग्नि के दो महत्त्वपूर्ण विशेषण कारिका में प्रयुक्त हैं—

१. तर्पिताशेषमन्त्रके—सभी पाँचतत्त्वों के अलग-अलग मन्त्रों से प्रयोग कर यजन करने से अग्निदेव तृप्त हो जाते हैं। उसी अग्नि को तर्पित अर्थात् तृप्त किया हुआ कह सकते हैं। अशेष अर्थात् सभी तत्त्वों से सम्बन्धित सभी मन्त्र जिनमें से कोई शेष न रह जाय। इन सभी मन्त्रों से शिष्य द्वारा तृप्त किये हुए अग्नि हो तर्पिताशेषमन्त्र माने जाते हैं।

२. चिद्व्योममात्रके—चिद्व्योम ही चिदाकाश है। प्रकाशात्मक शैवमहाबोध का चैतन्यात्मक चमत्कार तेज रूप में प्रस्फुरित होता है। उस तेज को चिद्व्योम मात्रक ही माना जाता है। सामान्यतः तेज चिद्व्योम रूप ही होता है। जब तत्त्वों को तत्सात् कर देते हैं, तभी त्रिकदर्शन के अनुसार तत्त्व को शुद्ध मानते हैं। ग्रन्थकार अन्त में यह निर्देश करते हैं कि, क्रमिक-रूप से सभी तत्त्वों को तेजःसात् करके शुद्ध करना अत्यन्त आवश्यक है ॥ ७ ॥

तदेवाह

तत्र स्वमन्त्रयोगेन धरामावाहयेत्पुरा ॥ ८ ॥
इष्ट्वा पुष्पादिभिः सर्पिस्तिलाद्यैरथ तर्पयेत् ।
तत्तत्त्वव्यापिकां पश्चान्मायातत्त्वाधिदेवताम् ॥ ९ ॥
मायाशक्तिं स्वमन्त्रेणावाह्याभ्यर्च्य प्रतर्पयेत् ।

तत्तत्त्वेति तस्य धराख्यस्य तत्त्वस्य । मायाशक्तिमिति वागीश्वरी-रूपाम् । स्वमन्त्रेणेति ओंह्रीमिति ॥

तत्त्वों को शुद्ध करने की विधि के विशेषज्ञ दैशिक विद्वान् गुरुदेव होते हैं। वे इस आचार को संचालित करते हैं। यहाँ उसी विधि की अव-तारणा कर रहे हैं—

सर्वप्रथम 'स्व'मन्त्र से पहले धरा का आवाहन करना चाहिये। पुष्प आदि से उसकी पूजा कर घी और तिल आदि से हवन करना चाहिये। इसका अपना मन्त्र बीजात्मक होता है। उसके बाद धरा आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। जैसे –

'ओम् लं सद्यःरूपिणीं धरामावाहयामि ओं लं धरायै नमः' इस मन्त्र से ही पञ्चोपचार या षोडशोपचार पूजन कर इसी मन्त्र में 'स्वाहा' लगाकर १०८ बार हवन भी सम्पन्न करना चाहिये। इस तरह धरा तेजःसात् और शुद्ध हो जाती है। इसके बाद तर्पण करना भी आवश्यक माना जाता है। धरातत्त्व को व्याप्ति तेजस्तत्त्वपर्यन्त होती है। इस प्रकार की विशेषता से संवलित धरातत्त्व में भी तेजस रूप की व्याप्ति स्वाभाविक है। इसके पूजन से पूरा मण्डल दिव्य और पवित्र हो जाता है और नरतत्त्व की शुद्धि भी हो जाती है।

अब नर, शक्ति के बाद माया का क्रम आता है। मायातत्त्व के अधिदेव का आवाहन और ऊपर की तरह पूजन करना चाहिये। आवाहन, पूजन, अर्चन, हवन और तर्पण सब एक ही तत्त्वशुद्धि प्रक्रिया के अङ्ग हैं। यह सारी विधि पूरी करनी चाहिये। यह ध्यान रखना चाहिये कि, माया का बीज-मन्त्र 'ह्रीं' है ॥ ८-९ ॥

ननु धरादेस्तत्त्ववर्गस्य प्राक् मातृकामालिन्युभयगतं वर्णजातं मन्त्रत्वेनोक्तम्, तत्कतरदत्र मन्त्रतयाभिमतमित्याशङ्क्याह

आवाहने मातृकार्णं मालिन्यर्णं च पूजने ॥ १० ॥
कुर्यादिति गुरुः प्राह स्वरूपाप्यायनद्वयात् ।

पूजन इत्यर्थात् तर्पणादावपि । मातृकाया हि जगज्जननीत्वात् स्वरूपपृथाकारित्वमुचितम्, मालिन्याश्च विश्वस्य स्वात्मनि धारणादाप्यायकारित्वमित्युक्तं स्वरूपाप्यायनद्वयादिति ॥ १० ॥

एतदेवेह द्वयं दर्शयति

तारो वर्णोऽथ संबुद्धिपदं त्वामित्यतः परम् ॥ ११ ॥
उत्तमैकयुतं कर्मपदं दीपकमप्यतः ।

धरा आदि तत्त्वों के मन्त्र के रूप में मातृका और मालिनी के वर्णों की चर्चा पहले आ चुकी है । प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, दोनों में से किस वर्णराशि का मन्त्रत्व स्वीकार किया जाय ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

आवाहन में मातृका-वर्णों का प्रयोग मन्त्र के रूप में करना चाहिये और मालिनी-वर्णों का पूजन और तर्पण आदि सभी प्रक्रियाओं में प्रयोग करना उचित है । मातृका-वर्णराशि का जगज्जननी मानते हैं । इसलिये इसके स्वरूप का पर्थन (विस्तार) श्रेयस्कर माना जाता है । जहाँ तक मालिनी की वर्णराशि का प्रश्न है, यह स्वात्म में विश्व का धारण करती है और सबकी आप्यायिका है अर्थात् अपने वात्सल्य के अमृत से सबका परम तृप्त करती है । ये दो कार्य (अर्थात् 'स्व'रूप में धारण और आप्यायन रूप) मालिनी को शक्ति से ही सम्पन्न हाते हैं । यहाँ आवाहन और पूजन के विशिष्ट स्तर और उनके अन्तर को मातृका-मालिनी वर्णराशि के माध्यम से प्रदर्शित किया गया है ॥ १० ॥

यहाँ इन दोनों की प्रायोगिकता को प्रकाशित कर रहे हैं—

तार (ओम्), वर्ण मातृकावर्ण जैसे धरावर्ण 'क्ष', सम्बोधन (धरे), त्वाम्, (तुम्हारा), उत्तम पुरुष एकवचन क्रियापद (आवाहयामि), दीपक (नमः)—

तुभ्यं नाम चतुर्थ्यन्तं ततोऽप्युचितदीपकम् ॥ १२ ॥

इत्यूहमन्त्रयोगेन तत्तत्कर्म प्रवर्तयेत् ।

तारः प्रणवः। वर्णो मातृकायाः यथा धरायां क्षः। संबुद्धीति धरे इत्यादि। उत्तमेति आवाहयामीति। दीपकं नमः। नामेति धरादेः। उचितेति पूजादौ नमः, होमे स्वाहेत्यादि ॥ १२ ॥

नन्वत्रावाहनोपक्रमं कस्मात्पूजाद्युक्तमित्याशङ्क्याह

आवाहनानन्तरं हि कर्म सर्वं निगद्यते ॥ १३ ॥

यह आवाहन के मन्त्र का स्वरूप है। नमः के साथ चतुर्थ्यन्त नाम का प्रयोग भी आवश्यक है। पूजन में उचित दीपक का प्रयोग करते हैं, अर्थात् पूजा आदि में 'नमः' और होमकर्म में 'स्वाहा' का उपयोग किया जाना आवश्यक है। इसे श्लोक में कूटपद्धति से कहा गया है। अतः इसे 'ऊहमन्त्र' की संज्ञा दी गयी है। अध्येता श्लोक के शब्द से ऊहन कर मन्त्र को सुनिश्चित कर ले। उसके बाद ही पूजा की प्रक्रिया का प्रवर्त्तन करे। यहां मन्त्र को कोष्ठक में लिख दिया गया है। रहस्य गोपनीय होता है, इसलिए पूरी प्रक्रिया नहीं लिखी गयो है। दैशिक इसका ऊहन कर इसका प्रयोग करे—यही निर्दिष्ट है ॥ ११-१२ ॥

पूजा की प्रक्रिया में आवाहन का बड़ा महत्त्व है। विना आराध्य के आये किसकी पूजा? अतः इसके बाद ही पूजन के सारे प्रयोग किये जाते हैं। आवाहन और विसर्जन के वीच की प्रक्रिया को ही पूजन कहते हैं। इन तीनों के अन्तर को

'**आवाहनं** न जानामि, न जानामि **विसर्जनम्**।
पूजां चैव न जानामि ... . ॥"

इस श्लोक में स्पष्ट कर दिया गया है। आवाहन प्राथमिक प्रयोग के रूप में अनिवार्य रूप से करना चाहिये। इसके बाद ही अन्य सारे कार्य किये जाते हैं। यही विधान है ॥ १३ ॥

नन्वावाहनमेव नाम किमुच्यते यदानन्तर्येणापि पूजादि स्यादित्याशङ्क्याह

आवाहनं च संबोधः स्वस्वभावव्यवस्थितेः ।
भावस्याहंमयस्वात्मतादात्म्यावेश्यमानता ॥ १४ ॥

आवाहनं हि नाम स्वस्वभावव्यवस्थित्या सिद्धस्य भावस्य संबोधः

'सिद्धस्याभिमुखीभावमात्रं संबोधनं विदुः ।'

इत्यदिनोत्या पूर्णाहंपरामर्शस्वभावे स्वात्मनि ऐकात्म्येनावेश्यमानता अभिमुखीभावमात्रं, न त्वावेश एव, तथात्वे हि शैवी दशैवं स्यात्, न तु शाक्तीत्यभिप्रायः ॥ १४ ॥

यहाँ 'आवाहन' को ही परिभाषित कर रहे हैं—

'आवाहन' स्वरूपसत्ता में अवस्थित और आदिसिद्ध आराध्य का सम्बोधन है। अपने स्वभाव में व्यवस्थित भाव का आकलन एक रहस्य के आवरण में पड़े दिव्य भाव को ओर तुरत अभिमुख कर देता है। शिष्य या साधक या कोई भी याजक अपनी पूरी अहंपरामर्शात्मकता से उस दिव्य भाव की आवेश्यमानता से सम्पृक्त होता है। यहाँ एक प्रकार का ऐकात्म्य उदित होता हुआ प्रतीत होता है। यही वास्तविक सम्बोध है। यही आवाहन है। आगम कहता है—

"सिद्ध भाव के प्रति अभिमुखीभाव मात्र को ही सम्बोधन के रूप से जानते हैं।"

यहाँ 'आवेश्यमानता' शब्द पर ध्यान देने की आवश्यकता की ओर आचार्य जयरथ ने ध्यान आकृष्ट किया है और आवेश और आवेश्यमानता की स्थितियों के अन्तर को समझाने का प्रयत्न किया है। वस्तुतः आवेश्यमानता अभिमुखीभाव को कहते हैं। यह शाक्ती-दशा होती है। आवाहन में शाक्ती दशा का उल्लास होता है। यह चेतस् द्वारा विचिन्तन मात्र है। वही चिन्तन शब्द के माध्यय से व्यक्त होता है। जहाँ तक आवेश का प्रश्न है, वहाँ चिन्तन समाप्त हो जाता है। आवेश को शैवीदशा कहते हैं। वहाँ शाक्ती दशा की

अत एवाह

शाक्ती भूमिश्च सैवोक्ता यस्यां मुख्यास्ति पूज्यता ।

ननु शाक्त्यामेव भूमौ कस्मान्मुख्यतया पूज्यता अस्तीत्याशङ्क्याह

अभातत्वादभेदाच्च नह्यसौ नृशिवात्मनोः ॥ १५ ॥

अभातत्वादिति जाड्यादित्यर्थः । अभेदादिति पूज्यपूजकादिविभागस्य विगलनात् । यदभिप्रायेणैव

सम्भावना भी नहीं होती । इस तरह सम्बोधन रूप आवाहन का महत्त्व सिद्ध है । इसके बाद ही सारी प्रक्रिया पूरी होती है ॥ १४ ॥

इसी तथ्य को इस श्लोक में उद्घाटित कर रहे हैं—

यह आवेश्यमानता ही शाक्तीभूमि है । इसमें अपनी स्वरूपसत्ता में व्यवस्थित भाव की ओर अपनी अहंपरामर्शकता अभिमुख होती है । वस्तुतः मुख्य पूज्यता शाक्तो में ही स्फुरित होती है । इसके दो मुख्य कारण यहाँ दिये गये हैं—

१. अभातत्वात्—पुद्गल पुरुष अणुता (जडता) के आवरण से आवृत रहते हैं । स्वयं अपनी सत्ता ही उन्हें अभात (अप्रकाशित) रहती है । इसलिये 'नर' स्तर में मुख्य पूज्यता नहीं हो सकती ।

२. अभेदाच्च—साधक को स्वरूपसत्ता और पराहन्ता में कोई वास्तविक भेद नहीं होता । इधर कञ्चुककलङ्क का कालुष्य विगलित हुआ और उधर प्रकाशमयता की तादात्म्यसिद्धि की दिव्यता का उल्लास । इसलिये इस स्तर पर भी पूज्यता को मुख्यता नहीं हो सकती, क्योंकि पूज्य-पूजक भाव ही यहाँ विगलित हो जाता है ।

इन्हीं कारणों के आधार पर शास्त्रकार कहते हैं कि, यह पूज्यता का भाव नरात्मकता और शिवात्मकता में कदापि नहीं हो सकता । इसी अभिप्राय से आगम कहता है कि—

'न पुंसि न परे तत्त्वे शक्तौ मन्त्रान्नियोजयेत् ।

इत्याद्युक्तम् ॥ १५ ॥

ननु यद्येवं तज्जडानां धरादीनां कथं पूजादि युज्येतेत्याशङ्क्याह

जडाभासेषु तत्त्वेषु संवित्स्थित्यै ततो गुरुः ।
आवाहनविभक्तिं प्राक् कृत्वा तुर्यविभक्तितः ॥ १६ ॥
नमस्कारान्ततायोगात्पूर्णां सत्तां प्रकल्पयेत् ।

एतदेवोपपादयति

ततः पूर्णस्वभावत्वं तद्रूपोद्रेकयोगतः ॥ १७ ॥
ध्येयोद्रेको भवेद्ध्यातृप्रह्वीभाववशाद्यतः ।

नमस्कारे हि नमस्कर्तृगुणीभावेन नमस्कार्यस्यैव मुख्यत्वं भवेदिति भावः ॥ १७ ॥

"पुंभाव में अर्थात् नर में और न ही परतत्त्व में मन्त्रों का नियोजन करना चाहिये ।"

वस्तुतः यह विश्व ही नर-शक्ति-शिवात्मक माना जाता है । इस त्रिक में से मन्त्रों का नियोजन शक्ति में ही करने का यहाँ निर्देश है ॥ १५ ॥

यहाँ एक नयी जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है । पूछते हैं कि, यदि जड़तारूप नरात्मकता में मन्त्र-विनियोग नहीं होता तो धरारूप जड़तत्त्व में पूजादि प्रक्रिया का प्रयोग क्यों किया जाता है ? इस पर कह रहे हैं कि,

वहाँ जडाभास-तत्त्वों में गुरुदेव पूर्णसत्ता का ही प्रकल्पन करते हैं । संवित्ति की स्थिति ही मुख्य उद्देश्य होती है । इसी की पूर्णतासिद्धि के लिये आवाहन विभक्ति (सम्बोधन), चतुर्थ्यन्त प्रयोग और नमस्कार आदि की प्रक्रिया अपनायी जाती है ॥ १६ ॥

उक्त तथ्य का ही प्रतिपादन कर रहे हैं –

इसके बाद अर्थात् पूर्णसत्ता के प्रकल्पन के बाद पूर्णस्वभावत्व का और शिष्य में पूर्णरूपता के उद्रेक का योग होता है । इसके फलस्वरूप एक अभिनव

एवमागमान्तरमप्येवमेव व्याख्येयमित्यस्मद्गुरव इत्याह

आवाह्येष्ट्वा प्रतर्प्येति श्रीस्वच्छन्दे निरूपितम् ॥ १८ ॥
अनेनैव　　पथानेयमित्यस्मद्गुरवो　　जगुः ।

ननु भेदाभेदमयत्वात् परापरा शाक्ती दशा, शैवी पुनरभेदमयत्वात् परा, तत्कथमत्र पूज्यता नास्तीत्युक्तमित्याशङ्क्याह

और दिव्य स्थिति उत्पन्न होती है। देशिक की उपस्थिति में उसके प्रभाव से उत्पन्न वहाँ का वातावरण भी दिव्य हो गया होता है। शिष्य नमस्कार की मुद्रा में अवस्थित है। ताद्रूप्यमय भावोद्रेक से सम्पूरित है। उसी का वह ध्यान कर रहा है। वह इस समय ध्याता है। ध्याता जब नमस्कार में तन्मय होता है तो उसकी विनम्रता भी, उसका प्रह्वीभाव भी महत्त्वपूर्ण होता है। नमस्कर्त्ता गौण और नमस्कार्य प्रधान हो जाता है। नमस्कार्य ही ध्येय बन जाता है। उस समय ध्याता में ध्येय का भी उद्रेक महत्त्वपूर्ण माना जाता है ॥ १७ ॥

अन्य आगम जैसे स्वच्छन्द-शास्त्र आदि के सम्बन्धित सन्दर्भों की व्याख्या भी इसी प्रकार करनी चाहिये। ग्रन्थकार अपने गुरुजनों के इस प्रकार के आदेश की चर्चा भी कर रहे हैं—

प्रथम प्रक्रिया के रूप में आवाहन करना चाहिये। इसके बाद पूजा और यजन सम्पन्न कर तर्पण की प्रक्रिया उचित मानी जाती है। स्वच्छन्द-शास्त्र में भी इसी प्रकार का निरूपण है। इसी अपनी पद्धति के अनुसार स्वच्छन्द शास्त्र के आवाह्य, इष्ट्वा और प्रतर्प्य इन शब्दों में वही क्रम प्रदर्शित है ॥ १८ ॥

प्रश्न करते हैं कि भेदाभेदमयी 'परापरा-शाक्ती' दशा मानी जाती है। अभेदमयता वाली शैवी दशा 'परा' कहलाती है। ऐसी स्थिति में भी श्लोक १५ में यह कहा गया है कि शैवी दशा में पूज्यता नहीं होती। ऐसा क्यों? इस पर कह रहे हैं कि,

परत्वेन तु यत्पूज्यं तत्स्वतन्त्रचिदात्मकम् ॥ १९ ॥
अनवच्छिन्नप्रकाशत्वान्न प्रकाश्यं तु कुत्रचित् ।

ननु यद्येवं, तत्कथमात्मा ज्ञातव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्चेत्या-द्युच्यत इत्याशङ्क्याह

तस्य ह्येतत्प्रपूज्यत्वध्येयत्वादि यदुल्लसेत् ॥ २० ॥
तस्यैव तत्स्वतन्त्रत्वं यातिदुर्घटकारिता ।

अत एव पूज्यत्वादेरमुख्यत्वात् नात्राह्वानाद्युपयोग इत्याह

संबोधरूपे तत्तस्मिन् कथं संबोधना भवेत् ॥ २१ ॥
प्रकाशनायां वै न स्यात्प्रकाशस्य प्रकाशता ।

तत् तस्मात् पूज्यत्वादेस्तत्स्वातन्त्र्यावजृम्भामात्रत्वात् तस्मिन् संबो-धनक्रियाकर्तृत्वात्मनि शिवे संबोधना कथं भवेत् संबोध्यमानता अस्य न

जहाँ शैवी परा दशा होती है, वह पराशक्ति का स्तर माना जाता है। वहाँ अनवच्छिन्न प्रकाशमयता का ही उल्लास रहता है। वह स्वतन्त्र चिदात्मक चमत्कार के प्रतीक परमशिव का स्वरूप है। वह पूज्य है, पर वह परत्वेन पूज्य होता है। यह ध्यान देने की बात है कि, प्रकाश्य परतन्त्र होता है। यह कहीं भी पूज्य नहीं होता ॥ १९ ॥

उपनिषद् में उक्ति है कि आत्मा ज्ञातव्य है, मन्तव्य है और निदिध्या-सितव्य है। इस दृष्टि से परावस्था में भी पूज्यता है, यह सिद्ध होता है। ऐसी दशा में यहाँ श्रुति का विरोध क्यों? इस जिज्ञासा का समाधान कर रहे हैं—

उस दशा में औपनिषदिक दृष्टि से जो पूज्यता परिलक्षित होती है अथवा ध्येयत्वादि का जो उल्लास वहाँ दृष्टिगोचर हो रहा है, वह पूज्यता का प्रकल्पन नहीं, वरन् उसकी स्वतन्त्रता का, उसकी प्रकाशमयता का ही समादरात्मक अनुभूति मात्र है। उसकी स्वतन्त्रता अतिदुर्घटकारिणी शक्ति है। यही कारण है कि, स्वातन्त्र्य और प्रकाशमयता को ही यहाँ मुख्यता प्राप्त है। पूज्यता यहाँ गौण हो जाती है। ऐसी स्थिति में यहाँ आवाहन

न्याय्या। नहि परकर्तृकायां प्रकाशनायां प्रकाशस्य प्रकाशतैव स्यात्, किन्तु प्रकाश्यमानतेत्यर्थः ॥

ननु यद्येवं, तद्देवमावाहयामीत्याह्वानादौ स्थिते किं प्रतिपत्तव्यमित्याशङ्क्याह

संबोधनविभक्त्यैव विना कर्मादिशक्तिताम् ॥ २२ ॥

स्वातन्त्र्यात्तं दर्शयितुं तत्रोहमिममाचरेत्।

देवमावाहयामीति ततो देवाय दीपकम् ॥ २३ ॥

प्राग्युक्त्या पूर्णतादायि नमःस्वाहादिकं भवेत्।

एवमत्राप्यूहस्य संभवाद्यथौचित्यं दीपकयोजना कार्येत्याह तत इत्यादि ॥

आदि का कोई उपयोग नहीं। वह स्वयं संबोध रूप है। उसमें सम्बुद्धि का अधिकार नहीं। उसमें प्रकाशमयता भी है। परकर्तृक प्रकाशना में प्रकाश की प्रकाशता कैसे हो सकती है। वस्तुतः प्रकाशता और स्वतन्त्रता की जँभाई ही पूज्यता है। इसलिये इसे मुख्यता नहीं मिलती ॥ २०-२१ ॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि, यदि संबोधता में प्रकाश की प्रकाशता नहीं होती है, तो जब याजक यह बोलता है कि, 'देवम् आवाहयामि' अर्थात् हे देव! मैं आपको आवाहित करता हूँ, उस समय उस प्रयोग से क्या प्रतिपत्ति को जाय? इसी का उत्तर दे रहे हैं—

संबोधन की विभक्ति सबोध्य के अस्तित्व से संपृक्त हो जाती है। उस समय कर्म को तथा अन्य कारकों के विना भी या कारकों की शक्ति के बिना भी स्वातन्त्र्यशक्ति के चमत्कार से आराध्य या संबोध्य को देखने समझने के लिये ऊह का आश्रय लेना चाहिये!

जिस समय प्रयोक्ता आवाहन क्रिया का प्रयोग करता है, उस समय 'देव' शब्द के साथ या अन्य किसी शब्द के साथ 'चतुर्थी' विभक्ति का प्रयोग कर उसके साथ दीपक शब्दों (नमः और स्वाहा) आदि का प्रयोग करना चाहिये, क्योंकि 'नमः' और 'स्वाहा' के यथावसर प्रयोग से प्रक्रिया की पूर्णता

ननु नमस्कारादेः सर्वस्यैव दीपकस्य किं पूर्णतादायित्वमुत नेत्या-शङ्कयाह

नुतिः पूर्णत्वमग्नीन्दुसंघट्टाप्यायता परम् ॥ २४ ॥
आप्यायकं च प्रोच्छालं वौषडादि प्रदीपयेत् ।

अग्नीन्दुसंघट्ट इति यदुक्तं प्राक्

'स्वा इत्यामृतवर्णेन...............।' इति ।
'...**हेत्यग्निरूपेण**..........॥' (१५।४३७) इति च ।

परं स्वाहेति । प्रोच्छालमिति अतोऽप्यस्याधिक्येनाप्यायकारित्वमि-त्यर्थः । यदागमः

'वौषडाप्यायने शस्तम् ....।' इति ॥ २४ ॥

सम्पन्न होती है। दीपक का प्रयोग अवसर के औचित्य पर ही निर्भर करता है। यह पहले ही प्रतिपादित किया जा चुका है। दीपकों के सारे प्रयोग इसी ऊह पर ही आधृत हैं। ॥ २२-२३ ॥

प्रश्न करते हैं कि, क्या 'नमः' 'स्वाहा' आदि जितने 'दीपकशब्द' हैं, ये सभी पूर्णत्व प्रदान करने वाले हैं या नहीं ? इसका उत्तर दे रहे हैं कि,

नुति अर्थात् 'नमः' शब्द द्वारा व्यक्त नमस्कार को क्रिया पूर्णताप्रसव करने वाली है। 'नमः' के बाद 'स्वाहा'संज्ञक दीपक का प्रयोग करते हैं। 'नमः' के अनन्तर शिरस् के साथ प्रयुक्त होने वाले 'स्वाहा' शब्द के दो खण्ड 'स्वा' और 'हा' रूप होते हैं। इनमें 'स्वा' सोमात्मक अमृततत्त्व का प्रतिनिधित्व करता है तथा 'हा' अग्नितत्त्व का प्रतीक है। इन दोनों के सामञ्जस्य से इन्दु और अग्नि के संघट्टरूप विश्व का पूर्णरूप से आप्यायन होता है। श्रुति के अनुसार भी जगत् अग्नि-षोमात्मक ही माना जाता है।

इस तथ्य की पुष्टि श्रीतन्त्रालोक (१५।४३७) द्वारा होती है। वहाँ "स्वा इत्यमृतवर्णन" के प्रयोग द्वारा सामतत्त्व और "हेत्यग्निरूपेण" इस प्रयोग द्वारा अग्नितत्त्व के संघट्ट का चर्चा है। इसके अतिरिक्त वौषट्, वषट्, कवचाय हुं और फट् आदि दीपक भी अधिक महत्त्वपूर्ण आप्यायक हैं ॥ २४ ॥

नन्वेवमविशेषेणैव सर्वत्र किमूहः कार्यो न वेत्याशङ्क्याह

तत्र बाह्येऽपि तादात्म्यप्रसिद्धं कर्म चोद्यते ॥ २५ ॥
यदि कर्मपदं तन्नो गुरुरभ्यूहयेत्क्वचित् ।

तादात्म्येति ताद्रूप्येण लोके विश्रुतमित्यर्थः। चोद्यत इति विधीयत इत्यर्थः ॥

एतदेवोपपादयति

अनाभासिततद्वस्तुभासनाय नियुज्यते ॥ २६ ॥
मन्त्रः किं तेन तत्र स्यात्स्फुटं यत्रावभासि तत् ।

शिष्य इसी समय यह भी जान लेना चाहता है कि, क्या इसी तरह सामान्यरूप से सर्वत्र 'ऊह' करना चाहिये या नहीं ? इस पर कह रहे हैं कि,

बाह्यप्रक्रिया में भी तादात्म्य अर्थात् ताद्रूप्य से प्रसिद्ध कर्म आदि में 'ऊह' का प्रयोग किया जाता है। जहाँ कर्म पद का भी स्पष्टतया विधान हो, वहाँ गुरु को किसी ऊहन की आवश्यकता नहीं होती। इसी तथ्य का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

मान लीजिये कि, कोई वस्तु भासित नहीं है। उसके भासन को आवश्यकता का अनुभव दीक्षा के समय गुरु कर रहा है। उस समय उसके भासन के लिये ऊह का प्रयोग आवश्यक माना जाता है। वहाँ मन्त्र का विनियोग भी विहित है। वहाँ कर्म का मन्त्र से ऊहन हो जाता है। जहाँ बाह्यरूप से कर्मपद का प्रयोग है, जैसे 'देवं गणेशं' अथवा 'भगवन्तं वरुणमावाहयामि' प्रयोगों में कर्मपद का स्पष्ट प्रयोग है, वहाँ तत्सम्बन्धी मन्त्रों के प्रयोग में किसी प्रकार के ऊहन की क्या आवश्यकता ? वहाँ तो वह स्फुटरूप से अवभासित ही है। जिसका ऊहन करना चाहिये, वह स्वयं स्फुट है। 'देवं' शब्द में कर्म (विष्णु आदि) अभ्यूहनीय होता है।

प्रक्रिया के क्रम में प्रोक्षण करना होता है, संसेक (अभिषेक आदि) विधान करने होते हैं और जप करना ही पड़ता है। ऐसे समय कर्म के स्फुट अवभासित रहने पर अभ्यूहन की कोई आवश्यकता नहीं होती।

तेन प्रोक्षणसंसेकजपादिविधिषु ध्रुवम् ॥ २७ ॥
तत्कर्माभ्यूहनं कुर्यात्प्रत्युत व्यवधातृताम् ।

मन्त्र इति कर्मपदाभ्यूहरूपः । तदित्यूहनीयं कर्म । तेनेति कर्मणो बहिःस्वयमवभासमानत्वेन हेतुना । प्रोक्षणादि हि बहिस्तथात्वेनैव स्फुटमवभातीति भावः, अतः प्रोक्षणं करोमीत्याद्युक्त्या अत्यभ्यूहनं न कार्यमिति तात्पर्यार्थः ॥

बहिस्तथात्मतानवभासे पुनरेतत्कार्यमित्याह

बहिस्तथात्मताभावे कार्यं कर्मपदोहनम् ॥ २८ ॥
तृप्तावाहुतिहुतभुक्पाशप्लोषच्छिदादिषु ।

'प्रत्युत व्यवधातृता' शब्द यह निर्देश देता है कि, कर्म की निश्चयात्मक स्फुटता में स्वयम् आभतः ऊहन होता रहता है। ऊहन में व्यवधातृता का आश्रय लेना उचित ही है। 'व्यवधा' शब्द क्रिया को न करने का ही संकेत देता है। अतः उसे न करना ही अच्छा है। इस प्रकार ऊहन के अवसर जहाँ आवें, गुरु ही यह निर्णय करे कि, कहीं ऊहन अत्यूहन न हो जाये ॥ २५-२७ ॥

यह विशेष रूप से देखना चाहिये कि, बाह्य प्रक्रिया में इस प्रकार का अवभास हो रहा है या नहीं ? यदि स्फुटता का अवभास नहीं हो रहा है, तो ऊहन करना ही उचित है। यही कह रहे हैं—

यदि प्रयोग में तथात्मक अवभास नहीं हो रहा है, तो कर्मपद का ऊहन होना चाहिये—जैसे किसी ने प्रयोग किया कि 'तर्पणं करोमि' अथवा 'अर्चां करोमि'। ऐसे प्रयोगों में तर्पण और अर्चन क्रिया का फल किस पर निर्भर करता है, यह स्पष्ट नहीं है। प्रयोग में स्फुटता नहीं है। अतः यहाँ कर्म का ऊहन आवश्यक हो जाता है। जैसे पूजा की सामग्री सामने रखी है और यजमान उसका प्रोक्षण करता है। प्रोक्षण व्यापार में सामग्री के प्रत्यक्ष होने के कारण ऊहन अनावश्यक होता है।

जहाँ तर्पण करना है, वहाँ बाहर तृप्ति का आधार प्रत्यक्ष नहीं है। यदि कहें कि, 'देवं तर्पयामि' अर्थात् देव को तृप्त कर रहा हूँ। यहाँ देव शब्द

तेन तर्पणं करोमि, अर्चां करोमीत्यादिरूहः कार्यः। नहि तृप्त्यादि बहिस्ताद्रूप्येण प्रोक्षणादिवत् किंचिदवभातीति भावः। हुतभुक्पाशप्लोषेति हुतभुजि पाशानां प्लोषादावित्यर्थः ॥

नच अवयविप्राये बहिस्तथात्मतयानवभासने कर्मण्यप्यभ्यूहनं कार्य-मित्याह

यत्रोद्दिष्टे विधौ पश्चात्तदनन्तैः क्रियात्मकैः ॥ २९ ॥

अंशैः साध्यं न तत्रोहो दीक्षणादिविधिष्विव ।

का अर्थात् तर्पणोय देव का अर्थ स्पष्ट नहों है। ऊहन कर 'वरुणं तर्पयामि' यह प्रयोग करते हैं। तब इसे 'ध्रुव ऊहन' की संज्ञा प्रदान करते हैं। यहाँ अर्थ स्फुट हो जाता है।

आहुति करते समय अग्नि में किस देवता को लक्ष्य कर हव्य को 'स्वाहा' से संयुक्त करते हैं, यह ऊहन आवश्यक है। अग्नि में किस शिष्य के किस पाश का प्लोषण करना है—यह आचार्य के स्पष्ट प्रयोग से ही ज्ञात होता है। इसलिये तृप्ति, आहुति और अग्नि में पाश को भस्म करने जैसी स्थितियों में यह आवश्यक हो जाता है कि, प्रयोक्ता स्फुटरूप से यह जाने कि, क्रिया का फल किस पर गिर रहा है? यह सब ऊहन से ही सम्भव है ॥ २८ ॥

कई ऐसे स्थल या सन्दर्भ शास्त्रों में उद्दिष्ट होते हैं, जिनका सम्बन्ध क्रिया के कर्त्ता से हो विशेषरूप से होता है। शास्त्र ने एक संस्कार के सम्बन्ध में निर्देश दिया। उस संस्कार को सम्पन्न करने के लिये अनन्त क्रियात्मक आंशिक प्रयोग होते हैं, जो सम्पन्न करने वाले पर निर्भर होते हैं। वहाँ उस साध्य वस्तु को सिद्ध करने के लिये ऊह की आवश्यकता नहीं होती।

तदित्युद्दिष्टविधिलक्षणं वस्तु। क्रियात्मकैरनन्तैरंशैरिति गर्भाधानादिभिः। दीक्षणादिविधिष्विवेति नहि दीक्षां करोमि प्रतिष्ठां करोमि वेत्येक एवायमूहो भवितुमर्हतीत्यर्थः॥

एवमेतत्प्रसङ्गादभिधाय प्रकृतमेवाह

ततः शिष्यस्य तत्तत्त्वस्थानेऽस्त्रेण प्रताडनम् ॥ ३० ॥
कृत्वाथ शिवहस्तेन हृदयं परिमर्शयेत् ।
ततः स्वनाडीमार्गेण हृदयं प्राप्य वै शिशोः ॥ ३१ ॥

जैसे शास्त्र में गर्भाधान संस्कार करने के लिये कहा गया है। गर्भाधान करने में अनेक क्रियात्मक छोटे-छोटे से प्रयोग पुरुष-स्त्री मिलकर करते हैं। यहाँ ऊह आवश्यक नहीं होता। यहाँ मुहूर्त्त, एकान्त, परस्पर संपर्क और मिथुन-चर्या आदि सभी अनभ्यूह्य होते हैं। इसी तरह 'दीक्षा दे रहा हूँ, प्रतिष्ठा कर रहा हूँ' सदृश प्रयोगों में भी किसी ऊहन की आवश्यकता नहीं होती॥ २९॥

इस प्रकार प्रसङ्ग के अनुसार इन तथ्यों का उल्लेख करने के बाद प्रकृत विषय की अवतारणा कर रहे हैं—

दीक्षा के क्रम में ही शिष्य का प्रोक्षण किया गया। उसका संसेक (अभिषेक) और वागीशी तर्पण भी सम्पन्न हो चुका है। उसने जप भी पूरा कर लिया है। इतनी प्रक्रिया पूरी करने के अनन्तर जिन-जिन अङ्गों पर जिन-जिन तत्त्वों का[1] आवाहन गुरुदेव को करना है, उनको पूरा करना है। जैसे पद तल से गुल्फ तक धरातत्त्व का आवाहन किया गया। वहाँ अस्त्र-मन्त्र से ताडन करना चाहिये।

यहाँ यह रहस्य ध्यातव्य है। जयरथ ने इसको संकेतित किया है। इसका अभ्यूहन गुरु को करना चाहिये। अङ्गन्यास की प्रक्रिया में अस्त्र-मन्त्रन्यास का प्रयोग शिर पर होता है। यह न्यास हृदय, शिर (मूर्धा), शिखा, नेत्रत्रय, कवच और अस्त्र के क्रम से सम्पन्न होता है। यहाँ गुल्फ में

---

१. श्रीत० १६।१००-१०९

शिष्यात्मना सहैकत्वं गत्वादाय च तं हृदा ।
पुटितं हंसरूपाख्यं तत्र संहारमुद्रया ॥ ३२ ॥
कुर्यादात्मीयहृदयस्थितमप्यवभासकम् ।
शिष्यदेहस्य तेजोभी रश्मिमात्रावियोगतः ॥ ३३ ॥

तत इति वागीशीतर्पणानन्तरम् । तत्तत्त्वेति तस्याहूतस्य धरादेर्गुल्फादौ स्थानेऽस्त्रेण ताडनम् । स्वेति गुरोर्दक्षिणेन, शिष्यस्य वामेन । गत्वेत्यर्थात् हृदय एव । हृदेति हृन्मन्त्रेण । संहारमुद्रयेति । यदुक्तम्

ही अस्त्र-मन्त्र से ताडन है । विलोम-प्रक्रिया से न्यास करते हुए हृदय (केन्द्र) तक पहुँचना होता है । हृदय व्यक्तित्व का मुख्य केन्द्र है । शिर (ऊर्ध्व) से हृदय तक अनुलोम उल्लास क्रम और विलोम क्रम में धरा से हृदय (नाभि) केन्द्र तक (पुनः हृदय तक) ऊर्ध्व उल्लास क्रम—ये दो क्रम हैं ।

यहाँ गुरुदेव शिष्य के गुल्फ से उसके हृदय की ओर स्वात्मशक्ति की ऊर्जा भेज रहे हैं । इसमें शिवहस्तविधि अपनानी पड़ती है । क्रमशः पञ्च-तत्त्व विधि में धरा तत्त्व से आकाश तत्त्व तक गुल्फ से हृदय तक न्यस्त कर दिये जाते हैं ।

इसी तैजस भूमि में गुरुदेव का सुकुमार कर-स्पर्श शिष्य को अनुभूत होता है । शिष्य पूर्वाभिमुख होकर अपने तात्त्विक उत्कर्ष की दिशा में अग्रसर हो रहा है और गुरुदेव अपनी दक्षिण नाडी के मार्ग से शिष्य की वाम नाड़ी के माध्यम से हृदयमन्त्र बोलते हुए अपने व्यक्तित्व की ऊर्जा का उस शिष्य में प्रवेश करा देते हैं ।

गुरु और शिष्य की ऊर्जाओं का सामरस्य अनुभूति का विषय है । विना शिष्य की ऊर्जा का अपकर्षण किये संहार मुद्रा से शिष्य को प्राणसत्ता को परिवेष्टित कर वे उसको और भी ऊर्जस्वल बना रहे हैं । इस आध्यात्मिक प्रक्रिया का वह जीवन्त क्षण होता है, जब शिष्य और आचार्य शैव-महाभाव के सामरस्य का रसास्वाद कर रहे होते हैं । शिष्य का नव-निर्माण हो रहा होता है । उसकी ऊर्जा गुरु की गौरवमयी शक्ति से समुल्लसित और समुच्छ-लित होती रहती है । शिष्य देह में गुरु तेज से अवियुक्त रश्मियों को तैजसि-

'प्रसार्य दक्षिणं पाणिं कनिष्ठादिक्रमाच्छनैः ।
आकृष्य बन्धयेन्मुष्टिमङ्गुष्ठेन प्रपीडयेत् ॥
मुद्रा संहारिणी प्रोक्ता .... ।' इति ।

आत्मीयहृदयस्थितमिति काकाक्षिन्यायेन योज्यम्, तेनात्मीयहृदयस्थितमपि रश्मिमात्रावियोगतस्तेजोभिः शिष्यदेहस्यावभासकं चिन्तयेत् येन चित्प्रकाशस्ततो वियुक्तो न भवेत् ॥ ३३ ॥

कता गुरु की ऊर्जा से और भी भासमान हो उठती है। गुरु सोचता है कि, शिष्य अब गौरवीय वरीयता का वरदान पा रहा है। गुरु का अनुग्रह और शिष्य की ग्राहकता दीक्षाविधि के महत्त्वपूर्ण सोपान हैं। दोनों के समन्वय से दीक्षा का शिष्य जीवन में अप्रतिम महत्त्व हो जाता है।

उस समय गुरुदेव द्वारा 'हृदय'मन्त्र से सम्पुटित 'हंस'रूप शिष्य की प्राणसत्ता में प्रवेश कर चुके होते हैं। यहाँ 'संहार'मुद्रा का प्रयोग आवश्यक होता है। संहारमुद्रा को परिभाषित करते हुए आगम कहता है कि,

"दाहिना हाथ फैला कर कनिष्ठिका के क्रम से धीरे-धीरे सभी अंगुलियों को मुट्ठी के रूप में बाँध लेते हैं। इस बँधी हुई मुट्ठी को अंगुष्ठ से दबा कर यह ध्यान करते हैं कि, ग्राह्य वस्तु का संहरण हो रहा है। इस मुद्रा को संहार मुद्रा कहते हैं।"

इस मुद्रा से शिष्य का प्राण 'हंस' उपसंहृत होकर गुरुदेव की प्राणसत्ता में सम्पृक्त हो जाता है। इसका यह अर्थ नहीं कि, शिष्य के प्राण का आकर्षण किया गया है। नहीं,

अपने हृदयदेश में उस शिष्य की प्राणसत्ता का सम्पर्क करने पर भी अपनी प्राणात्मक ऊर्जा से उसका अवभासन गुरुदेव कराते रहते हैं। गुरुदेव की ऊर्जा की प्रकाशात्मक तरङ्गें उससे अर्थात् शिष्यदेह में अवस्थित तेज से अवियुक्त भाव से मिली रहती हैं। गुरुदेव यह चिन्तन करते रहते हैं कि, शिष्य के प्रकाश की ऊर्जा भी उसी तरह ऊर्जस्वल बनी रहे ॥३०-३३॥

नन्वेवमात्मीयहृदयानयनेन शिष्यात्मनः कोऽर्थ इत्याशङ्क्याह

स्वबन्धस्थानचलनात् स्वतन्त्रस्थानलाभतः ।
स्वकर्मापरतन्त्रत्वात्सर्वत्रोत्पत्तिमर्हति ॥ ३४ ॥

यह शङ्का नहीं करनी चाहिये कि, शिष्य की प्राणवत्ता को अपने हृदय में ले आने की इस प्रक्रिया से क्या लाभ ? यह एक सूक्ष्म प्रक्रिया है। इससे शिष्य के नये शरीर का निर्माण भी हो जाता है। यही कह रहे हैं—

प्राणसत्ता शरीर में समाहित है। संवित् शक्ति प्राण रूप में परिणत होकर अपने स्पन्द स्वभाव के अनुसार शरीर में प्राणापानवाह रूप में शरीर से बँध चुकी है। यह व्यक्ति-व्यक्ति से सम्बन्धित सत्य है। शिष्य के शरीर में संविदात्मक शैव ऊर्जा प्राण बनकर जीवन का वरदान दे रही है। दीक्षा के समय तीन क्रियायें सम्पन्न होती हैं—

१. स्वशरीर बन्ध से प्राण के चलने की प्रक्रिया, २. स्वतन्त्र स्थान-लाभ प्रक्रिया और ३. अपने कर्म में स्वातन्त्र्यलाभ की प्रक्रिया। शिष्य इन तीन क्रिया शक्तियों से समन्वित हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि, वह सर्वत्र उत्पत्ति के अनुग्रह का अधिकारी हो जाता है, अर्थात् गुरु जिस योग्य बनाना चाहता है, वह उसी रूप से ढलने के योग्य हो जाता है।

इसलिये पहले अपने हृदय में कृपापूर्वक गुरु उस शिष्य को स्थान देकर उसे धन्य बना देते हैं। दैशिक अपनी ऊर्जा से शिष्य-सत्ता को सँवारते हैं। प्राणस्तर पर उसका परिष्कार हो जाता है। इसके बाद मायारूप 'वागीशीशक्ति' के क्षेत्र में शिष्य के धरातत्त्व के आधार पर उससे अभिन्न दिव्य शरीर की संरचना भी गुरु अपने बल पर कर देते हैं। शास्त्र का यह निर्देश है कि, गुरु ऐसी सर्जनात्मक-प्रक्रिया अवश्य अपनाये। यहाँ तीन बातें विशेषरूप से विमृश्य हैं। ऊपर इन तीनों का क्रम उल्लिखित है फिर भी यह मुख्यरूप से विचारणीय हो जाता है कि, जब प्राण अपने बन्ध-स्थान का परित्याग कर गुरु शरीर में प्रवेश के लिये तत्पर होता है, उस समय का 'स्व'रूप कैसा रहता होगा ? जब वह गुरु हृदय देश में सँवारने की प्रक्रिया में होता होगा, तो उस समय शिष्य को क्या अनुभव होता होगा ? अणु-

तेनात्महृदयानीतं प्राक्कृत्वा पुद्गलं ततः ।
मायायां तद्धरातत्त्वशरीराण्यस्य संसृजेत् ॥ ३५ ॥

मायायामिति वागीशीरूपायाम् ॥ ३५ ॥

पुरुष अपने कर्म के बन्धन के अनुसार ही शरीर प्राप्त करता है। यह शरीर भोग का उपभोग करने के लिये मिलता है । इसी शरीर में जीवनपर्यन्त प्राणसत्ता स्थिर रहती है। उसके चंचल होने से मृत्यु का भय उपस्थित हा जाता है। ऐसी स्थिति न आने देने के उद्देश्य से गुरुदेव शिष्य के शरीर में स्वयं प्रवेश करते हैं। उसके प्राण को अपने हृदय में लाने के पहले उसके शरीर में अपनी विशिष्ट ऊर्जा को भी उल्लसित कर देते हैं। गुरु की यह शक्ति हाती है कि, उसे वहीं सहलाकर शक्त बना दें, किन्तु ऐसा उचित नहीं होता। तब उसे दूसरो क्रियारूप अन्य स्थान-लाभ का पुण्यलाभ नहीं हाता। जो परिष्कार गुरु के हृदय के बोधप्रकाश में आकर शिष्य के प्राण का होता है, वह उसके शरीर में कभी भी सम्भव नहीं होता। इसलिये गुरु सूत्र रूप से अपनी ऊर्जा का उल्लास कर शिष्य के प्राण को लेकर बाहर आते हैं और शिष्यप्राण को स्वात्म-हृदय देश के बोधरूपी प्रज्ज्वलित प्रकाशसत्ता में डालकर उसके प्राण को ताप्त दिव्य काञ्चन बना देते हैं। इस प्रकार दोनों क्रियायें अर्थात् स्वबन्ध स्थान से चलन रूप क्रिया और स्थान लाभ रूपो क्रियायें सम्पन्न होती हैं और शिष्य के उत्कर्ष का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। प्राणचालन का यह व्यापार 'अस्त्र'मन्त्रों से ही किया जाने का विधान है[1]।

स्वतन्त्र स्थान लाभ रूप जो दूसरी बात कही गयी है, कहने में बड़ो सरल लगती है किन्तु प्रक्रिया-विमर्श में कठिन है। गुरुदेव का प्राणशक्ति का आधार ही उनका हृदयदेश होता है । वहाँ शिष्य के प्राणतत्त्व को ले आने, उसमें अपने आत्मतत्त्व की भैरव-ऊर्जा का समावेश करने और उसे परिष्कृत करने को प्रक्रिया कितनी गहन है—यह सामान्य जनों के लिये अप्रकल्पनीय है। गुरु का हृदय शिष्य के प्राण का स्वतन्त्र आधार सिद्ध हो जाता है[2]।

---

१. स्व० ३।१०८। २. स्व० ४।२०३।

कथं च अस्य सृष्टिरित्याह

तत्रास्य गर्भाधानं च युक्तं पुंसवनादिभिः ।
गर्भनिष्क्रामपर्यन्तैरेकां कुर्वीत संस्क्रियाम् ॥ ३६ ॥

वहीं वागीशीशक्ति का वरदान भी शिष्य को प्राप्त हो जाता है[1]। उसके धरातत्त्व से एक अतिरिक्त रहस्य-शरीर का सृजन कर लेते हैं। उसी के माध्यम से स्थान लाभ सम्भव होता है।

यहाँ तक १. प्राणचालन और २. स्वतन्त्रस्थान लाभ दो विषयों पर विचार किया गया है। तीसरा विषय उससे भी गहन है। बन्धन में बँधे पुरुष की सर्वत्र उत्पत्ति असम्भव है। कहीं दूसरी जगह भी उत्पत्ति नहीं हो सकती। विश्व में शिव का ही शाश्वतिक महाभाव सर्वत्र व्याप्त है। इसमें किसी अणुरूप शिव को सर्वत्र उत्पत्ति की बात शश-शृङ्ग सी लगती है, किन्तु शास्त्र इसे सत्य कहता है। यह ध्यान देने की बात है कि, शिष्य के असंस्कृत प्राणतत्त्व को गुरु संस्कार सम्पन्न बना कर उसे एक अभिनव रूप प्रदान करता है। परिणामतः शिष्य का प्राण शैव-महाभाव में समाहित होकर अपने परिष्कृत अस्तित्व में प्रकाशमान हो जाता है। यह प्राण की नयी उत्पत्ति मानी जाती है ॥ ३४-३५ ॥

इस सृष्टि (उत्पत्ति श्लो० ३४) का प्रकार क्या है ? यह कैसे होती है ? इसका स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

दीक्षाक्रम में सीमन्तोन्नयन, पुंसवन आदि संस्कारों से संवलित गर्भाधान संस्कार का भी विधान है। निष्क्रमणपर्यन्त इसे संपादित करना आवश्यक है। जनन भोगों के उपभोग करने का सामर्थ्य और अवसर प्रदान करता है। इन सबको मिलाकर एक सांस्कारिकता सम्पन्न होतो है। यह सब गुरु की कृपा से ही होता है। गुरु जागरूक रह कर शिष्य की उन स्थितियों की जानकारो रखता है कि, यह शिष्य भोगों की भोगवादिता में किस प्रकार और कितना तल्लीन हुआ और इन संस्कारों से परिष्कृत होकर अपने कर्म का कितना क्षय कर सका है। इस जानकारी के बाद शिष्य के ऊपर जिन-

---

१. स्व० ४।२०६-२०८

जननं भोगभोक्तृत्वं मिलित्वैकाथ संस्क्रिया ।
ततोऽस्य तेषु भोगेषु कुर्यात्तन्मयतां लयम् ॥ ३७ ॥

ततस्तत्तत्त्वपाशानां विच्छेदं समुपाचरेत् ।
संस्काराणां चतुष्केऽस्मिन्नपरां च परापराम् ॥ ३८ ॥

मन्त्राणां पञ्चदशकं परां वा योजयेत्क्रमात् ।

आदिना सीमन्तोन्नयनादि, तेनैतदवान्तरसंस्कारगर्भीकारेण गर्भाधानमेव मुख्यः संस्कार इति । अस्मिंश्चतुष्क इति गर्भाधानभोगभोक्तृत्वतल्लयपाशविच्छेदलक्षणे । वाशब्दः समुच्चये ॥

जिन तत्त्वों का पाश अभी शेष रहता है; गुरु उनको छिन्न-भिन्न करने में लग जाता है ।

यह ध्यान देने की बात है कि, गुरु अपने क्रियायोग के माध्यम से शिष्य को नया जीवन और नया प्रकाश देने में लगा हुआ है । दीक्षा के समय शिष्य को इन क्रियाओं से उत्पन्न परिणामों को अनुभूति अवश्य होती जाती है । इसी अवस्था में तत्त्वपाशों का विच्छेद किया जाता है । जब तक पाशों का विच्छेद नहीं होगा, शिष्य का नया जन्म नहीं हो सकता । इस तरह गर्भाधानादि संस्कार, भोगभोक्तृत्व, भोगोपभोग में तल्लीनता और तत्त्वपाशविच्छेदरूप सारे सांस्कारिक क्रियायोग के व्यापार और संस्कार स्वयं गुरु ही सम्पन्न करता है । इन चारों संस्कारों की पूर्णता के लिये अपरा, परापरा (मायाकला विद्या से पार्थिव तत्त्वपर्यन्त) पञ्चदशात्मक मन्त्र, जिनमें पिबन्यादि आठों युक्त रहते हैं, और अस्त्रादि के साथ परा मन्त्र का योजनिका के माध्यम से स्वयं दैशिक गुरुदेव ही योजन करते हैं, अर्थात् श्लो० संख्या ३४ और ३६-३७ में वर्णित चार प्रकार के—१. गर्भाधान से निष्क्राम-पर्यन्त एक संस्कार में अपरा विद्या मन्त्र का प्रयोग २. जनन और भोगभोक्तृत्व में परापरा विद्या मन्त्र का प्रयोग ३. भोगतन्मन्यता और लीनता के संस्कार में पञ्चदश-मन्त्रात्मविद्या का प्रयोग और ४. पाशविच्छेद संस्कार में केवल पराविद्या का योजन गुरुदेव करते हैं ॥ ३६–३८ ॥

मन्त्रपञ्चदशकमेव विभजति

पिवन्याद्यष्टकं शस्त्रादिकं षट्कं परा तथा ॥ ३९ ॥
इति पञ्चदशैते स्युः क्रमाल्लीनत्वसंस्कृतौ ।

अत्रैव होममन्त्रान् दर्शयति

अपरामन्त्रमुक्त्वा प्रागमुकात्मन इत्यथ ॥ ४० ॥
गर्भाधानं करोमीति पुनर्मन्त्रं तमेव च ।

पञ्चदशवर्णात्मक मन्त्र का निर्देश सांकेतिक भाषा में कर रहे हैं—

मन्त्र प्रयोग में 'पिवनि' का 'नि' लुप्त हो जाता है । केवल 'पिव' का प्रयोग करते हैं । इस तरह "पिव (२ अक्षर) हे (१ अक्षर) रुरु (२ अक्षर) र र (२ अक्षर) और फट् (१ अक्षर) मिलकर २+१+२+२+१=८ यह एक अष्टाक्षर मन्त्र बनता है । इसे 'पिवन्यष्टक मन्त्र' कहते हैं । जहाँ तक अस्त्रादि षट्क मन्त्र के प्रयोग का प्रश्न है, यह सम्प्रदाय और परम्परा के अनुसार पृथक् पृथक् निर्धारित हैं । इनके छह अङ्ग क्रमशः हृदय, शिर, शिखा, कवच, नेत्रत्रय और अस्त्र हैं । अस्त्र में सर्वदा 'फट्' का प्रयोग करते हैं । इन अङ्गों पर न्यस्त होने वाले बीज भी छह होते हैं । इस तरह पिवन्यष्टक ८, अस्त्रादि ६ और परा १ वर्ण मिलकर मन्त्र पञ्चदशक बनता है । ये मन्त्रपञ्चदशक केवल तल्लीनता और पाशच्छेद इन दो संस्कारों में प्रयुक्त होते हैं ॥ ३९ ॥

यहाँ से संस्कार की समाप्ति पर कैसे हवन-प्रक्रिया पूरी को जातो है, इसका वर्णन कर रहे हैं—

सर्व प्रथम अपरा मन्त्र का उच्चारण करने के उपरान्त 'गर्भाधानं करोमि' इस अन्तिम पद का प्रयोग करना चाहिये । संस्कृत में पूरा मन्त्र इस प्रकार का होगा—"अपरा मन्त्र+अहं मम (शिष्यस्य मायात्मके यानौ अस्तित्वे) गर्भाधानं करोमि ।" इतना बोल लेने बाद 'स्वाहा' अव्यय का प्रयोग कर तीन आहुतियाँ देनी चाहिये । यहाँ पर विशेषरूप से ध्यान देने का विषय है कि, यहाँ सम्पन्न हो रहे ये संस्कार सामान्य गर्भाधानादि संस्कारों की तरह के संस्कार नहीं है । ये संस्कार शिष्य के व्यक्तित्व में दिव्यत्व के बीजारोपण के

स्वाहान्तमुच्चरन्दद्यादाहुतित्रितय गुरुः ॥ ४१ ॥
परं परापरामन्त्रममुकात्मन इत्यथ ।
जातस्य भोगभोक्तृत्वं करोम्यथ परापराम् ॥ ४२ ॥
अन्ते स्वाहेति प्रोच्चार्य वितरेत्तिस्र आहुतीः ।
उच्चार्य पिबनीमन्त्रममुकात्मन इत्यथ ॥ ४३ ॥
भोगे लयं करोमीति पुनर्मन्त्रं तमेव च ।
स्वाहान्तमाहुतीस्तिस्रो दद्यादाज्यतिलादिभिः ॥ ४४ ॥

समान है। बाह्य बीजों से वृक्ष के बनने में शती व्यतीत हो जाती है किन्तु इन संस्कारों से व्यक्तित्व का वृक्ष तत्काल अपने पूरे रूप में तन जाता है। यह तन्त्र का महत्त्व है। यही नहीं, अन्तिम पाशच्छेद-संस्कार से तो शिष्य का स्तर वृक्ष-वृक्षबीजातीत हो जाता है। यह पूर्णतया दैशिक गुरुदेव पर निर्भर है। वे इन संस्कारों के द्वारा शिष्य को स्वयं साक्षात् संविदैक्य-विभूषित शिवत्व से अनुप्राणित कर देते हैं॥ ४०-४१ ॥

इसके उपरान्त अर्थात् गर्भाधानादि संस्कार के बाद 'परापरा' मन्त्र बोलकर "अहं (गुरुः) मम (अमुकस्य-नामोच्चारपूर्वकम्) दिव्यतया प्रथम-संस्कारसंस्कृतस्य भोगभोक्तृत्वं द्वितीयसंस्कारं करोमि' इस वाक्य का उच्चारण कर शिष्य पर अभिमन्त्रित जल से प्रोञ्छन करे। गुरु शिष्य का शिरःस्पर्श कर उसके अन्तर में एक स्पन्द भर दे। इसके बाद इस पूरे मन्त्र के साथ 'स्वाहा' का उच्चारण कर तीन आहुतियाँ अग्नि में अर्पित करे। यह जननरूप भोगभोक्तृत्व संस्कार की प्रक्रिया है॥ ४२ ॥

अब पिबनी (मन्त्र में पिबनी शब्द के नी का लोप हो जाता है। इसी शब्द का सम्बोधन में पिबनि ! और लोट् लकारवत् मन्त्र में पिब हो जाता है।) मन्त्र कह कर 'जातस्य भोगे लयं करोमि' यह उच्चारण गुरु करे। भोगलीनता के इस संस्कार में तिल, आज्य (घी) आदि से बने साकल्य से 'स्वाहा' पद लगा कर उक्त मन्त्र से तीन आहुतियाँ भी देनी चाहिये। यही विधि वमनी (वम) मन्त्र विधान में अपनायी जाती है॥ ४३-४४ ॥

एष एव वमन्यादौ विधिः पञ्चदशान्तके ।
पूर्वं परात्मकं मन्त्रममुकात्मन इत्यथ ॥ ४५ ॥
पाशच्छेदं करोमीति परामन्त्रः पुनस्ततः ।
हुं स्वाहा फट् समुच्चार्य दद्यात्तिस्रोऽप्यथाहुतीः ॥ ४६ ॥
संस्काराणां चतुष्केऽस्मिन्ये मन्त्राः कथिता मया ।
तेषु कर्मपदात्पूर्वं धरातत्त्वपदं वदेत् ॥ ४७ ॥

इसक बाद पाशच्छेद नामक चौथे संस्कार का क्रम आता है। इसमें केवल परामन्त्र का प्रयोग गुरु करता है। ऊपर ८ और ६ (पिबनी+वमनी) मन्त्रों से भौतिकता का स्वरूप शिष्य के समक्ष संस्कार रूप में आया और यहाँ इस संस्कारित भौतिकता रूप पाशों को काटना होता है। इसलिये इसमें पन्द्रहवें (पञ्चदशान्तके) परा बीज का ही प्रयोग होता है। परा बीज के संकेतात्मक मन्त्र के उल्लेख के अवसर पर उसे खोलकर स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। साधक स्वाध्याय शील पुरुष को इसका ऊहन अवश्य करना चाहिये।

पाशच्छेद प्रयोग में पहले परा बीज पुनः "अमुक शिष्यस्य पाशच्छेदनं करोमि" कह कर शिष्य का शिरःस्पर्श कर उक्त भावन करना चाहिये। पुनः पूरे मन्त्र के अन्त में 'हुं स्वाहा फट्' लगा कर तीन आहुतियाँ देनी चाहिये। अग्नि में मन्त्रात्मक आहुति इस संस्कार को दिव्यता प्रदान करने के लिये आवश्यक है। यहाँ तक ये चार संस्कार कैसे किये जाते हैं, यह संक्षेप में बताया गया है। गुरु का यह अधिकार है कि, अपने ऊहन के आधार पर जिस तरह चाहें, उसी तरह इसे कार्यरूप में परिणत करें ॥ ४५-४६ ॥

इन चारों संस्कारों को 'संस्कारचतुष्क' कहते हैं। इनके मन्त्रों का उपदेश स्वयं भगवान् शङ्कर ने किया है। माता पार्वती के पावन और विनम्र परिप्रश्नों का समाधान स्वयं सर्वेश्वर शिव ने ही किया है। इन मन्त्रों को योजना कर्मपद से पूर्व धरातत्त्व लगाने से पूरी होती है। जैसे—'गर्भाधानं' इस कर्मपद में व्याकरण के अनुसार कर्मकारक को द्वितीया विभक्ति का

ततो धरातत्त्वपतिमामन्त्र्येष्ट्वा प्रतर्प्य च ।
शिवाभिमानसंरब्धो गुरुरेवं समादिशेत् ॥ ४८ ॥
तत्त्वेश्वर त्वया नास्य पुत्रकस्य शिवाज्ञया ।
प्रतिबन्धः प्रकर्तव्यो यातुः पदमनामयम् ॥ ४९ ॥

प्रयोग किया गया है। भगवान् स्वयं आदेश दे रहे हैं कि, इस कर्मपद के पूर्व धरातत्त्व का प्रयोग करना चाहिये। इसका रहस्य यह है कि, धरातत्त्व के परिवेश में ही यह प्रक्रिया अपनायी जाती है। धरातत्त्व में इसीलिये अधिकरण को दृष्टि में रखकर सप्तमी विभक्ति का प्रयोग करते हैं। इस मन्त्र का रूप होगा—"अपरा मन्त्र+अमुकात्मनः शिष्यस्य धरातत्त्वे गर्भाधानं करोमि"। जब इस मन्त्र से आहुति का अर्पण करेंगे, तो अवश्य ही 'स्वाहा' शब्द का प्रयोग भी मन्त्रान्त में करें—यह अनिवार्यतः आवश्यक है ॥ ४७ ॥

इस प्रक्रिया के बाद अर्थात् संस्कार-प्रक्रिया पूरी हो जाने पर शैव-महाभाव से भावित और संवित्तादात्म्य के समावेश से देदीप्यमान देशिक गुरुदेव इस प्रक्रिया को सफल बनाने के लिये धरातत्त्व के अधिपति विश्व विधातृ-विभु, ब्रह्मा का आवाहन करें। यहाँ गुरु ही ब्रह्मा हैं, जिन्हें शास्त्र 'शिवाभिमानसंरब्ध' विशेषण से विभूषित कर रहा है, वे ब्रह्मा का आवाहन कर, उनकी पूजा करें। उनसे सम्बन्धित यजन करें और तर्पण से तृप्त भी कर लें। इसके बाद धरातत्त्व के अधीश्वर ब्रह्मा से वे इस प्रकार की प्रार्थना करें—

'श्रीमन् कमलोद्भव ! मैं शिव के आदेशानुसार आप से यह अभ्यर्थना कर रहा हूँ, भगवन् ! कि, आप इस दीक्षित शिष्य के उत्कर्ष में प्रतिबन्धक नहीं बनेंगे। यह शिष्य अनामय पद में प्रवेश के उद्देश्य से इस उपासना सरणी की पूर्णाहुति-प्रक्रिया की यात्रा के लिये कटिबद्ध और सन्नद्ध होकर निकल पड़ा है। यह एक भाग्यशाली पथिक है। इसका आप कल्याण करें।'

इस प्रकार धरातत्त्व में शिष्य के संस्कार संपन्न हो जाने पर उसकी साधना धराधिपति की सुरक्षा में निर्विघ्नरूप से चलती रहती है ॥ ४८-४९ ॥

ततो यदि समीहेत धरातत्त्वान्तरालगम् ।
पृथक् शोधयितुं मन्त्री भुवनाद्यध्वपञ्चकम् ॥ ५० ॥
अपरामन्त्रतः प्राग्वत्तिस्त्रस्तिस्त्रस्तदाहुतीः ।
दद्यात्पुरं शोधयामीत्यूहयुक्तं प्रसन्नधीः ॥ ५१ ॥

तमेवेति अपरासत्कम् । कर्मपदादिति गर्भाधानमित्येवंलक्षणात्, तेन अपरामन्त्रः अमुकात्मनो धरातत्त्वे गर्भाधानं करोमि अपरामन्त्रः स्वाहेत्यादिरूप ऊहः । तत इति संस्कारचतुष्टयानन्तरम् । आमन्त्र्येति मन्त्रान्तरस्यावचनात् अपरामन्त्रेण । यद्वक्ष्यति

'मायान्तशुद्धौ सर्वाः स्युः क्रिया ह्यपरया सदा ।'

(श्लो० १३९) इति ।

एवमादेशे शिवाभिमानसंरब्धत्वं हेतुः । तत इति तत्त्वशाधनानन्तरम् । अपरामन्त्र इति अपरामन्त्रमाश्रित्येत्यर्थः । प्राग्वदित्यनेन ऊहान्तरवत् सर्वमेवाक्षिप्तम् ॥ ५१ ॥

धरातत्त्व के अतिरिक्त अन्य तत्त्वों की दीक्षा की इच्छा भी स्वाभाविक है। गुरु की सेवा में वह स्वयं निवेदन करे, जिससे गुरु यह समझ सकें कि, शिष्य अन्य तत्त्वों की दीक्षा का अभिलाषी है। गुरु इसकी भी व्यवस्था करे—यह शास्त्र का निर्देश है। धरा-तत्त्व के अतिरिक्त अध्वपञ्चक की क्रमिक अथवा शिष्य की योग्यता के अनुसार किसी तत्त्व की अधिकार-दीक्षा को व्यवस्था करे। यह ध्यान रहे कि, गुरु ही मन्त्री होता है, मन्त्रशोधन में समर्थ होता है। वह इस दीक्षा के उत्तरदायित्व का भी संवहन करे।

इस क्रम में "मायान्त शुद्धि के लिए अपरा मन्त्र का प्रयोग", संस्कार की सनाम प्रक्रिया और पुनः इसी मन्त्र से हवन की तीन आहुतियों का कार्य भी सम्पन्न करने का विधान करे। इस सन्दर्भ में शास्त्र का यह निर्देश अत्यन्त आवश्यक है कि, गुरु अपने ऊहन के अनुसार स्वतन्त्ररूप से क्या सही है, यह समझ कर तत्त्वादि संस्कार सम्पन्न करे ॥ ५०-५१ ॥

एतदेवान्यत्राप्यतिदिशति

एवं कलामन्त्रपदवर्णेष्वपि विचक्षणः ।

तिस्रस्तिस्रो हुतीर्दद्यात् पृथक् सामस्त्यतोऽपि वा ॥ ५२ ॥

ततः पूर्णाहुतिं दत्त्वा परया वौषडन्तया ।

अपरामन्त्रतः शिष्यमुद्धृत्यात्महृदं नयेत् ॥ ५३ ॥

पृथगिति एकैकध्येन । सामस्त्यत इति इतराध्वपञ्चकं शोधयामीति । उद्धृत्येत्यर्थाच्छोधितात् तत्त्वात् । आत्महृदमिति गुरोः ॥ ५३ ॥

प्रश्नकर्त्ता पूछता है–मान लीजिये कि, शिष्य के आग्रह या गुरु के ऊहन के अनुसार भुवनाध्वा में संस्कार पूरा किया गया और सम्ब्रन्धित मन्त्र का शोधन किया गया, तो क्या इससे सारी प्रक्रिया पूरी मान ली जायेगी ? नहीं ! उक्त भुवनाध्वा के अतिरिक्त अभी अन्य चार अध्वा क्रमशः कला, वर्ण, मन्त्र और पद नामक अध्वा तो अभी अवशेष ही रह गये हैं । यहाँ (धरा-तत्त्व से सम्बन्धित कला, तत्त्व और भुवन नामक तीन अध्वा ही माने जाते हैं । जहाँ तक वर्ण, मन्त्र और पद का प्रश्न है, ये तीनों कालाध्वा से सम्ब्रन्धित हैं ।) यह बात गुरु को सदा ध्यान में रखनी चाहिये । इन अध्वाओं के शोधन-क्रम में तीन-तीन आहुतियों का विधान है । गुरु के ऊहन पर यह निर्भर करता है कि, वह समास-सरणी को अपनाकर एक साथ ही आहुतियाँ अर्पित करे या व्यास-शैली अपना कर पृथक्-पृथक् अध्वा के लिये पृथक्-पृथक् तीन-तीन आहुतियों के अर्पित करने की सरणो अपनाये । इस प्रक्रिया की समाप्ति पर पूर्णाहुति का विधान है । इसमें परामन्त्र का प्रयोग होता है । परामन्त्र का उच्चारण कर उसके बाद 'वौषट्' अव्ययपद लगाया जाता है । वौषट् आहुति के समय प्रयोग किया जाने वाला एक मुद्रागर्भ अव्ययरूप सांकेतिक शब्द है । पूर्णाहुति के बाद 'अपरा' मन्त्र से उसे (शिष्य को) उठाना चाहिये । शिष्य को उठाकर गुरु अपने हृदय से लगा ले । इस शिष्य-गुरु आलिङ्गन से शिष्य में एक अभिनव स्फुरत्ता उत्पन्न होतो है और वह स्वयं गुरु-तुल्य हो जाता है । उसमें दिव्यता का संक्रमण हो जाता है ॥ ५२-५३ ॥

अत्रैव मतान्तरं दर्शयति

यदा त्वेकेन शुद्धेन तदन्तर्भावचिन्तनात् ।
न पृथक् शोधयेत्तत्त्वनाथसंश्रवणात्परम् ॥ ५४ ॥
तदा पूर्णां वितीर्याणुमुत्क्षिप्यात्मनि योजयेत् ।
तात्स्थ्यात्मसंस्थ्ययोगाय तयैवापरयाहुतीः ॥ ५५ ॥

इस आगमिक प्रक्रिया के सम्प्रदाय-सिद्ध कई भेद हैं। इन्हें मतान्तर की संज्ञा दी जा सकती है। उसी मतान्तरीय स्वरूप की चर्चा यहाँ कर रहे हैं—

दीक्षा में जब षडध्व के एक तत्त्व का शोधन कर दिया जाता है, तो उस तत्त्व के अन्तर्भाव का चिन्तन शिष्य के लिये आवश्यक है। आन्तरिक चिन्तन की भूमिका में शिष्य का प्रवेश हो चुका होता है। वहाँ उसे तत्त्वों के सर्वाधिपति का उसे संश्रवण होता है। इस तरह यहाँ दो स्थितियाँ एक साथ उल्लसित रहती हैं—१. तत्त्व विशेष का शोधन किया जा चुका है, २. तत्त्वनाथ परमेश्वर का संश्रवण भी उसे प्राप्त है। अब प्रश्न यह होता है कि, इसके अतिरिक्त शेष पाँचों अन्य तत्त्वों के पृथक् शाधन को आवश्यकता है या नहीं ? इसके समाधान में मतान्तर कहता है कि, पृथक् पाँचों तत्त्वों के शोधन की आवश्यकता नहीं है।

इसमें प्रयुक्त 'संश्रवण' शब्द भी कुछ आन्तर रहस्य की ओर संकेत सा करता प्रतीत हो रहा है। इस ग्रन्थ का अध्येता 'संजल्प' शब्द से परिचित है। 'संश्रवण' में गुरुदेव द्वारा परमेश्वर 'तत्त्वनाथ' के विषय में सुन और गुन लेने के बाद शिष्य में आन्तर अर्थ-श्रुति सी उल्लसित होने लगती है, उसी क्रिया का नाम 'संश्रवण' है। इसके बाद पृथक् तत्त्वशोधन एक तरह से अनावश्यक हो जाता है। यहाँ विधिलिङ् में प्रयुक्त क्रिया पर भी ध्यान देना चाहिये ॥ ५४ ॥

इसके बाद पूर्णाहुति दी जानी चाहिये। मतान्तर के अनुसार संश्रवण-सिद्ध शिष्य को एक तत्त्व की शोधन प्रक्रिया पूरी होने के तत्काल बाद पूर्णा-

सकर्मपदया दद्यादिति केचित्तु मन्वते ।
अन्ये तु गुरवः प्राहुर्भावनामयमीदृशम् ॥ ५६ ॥
नात्र बाह्याहुतिर्देया दैशिकस्य पृथक् पुनः ।
दद्याद्वा यदि नो दोषः स्यादुपायः स भावने ॥ ५७ ॥
एवं प्राक्तनतात्स्थ्यात्मसंस्थत्वे योजयेद्गुरुः ।
ततः शिष्यहृदं नेयः स आत्मा तावतोऽध्वनः ॥ ५८ ॥

हुति का प्रयोग करे। पुनः शिष्य को उठाकर स्वात्म में पूर्ववत् योजित करे। इसका उद्देश्य उस तत्त्व में स्थिति है। साथ ही गुरु हृदय में भी उसका अवस्थान सिद्ध हो जाता है। इन दो उद्देश्यों की पूर्त्ति की सिद्धि के लिये अपरा मन्त्र से ही तीन आहुतियाँ देनी चाहिये। कुछ लोग यह कहते हैं कि, इसमें कर्मपद के सहित अपरा मन्त्र प्रयोग आवश्यक होता है। कर्म के साथ प्रयोग करने को वाक्य में 'अमुक नामक शिष्य को अपने में स्थित करता हूँ।' इस भाव को संस्कृत वाक्य में बोलना चाहिये। कुछ गुरुवर्ग यह कहता है कि, इस प्रकार के वाक्य प्रयोग की कोई आवश्यकता नहीं है। यह सब भावना का विषय है। गुरु की भावना में इतना सामर्थ्य है कि, ये सारी तात्स्थ्य और आत्मसंस्थ्य की प्रक्रिया सोचने मात्र से सिद्ध हो जाती है ॥ ५५-५६ ॥

इसमें अर्थात् शिष्य जहाँ अपने संस्कारों से प्रभावित होकर स्थित था, वहाँ से आत्मयोजित करने में देशिक शिरोमणि गुरु को बाह्य आहुतियाँ अर्पित करने की कोई आवश्यकता नहीं। वही इस विषय का सक्षम सर्वाधिकारी है। वह चाहे दे या न दे कोई अन्तर नहीं पड़ता। सब कुछ उसकी भावना पर ही निर्भर करता है। न करने से कोई दोष नहीं होता, मात्र 'भावन' ही उपाय है ॥ ५७ ॥

इस प्रकार गुरुदेव शिष्य को संस्कार-सम्पन्न बनाकर स्वात्मपरिवेश की दिव्य गौरवमयी सत्ता में समाहित कर लेता है। यही तात्स्थ्य से आत्म-संस्थ करने का तात्पर्य है। इस सम्बन्ध में 'स्वात्मनाडी-मार्ग' का उल्लेख श्लोक ३१ में शास्त्र करता है। उस सन्दर्भ में अर्थ की गम्भीरता और रहस्य के

शुद्धस्तद्दार्ढ्यसिद्ध्यै च पूर्णा स्यात्परया पुनः ।
महापाशुपतं पूर्वं विलोमस्य विशुद्धये ॥ ५९ ॥
जुहोमि पुनरस्त्रेण वौषडन्त इति क्षिपेत् ।
पुनः पूर्णां ततो मायामभ्यर्च्याथ विसर्जयेत् ॥ ६० ॥
धरातत्त्वं विशुद्धं सज्जलेन शुद्धरूपिणा ।
भावयेन्मिश्रितं वारि शुद्धियोग्यं ततो भवेत् ॥ ६१ ॥

एकेनेति तत्त्वाद्यन्यतमेनाध्वना । न शोधयेदित्यर्थात् इतराध्वपञ्चकम् । तयैवेति प्रक्रान्तया । आहुतीरिति: तिस्रः । सकर्मपदयेति अमुकात्मानमात्मस्थं करोमीति । अत्रेति तात्स्थ्यात्मस्थत्वकरणे । दैशिकस्येति कर्तुः । स इति बाह्याहुतिलक्षणः प्रकारः । प्राक्तनेति

अन्तराल में उतरना आवश्यक है । स्वनाडी में 'हृदय' केन्द्र अवस्थित है । यह मेरुदण्ड में अनाहत चक्र की सीध में है । जब तक शिष्य के इस केन्द्र पर गुरु का गौरव प्रभावित नहीं होता, शिष्य का कल्याण सम्भव नहीं । दीक्षा की प्रक्रिया में शिष्य के हृदय को गुरु-हृदय से योजित करने का विधान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया का पूरक है । यह ध्यान देने की बात है कि, यह सन्दर्भ भुवनाध्वा का है । किसी अध्वा के जिस तत्त्व का संदर्भ हो, उस तत्त्व के आत्मा का योजन भी शिष्य हृदय से करना चाहिये, जैसे—यदि धरातत्त्व का संदर्भ हो, तो धरा के आत्मा का शुद्ध स्वरूप ही योज्य होता है । इसकी पूर्णता के लिये परामन्त्र से तीन आहुतियाँ यहाँ भी देनी चाहिये । यही तथ्य मालिनीविजयोत्तरतन्त्र (९।६८) में इस प्रकार उल्लिखित है—

'ततः स्वनाडीमार्गेण .... ।' (श्लो० ३१)

इत्यादिनोक्ते। तत इति आत्मह्रुन्नयनानन्तरम्। शिष्यहृदं नेय इति तत्स्थः कार्य इत्यर्थः। तावत इति धरात्मनः। तद्वार्ध्येति तच्छब्देन शुद्धपरामर्शः। यदुक्तं

'शिष्यमुत्क्षिप्य चात्मस्थं तद्देहस्थं तु कारयेत्।
आहुतीनां त्रय दद्याद्दत्वा पूर्णाहुतिं बुधः॥
महापाशुपतास्त्रेण विलोमादिविशुद्धये।'

(मा० वि० ९।६८) इति।

जलेनेति जलतत्त्वेन। तत इति धरातत्त्वस्य जलतत्त्वेन मिश्रणया भावनात्॥ ६१॥

"शिष्य के आत्मा को उत्क्षेपण क्रिया द्वारा उत्क्षिप्त कर गुरु अपने आत्मा में स्थापित करे। इससे शिष्य का आत्मतत्त्व गुरुत्व की दिव्यता से दीप्तिमन्त हो जाता है। इसके बाद शिष्य के आत्मा को पुनः उसके शरीर में गुरु स्थापित करे।"

इस दिव्य प्रक्रिया में पूर्ण दक्ष गुरु के लिये 'बुध' विशेषण का प्रयोग किया गया है। इसके पश्चात् तीन कार्य आवश्यक रूप से गुरु करे—

१. आत्मा के उत्क्षेप-प्रक्षेप की दिव्यता के लिये तीन आहुतियाँ दे,

२. पुनः पूर्णाहुति की व्यवस्था करे और,

३. महापाशुपत अस्त्र मन्त्र से आनयनादि में अनुलोम-विलोम आदि की शुद्धि सम्पादित कर वागीशी का विसर्जन करे।" ॥ ५८-५९ ॥

मालिनीविजयोत्तरतन्त्र में आत्मा के उत्क्षेपण के पहले ही वौषडन्त आहुति का विधान किया गया है। इस ग्रन्थ में महापाशुपतास्त्र-मन्त्र के प्रयोग के बाद विलोमादिविशुद्धि के लिये वौषडन्त आहुति का विधान है। श्लोक ५९ के पूर्व और श्लोक ६० में प्रयोग में लाये गये दोनों 'पुनः'शब्द प्रक्रिया के तारतम्य का निर्देश करते हैं।

इसके बाद पुनः पूर्णाहुति का विधान पूरा करना चाहिये। अब 'माया'तत्त्व की देवी के रूप में पूजा करनी आवश्यक होती है। माया वागीशी तत्त्व ही है। पूजा करके इसका विसर्जन करना चाहिये। माया के

तदेव सामान्येनातिदिशन् शुद्धयशुद्धी विभजति

तथा　　तत्तत्पुरातत्त्वमिश्रणादुत्तरोत्तरम् ।

सर्वा शिवीभवेत्तत्त्वावली शुद्धान्यथा पृथक् ॥ ६२ ॥

तथेति उक्तेन प्रकारेण। अन्यथेति अशुद्धा। पृथगिति शिवादतिरिक्तं हि वस्तु पाश एवेत्याशयः। तदुक्तं प्राक्

'पराच्छिवादुक्तरूपादन्यत्तत्पाश उच्यते।' (८।२९२) इति ॥६२॥

अत एवाह

पृथक्त्वं च मलो मायाभिधानस्तस्य संभवे ।

कर्मक्षयेऽपि नो मुक्तिर्भवेद्विद्येश्वरादिवत् ॥ ६३ ॥

विसर्जन के बाद भावनात्मक स्तर पर गुरु विशुद्ध धरातत्त्व का विशुद्ध जल-तत्त्व से मिश्रित भावित करे। विशुद्ध धरातत्त्व से मिश्रित भावित किया गया वारि ही पूजा के योग्य माना जाता है ॥ ६०-६१ ॥

भावनात्मकता की प्रधानता के ही सन्दर्भ में शुद्धि-अशुद्धि सम्बन्धी रहस्य की ओर संकेत करते हुए ग्रन्थकार कह रहे हैं कि, इसके ऊपर बताये हुए क्रम की तरह ही तत्त्वों का उत्तरोत्तर मिश्रण करके उन-उन तत्त्वों को शुद्धातिशुद्ध बनाया जाना चाहिये। इससे सारी की सारी तत्त्वावली शुद्ध हो जाती है और शिवीभाव को प्राप्त कर लेती है। जो तत्त्व इस प्रकार के मिश्रण से बच जाता है, वह शिवीभाव प्राप्त न कर पाने के कारण अशुद्ध का अशुद्ध ही रह जाता है और शिव से अतिरिक्त पदार्थ ही पाश माना जाता है। आगम कहता है कि,

'परात्मक परम शिव से अन्य जो कुछ है, वह पाश ही है।"
(श्रीत० ८।२९२)

इस उक्ति के अनुसार उत्तरोत्तर उत्कर्ष की ओर अग्रसर होते हुए कोई तत्त्व शिव हो सकता है ॥ ६२ ॥

मायेति यदुक्तं

'भिन्नवेद्यप्रथात्रैव मायाख्यं…………………… ।'

(ई० प्र० ३।२।५) इति ॥६३॥

एतच्च सर्वमेव प्रागुक्तं तत्त्वान्तरेष्वतिदिशति

ततोऽपि जलतत्त्वस्य वह्नौ व्योम्नि चिदात्मके ।
आह्वानाद्यखिलं यावत्तेजस्यस्य विमिश्रणम् ॥ ६४ ॥

पार्थक्य की प्रथा ही मल है। पृथक्ता को पाश मानने का तात्पर्य ही है कि, वहाँ मायातत्त्व का उल्लास है। जहाँ माया का प्राधान्य हो जाता है, वहाँ एक तो कर्मों का क्षय हो ही नहीं सकता। यदि विद्येश्वरत्व मात्र आधिक्य में कर्मक्षय की स्थिति आ भी जाय तो भी वहाँ मुक्ति की सम्भावना नहीं हो सकती। जैसे अशुद्ध विद्या के ईश्वर भाव की दशा में कर्मक्षय तो रहता है पर मुक्ति नहीं होती। विज्ञानाकल पुरुष में भी कार्ममल नहीं रहता। माया का प्रभाव ही काम करता है। ईश्वर प्रत्यभिज्ञा (३।२।५) में यह स्पष्ट लिखा है कि 'भिन्न वेद्य प्रथा ही मायातत्त्व है' ॥ ६३ ॥

धरातत्त्व के अतिरिक्त जलतत्त्व की स्थिति के सम्बन्ध में चर्चा कर रहे हैं—

जलतत्त्व का वह्नितत्त्व में मिश्रितावस्था का भावन करना चाहिये। इससे जलतत्त्व अपने शुद्ध रूप को प्राप्त कर लेता है। चिद्व्योम में वह्नि तत्त्व की जाज्वल्यमानता होती है। प्रकाशमानता की अनुभूतियों से उसे भरकर और वहीं इसका भावन कर आवाहनादि प्रक्रिया का प्रवर्त्तन करना चाहिये। चैतन्यात्मक तेज में इनका मिश्रण एक महत्त्वपूर्ण आयाम का साक्षात्कार करा देता है।

इसी क्रम से क्रमशः ऊपर और ऊपर के तत्त्वों का शोधन और शुद्धीकरण होता है। धरा से कलापर्यन्त सभी तत्त्वों के शोधन का कार्य आचार्य पूरा करते हैं। इससे शिष्य के पाशों का मोचन होता रहता है।

एवं क्रमात्कलातत्त्वे शुद्धे पाशं भुजाश्रितम् ।
छिन्द्यात्कला हि सा किंचित्कर्तृत्वोन्मीलनात्मिका ॥ ६५ ॥
कर्माख्यमलजृम्भात्मा तं च ग्रन्थि स्रुगग्रगम् ।
पूर्णाहुत्या समं वह्निमन्त्रतेजसि निर्दहेत् ॥ ६६ ॥

एवमिति पूर्वोक्तेनैव क्रमेण । ननु कलातत्त्वशुद्ध्यन्तरं भुजाश्रितस्य पाशस्य छेदे कोऽभिप्राय इत्याशङ्क्याह—कलेत्यादि । तमिति भुजाश्रितपाशसूत्रगतम् ॥ ६६ ॥

ननु सर्वगं मान्त्रं तेज इति किं वह्निमात्राश्रयणेनेत्याशङ्क्याह

मन्त्रो हि विश्वरूपः सन्नुपाश्रयवशात्तथा ।
व्यक्तरूपस्ततो वह्नौ पाशप्लोषविधायकः ॥ ६७ ॥

तथेति वह्नितया । पाशप्लोषो हि तस्यानुगुण्यमित्यभिप्रायः ॥ ६७ ॥

जब कलातत्त्व का शोधन करते हैं, तो शिष्य की भुजाओं से सम्बन्धित पाश छिन्न-भिन्न हो जाते हैं । कला (शुद्ध) किञ्चित्कर्तृत्व की उन्मीलिका सिद्ध होती हैं । अशुद्ध (कञ्चुकरूपा) कला किञ्चित्कर्तृत्व प्रदान कर संकोच के आवरण से आवृत करती है और शुद्धा कला उसका उन्मीलन करने में सक्षम हो जाती है । कर्म का करण अङ्ग बाहु है । कार्ममल का यह जनक अर्थात् द्वार है । इसकी गाँठें बड़ी कड़वीं होती हैं । इनसे कार्ममल का विजृम्भण होता है । पूर्णाहुति में इस कर्मग्रन्थि को 'स्रुक्' नामक यज्ञ के उपकरण के अग्रभाग से गिरने वाले आज्य से हवन कर भस्म कर देते हैं । एक तरफ पूर्णाहुति को प्रक्रिया पूरी करे और दूसरी ओर वह्नि के मन्त्रात्मक तेज से समन्वित प्रकाशात्मक चिदग्नि में उसे दग्ध कर दे । यह पूरो प्रक्रिया आचार्य पर निर्भर करती है ॥ ६४-६६ ॥

प्रश्न करते हैं कि, मान्त्र-तेज का सर्वाधिक महत्त्व सभी स्वीकार करते हैं । उस तेज के लिये वह्नि के तेज का सन्दर्भ क्यों ले रहे हैं ? इसका उत्तर दे रहे हैं कि, मन्त्र तो विश्वरूपात्मक होते हैं । वहीं व्यक्तरूप में वह्नि के तेज

ननु अमूर्तस्यास्य को नाम प्लोष इत्याशङ्क्याह

प्लुष्टो लीनस्वभावोऽसौ पाशस्तं प्रति शम्भुवत् ।
परमेशमहातेजःशेषमात्रत्वमश्नुते ॥ ६८ ॥

अत्रैव ऊहं दर्शयति

कर्मपाशोऽत्र होतव्ये पूर्णस्यास्य शुभाशुभम् ।
अशुभं वा भवद्भूतं भावि वाथ समस्तकम् ॥ ६९ ॥
दहामि फट्त्रयं वौषडिति पूर्णां विनिक्षिपेत् ।
एवं मायान्तसंशुद्धौ कण्ठपाशं च होमयेत् ॥ ७० ॥

में अभिव्यक्त होकर जागतिक पाशों को भस्मसात् करता है। महत्त्व मान्त्र-तेज का ही है ॥ ६७ ॥

प्रश्न स्वाभाविक है कि प्लोष अमूर्त्त मान्त्र-तेज से कैसे सम्पन्न किया जा सकता है ? इसका उत्तर दे रहे हैं कि,

प्लोषण अन्तर्दाह-प्रक्रिया में भी सम्पन्न होता है। कामी और क्रोधी पुरुष अन्दर ही अन्दर जलते रहते हैं। चिन्ता की आग भी प्लोषिणी होती है। मान्त्रतेज ऐसा ही होता है। इसमें परमेश्वर का महातेज भरा होता है। इस तेज के प्रभाव से पाश उसी प्रकार विलीन हो जाते हैं; जैसे भगवान् शिव के तेज से मदन (काम) मद-विध्वस्त हा गया था। मान्त्र-तेज के प्रभाव से पाश भी तेजःशेष रह जाता है ॥ ६८ ॥

इस सम्बन्ध में शास्त्रकार विशिष्ट ऊह-पद्धति को अपनाकर नव विमर्श का अवसर प्रदान कर रहे हैं—

प्लोषण की इस दाह-प्रक्रिया में विशेषरूप से पहले कर्मपाश ही जलते हैं। कर्मपाश की हवनीयता के सन्दर्भ में दैशिक दीक्षक इस मन्त्र का प्रयोग करे—'अस्मिन् मान्त्रे तेजः स्वरूपोऽग्नौ अस्य दोक्ष्यस्य पूर्णस्य कर्मपाशस्य यत् शुभाशुभं स्वरूपं अशुभं वा स्वरूपं यत् सम्प्रति भवद्-भूतं भविष्यति वा संपत्स्यमानं सम्भवतु तत्सर्वं दहामि फट् स्वाहा, दहामि फट् स्वाहा,

पूर्णस्य तस्य मायाख्यं पाशभेदप्रथात्मकम् ।
दहामि फट्त्रयं वौषडिति पूर्णां क्षिपेद्गुरुः ॥ ७१ ॥
निर्बीजा यदि कार्या तु तदात्रैवापरां क्षिपेत् ।
पूर्णां समयपाशाख्यबीजदाहपदान्विताम् ॥ ७२ ॥

अशुभमिति लोकधर्मिविषयतया । अत्रैवेति कण्ठपाशहोमे । अपरामिति द्वितीयाम् । समयेति समयपाशाख्यबीजं दहामीति ॥ ७२ ॥

दहामि फट् स्वाहा त्रिनेत्राय शिवाय वौषट्' इस मन्त्र से कर्मदाह की प्रक्रिया पूरी करे। इस क्रिया तक मायान्त पाश भस्म हो जाते हैं। इस समय गुरु को यह ध्यान में रखना होता है कि, शरीर के भुजा, कण्ठ और ललाट तक किन कञ्चुकों का कितने-कितने अंगुलों तक न्यास रहता है।

उन्हीं के क्रम से पाशप्लोषण की प्रक्रिया पूरी करनी पड़ती है। पहले भुजाश्रित कर्मपाश का उच्छेद, पुनः शुभाशुभ, अशुभ और मायान्त पाश के उच्छेद करने के क्रम पर ध्यान देना चाहिये।

कण्ठ में अवस्थित मायीय पाश का प्लोषण आवश्यक होता है। यह भेद-प्रथात्मक पाश माना जाता है। इसके दग्ध हो जाने पर अभेद दर्शन का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। इसके हवन में भी मन्त्र का ऊहन करना चाहिये, जिसमें फट् और वौषट् का पूर्ववत् प्रयोग करना चाहिये। सामान्य न्यास प्रक्रिया में अस्त्र के साथ फट् जाति का और नेत्रत्रय में वौषट् जाति के प्रयोग का विधान है, पर यहाँ फट् और वौषट् दोनों जातियों का पूर्णाहुति के हवन के अवसर पर विधान किया गया है।

यदि दीक्षा निर्बीज है, तो इस सम्बन्ध में विशेष सावधानी बरतने की आवश्यकता होती है। समयाचार को भी एक पाश की दृष्टि से देखा जाय तो उसका प्लोषण भी आवश्यक होता है। इसमें अपरा मन्त्र का प्रयोग करना पड़ता है। इसके प्रयोग के उपरान्त निर्बीज दीक्षा की पूर्णाहुति होती

ननु निर्बोजदीक्षायां कथमिहाविशेषेणेव समयपाशदाह उक्तो यत्र तु गुरुदेवादौ भक्तिरपि समयत्वेनाम्नाता—इत्याशङ्क्याह

गुरौ देवे तथा शास्त्रे भक्तिः कार्यास्य नह्यसौ ।

समयः शक्तिपातस्य स्वभावो ह्येष नो पृथक् ॥ ७३ ॥

अस्य निर्बीजदोक्षादीक्षितस्य गुर्वादौ भक्तिः कार्यत्वेन संभवति, न पुनरसौ समयः, यत्

'तस्यैव तु प्रसादेन भक्तिरुत्पद्यते नृणाम् ।' (म० भार०)

इत्यादिनीत्या शक्तिपातस्यैव एष स्वभावो न पृथक् ततोऽतिरिक्तमेतत्, न किंचिदित्यर्थः ॥ ७३ ॥

है और शिष्य के जीवन में एक नये आयाम की उपलब्धि हो जाती है ॥ ६९-७२ ॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि, निर्बीज-दोक्षा में सामान्यतया यहाँ समय-पाशदाह की चर्चा की गयी है । जहाँ गुरु, देव, शास्त्र में भक्ति भी समयरूप में ही समाम्नात है अर्थात् भक्ति भी समयाचार का एक अंग है । समय-पाश के जलाने में इसके जलने से शास्त्र के नियम का उल्लङ्घन होने लगेगा ! इस पर अपना विचार प्रकट कर रहे हैं कि,

गुरुदेव में, इष्टदेव में और शास्त्रों में जो भक्ति निर्बीज-दीक्षा से दीक्षित शिष्य करता है, वह समयाचार में परिगणित नहीं है । वह तो अनिवार्यतः करणीय श्रेणी में आने वाली एक महत्त्वपूर्ण आस्था की प्रतीक है, जिसे शिष्य सम्पन्न करता है । महाभारत को एक उक्ति है—

'शक्तिपात के प्रसाद से मनुष्यों में भक्ति की उत्पत्ति होती है' ।

इस उक्ति के अनुसार शक्तिपात का यह स्वभाव ही होता है । इसके अतिरिक्त भक्ति कुछ दूसरो वस्तु या भाव नहीं होती । अतः समय-पाश-दाह से भक्ति के आचरण में कोई अन्तर नहीं पड़ता ॥ ७३ ॥

शुद्धाध्वशुद्धौ हि विशेषं दर्शयितुमाह

मायान्ते शुद्धिमायाते वागीशी या पुराभवत् ।
माया शक्तिमयी सैव विद्याशक्तित्वमश्नुते ॥ ७४ ॥

तच्छुद्धविद्यामाहूय विद्याशक्तिं नियोजयेत् ।
एवं क्रमेण संशुद्धे सदाशिवपदेऽप्यलम् ॥ ७५ ॥
शिखां ग्रन्थियुतां छित्त्वा मलमाणवकं दहेत् ।

शुद्धाध्व-शुद्धि के सम्बन्ध में विशेष प्रक्रिया के प्रति साधक का ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं—

मायान्त तत्त्वों के शुद्ध हो जाने पर जिसे वागीशी शक्ति के रूप में पहले कहा गया है, वही शक्तिमयी माया विद्या-शक्ति का रूप ग्रहण कर लेती है। इस विद्याशक्ति को शुद्धविद्या का आवाहन कर उसमें समायोजित कर देना चाहिये।

इसी क्रम से शुद्धविद्या को ईश्वर, ईश्वर को सदाशिव में नियोजित करना चाहिये। इस प्रकार कञ्चुकों की शुद्धि, पुनः माया तत्त्व की शुद्धि, फिर शुद्ध-अध्वा की क्रमिक शुद्धि का यह साधनात्मक स्वरूप साधक को सदाशिव पद तक पहुँचा देता है। सदाशिव पद में भी आणव भाव का जो संस्कार शेष रहता है, उसे भी आणव मल ही कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है— १. अधिकार की सूक्ष्म अहन्ता का भाव और २. भोग की सूक्ष्म संस्कारवादिता के भाव। इस अधिकार और भोग भाव के आणव मल को भी भस्मसात् कर तन्त्र साधक को ताप्त दिव्य काञ्चन बना देने में समर्थ होता है। इसकी विधि का संकेत ही विधिलिङ् के 'दहेत्' प्रयोग से सिद्ध होता है। इस स्तर पर ग्रन्थिमयी शिखा के छेदन का भी विधान है। आगम कहता है कि,

तदुक्तं

'ततस्तच्छोध्ययोनीनां व्यापिनीं योनिमानयेत् ।
मायान्तेऽध्वनि तामेव शुद्धे विद्यां विचक्षणः ॥

(मा० वि० ९।५७) इति ।

ग्रन्थियुक्तामिति नतु प्राग्वद्ग्रन्थिमात्रम् ॥

"उन शोध्य योनियों को शुद्ध करते-करते 'व्यापिनी' योनि के स्तर तक ले जाने का जो क्रम है, वही क्रम मायान्त षट् कञ्चुकों को शुद्धि के अनन्तर शुद्धविद्या तक अपनाये। शुद्धविद्या से ईश्वर और सदाशिव तक की साधना यात्रा उस समय पूरी हो जाती है, जब अधिकार और भोगरूपी आणव मल जल जाते हैं"। इस प्रकार मा० वि० (९।५७) की उक्तियों से आगमात्मक साधना का उत्कृष्ट स्वरूप स्वाध्यायशील व्यक्ति को भी जीवन में रूपान्तरण के लिये प्रेरित करता है। यहाँ माया ग्रन्थि युक्त रहती है, केवल ग्रन्थिरूपा नहीं रह जाती।

यहाँ तक अर्थात् श्लोक ६४ से ७५ तक के श्लोकों के माध्यम से साधक की देहशुद्धि के अन्तर्गत सर्वाङ्गशुद्धि के प्रसङ्ग में ही पञ्चमहाभूत शुद्धि, पुर्यष्टक शुद्धि, मायान्त कञ्चुकशुद्धि, वागीशी क्रम, शुद्धविद्या और सदाशिवपद के मलदाहरूपी शुद्धि का अत्यन्त संक्षिप्त रूप प्रदर्शित किया गया है। इसमें पञ्चदश-मन्त्र का प्रयोग, पूर्णाहुति और गुरु-शास्त्र-देव-भक्ति आदि प्रसङ्ग भी निर्दिष्ट किये गये हैं। यह एक पूरी जीवन-पद्धति है। इसे जीने वाला साधक साक्षात् शंकर हो जाता है, इसमें संदेह नहीं है। इस तरह इसके तत्त्वात्मक, ग्रथनात्मक और शाक्त रूपों का ध्यान रखते हुए साधक को सदा सावधान रहना चाहिये। इस प्रसङ्ग में प्रयुक्त 'माया' और 'वागीशी' शब्दों के सम्बन्ध में विशेष जानकारी अपेक्षित है, जिसे यहाँ स्पष्ट करना प्रासङ्गिक होगा।

१. मायातत्व—इसके तीन पुट होते हैं—१. अधः पुट—इसमें गहन, असाध्य, हरिहर, ईशान, त्रिमल और गोपति नामक ६ रुद्र रहते हैं। २. ऊर्ध्वपुट—इसमें भी क्षेत्रेश, विद्येश, ब्रह्मेश, अनन्त, वेद्यशान और शिव नामक रुद्र (इन्हीं नामों के इनके भुवन भी होते हैं) ये छः रुद्र होते हैं।

इसी में कलादिक्षित्यन्त सम्पूर्ण सृष्टि का उल्लास होता है। इस सितेतर सृष्टि के कर्त्ता अनन्त अथवा अनन्तेश कहलाते हैं। ये निग्रहानुग्रह कर्त्ता भी माने जाते हैं। माया दा प्रकार की मानी जातो है—१. तत्त्वरूपा और २. ग्रन्थिरूपा। तत्त्वरूपा माया के रुद्र और अनन्तेश्वर भी इसी में व्याप्त हैं। ग्रन्थिरूप माया में कलादिक्षित्यन्त विस्तार होने के कारण तत्त्वरूपता से कुछ कम शक्तिमत्ता का उल्लास दीख पड़ता है। इसीलिये इसे ग्रन्थिरूपा माया कहते है।

ग्रन्थि भी सत्त्व की सात्त्विक, रजस् की राजसिक और तमस् गुणवत्ता के कारण तामसिक अर्थात् अधर ग्रन्थिरूपा होती है। कला क्षित्यन्त अधोग्रन्थि होती है। मध्यग्रन्थि में अनन्तेश्वर रहते हैं और ऊर्ध्व-ग्रन्थि में विश्वाभिध, त्रिकल, क्षेम, ब्रह्मेश और शिव ५ रुद्र रहते हैं। इसे माया बिल भी कहते हैं। यह गुहा है। जगद्योनि है। इसे 'भग' भी कहते हैं। यह सभी पाशों को प्रसविनी है। इसी के द्वारा अनन्तेश्वर प्रेरित वामशक्त्या-धिष्ठित अणु पुरुष बन्धन प्राप्त करते हैं।

माया का एक तीसरा रूप भी होता है। इसे शक्तिरूपिणी कहते हैं और निर्वैरपरिपन्थिनी भी कहते हैं। भ्रान्त-बुद्धि पुरुष परस्पर तत्त्व-विवाद तो करते हैं, पर तत्त्व की तात्त्विकता से अपरिचित रह जाते हैं, जैसे वैष्णव आदि। यह मोक्ष की लिप्सा से प्रवृत्त पुरुषों को अमोक्ष में भ्रमित करती रहतो है। शिव दोक्षा की धार से ही यह वश में आती है।

२. वागीशी—इसे वागोश्वरी शक्ति भी कहते है। यह स्थूल, सूक्ष्म और 'परा' तीन रूपों में विश्व में विद्यमान है। माया (योनि) की संस्कार-सम्पन्नता के कारण शुद्ध माया रूप ही वागीश्वरी होती है। इसके परिवेश में पहुँचने पर व्यक्ति का शुद्धाध्व प्रशस्त हो जाता है। पहले यह पारमेश्वर-प्रकाश-कला भित्ति पर काली छाया के समान छा जाती है, किन्तु साधना से शुद्ध करने पर शुद्धविद्या रूप ही हो जाती है।

नन्वत्राणवं मलं दहेदित्येव कस्मादुक्तं यद्भेदप्रथात्मा मायीयोऽपि मलोऽत्र संभाव्य एवेत्याशङ्क्याह

यतोऽधिकारभोगाख्यौ द्वौ पाशौ तु सदाशिवे ॥ ७६ ॥
इत्युक्त्याणवपाशोऽत्र मायीयस्तु निशावधिः ।

जहाँ माया भेदप्रथा का प्रथन करती है, वहीं इस रूप में भेदप्रथा के उन्मूलन की सोपान-परम्परा की पहली सीढ़ी बनने का काम करती है। परपरामर्शक परमेश्वर ही वागीश कहलाते हैं। उनकी शक्ति वागीशी है। यह अ क च ट त प य श—रूप आठ वर्गों में विभक्त होकर विश्व का परामर्श करती है। इसे 'मातृका' शक्ति भी कहते हैं। यही मन्त्रों का उन्मीलन करती है। दुर्भाग्य यह कि, अशेष वाच्यवाचक भावों की उत्स होने पर भी इसे इस रूप में कम लोग ही जान पाते हैं। दीक्षा काल में इसका शोधन आवश्यक है। इसे महाविद्या के रूप से भी जाना जाता है। माया और शुद्ध विद्या के बीच में इसका अवस्थान माना जाता है। शुद्ध करने पर यही शुद्धविद्या पद को अलङ्कृत करती है। इसीलिये शास्त्रकार कहते हैं कि "मायान्त के शुद्ध हो जाने पर यही विद्या शक्तिभाव को पाती है। यही विद्या-शक्ति हो जाती है ॥ ७४-७५ ॥

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि, कारिका संख्या १७६ की पूर्व अर्धाली में मात्र आणवमल को ही दग्ध करने का निर्देश दिया गया है, जबकि इस स्तर पर भेदप्रथात्मक मायीयमल भी होता है। इसका समाधान करते हुए कह रहे हैं कि,

सदाशिव पद में अधिकार और भोग नामक दो पाश अवश्य ही शेष रहते हैं। ये दोनों आणवमल के ही भेद हैं। जहाँ तक मायीय पाश का प्रश्न है, इसका निराकरण आणवपाश को दग्ध करने के बाद ही सम्भव है। इसीलिये पहले आणवपाश को दग्ध करने की बात कही गयी है। मायीय पाश के विषय में शास्त्रकार का उद्घोष है कि, यह निशा की समाप्ति-पर्यन्त रहता ही है। निशा ही इसकी अवधि है। 'निशा' पारिभाषिक शब्द है। इसके इस पक्ष पर विशेष ध्यान देना चाहिये।

शिष्यो यथोचितं स्नायादाचामेद्देशिकः स्वयम् ॥ ७७ ॥
आणवाख्ये विनिर्दग्धे ह्यधोवाहिशिखामले ।

उक्त्येति मतङ्गादौ । यथोचितमिति

'गृहस्थानां जलेनैव नैष्ठिकानां तु भस्मना ।' इति ।

अधोवाहिशिखेति तत्प्रधान इत्यर्थः, अत एव प्राक्

'अधोवहा शिखाणुत्वं..................... ।' (श्लो० ५)

इत्याद्युक्तम् ॥ ७७ ॥

आणव मल को जलाने के बाद यथा निर्दिष्ट विधि से शिष्य को स्नान करना चाहिये। एक तरह से यह शवदाह के ही सदृश है। अतः शुद्धि के लिये स्नान अनिवार्यतः आवश्यक है। उस अवसर पर देशिक शिरोमणि गुरुदेव भी आचमन कर स्वात्म शुचिता की प्रक्रिया अवश्य अपनावें।

यहाँ यह ध्यान देना आवश्यक है कि आणव अधोवाही मलों में शिखा स्थानीय माना जाता है। मल हमेशा अपकर्ष ही प्रदान करते हैं। इसीलिये इन्हें भवदोष माना जाता है[1]। ये अज्ञान रूप होते हैं। अज्ञान पतन का ही कारण है। इसलिये सभी मल अधोवाही होते हैं। इसी आह्निक (श्लोक सं० ५) में भी अणुत्व को अधोवहा शिखा कहा गया है। यों तो प्रधान मल तीन ही हैं पर, उनमें से आणव मल शिखास्तरीय अर्थात् प्रधान मल माना जाता है। जब यह प्रधान मल भी जल जाता है, तो इसके विनिर्दग्ध हो जाने पर ही आगे की प्रक्रिया की जा सकती है।

आणव पाश दग्ध करने की बात केवल शास्त्रकार ही नहीं कह रहे हैं, वरन् मतङ्ग आदि शास्त्रों में भी इसी तरह की बातें कही गयीं हैं। जहाँ तक शिष्य के स्नान की बात है, उसके विषय में 'यथोचित' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसके विषय में आगम कहता है कि,—

'गृहस्थ पुरुषों का स्नान जल से होना चाहिये। जो नैष्ठिक ब्रह्मचारी और वीर आदि होते हैं, उनके लिये तो भस्म-स्नान ही पर्याप्त है।'

---

१. श्रीत० ९।८४-८५।

एवं पाशदाहमभिधाय योजनिकामाह

ततः प्रागुक्तसकलप्रमेयं परिचिन्तयन् ॥ ७८ ॥
शिष्यदेहादिमात्मीयदेहप्राणादियोजितम् ।
कृत्वात्मदेहप्राणादेर्विश्वमन्तरनुस्मरेत् ॥ ७९ ॥
उक्तप्रक्रियया चैवं दृढबुद्धिरनन्यधीः ।
प्राणस्थं देशकालाध्वयुगं प्राणं च शक्तिगम् ॥ ८० ॥

इस तरह श्लोक ७६ की प्रथम अर्धाली में प्रयुक्त आणव मल को दग्ध करने का यह प्रसङ्ग पूरा होता है। उसके बाद ही मायीय मलों का अपनोदन सम्भव है ॥ ७६-७७ ॥

पाशों को दग्ध करने की प्रक्रिया के कथन के उपरान्त अब योजनिका प्रक्रिया का कथन कर रहे हैं—

इसके बाद पहले के आह्निकों में प्रमेयों के विषय में जो कुछ कहा गया है, उसके आधार पर समस्त प्रमेय वर्ग का अच्छी तरह चिन्तन करना चाहिये। बारम्बार उनके विषय में विचार करना चाहिये। शिष्य का शरीर, उसके अवयव, उनमें अधिष्ठित विशिष्ट देववर्ग आदि जिनका विशद वर्णन पिछले आह्निकों में किया गया है, का भी विचार आवश्यक रूप से करें। पुनः यह विचार करें कि, गुरुदेव के आत्मीय देह प्राण आदि से इनका किस प्रकार योजन किया गया था। उसी तरह दीक्ष्य और दीक्षक का देह, प्राण आदि के स्तर पर जिस प्रकार योजन किया जा चुका था, उसी प्रकार पुनः योजन करना चाहिये।

इस प्रकार योजनिका क्रिया द्वारा दीक्ष्य और दीक्षक का सभी स्तर पर तादात्म्य हो जाता है। इस तादात्म्य का स्वरूप विचार का विषय है। यह एक असामान्य प्रक्रिया है, जिससे शिष्य के व्यक्तित्व का परिष्कार होता है। इस तादात्म्य प्रक्रिया के स्तर पर अधिष्ठित होकर भी यह आत्मपरामर्श अवश्य करना चाहिये कि, ऐसी स्थिति में भी दीक्ष्य और दीक्षक के देह, प्राण और धी में कुछ अन्तर है या नहीं। इसे अनुस्मरण कहते हैं।

तां च संविद्गतां शुद्धां संविदं शिवरूपिणीम् ।
शिष्यसंविदभिन्नां च मन्त्रवह्न्याद्यभेदिनीम् ।। ८१ ।।

शिष्य अब पूर्ण परिष्कृत हो चुका होता है । इस स्तर पर उसे स्वात्म-शरोर से विश्व शरीर का और स्वप्राण से विश्व प्राण का योजन कर इस बाह्य प्रसरित विश्व का अन्तर्दशन अपने में हो करना चाहिये। इस स्तर पर सारा विश्व उसमें ही समाया हुआ प्रतीत होता है। यह प्रक्रिया 'मद-भिन्नमिदं सर्वं' का विमर्श प्रदान करती है। बुद्धि में एक दृढ़ता उत्पन्न होती है और साधक अनन्यधीः के महाभाव से भावित हो जाता है। साधक के प्राण में हो देश और काल के दोनों अध्वा उल्लसित होने लगते हैं। पूरा षडध्व-दर्शन देशाध्वा और कालाध्वा के युगल परिवेश में ही पुलकित होता है। वह अब साधक के प्राण में ही पूर्णतया प्रतिष्ठित हो रहते हैं।

साधक की प्रिय प्राणना-शक्ति का यह महाप्राण परिष्कार माना जाता है। ऐसे परिष्कृत प्राण को शक्ति से समायोजित करना चाहिये। प्राणस्पन्द शक्तिस्पन्द में परिवर्तित हो जाता है। पुनः शक्ति को संविद् में समाहित कर देना चाहिये। 'प्राक् संविद् प्राणे परिणता' रूप यह प्राण-सृष्टि क्रमवत्ता अब संहार क्रम में, संविद् में ही प्राण और शक्ति को समाहित करने के क्रम में बदल जाती है। अब संविद् में उस विशुद्ध रूप का ध्यान करना चाहिये।

यह 'संविद्' साक्षात् शिवरूपिणी होती है। उस शिवरूपिणी संविद् को शुद्ध शिष्य-संविद् से अभिन्न रूप में अनुभूत करना चाहिये। वह एक तरह से उभय संविदभिन्नता की अवस्था होती है। एक अखण्ड शैव-संवित् और दूसरी शिष्य-संवित्। वह परम सौभाग्य का क्षण होता होगा, जब शिष्य की सौदामिनी परा संविद् सौदामिनी से मिलकर एकाकार हो जाती होगी। यह मात्र अनुभूति का विषय है।

ध्यायन् प्राग्वत्प्रयोगेण शिवं सकलनिष्कलम् ।
द्व्यात्मकं वा क्षिपेत्पूर्णां प्रशान्तकरणेन तु ॥ ८२ ॥

शक्तिगमिति कालशक्तिगतमित्यर्थः । द्व्यात्मकमिति सकलनिष्कलोभयस्वभावमित्यर्थः । प्रागुक्तेति उक्तप्रक्रिययेति प्राग्वदिति च अनेन षोडशपञ्चदशाह्निकादौ एतद्विस्तरेणोक्तमिति स्मारितम्, अत एव एतदस्माभिरपि ग्रन्थविस्तरभयान्नेह वितानितम् ॥ ८२ ॥

इस सन्दर्भ को तनिक और गहरायी से विचार करने की आवश्यकता है । दैशिक शिरोमणि गुरुदेव एक ओर मन्त्रों की वैद्युतिक ऊर्जा का शिष्य के ऊपर अभ्यानर्षण कर रहे हैं, वहीं दूसरी ओर एक-एक प्रक्रिया की अनुप्रवेशात्मकता की पूर्त्ति हो रही है और आहुति द्वारा आग्नेयी ऊर्जा का उत्सर्जन हो रहा है । इस परिवेश में संविद् सौदामिनी की अदृश्य ऊर्जा का आयोजन, इन सबकी एकाकारता में अभेदिनी बनी हुई उल्लसित होती है । इसी लिये उसे 'मन्त्र-वह्न्याद्यभेदिनी'[1] का विशेषण दिया गया है । चिन्तन की पृष्ठभूमि में इस ऊर्जामयी संविद् के सारूप्य का प्रकल्पन कर साधक को अनवरत अपने परिष्कार में प्रयत्नशील रहना चाहिये ॥ ७८-८१ ॥

साधक इस अवस्था का आकलन करे और इस विषय को ध्यानपूर्वक आत्मसात् करे, यह शास्त्रकार का निर्देश है । ध्यायन् के शत्रन्त प्रयोग द्वारा अपनी साधना में वर्त्तन करते रहने की वर्त्तमानकालिकता का भी यहाँ आकलन हो रहा है । यह सत् में समाहित होने की दशा है । यहाँ भूत और भविष्य का चिन्तन समाप्त होना चाहिये । सत् की सत्ता शाश्वत वर्त्तमान होती है । सत् में समाहित होने की सिद्धि सर्वोत्तम सिद्धि मानी जाती है ।

इस योजनिका प्रक्रिया में देह प्राण के स्तर से क्रमशः उत्तरोत्तर तत्त्वों में अनुप्रवेश करते हुए शैवसंवित्ति की अभिन्नता में अपना अधिष्ठान साधक बना

---

१. श्रीत० १५।४०७,४४०

नच एतदस्मदुपज्ञमेवेत्याह

उक्तं त्रैशिरसे तन्त्रे सर्वसंपूरणात्मकम् ।
मूलादुदयगत्या तु शिवेन्दुपरिसंप्लुतम् ॥ ८३ ॥

लेता है। इस विषय का पहलेके आठवें[१], पन्द्रहवें[२] और सोलहवें[३] आदि आह्निकों में भी चर्चा का विषय बनाया गया है। साधक चाहे तो स्वतः अपने स्तर पर या दैशिक के सहारे उक्त आह्निकों में निर्दिष्ट विधियों का अनुसरण करे।

इस प्रयोग से सकल-निष्कल उभयात्म अथवा केवल निष्कलशिव[४] में विलापन हो जाता है। यहाँ यह विचारणीय है कि, शिष्य की संविद् का उस समय जो विलापन होना है, वह अकेले शिष्य या साधक के वश की बात नहीं है। इसीलिये यहाँ क्षिपेत् क्रिया का प्रयोग किया गया है। क्षिपेत् क्रिया का कर्म पूर्णा शिष्यसंविदभिन्ना शुद्धा संवित् है। वह दैशिक संविद् के प्रज्ञा-परिवेश के तादात्म्य से परिष्कृत हो रही है। उसी का शिव के क्षेत्र में प्रक्षेप करना होता है। यह साधना की उस स्तरीयता का निर्देशक प्रयोग है, जब व्यापिनी का परिवेश पार कर साधक गुरु के बताये मार्ग पर चल कर समना की शैवानुभूति में अभ्यस्त हो चुका होता है। इसी स्तर पर सकल-निष्कल शिव का द्वात्म्य पूर्णतया उल्लसित होता है। यह एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म शैव संभूति की भरितात्मिका अवस्था है। इसमें सहस्रवर्णी मातृका की कलाओं का भी आकलन होता है। जिस तरह पूर्णाहुति के अन्तिम प्रक्षेप से यज्ञ शान्त हो जाता है, उसी तरह इस अवस्था में प्रशान्तकरण का अभिनव प्रयोग करने की आवश्यकता पड़ती है ॥ ८२ ॥

इन तथ्यों का समर्थन दूसरे शास्त्रीय वचनों द्वारा करने की आवश्यकता का अनुभव शास्त्रकार को था। इसीलिये त्रैशिरस शास्त्र में

१. ज्ञात्वा समस्तमध्वान, तदीशेषु विलापयेत् ।
तान् देह प्राणधीचक्रे, पूर्ववद् गालयेत् क्रमात् ॥
तत्समस्तं स्वसंवित्तौ सा संविद् भरितात्मिका ।
उपास्यमाना संसारसागरप्रलयानलः ॥ (श्रीत० ८।७-८)

२. श्रीत० १५।२३६-२३८, २६५,२७०-२७३, ४६४।

३. श्रीत० १६।७७,९०-९२, ४. श्रीत० १५।३१०।

जन्मान्तमध्यकुहरमूलस्रोतः समुत्थितम् ।
शिवार्करश्मिभिस्तीव्रैः क्षुब्धं ज्ञानामृतं तु यत् ॥ ८४ ॥
तेन संतर्पयेत्सम्यक् प्रशान्तकरणेन तु ।

लिखे वचन यहाँ कह रहे हैं। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि, ये बातें केवल शास्त्रकार की स्वोपज्ञ नहीं हैं।

त्रैशिरस तन्त्र में यह लिखा हुआ है कि, ज्ञान का अमृत जब क्षुब्ध हो जाता है, उसी समय प्रशान्तकरण के प्रयोग से मन्त्रचक्र रूप स्वात्म का सन्तर्पण हो सकता है। इसके लिये त्रैशिरस शास्त्र ने सूत्र रूप में साधना के आमूलचूल सोपानों का शब्द चित्र प्रस्तुत कर दिया है। यद्यपि साधना क्रम को शब्दों में पिरो दिया गया है किन्तु यह क्रियायोग का विषय है। इसका ध्यान रखना चाहिये कि, क्रियायें सर्वदा साधनात्मक ही होती हैं। पढ़ लेने मात्र से यह ज्ञान पल्ले पड़ने वाला नहीं है।

जिस ज्ञानामृत की बात यहाँ की गयी है, उसे त्रैशिरस शास्त्र सर्वसंपूरणात्मक मानता है अर्थात् इस ज्ञानामृत का पान कर लेने से उसके आस्वाद का सौभाग्य उपलब्ध कर लेने पर सर्व संपूर्ति अवश्यंभावी है। यह कहाँ से समुत्थित होता है और उत्पन्न होने पर क्या रूप धारण करता है, इसके लिये चक्रों की साधना और श्वास-निःश्वासरूप प्राणापानवाह-विज्ञान का समझना नितान्त आवश्यक है। इसलिये शब्दशः इन विषयों का विश्लेषण अपेक्षित है—

१. मूलात्—मूलाधार चक्र से। मूलाधारचक्र शरीर स्थित वह चक्र है, जिसके आधार पर ही यह जीवनचक्र परिचलित होता है। शरीर के तीन विभाग हैं—१. भूः, २. भुवः, और ३. स्वः। इन्हें गायत्री साधना में महाव्याहृति साधना कहते हैं। सूर्य विज्ञान इन तीन भागों में विभक्त है। इनमें 'भू'-भाग के दो चक्र माने जाते हैं—१. मूलाधार और २. स्वाधिष्ठान। मूलाधार चक्र साधना से कुण्डलिनी जागरण की प्रक्रिया शुरू होती हैं।

२. उदयगत्या—मूलाधार में अश्विनी मुद्रा की प्रक्रिया श्वास-विज्ञान से सम्बन्धित है। श्वास के दो प्रधान भेद हैं—१. प्राण और २. अपान। प्राण सूर्य तत्त्व है और अपान सोम तत्त्व। वेद कहता है—'अग्नीषोमात्मकं जगत्'। तन्त्र कहता है—'सूर्यसोमात्मकं जगत्'। सोम तत्त्व अमृतात्मक है। अपानोदय में गति कैसे होती है—यह गुरु से जान लेना चाहिये।

यन्नाम जन्माधारद्वादशान्तहृदयान्येव मुख्याधिष्ठानस्थानत्वात् अव-वरकप्रायाणि कुहराणि यस्यैवंविधादाद्यशक्तिपरिस्पन्दात्मनो मूलस्रोतसः समुत्थितम्, अत एव मूलाधारादूर्ध्वंगमनेन शिवात्मनः प्राणादित्यस्य तीक्ष्णाभिः कलाभिः क्षुब्धं बहिर्मुखीभूतं सत् द्वादशान्तःस्थेन शिवेन्दुना परितः संप्लुतं स्वात्ममयतामापादितम्, अत एव सर्वपूरणात्मकं

'प्राक् संवित्प्राणे परिणता।'

---

३. शिवेन्दुपरिसप्लुतम्—अपानादय और प्राणोदय विज्ञानवान् साधक ही इस अमृत संप्लवन-प्रक्रिया को जान सकता है।

४. जन्मान्तमध्यसमुत्थितम्'''' शिवार्क'''क्षुब्धं—जन्माधार योनि है। यहाँ अधःद्वादशान्त माना जाता है। मध्य हृदय है। हृदय प्राणियों का मुख्य केन्द्र होता है। हृदय पारिभाषिक शब्द है। इसका मुख्य अर्थ केन्द्रात्मक स्पन्द-स्थान है। यह चार होते हैं—१. अधःद्वादशान्त २. मेरुदण्ड में अनाहत चक्र के पीछे अवस्थित हृत् केन्द्र। ३. ऊर्ध्वद्वादशान्त और ४. उन्मना का परा-शूलाब्ज केन्द्र। यहाँ केवल दूसरा स्थान ही अभिप्रेत है। जब मूलाधार से शिवात्मक प्राण-सूर्य ऊर्ध्वगमन की आरोहमयी क्रमवत्ता में चलते चलते ऊर्ध्वद्वादशान्त में पहुँचता है, इस गतिक्रम की उद्गति में ऊर्जामयी ओजस्विनी प्राणरश्मियों का व्यापक प्रसार अनुभूति का विषय है। यह क्षुब्ध स्पन्दमयी दशा कहलाती है क्योंकि इस समय प्राण-सूर्य शरीर के भुवर्लोक में चंक्रमण कर रहा होता है। जब ऊर्ध्वद्वादशान्त में प्राण-सूर्य पहुँचता है, तो उस चितिकेन्द्र में स्थित शिवेन्दु की सुधा से साधक परिसप्लुत हो जाता है।

साधकों द्वारा उस परिकल्पनीय अवस्था में जो प्रकाश होता है, उसमें सूर्य और सोम दोनों का समन्वय होता है। प्रकाश विज्ञानमय होता है। अतः उस अमृत को ज्ञानामृत कहते हैं। उस समय सोहं का स्वात्मसाक्षात्कार हो सकता है। इसीलिये उसे पहले ही सर्वसंपूरणात्मक लिखा गया है। ऐसे सर्व-संपूरणात्मक ज्ञानामृत से समस्त मन्त्रचक्र का तर्पण आवश्यक है। यह प्रशान्तकरण-प्रक्रिया का ही चमत्कार है। कहा गया है कि,

'पहले संवित् शक्ति प्राणरूप में परिणत हुई'।

इति नीत्या परसंविदाद्यविजृम्भात्मकं ज्ञानमेवामृतं तेन, सम्यक् प्रशान्तेन मनसा अर्थादुक्तस्वरूपं मन्त्रचक्र संतर्पयेत् पूर्णाहुतिप्रक्षेपेण स्वस्वरूपपरिनिष्ठितं कुर्यादित्यर्थः ॥ ८३-८४ ॥

ननु करणस्य प्रशान्तत्वं नाम किमुच्यते इत्याशङ्क्याह

शून्यधामाब्जमध्यस्थप्रभाकिरणभास्वरः ॥ ८५ ॥

आधेयाधारनिःस्पन्दबोधशास्त्रपरिग्रहः ।

इस उक्ति के अनुसार ज्ञान ही संविद् है और संविद्-तत्त्व ही प्राण है। परा संवित् का आद्य स्पन्द, आदि विजृम्भारूप ज्ञान ही है। यह अमृत तत्त्व है। इसी ज्ञानामृत से तत्त्व-तर्पण करना आवश्यक है। पूर्णाहुति के प्रयोग के प्रक्षेप के बाद यज्ञ की जैसे पूर्णता हो जाती है, उसी प्रकार इस क्षुब्ध-ज्ञानामृत से समस्त करण-चक्र की प्रशान्ति (तृप्ति) होती है। प्रशान्तेन्द्रिय पुरुष को इस क्रिया द्वारा स्वात्म स्वरूप में परिनिष्ठित होना चाहिये। यह सारा का सारा वर्णन श्वास-साधना पर निर्भर है। ॥ ८३-८४ ॥

करण के प्रशान्त भाव के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त कर रहे हैं—

आचार्य शून्य धामाब्ज के मध्य में स्थित प्रभा से भासमान भास्कर के समान ओजस्विता से ऊर्जस्वल हो जाता है। ऊपर शिवार्क की तीव्र रश्मियों से अपान चन्द्र के क्षोभ (उत्तेजना) की बात कही गयी है।

उसी क्रम में वह आधेय (वीर्य) और आधार (भग या रज) दोनों के ऐक्य की निस्पन्ददशा के बोध के शास्त्र में अर्थात् परम शक्तिमयी एकरूपता की स्थिति में अवस्थित होता है। इससे सर्जन-शक्ति का बोध हो जाता है। उस बोध का एक पृथक् कुल शास्त्र होता है। यहाँ शास्त्र विधि अर्थ में प्रयुक्त है। उसी शास्त्रीय विधि के ज्ञान से समस्त इन्द्रिय वर्ग का निग्रह होता है।

'शून्यधाम' से 'परिग्रहः' पर्यन्त दो विशेषण शब्द आचार्य की ऊर्जा से ऊर्जस्वल साधना के उत्कर्ष के द्योतक हैं।

जन्माधेयप्रपञ्चैकस्फोटसंघट्टघट्टनः ॥ ८६ ॥

मूलस्थानात्समारभ्य कृत्वा सोमेशमन्तगम् ।
खमिवातिष्ठते यावत्प्रशान्तं तावदुच्यते ॥ ८७ ॥

इह खलु आचार्यः शून्यधाम्नि मूलाधारे

आचार्य का तीसरा विशेषण भी महत्त्वपूर्ण है। जन्म का अर्थ आधार है और आधेय का अर्थ प्राण है। चर्या में रज-वीर्य को एक डिम्भ बनने के समान इन दोनों के प्रपञ्च को एकाकार करने का विज्ञान महत्त्वपूर्ण है। वैभिन्य को ऐक्य में परिवर्त्तित करना रासायनिक संमिश्रण के समान ही महत्त्वपूर्ण साधना है। उससे एक अनाहत ध्वनिमय स्फोट की उत्पत्ति होती है। इस अवस्था में अनाहत ध्वनियों का एकाकार स्फोट संघट्ट अर्थात् एक सामरस्यमय भाव सहज ही उत्पन्न हो जाता है। इस संघट्ट का घट्टन करने वाला अर्थात् उन अनाहत ध्वनियों के सामरस्य को ग्रास कर लेने में सक्षम आचार्य ही होता है॥ ८५-८६ ॥

इस तरह साधक मूलाधार से उठकर सारी चक्र-साधना को सिद्ध कर सोमेश की अन्तिम मंजिल पर आरूढ हो जाता है। सोम अपान तत्त्व है। यह प्राण सूर्य से ग्रस्त हो जाता है। यह ध्यान देने की बात है कि, आचार्य के तीन विशेषण तीन पंक्तियों में दिये गये हैं। तीनों विशेषणों में चर्याक्रम का मूल रहस्य ओतप्रोत है। शून्यधाम, अब्ज, आधार, आधेय, निःस्पन्दबोध, जन्माधेय-प्रपञ्च और स्फोट, संघट्ट—ये सभी पारिभाषिक शब्द हैं। सूर्य-चन्द्र का यह ऐक्य ज्योतिष शास्त्र की दृष्टि से अमावस्या में होता है। श्वास-साधन में जिस विन्दु पर प्राणापानैक्य सम्पन्न होता है, तन्त्र की भाषा में उसे तीन नाम दिये जाते हैं—१. आमावस्य केन्द्र, २. चिति केन्द्र और ३. मध्य द्वादशान्त। द्वादशान्त में समाहित होने पर शैवभाव उपलब्ध हो जाता है। शैव महाभाव को उपलब्ध होना अर्थात् शून्य में समाहित होना चिन्मय भाव में प्रवेश पा जाने के समान है। यह सारी साधना संहारक्रम की साधना होती है। चर्याक्रम के अतिरिक्त यह प्राणापानवाह की साधना का ही 'ख'स्वरूप है।

'कोणत्रयान्तराश्रितनित्योन्मुखमण्डलच्छदे कमले ।' (२९।१५०)

इति वक्ष्यमाणनीत्या यदब्जं तन्मध्यस्थितायाः प्रभायाः शक्तेः किरणैर्भास्वरस्तद्रश्मिसंस्पर्शोत्तेजितः, अत एव प्राणादावाधेये जन्मस्थानादावाधारे च निःस्पन्दस्य एकेनैव रूपेण वर्तमानस्य शक्तिप्रबोधोदितस्य बोधस्य शास्त्रेण तदुक्तयुक्त्या कृतपरिग्रहः, अत एवोक्तरूपयोर्जन्माधारप्राणलक्षणयोराधाराधेययोः प्रपञ्चस्यैकेन अनाहतध्वन्यात्मनः स्फोटस्य संघट्टेन तत्सामरस्येन

शास्त्रकार यहाँ पूर्वकालिक क्रिया 'कृत्वा' का प्रयोग करते हैं। सोमेश को अन्तिम विन्दु पर जाने की क्रिया पूर्वकाल में घटित कर उत्तरकाल की क्रिया प्रारम्भ होती है। जैसे—'भोजन कर शयन करता है' इस वाक्य में 'भोजन करना' पूर्वकालिक क्रिया है, शयन करना, उत्तरकालिक क्रिया होती है। उसी तरह यहाँ 'ख' की तरह अवस्थित हो जाता है, यह उत्तरकालिक क्रिया है। 'ख' शून्य को कहते हैं। शैव महाभाव ही शून्य है। साधक शैवमहाभाव रूपी शून्य में उपलब्ध हो जाता है। इसी को प्रशान्तकरण दशा कहते हैं।

'ख' शून्यवाचक एकाक्षर शब्द है। इस शब्द के सम्बन्ध में विशिष्ट जानकारी के लिये मैं आपको श्रीतन्त्रालोक के द्वितीय भाग के पृष्ठ २८२-२८४ के सन्दर्भ के अध्ययन के लिये प्रेरित करना चाहूँगा। वहाँ इसका विशेष वर्णन किया गया है[1]। इसी सन्दर्भ में सर्वप्रथम 'शून्य' शब्द का प्रयोग श्लोक ८५ में शास्त्रकार ने किया है। वहाँ 'शून्य' का अर्थ मूलाधार है। मूलाधार की संरचना की चर्चा श्रीतन्त्रालोक (२९।१५०) में आयी है। वहाँ लिखा है कि,

'मूलाधार एक कमल है। उसे शून्यधाम कहते है। यहाँ त्रिकोणाकार होता है। चाहे स्त्री का जन्माधार हो या पुरुष का हो, दोनों त्रिकोण ही होते हैं। इनके अन्तस् परिवेश में नित्यविकसित ऊर्ध्वमुख कमल का आकलन योगी लोग करते हैं। जिस तरह कमलदल वृत्ताकार लालिमा के लालित्य से समन्वित होता है, उसी तरह जन्माधार भी रक्ताभ रमणीय होता है।'

---

१. श्रीत० ५।८९-९१।

घट्टनं ग्रासः तत्कारीत्यर्थः, अत एव मूलाधारादुदेत्य शनैः शनैः प्राणार्कग्रस्त-मपानचन्द्रं द्वादशान्तगं कृत्वा यावत् आ समन्तात् खमिव तिष्ठते, तावत्प्रशान्त-मुच्यते ग्राह्यग्राहकविभागविगलनात् उन्मनीभावमापन्नमित्यर्थः ॥ ८७ ॥

एतच्च अस्मच्छास्त्रेऽप्युक्तमित्याह

उक्तं श्रीपूर्वशास्त्रे च स्रुचमापूर्य सर्पिषा ।
कृत्वा शिष्यं तथात्मस्थं मूलमन्त्रमनुस्मरन् ॥ ८८ ॥

इस उक्ति के अनुसार मूलाधार कमल के बीच में वैद्युतिक दीप्ति से उद्दीप्त मंगलमरीचियों से मनोज्ञ रज और वीर्य के संघट्ट अर्थात् मिलन से उत्पन्न एक अनाहत स्पन्द का आकलन योगी लोग करते है। आचार्य उस अनाहत ध्वनि के सामरस्य को आत्मसात् कर लेने का अधिकारो होता है।

इस प्रपञ्चमयी साधना को स्वात्मसात् करने वाला आचार्य शून्य की तरह 'निर्विचार' और 'निर्विकार' होकर प्राणापान को द्वादशान्त में स्थापित कर शून्यवत् अवस्थित होता है। इस दशा में उसे प्रशान्त कहते हैं। यहाँ ग्राह्य-ग्राहक भाव का विगलन हो जाता है और आचार्य उन्मनीभाव में प्रतिष्ठित हो जाता है ॥ ८७ ॥

यहाँ तक त्रैशिरस शास्त्र के आधार पर चर्याक्रम प्राणापानवाह-साधना की संगतियों का विश्लेषण किया गया है। शिव द्वारा निर्मित एवं प्रवर्त्तित शास्त्रों में भी इसकी चर्चा है। यही कह रहे हैं—

श्रोपूर्वशास्त्र में भो याज्ञिक कर्मकाण्ड के माध्यम से द्वादशान्त तक की रहस्य यात्रा का संकेत है। पूर्णाहुति यज्ञ-प्रक्रिया का वह क्षण होता है, जिस समय स्वात्मसंतर्पण, सर्वदेव संतर्पण और सर्वेश्वर संतर्पण के तोनों पक्ष पूर्णता को प्राप्त करते हैं। यजमान अपनी याजमानी संविद् से समृद्ध होकर समिद्ध अग्नि नारायण का आशोर्वाद प्राप्त करता है। हाथ में स्रुक् लेकर उसे आज्य से आपूरित कर अग्नि में आज्य की धारा का शनैः शनैः संपात करता है। याज्ञिक, होता, उद्गाता, ब्रह्मा और आचार्य प्रसन्नतापूर्वक मन्त्रोचार की अमृत महनीयता से दिव्यता की दीप्ति में वागात्मक ब्रह्म का अभिषेक करते हैं। ज्वालाओं की जीभ से घो की घूँट पीते हुताशन की बाह्यान्तर तृप्ति के माध्यम से यजमान के उद्देश्य की पूर्त्ति हो जाती है।

शिवं शक्तिं तथात्मानं शिष्यं सर्पिस्तथानलम् ।
एकीकुर्वञ्छनैर्गच्छेद्द्वादशान्तमनन्यधीः ॥ ८९ ॥
तत्र कुम्भकमास्थाय ध्यायन्सकलनिष्कलम् ।
तिष्ठेत्तावदनुद्विग्नो यावदाज्यक्षयो भवेत् ॥ ९० ॥

मूलमन्त्रमिति दित्सितम् । कुम्भकमास्थायेति महाव्योमात्मनि, तत्र शिवशक्तिभ्यां नरात्मकमन्यत्सर्वं सामरस्यं प्रापय्येत्यर्थः । सकलनिष्कलमिति योजनिकौचित्यात् । अनुद्विग्न इति पूर्णसंवित्स्वभावस्वात्ममात्रविश्रान्त इत्यर्थः ॥ ९० ॥

यज्ञ प्रयुक्त स्रुक्[१], सर्पिष्[२], यज्ञकुण्ड[३], यज्ञाग्नि[४], शिष्य[५], आचार्य[६], मूलमन्त्र[७], वागात्मक छत्र[८], शिव[९], शक्ति[१०], नरात्मक ऐक्य सामरस्य[११], और द्वादशान्त[१२] प्राप्ति के क्रम से भी यहाँ स्वभावतः द्वादशान्त घटित होता है । यह कर्मकाण्ड की क्रियात्मक सृष्टि-संहार दृष्टि है । इसी आधार पर आध्यात्मिक दृष्टि से द्वादशान्त की प्रक्रिया के आधार पर भी यह पूरी की जा सकती है । इसीलिये 'कुम्भक' की चर्चा यहाँ की गयी है । आमावस्य केन्द्र से मातृकेन्द्र में सोमरस पीते हुए भी कुम्भक और मातृकेन्द्र से चितिकेन्द्र में प्रवेश कर सोमतत्त्व को सूर्यप्राण से द्रवित करते समय भी 'कुम्भक' करना आवश्यक है । सकल-निष्कल ध्यान के आधार पर चितिकेन्द्र का कुम्भक महत्त्वपूर्ण होता है ।

सोमतत्त्व और प्राणरूप सूर्यतत्त्व शिव-शक्ति के प्रतीक हैं । इसमें अपना पूरा नरात्मक पार्थिव अस्तित्व समरस भाव से एकाकार कर देते हैं । यह सामरस्यमयी स्थिति तन्त्रयोग की महिमामयी उपलब्धि मानी जाती है । 'अनुद्विग्न' शब्द श्रीमद्भगवद्गीता का विशिष्ट शब्द है[१] । उद्वेग चित्त की अशान्ति का पर्याय है । हठपाक प्रशम द्वारा चित्त प्रशम सम्भव है । समना तक इसका अभाव रहता है । उससे ऊपर उठने पर पर-त्रिशूलाब्ज में विराजमान निष्कल शिव का तादात्म्य-दार्ढ्य संपन्न होता है । परासंवित् की स्वाभाव्य-भव्यता स्वात्मसंवित् से मिलकर एक हो जाती है । यही 'संभूति' की महा-

---

१. श्रीमद्भाग० २।५६

एवं सति किं स्यादित्याह

एवं युक्तः परे तत्त्वे गुरुणा शिवमूर्तिना ।
न भूयः पशुतामेति दग्धमायानिबन्धनः ॥ ९१ ॥

भोगदीक्षायां पुनरियान् विशेष इत्याह

देहपाते पुनः प्रेप्सेद्यदि तत्त्वेषु कुत्रचित् ।
भोगान् समस्तव्यस्तत्वभेदैरन्ते परं पदम् ॥ ९२ ॥

माहेश्वरी दशा होती है। यही स्थिति यजमान भी पूर्णाहुति के प्रसङ्ग में प्राप्त करे, तो यज्ञ की सम्पूर्णता की सिद्धि में कोई कोर कसर नहीं रह जाती ॥ ८८-९० ॥

योग और याग दोनों की इस समान स्तरीयता को ध्यान में रखकर शास्त्रकार कह रहे हैं कि, यजमान शिव के साक्षात् प्रतीक गुरुदेव से इस प्रकार शान्त अनुद्विग्नतामयी समरसता साधकर यदि एक हो सके, तो उसके सभी मायाकृत निबन्धन दग्ध हो जाते हैं। इस तरह यजमान के पशुभाव का भ्रंश हो जाता है। अणुत्व से मुक्ति मिल जाती है ॥ ९१ ॥

पूर्णाहुति के पहले शिष्य के पाशों के दग्ध करने की चर्चा की जा चुकी है। उसी प्रसङ्ग में योजनिका, प्रशान्तकरण, अनुद्विग्नता और परतत्त्व समा-योजन की बातें भी कहीं गयीं। यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि, मानव मनोवृत्ति में भोगलोलिका स्वाभाविक है। उसका सम्पूर्ण रूप से विनाश असाध्यप्राय होता है। योग्य शिष्य ऊपर की विधियों को सिद्ध कर अनुद्विग्नता और परतत्त्व से युक्तता की स्थिति प्राप्त कर लेता है। ऐसे शिष्य में भी यदि यह भाव उत्पन्न हो जाय कि, इस जन्म में हमने यह उच्चतम सिद्धि कर ली है और आगे जन्म लेने पर हमें कुछ विशिष्ट तत्त्वों के भोगों को भोगने का भी यदि अवसर मिले तो बड़ा अच्छा होगा। इस भोग प्राप्ति की आकांक्षा को 'प्रेप्सा' कहते हैं। प्रेप्सा हो, उन भोगों की प्राप्ति हो, हम उन्हें भी भोग लें और सबके अन्त में परम पद को उपलब्धि हो तो क्या हानि है ?

तदा तत्तत्त्वभूमौ तु तत्संख्यायामनन्यधीः ।
पुनर्योजनिकां कुर्यात्पूर्णाहुत्यन्तरेण तु ॥ ९३ ॥
मुक्तिप्रदा भोगमोक्षप्रदा वा या प्रकीर्तिता ।
दीक्षा सा स्यात्सबीजत्वनिर्बीजात्मतया द्विधा ॥ ९४ ॥
बाले निर्ज्ञातमरणे त्वशक्ते वा जरादिभिः ।
कार्या निर्बीजिका दीक्षा शक्तिपातबलोदये ॥ ९५ ॥
निर्बीजायां सामयांस्तु पाशानपि विशोधयेत् ।
कृतनिर्बीजदीक्षस्तु देवाग्निगुरुभक्तिभाक् ॥ ९६ ॥
इयतैव शिवं यायात् सद्यो भोगान् विभुज्य वा ।

इस पर शास्त्रकार कह रहे हैं कि, ऐसी दशा में अनन्य बुद्धियुक्त दैशिक गुरुदेव शिष्य की प्रेप्सा के अनुसार उन उन तत्त्वों की भूमिकाओं का समस्त व्यस्त भाव से स्वयं आकलन कर उनकी शिष्य से योजनिका क्रिया करे। सायुज्य में भोगों का सामस्त्य और सालोक्य में भोगों का व्यस्तत्व होता है। इसमें भी होमकर्म आवश्यक है। उसकी पूर्णाहुति से ही योजनिका पूरी होती है। पूर्णाहुति की प्रक्रिया के पश्चात् साधक शिष्य की योग्यता का उत्कर्ष होता है। शिष्य को दी गयी इस दीक्षा को 'सबीज दीक्षा' कहते हैं। यह मुक्तिप्रदा तो होती ही है, इसे भोग और मोक्ष दोनों को प्रदान करने वाली दीक्षा भी कहते हैं।

इस प्रकार दीक्षा दो प्रकार की हो जाती है—१. सबीज दीक्षा और २. निर्बीज दीक्षा। बालक, अज्ञातमृत, अशक्त (जराजर्जर या रुजाजर्जर) लोगों को निर्बीज दीक्षा देने का ही विधान है। इसमें शक्तिपात की बलवत्ता का प्रयोग भी करना पड़े, तो गुरुदेव उसे करें। निर्बीज दीक्षा की विशेषता यह होती है कि, इसमें समयाचार रूप पाशराशि का भी विशोधन करना पड़ता है। जिसकी निर्बीज दीक्षा पूरी हो जाती है, वह देवों में आस्थवान्, अग्नि में गौरवभाववान् और गुरुदेव में भक्तिभाव रखने वाला हो जाता है।

समस्तेति सायुज्ये हि भोगानां सामस्त्यं सालोक्यादौ तु व्यस्तत्वमिति। तत्संख्यायामिति तस्य सम्यक् प्रथितायामभीप्सितायामित्यर्थः। सद्य इति दीक्षानन्तरम्। भोगान् विभुज्येति देहपाते॥ ९२-९६॥

ननु शिवं यायादित्यत्र उक्त एव योजनिकाक्रमः किं निमित्तमुतान्यदपि किञ्चिदित्याशङ्क्याह

श्रीमद्दीक्षोत्तरे चोक्तं चारे षट्त्रिंशदङ्गुले॥ ९७॥
तत्त्वान्यापादमूर्धान्तं भुवनानि त्यजेत्क्रमात्।
त्रुटिमात्रं निष्कलं तददेहं तदहंपरम्॥ ९८॥
शक्त्या तत्र क्षिपाम्येनमिति ध्यायंस्तु दीक्षयेत्।

तदिति परब्रह्मस्वरूपमित्यर्थः, अत एव निष्कलमिति अदेहमिति चोक्तम्। अहंपरमिति अहंपरामर्शस्वभावमित्यर्थः॥

यह सब दीक्षा के प्रभाव से होना ही चाहिये। इस प्रकार वह शिवत्त्व की उपलब्धि करने में समर्थ हो जाता है। शिवत्व की प्राप्ति उसे तत्काल भी हो सकती है अथवा भोगों को भोग लेने पर देहपात के अनन्तर भी हो सकती है। देहपात के पश्चात् शिवत्वोपलब्धि में शास्त्र हो प्रमाण हैं॥ ९२-९६॥

इस प्रश्न को यहाँ जिज्ञासु पूछ ही लेता है कि, शिवत्व की उपलब्धि योजनिका क्रम से हो होती है या कोई दूसरा कारण भी है? इस पर कह रहे हैं कि,

दीक्षोत्तरशास्त्र में कहा गया है कि, ३६ अङ्गुलों के प्राणचार के प्रकाश-पथ पर पैर से मूर्धा पर्यन्त जितने तत्त्व और भुवन न्यस्त हैं, उनका परित्याग करने की प्रक्रिया पूरी करनी चाहिये। केवल त्रुटिमात्र स्थिति में (अमाभाव में) पहुँच जाने पर साधक अदेह भाव में आ जाता है। वह दशा अहंपरा-मर्शात्मक मानी जाती है। वहाँ प्राणापानसंघट्ट में शुचिनामक तेजस् शक्ति (अग्नि) का समुद्भव होता है। वहाँ एक अप्रतिम यज्ञ में देशिक उसकी पाशराशि का हवन करते हैं। शिष्य के देहात्मक हविष्य का प्रक्षेप करते हैं और इस प्रकार का ध्यान करते हुए भी उसे निर्बीज दीक्षा दे देते हैं॥ ९७-९८॥

एवमेतत्प्रसङ्गादभिधाय प्रकृतमेवाह

सबीजायां तु दीक्षायां समयान्न विशोधयेत् ॥ ९९ ॥
विशेषस्त्वयमेतस्यां यावज्जीवं शिशोर्गुरुः ।
शेषवृत्त्यै शुद्धतत्त्वसृष्टिं कुर्वीत पूर्णया ॥ १०० ॥

कथं चात्र शुद्धतत्त्वसृष्टिं कुर्यादित्याशङ्क्याह

अभिन्नाच्छिवसंबोधजलधेर्युगपत्स्फुरत् ।
पूर्णां क्षिपंस्तत्त्वजालं ध्यायेद्धारारूपकं सृतम् ॥ १०१ ॥

शिवसंबोधजलधेः सृतं तत्त्वजालं ध्यायेदिति सम्बन्धः ॥ १०१ ॥

जहाँ तक सबीज दीक्षा की बात है, उसमें समयाचार का प्राधान्य होता है। समयों का शोधन नहीं होना चाहिये। इसमें यह विशेष बात है कि, गुरु इस दीक्षाक्रम में आजीवन शेषवृत्ति के[1] माध्यम से शुद्ध तत्त्व-सृष्टि में संलग्न रहे। इसमें शैथिल्य नहीं आने पाये ॥ ९९-१०० ॥

शुद्ध तत्त्व-सृष्टि का विश्लेषण कर रहे हैं—

शिव का सम्बोध (सम्यक् ज्ञान) पूर्णतया प्रकाशराशि से भासमान होता है। एक तरह से इसे प्रकाश परामृत का महासागर ही कहा जा सकता है। इस प्रकाशपीयूष के पारावार से अभिन्नता की अनुभूति परम शुद्धता की ही परिचायक होती है। एक ओर संबोध का जलधि (लहराता हुआ प्रकाश का महासागर) और दूसरी ओर यह सारा परितः प्रसरित विश्वात्मक तत्त्वसमुदाय ! इन दोनों के तादात्म्य का महाभाव कितना उदात्त होगा। इस अनुभूति को भव्यता से भरा ऐक्य मय ध्यान अनुपम की आभा से भासमान हो उठेगा। यही शुद्ध तत्त्व-सृष्टि की प्रक्रिया है। इसी से शेष वृत्ति की सिद्धि भी हो जाती है।

यहाँ 'पूर्णां' शब्द का प्रयोग पूर्णाहुति अर्थ में किया गया है। जैसे पूर्णाहुति में समस्त शेष साकल्य का प्रक्षेप एक बार में ही हो जाता है या

---

१. श्रीत० २।३८

अत्रैव मतान्तराण्युद्दिशति

विशुद्धतत्त्वसृष्टिं वा कुर्यात्कुम्भाभिषेचनात् ।
तथा ध्यानबलादेव यद्वा पूर्णाभिषेचनैः ॥ १०२ ॥

अभिषेचनैरिति बहुवचनात् ध्यानबलमपि संगृहीतम्, तेन सामस्त्येनायं पक्षः ॥ १०२ ॥

शुद्धत्वमेवैषां दर्शयति

पृथिवी स्थिररूपास्य शिवरूपेण भाविता ।
स्थिरीकरोति तामेव भावनामिति शुद्धयति ॥ १०३ ॥

कर दिया जाता है, उसी तरह समस्त तत्त्वजाल को सम्बोध-जलधि की प्रज्वलित अग्नि में प्रक्षिप्त कर देना चाहिये । 'सृत' तत्त्वजाल का विशेषण है । यह प्रक्षेप केवल ध्यान से ही सम्पन्न हो जाता है ॥ १०१ ॥

इस प्रक्रिया को कुछ मतवादी दूसरी तरह भी पूरी करते हैं । उनके अनुसार इसके लिये पूर्णकुम्भाभिषेक विधि अपनायी जानी चाहिये । यद्यपि ध्यान का भी इसमें कम महत्त्व नहीं है फिर भी पूर्णाभिषेक से यह प्रक्रिया पूरी करनी श्रेयस्कर है । 'यद्वा' के वैकल्पिक प्रयोग से यह अर्थ भी निकाला जा सकता है कि, यहाँ ध्यान, पूर्णाभिषेक और उभयात्मक-प्रयोग सभी स्वीकृत किये जा सकते हैं ॥ १०२ ॥

तत्त्वों की शुद्धि और उनके परिणाम पर भी यहाँ दृष्टि निक्षेप आवश्यक है । यहाँ वही प्रदर्शित कर रहे हैं—

पृथिवी समस्त विश्व को धारण करके भी स्थिर बनी रहती है । इसकी निष्कम्पता वैसी ही स्थिररूपता वाली है जैसी सर्वत्र-व्याप्त शिव-रूपता सर्वत्र स्थिर रहती है । इसलिये इसमें शिवरूपमयी भावना की जानी चाहिये । इस भावना से भावित शिष्य में भी वह उसी प्रकार की स्थिरता प्रदान करती है । शिष्य की भावना स्थिर हो जाती है । शुद्ध पृथिवी ही इसमें समर्थ होती है ।

जलमाप्याययत्येनां तेजो भास्वरतां नयेत् ।
मरुदानन्दसंस्पर्शं व्योम वैतत्यमावहेत् ॥ १०४ ॥

एवं तन्मात्रवर्गोऽपि शिवतामय इष्यते ।
परानन्दमहाव्याप्तिरशेषमलविच्युतिः ॥ १०५ ॥

शिवे गन्तृत्वमादानमुपादेयशिवस्तुतिः ।
शिवामोदभरास्वाददर्शनस्पर्शनान्यलम् ॥ १०६ ॥

जहाँ तक जल का प्रश्न है, यह आप्यायक तत्त्व है। यह शुद्ध कर शिष्य को शैवभावना को ही आप्यायित करता है। इसी तरह तेजस्तत्त्व भी भावना में भास्वरता की आभा का आधान करता है। मरुत् का क्या पूछना? यह तो प्राण ही है। प्राणवत्ता के आनन्द की अनुभूति सांस्कारिक पुरुषों को ही होती है। संस्पर्श शुद्ध मरुत् का ही धर्म है। अशुद्ध मरुत् अशुद्ध स्पर्श ही प्रदान कर सकता है, संस्पर्श नहीं। व्योम का वैतत्य एक स्वाभाविक गुण है। शुद्ध व्योम व्यक्तित्व के अस्तित्व में वैतत्य का आतानन करता है।

इसी तरह तन्मात्र वर्ग को भी शिवता-समन्वित आकलित करने पर परानन्द की महाव्याप्ति हो जाती है। सम्पूर्ण मलों का निराकरण भी साथ ही साथ सम्पन्न हो जाता है। इन्द्रियाँ भी तन्मात्राओं के निश्चित परिवेश में ही सीमित रहती हैं। जैसे चक्षु इन्द्रियरूप परिवेश में ही अपना काम करती है। जब ये शुद्ध कर दी जाती हैं तो आँखों से साक्षात् शिवदर्शन, नासिका से शिवामोद समुपलब्धि, रसना से शैवामृतपरास्वाद और त्वक् से शैव-संस्पर्श की अननुमेय अनुभूति उत्पन्न होती है। कानों में संविद् स्पन्द की डिंडिममयी डमरूध्वनि का आध्मान गूँजने लगता है। यह इन्द्रियों की विशुद्धता का निदर्शन है। यहाँ 'आस्वाद' शब्द लाक्षणिक और व्यंग्य दोनों प्रकार के विशिष्ट अर्थों का भी ज्ञापन करता है। अशनतन्त्र का यह शब्द आनन्दतन्त्र का भी आतन्वन करता है ॥ १०३-१०६ ॥

तदाकर्णनमित्येवमिन्द्रियाणां　　विशुद्धता ।
संकल्पाध्यवसामानाः प्रकाशो　रक्तिसंस्थिती ॥ १०७ ॥
शिवात्मत्वेन　यत्सेयं　शुद्धता　मानसादिके ।
नियमो　रञ्जनं　कर्तृभावः　कलनया सह ॥ १०८ ॥
वेदनं　　हेयवस्त्वंशविषये　　सुप्तकल्पता ।
इत्थं　शिवैक्यरूढस्य　षट्कञ्चुकगणोऽप्ययम् ॥ १०९ ॥

जहाँ तक मानसिक शुद्धि का प्रश्न है, इन्द्रियों को साथ लेकर चलने के कारण मन भी शुद्धता को आर उन्मुख हो जाता है। आगे चलकर संकल्प और अध्यवसाय, जो मन के साधारण धर्म हैं, एवं मान (अहंकार) इनकी शुद्धि भी हो जाती है । प्रकाश अपनी रश्मियों से चैतन्य के पथ को प्रदर्शित करता है। शिवात्मकता में रक्ति अर्थात् अनुराग ओर संस्थिति अर्थात् प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। मन में शिव के प्रति अनुराग ओर सम्मान का भाव जागृत हा जाता है। यह सब मानसिक शुद्धता के ही लक्षण हैं। इस तरह पञ्चतत्त्व, पञ्चतन्मात्रायें, इन्द्रियाँ ओर मन सभी शुद्ध हो जाते हैं। श्लोक में प्रयुक्त 'मान' शब्द अभिमान का अर्थ व्यक्त करता है। संकल्प अध्यवसाय और अहंकार का व्यापार यह सब प्राकृतिक वैषम्य के ही परिणाम हैं। इनकी शुद्धि से सत्त्व, रजस् और तमस् को शान्ति और साम्यभाव का उदय हो जाता है ॥ १०७ ॥

कञ्चुकों को शुद्धता का भो साधना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान है। नियमों से नियति नियन्त्रित हो सकती है। विश्व-रञ्जन से राग परानुराग में परिवर्तित हो सकता है। कला का आकलन और उसके साथ कर्तृत्व का सर्वकालिक परामर्श काल, विद्या और कला को स्वात्म-संबोध की दिशा में लगा सकता है। विद्या ओर कला का विश्व संवेदना के साथ समायोजन साध्य को उपलब्धि में साधक बन सकता है। इस तरह नियति, राग, काल, कला और विद्या—ये पांचों कञ्चुक शिवैक्य की रूढ़ि में आरूढ़ होकर अपने ढक लेने वाले

शुद्ध एव पुमान् प्राप्तशिवभावो विशुद्ध्यति ।
विद्येशादिषु तत्त्वेषु नैव काचिदशुद्धता ॥ ११० ॥

इत्येवं शुद्धतत्त्वानां सृष्टया शिष्योऽपि तन्मयः ।
भवेद्ध्येतत्सूचितं श्रीमालिनीविजयोत्तरे ॥ १११ ॥

शुद्धयतीति शुद्धा भवतीत्यर्थः। एनामिति शिवरूपतया भावनाम्। आवहेदिति अर्थाद्भावनायाः। एवमिति शिवभावनाया एव स्थिरीकरणादिना। आस्वादस्य रसनेन्द्रियव्यापारत्वेऽपि आमोदशब्दसंनिधेर्घ्राणेन्द्रियव्यापारत्वमपि ज्ञेयमित्यभिधालक्षणाभ्यामास्वादशब्दो व्याख्येयः। इन्द्रियाणामिति आनन्देन्द्रियादीनाम्। मानोऽभिमानोऽहंकारव्यापारः। प्रकाश

दुर्गुण से मुक्त हो सकते हैं। इनके साथ माया भी शुद्ध हो जाती है क्योंकि हेयोपादेय भाव का जागरण तो माया के परिवेश का परिचायक होता है। जब हम 'न किमपि हेयम्' के स्तर पर पहुँचते हैं, तो हेय वस्तुओं के विभाग की प्रायः सुषुप्ति ही हो जाती है। यह सुप्तकल्पता माया की शुद्धता की पोषिका है।

इस तरह छह आवरणों का निराकरण कर पुरुष अशुद्ध अध्वा को पार कर परिशुद्ध होता है एवं परमेश्वर शिव के महाभाव से भावित हो जाता है। अब वह निरोधिनी शक्ति की लक्ष्मण-रेखा को भी लाँघ जाता है। जहाँ तक इसके ऊपर के तत्त्व हैं, जैसे शुद्ध विद्या और ईश्वर आदि, उनमें कोई अशुद्धता नहीं होती। इसी आधार पर ऊपर के अध्वा को 'शुद्ध अध्वा' कहते हैं ॥ १०८-११० ॥

इस तरह सभी अशुद्धता से प्रभावित तत्त्व जब शुद्धता की ओर आग में तपाकर ताप्तदिव्य बना दिये जाते हैं, तो एक नयी सृष्टि का प्रवर्त्तन सा हो जाता है। इसे शास्त्रकार स्वयं 'शुद्ध तत्त्व-सृष्टि' की संज्ञा प्रदान कर रहे हैं। इसका परिणाम यह होता है कि, शिष्य भी इस परिवेश में अर्थात् शिवैक्यविश्रान्ति के सन्दर्भ में तन्मयता का लाभ प्राप्त कर लेता है, अर्थात् वह भी शिवैक्यविश्रान्त हो जाता है। यहाँ यह निश्चय हो जाता है कि, शुद्धता की

इति एतद्धि सत्त्वरजस्तमसां क्रमेण रूपं यत्तत्साम्यं प्रकृतिः। नियमादि चात्र शिवैक्यरूढतया व्याख्येयम्। सुप्तकल्पतेति अनवक्लृप्तिपरतेत्यर्थः। एवमेषां शिवैकविश्रान्तत्वमेव नाम शुद्धत्वमित्यत्र तात्पर्यम्, अत एवानेन तत्त्वानामशुद्धत्वेऽपि शुद्धतया सृष्टेरध्वभेदोऽपि कटाक्षितः। नच एतदस्माभिरनागमिकमुक्तमित्याह ह्येतदित्यादि। सूचितमिति इन्द्रियमात्रपरत्वेनाभिधानात् ॥ १११ ॥

तदेव शब्दार्थाभ्यां पठति

बन्धमोक्षावुभावेताविन्द्रियाणि जगुर्बुधाः।
निगृहीतानि बन्धाय विमुक्तानि विमुक्तये ॥ ११२ ॥

निगृहीतत्वं विमुक्तत्वं च स्वयमेव भगवान् व्याचष्टे

एतानि व्यापके भावे यदा स्युर्मनसा सह।
मुक्तानि क्वापि विषये रोधाद्बन्धाय तानि तु ॥ ११३ ॥

परिभाषा दूसरी कुछ नहीं, वरन् शिवैकविश्रान्तत्व ही शुद्धत्व है। इस कथन से यह निष्कर्ष भी निकाला जा सकता है कि, तत्त्व अधिकतर अशुद्ध ही हैं। वे भी शुद्ध हो सकते हैं। इसी आधार पर सृष्टि को शुद्ध और अशुद्ध दो अध्वावर्ग में बाँटा भो गया है। यह सभी आगमिक दृष्टि पर आधारित उक्तियाँ हैं, अनागमिक नहीं। श्रीमालिनीविजयोत्तर तन्त्र में भो इन्द्रियों के सन्दर्भ में ये बातें निर्दिष्ट हैं ॥ १११ ॥

मालिनीविजयोत्तर तन्त्र के उसी सन्दर्भ को शास्त्रकार अपने शब्दों में व्यक्त कर रहे हैं—

विज्ञपुरुष यह कहा करते हैं कि, संसार में दो बातें विशेषरूप से समझने की हैं—१. बन्ध और २. मोक्ष। जब इन्द्रियाँ माया से निगृहीत हो जाती हैं, तो यह जीव के बन्ध का कारण होता है। यहीं जब विमुक्ति हो जातो है, तो विमुक्ति हस्तामलकवत् उपलब्ध हो जाती है। निग्रह और विमुक्ति के विषय में भगवान् स्वयं कहते हैं कि, ये इन्द्रियाँ मन के साथ होकर जब व्यापक परमेश्वर के महाभाव में प्रवेश कर जाती हैं, तो मुक्त हो जाती हैं। कहीं भी विषय में जहाँ

इत्येवं द्विविधो भावः शुद्धाशुद्धप्रभेदतः ।
इन्द्रियाणां समाख्यातः सिद्धयोगीश्वरे मते ॥ ११४ ॥

यदुक्तं तत्र

'एतानि व्यापके भावे यदा स्युर्मनसा सह ।
विमुक्तानीति विद्वद्भिर्ज्ञातव्यानि तदा प्रिये ॥
यदा तु विषये क्वापि प्रदेशान्तरवर्तिनि ।
संस्थितानि तदा तानि बद्धानीति प्रचक्षते ॥'

(१५।४५) इति ॥ ११४ ॥

गुरुभिरपि एवमेवोक्तमित्याह

श्रीमान् विद्यागुरुस्त्वाह प्रमाणस्तुतिदर्शने ।

अवरुद्ध हुई कि, वहीं बन्धन का अभिशाप उन्हें शप्त कर देता है । इस तरह शुद्ध और अशुद्ध प्रभेद से इन्द्रियों के भाव दो प्रकार के हैं—यह तथ्य सर्वमान्य है । सिद्धयोगीश्वरी तन्त्र में भी इसका स्पष्ट उल्लेख है । वहाँ लिखा है कि,

"ये इन्द्रियाँ जब व्यापक भाव में मन के साथ विश्रान्त होती हैं, तो उन्हें विमुक्त माना जाता है । विद्वान् पुरुषों द्वारा इस विज्ञान का अवगम करना चाहिये । भगवान् कहते हैं कि, प्रिये पार्वति ! जब मन के साथ ये इन्द्रियाँ कहीं प्रदेशान्तरवर्त्ती विषयों में फँस जाती हैं, उस समय इन्हें 'बद्ध' मानते हैं ।"

इस प्रकार यहाँ मालिनीविजयोत्तर तन्त्र, सिद्धयोगीश्वरी तन्त्र और शास्त्रकार की मान्यताओं की एकरूपता सिद्ध हो जाती है ॥ ११२-११४ ॥

शास्त्रकार इस आगमिक-प्रामाण्य के पश्चात् स्वयं अन्य गुरुजनों के निर्वचन की चर्चा कर रहे हैं—

श्रीमान् विद्या गुरु ने अपने प्रमाणस्तुतिदर्शन नामक ग्रन्थ में भी कहा है कि, इन्द्रियों की विषय से हटकर सर्वव्यापक महाभाव में विश्रान्ति ही विमुक्ति और विषयों की लिप्सा ही बन्धन है ।

अत्रैव मन्त्राणां विनियोगे नियममभिधातुमाह

समस्तमन्त्रैर्दीक्षायां नियमस्त्वेष कथ्यते ॥ ११५ ॥
मायान्तशुद्धौ सर्वाः स्युः क्रिया ह्यपरया सदा ।
द्व्यात्मया सकलान्ते तु निष्कले परयैव तु ॥ ११६ ॥
ईशान्ते च पिबन्यादि सकलान्तेऽङ्गपञ्चकम् ।
इत्येवंविधिमालोच्य कर्म कुर्याद्गुरूत्तमः ॥ ११७ ॥

सर्वाः क्रिया इत्यनुक्तमन्त्राः । द्व्यात्मयेति परापरया । यदुक्तम्

'मायान्तमार्गसंशुद्धौ दीक्षाकर्मणि सर्वतः ।
क्रियास्वनुक्तमन्त्रासु योजयेदपरां बुधः ॥
विद्यादिसकलान्ते च तद्वदेव परापरम् ।
योजयेच्चेश्वरादूर्ध्वं पिबन्यादिकमष्टकम् ॥
न चापि सकलादूर्ध्वमङ्गषट्कं विचक्षणः ।
निष्कले परया कार्यं यत्किञ्चिद्विधिचोदितम् ॥'

(मा० वि० ९।७४) इति ॥ ११७ ॥

दीक्षा के सन्दर्भ में सावधानीपूर्वक शिष्य का जिन नियमों के पालन की अनिवार्यता बतलायो गयी है, उनमें मन्त्रों के प्रयोग पर भी विशेष ध्यान देना चाहिये। मायान्त परिशुद्धि में अपरा मन्त्र से ही सारी प्रक्रिया पूरी करनी चाहिये। सकल तक परापर मन्त्रों का प्रयोग उचित है। निष्कल भाव में ही परा मन्त्र से प्रक्रिया पूरी करनी चाहिये। ईशान्त अर्थात् ईश्वर पर्यन्त पिबन्यादि-मन्त्र का प्रयोग उचित है। सकलान्त में मन्त्र के शेष पाचों अंग प्रयुक्त करना चाहिये। गुरूत्तम का यहाँ कर्त्तव्य है कि, समस्त पूजा-विधियों में निर्दिष्ट मन्त्रों का ही प्रयोग करें। जिन क्रियाओं में किसी मन्त्र का उल्लेख नहीं किया गया होता है, उन क्रियाओं को 'अनुक्तमन्त्रा क्रिया' कहते हैं। विना मन्त्रों के क्रिया हो भी नहीं सकती। अतः ऐसी स्थिति में गुरुदेव का उत्तर-दायित्व बढ़ जाता है। मा० वि० (९।७२-७४) में लिखा गया है कि,

भुवनाध्वप्राधान्येन उक्तामाहुतिसंख्यामितराध्वसु अधिकावापेनातिदिशति

पुराध्वनि हुतीनां या सख्येयं तत्त्ववर्णयोः ।
तामेव द्विगुणीकुर्यात्पदाध्वनि चतुर्गुणाम् ॥ ११८ ॥
क्रमान्मन्त्रकलामार्गे द्विगुणा द्विगुणा क्रमात् ।
यावत्त्रितत्त्वसंशुद्धौ स्याद्विंशतिगुणा ततः ॥ ११९ ॥

"मायापर्यन्त अशुद्ध मार्ग की शुद्धि के लिये दीक्षा में गुरुदेव अपरा[1] मन्त्र का प्रयोग करें। विद्यादि सकलान्त कियाओं में परापरा[2] मन्त्र का प्रयोग करना चाहिये। ईश्वर से ऊपर की क्रियाओं में पिबन्यादि अष्टक[3] का प्रयोग होना चाहिये। सकल के ऊपर कभी भी (घोररूपे हः घोरमुखि ! भीम ! भीषणे वम) इस अङ्गषट्क का प्रयोग नहीं करना चाहिये। निष्कल क्रिया में केवल परा मन्त्र ही प्रयोक्तव्य है। दीक्षाकर्म में विधिप्रेरित यही निर्देश हैं।" अनुक्त मन्त्र क्रियाओं में ही यह नियम लागू होता है ॥ ११५-११७ ॥

भुवनाध्वा के प्राधान्य को दृष्टि से निर्दिष्ट आहुतियों की संख्यायें अन्य अध्वावर्ग में अनुकूल नहीं हो सकतीं। अतः दूसरे अध्व समुदाय में उनका स्वरूप क्या हो, यह प्रश्न स्वाभाविक है। यहाँ अधिक आवाप में उसी का अतिदेश कर रहे हैं—

यहाँ आवाप अतिदेश शब्दों का प्रयोग शास्त्रकार के विशाल वैचारिक परिवेश का ही परामर्शक है। जैसे अधिक उत्पादन के लिये अधिक संख्या में क्षेत्र और बीजों का प्रयोग करते हैं, उसी तरह भुवनाध्व के अतिरिक्त अध्वावर्ग में आहुतियों की संख्या का विस्तार प्रदर्शित करना ही 'आवाप' है। 'अतिदेश' शब्द भी मीमांसा का विशिष्ट शब्द है। इतर धर्म का इतर क्षेत्र में प्रयोग का आदेश ही अतिदेश[4] है। गो सदृश गवय में भी रूपातिदेश है।

---

१. ह्लौ हुँ फट् श्रीत० (३०।२६); २. श्रीत० ३०।२१-२४,

३. पिब हे रुरु रर फट् हुं हुः फट् इत्यङ्गाष्टकम् ।

४. अन्यत्रैव प्रणीतायाः कृत्स्नाया। धर्मसंहते ।
अन्यत्र कार्यतः प्राप्तिरतिदेशः स उच्यते ॥

प्रतिकर्म भवेत्षष्टिराहुतीनां त्रितत्त्वके ।
एकतत्त्वे शतं प्राहुराहुतीनां तु साष्टकम् ॥ १२० ॥

येयं संख्येति प्रागुक्ता त्र्यादिरूपा। द्विगुणीकुर्यादिति तत्त्वाध्वनि भुवनादीनामन्तर्भावात् यावद्भुवनाध्वापेक्षया कलाध्वनि षोडशगुणा संख्या भवेदिति भावः। षष्ठिरिति आहुतीनां त्रयस्य विंशत्या गुणनात्। प्राहुरित्यर्थात् प्रतिकर्म ॥ १२० ॥

नच सर्वत्राविशेषेणैवायमतिदेश इत्याह

विलोमकर्मणा साकं याः पूर्णाहुतयः स्मृताः ।
तासां सर्वाध्वसंशुद्धौ संख्यान्यत्वं न किञ्चन ॥ १२१ ॥

पुर (भुवन) अध्वा में आहुतियों की तीन-तीन आदि के क्रम से निर्देश उस प्रकरण में किया जा चुका है। उनका प्रयोग तत्त्वाध्वा और वर्णाध्वा में दूनी संख्या में करना चाहिये। पदाध्वा से यही आहुतियाँ चतुर्गुणित होनी चाहिये। मन्त्राध्वा और कलाध्वा मार्ग में अर्थात् इन दोनों की आहुतियाँ दूनी-दूनी होनी चाहिये, अर्थात् तत्त्वाध्वा में ही भुवनाध्वा के अन्तर्गत होने के कारण भुवनाध्वा की अपेक्षा कलाध्वा में १६ गुनी अधिक आहुति देनी चाहिये। त्रितत्त्वात्मक शुद्धि की प्रक्रिया में बीस गुनी आहुतियाँ अपेक्षित होती हैं।

त्रितत्त्व के शोधन में २० गुनी आहुति अपेक्षित है। त्रितत्त्व विधि में जब एक-एक कर्म की प्रक्रिया अपनायी जाती है तो २० × ३ = ६० आहुतियाँ दी जाती हैं। एकतत्त्व-विधि में आहुतियों की संख्या १०८ ही होती है। नवतत्त्व विधि, त्रितत्त्व विधि और एकतत्त्व विधि ये तीनों दीक्षा-विधियाँ पहले ही वर्णित हैं ॥ ११८-१२० ॥

ये नियम सामान्यतया सर्वत्र आरोपित नहीं किये जा सकते। यही कह रहे हैं—

विलोम कर्मों के सन्दर्भ में जो आहुतियाँ निर्दिष्ट हैं, उनकी सभी अध्वावर्ग की संशुद्धि के फलस्वरूप किसी संख्या में किसी परिवर्त्तन की कोई आवश्यकता नहीं होती।

एतदेव प्रथमार्धेनोपसंहरति

इत्येषा कथिता दीक्षा जननादिसमन्विता ॥ १२२ ॥

जननादिसमन्वितेति विस्तृतेत्यर्थ इति शिवम् ॥

दीक्षाकर्मणि साक्षाद्वैचक्षण्यं कटाक्षयन् गुरुतः ।
सप्तदशाह्निकेऽस्मिञ्जयरथनामा व्यधत्त विवृतिमिमाम् ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचिते
राजानकजयरथकृतविवेकाख्यव्याख्योपेते
श्रीतन्त्रालोके विक्षिप्तदीक्षाप्रकाशनं
नाम सप्तदशमाह्निकम् ॥ १७ ॥

इसी तथ्य का आह्निकान्त श्लोक को प्रथम अर्द्धाली से उपसंहार करते हुए कह रहे हैं कि, यहाँ तक दीक्षा के जन्म से लेकर विस्तार पूर्वक सारे पक्ष प्रस्तुत किये गये हैं । इति शिवम् ॥ १२२ ॥

जयरथ को गुरु से मिला दीक्षावैचक्षण्य ।
सप्तदशाह्निकविवृति में प्रकटित है यह पण्य ॥

× × ×

हंसश्चिद्व्योम्नि चैतन्ये चित्रं चित्ररथंश्चरन् ।
विश्वं पश्यति स्वान्तःस्थं नरशक्तिशिवात्मकम् ॥
नरस्य शिवता प्राप्त्यै ज्ञात्वा शास्त्रविधिं ध्रुवम् ।
चर्या-याग-क्रमे सम्यक् दीक्षाभेदप्रभेदताम् ॥
आह्निकानां सप्तदशं तन्त्रालोकस्य सत्पथम् ।
भृशं विमृश्य भाष्याय प्रवृत्तः सफलोऽभवम् ॥
शास्त्राभ्यासात् निजामर्शात् मातुश्च सदनुग्रहात् ।
नीर-क्षीर-विवेकेऽयं प्रयासः सन्तनोतु शम् ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य श्रीमदभिनवगुप्तपादविरचित
श्रीराजानकजयरथकृत विवेकाख्यव्याख्योपेत
डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीर-विवेक-भाषाभाष्यसंवलित
श्रीतन्त्रालोक का विक्षिप्त(विस्तृत) दीक्षा प्रकाशन नामक
सत्रहवाँ आह्निक सम्पूर्ण ॥१७॥
॥ शुभं भूयात् ॥

अथ

श्रीतन्त्रालोके

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचिते
राजानकजयरथकृतविवेकाख्यव्याख्योपेते

अष्टादशमाह्निकम्

ऋतधामानमनन्तं बलावहं तं बलावहं वन्दे ।
जगदिदममन्दमखिलं स्वमहिम्ना योऽनुगृह्णाति ॥

इदानीं द्वितीयार्धेन संक्षिप्तां दीक्षां वक्तुमाह

अथ संक्षिप्तदीक्षेयं शिवतापत्तिदोच्यते ।

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्य श्रीमदभिनवगुप्तपादविरचित
श्रीराजानकजयरथकृतविवेकाख्यव्याख्योपेत
डॉ॰ परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीरविवेक-
भाषाभाष्य-संवलित

श्रीतन्त्रालोक

का

अट्ठारहवाँ आह्निक

परम बलावह वन्द्यवपु अन्तहीन ऋतधाम ।
वन्दे महिमानुग्रही विश्व बलावह नाम ॥

इस आह्निक में विगत आह्निकान्त श्लोक की द्वितीय अर्धाली से संक्षिप्त दीक्षा के वर्णन का आरम्भ कर रहे हैं—

इस आह्निक के अवतरण का उद्देश्य संक्षिप्त दीक्षा का प्रकाशन करना है। 'इसे शिवतापत्तिदा' कहते हैं। शिवत्व की प्राप्ति मानव का परम लक्ष्य

तदेवाह

न रजो नाधिवासोऽत्र न भूक्षेत्रपरिग्रहः ।
यत्र तत्र प्रदेशे तु पूजयित्वा गुरुः शिवम् ॥ १ ॥

है। शिवत्व को ही प्रदान करने वाली यह संक्षिप्त दीक्षा है। संक्षेप में ही (कम आयास करने पर ही) यह दीक्षा परम चरम लक्ष्य की पूर्त्ति करती है। अतः इसका अप्रतिम महत्त्व स्वयं सिद्ध है। यहाँ संक्षिप्त शब्द से एक नया अर्थ भी आक्षिप्त किया जा सकता है। वस्तुतः दीक्षा में कर्मकाण्ड को इतना महत्त्व दे दिया गया है, जो असामान्य, आडम्बरपूर्ण प्रदर्शन और असमीचीन आयोजन की तरह हो जाता है। दीक्षा गुरु और शिष्य के बीच की एक परम पावन योजना है, जिसमें शिष्य की योग्यता मात्र अपेक्षित है। इसी कसौटी पर खरे उतरने वाले शिष्य पर गुरु के अमृत आशीर्वाद की वर्षा हो सकती है। संक्षिप्त दीक्षा इसी विचार पर आधारित प्रक्रिया है ॥ १ ॥

वही कह रहे हैं—

दीक्षा के लिये किसी आडम्बरपूर्ण आयोजन की कोई आवश्यकता नहीं होती। न इसके लिये आह्निकान्तरों में वर्णितरजः प्रयोग की आवश्यकता है और न राजप्रयोग[1] से सम्बन्धित किसी प्रक्रिया की ही अपेक्षा होती है। अधिवास की प्रक्रिया भी शिष्य को आचारवान् बनाने के उद्देश्य से दीक्षा में अपनायी जाती है। यह एक आयाम साध्य प्रदर्शन है। संक्षिप्त दीक्षा में इस प्रक्रिया को भी अनावश्यक माना गया है। अधिवासन[2] के लिये अग्नि, चरु-स्थापन आदि की भूमिका भी आवश्यक अंग मानी गयी है।

मण्डल निर्माण आदि के उद्देश्य से किसी भूमि या क्षेत्र के परिग्रह की कोई आवश्यकता नहीं होती। ऐसी भूमि या क्षेत्र के परिग्रह करने के बाद उस भूमि की विघ्नविनाशन के लिये पूजा की प्रक्रिया भी अपनायी जाती है[3]। संक्षिप्त दीक्षा में इसकी भी कोई आवश्यकता नहीं होती।

१. श्रीत० १५।४८-६१ ; २. श्रीत० १।३०५, १५।४११-४१७।
३. श्रीत० १५।३७७।

अध्वानं मनसा ध्यात्वा दीक्षयेत्तत्त्वपारगः ।
जननादिविहीनां तु येन येनाध्वना गुरुः ॥ २ ॥
कुर्यात्स एकतत्त्वान्तां शिवभावैकभावितः ।

मनसेति नतु पाशसूत्रादिकल्पनेन । तत्त्वपारग इति नतु अतत्त्वपारगः, नहि तस्य एवंविधे कर्मणि अधिकार एव भवेदिति भावः । यद्वक्ष्यति

शास्त्रकार कहते हैं कि, जहाँ-जहाँ जिस-जिस स्थान या क्षेत्र भाग में गुरुदेव शिव की अर्चा-आराधना या उपासना में संलग्न रहते हुए शैव महाभाव के परिवेश को स्वात्म शुचिता से सिद्ध कर चुके हों, वे-वे स्थान अत्यन्त महनीय और पावन हो जाते हैं । ऐसे स्थान पर दैशिक शिरोमणि उपासना के क्रम में समस्त अध्वावर्ग का ध्यान करते हैं । इस ध्यान की प्रक्रिया से मानो सृष्टि का सारतत्त्व ही सूक्ष्म रूप से वहाँ समुल्लसित हो जाता है । उन्हीं स्थानों में से किसी एक का चयन कर और अध्वावर्ग का उसी प्रकार ध्यान कर जिन्होंने स्वयं षट्त्रिंशत् तत्त्वमयी इस पूर्णार्थी प्रक्रिया के अपरम्पार ऊर्मिल पारावार को पार कर लिया है, ऐसे गुरुदेव उस शिष्य को मानसिक रूप से ही दीक्षित करने का अनुग्रह करें ।

अध्वानुरूप दीक्षा अत्यन्त श्रेयस्कर होती है । शिष्य की योग्यता के अनुसार ही गुरु यह निर्णय करता है कि, इसे किस अध्वा की दीक्षा दी जाय । सर्वप्रथम कला, तत्त्व और भुवन अध्वा की दीक्षा योग्यता क्रम से दी जानी चाहिये । वर्ण, पद और मन्त्र की दीक्षा उत्तरोत्तर सूक्ष्म और महत्त्वपूर्ण होती है । इसी क्रम में सबीज-निर्बीज आदि दीक्षायें भी आती हैं । जननादि विहीन दीक्षा[1] निर्वाणदीक्षा मानी जाती है। इन दीक्षाओं और अध्वा दोनों के समन्वयात्मक दृष्टिकोण को अपना कर शैवमहाभाव से भावित होकर गुरु एक तत्त्वान्ता दीक्षा प्रदान करे ।

मानसिक रूप से दीक्षित करने की इस उक्ति से यह निश्चय होता है कि, इस प्रकार की अध्वदीक्षा में किसी पाशसूत्र आदि के प्रयोग करने की आवश्य-

---

१. श्रीत० १।१११ ।

'यथा यथा च स्वभ्यस्तज्ञानस्तन्मयतात्मकः ।
गुरुस्तथा तथा कुर्यात्संक्षिप्तं कर्म नान्यथा ॥' (८) इति ॥

एवं जननादिविहीनत्वमभिधाय मन्त्रभेदमाह

परामन्त्रस्ततोऽस्येति तत्त्वं संशोधयाम्यथ ॥ ३ ॥
स्वाहेति प्रतितत्त्वं स्याच्छुद्धे पूर्णाहुतिं क्षिपेत् ।
एवं मन्त्रान्तरैः कुर्यात्समस्तैरथवोक्तवत् ॥ ४ ॥

कता नहीं होती । इसी प्रकार गुरु के सम्बन्ध में प्रयुक्त 'तत्त्वपारगः' शब्द भी विशिष्ट निर्देश करता हुआ प्रतीत होता है । जो गुरु तत्त्व द्रष्टा नहीं है, उसे इस प्रकार की महत्त्वपूर्ण दीक्षा प्रक्रिया में दखल देने का कोई अधिकार नहीं । इस तथ्य का स्पष्टीकरण आगे अष्टम श्लोक में भी कर दिया गया है ॥ १-२ ॥

जहाँ तक इस प्रकार की दीक्षा में मन्त्रों के प्रयोग का प्रश्न है, इसमें भी सीमित मन्त्र ही प्रयोज्य हैं, विशेष रूप से परा मन्त्र । गुरु सर्वप्रथम परा-मन्त्र का उचारण कर शिशु के नाम के साथ षष्ठी विभक्ति का रूप उच्चारण करे । उसके बाद 'तत्त्वं शोधयामि' स्वा-हा का प्रयोग करे । इस तरह इस मन्त्र का स्वरूप इस प्रकार बनता है—'परामन्त्र + अस्य + अमुकं तत्त्वं शोधयामि स्वा हा' । इससे एक तत्त्व की शुद्धि होती है । इसी तरह प्रतितत्त्व का शोधन गुरु द्वारा करना चाहिये । सभी तत्त्वों के शुद्ध हो जाने पर पूर्णाहुति का प्रयोग करना चाहिये ।

इस प्रक्रिया में अन्य मन्त्रों का भी उपयोग गुरु कर सकता है । अन्यान्य मन्त्रों के समस्त व्यस्त का अधिकार गुरुदेव को ही है । यह उत्तरदायित्व उनका है । शिष्य के कल्याण की दृष्टि से वह पहले की तरह ही तत्त्वों के शोधन को प्रक्रिया का सम्पादन करे । मन्त्र के स्वरूप का निर्धारण शास्त्र ही संकेतित करता है । तदनुसार पराविद्या-मन्त्र से संपुटित शिष्य का प्रथमान्त नाम उच्चारण कर स्वाहान्त शोधयामि रूप मन्त्र से एक सौ आठ या १००८ बार हवन करना चाहिये ।

परासंपुटितं नाम स्वाहान्तं प्रथमान्तकम् ।
शतं सहस्रं साष्टं वा तेन शक्त्यैव होमयेत् ॥ ५ ॥
ततः पूर्णेति संशोध्यहीनमुत्तममीदृशम् ।
दीक्षाकर्मोदितं तत्र तत्र शास्त्रे महेशिना ॥ ६ ॥

शक्त्यैवेति यथाशक्ति, तेन देशकालाद्यनुसारं शतहोमः सहस्रहोमो वा कार्य इत्यभिप्रायः। संशोध्यहीनमिति नह्यत्र मनसापि अध्वन्यासादि किञ्चित्कार्यमित्यर्थः। तत्र तत्रेति किरणादौ । यदुक्तं तत्र

श्लोक में 'शक्त्यैव' शब्द होम की संख्या का विकल्प प्रस्तुत कर रहा है। इसके अनुसार हवन यथाशक्ति होना चाहिये। निर्धन शिष्य १०८ ही कर सकते हैं और जो समर्थ है, वह १००८ या इससे भी अधिक आहुतियाँ देने की व्यवस्था करा सकता है। इसमें देश और कालजन्य स्थितियों का भी ध्यान रखना चाहिये ॥ ३-५ ॥

इतनी प्रक्रिया पूरी करने पर पुनः पूर्णाहुति आवश्यक होती है। तत्त्व शोधन-क्रिया पूर्णाहुति से ही पूरी होती है। तत्त्व सभी संशोध्य हैं। शुद्ध करने के पश्चात् न्यास का विधान है। शुद्धतत्त्व न्यास ही उचित है। इसे ही संशोध्यहीन स्थिति मानते हैं। जो संशोध्य है, वह शुद्ध नहीं हो सकता। वस्तु तत्त्व ही संशोध्य है, अशुद्ध है। अशुद्धता से हीन अर्थात् शुद्ध। संशोध्यहीन अर्थात् शुद्ध। अतः शुद्ध न्यास ही उत्तम कहा गया है। जयरथ कह रहे हैं कि, शिष्य और गुरु दोनों को यह ध्यान रखना चाहिये कि, मन से भी अर्थात् मानसिक स्तर से भी किसी अध्व या तत्त्व का न्यास न करें क्योंकि शुद्ध करने के बाद ही वे न्यास करने योग्य माने जाते हैं। यही उत्तमोत्तम शुद्ध विधान है।

दीक्षा की प्रक्रिया बड़ी ही गहन हो गयी है। उसे सरल करने के उद्देश्य से भगवान् शंकर द्वारा स्वयं दूसरे बहुत से शास्त्रों में इस विषय का कथन किया गया है। जैसे किरण शास्त्र का उद्धरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। वहाँ कहा गया है कि,

'दीक्षामन्यां प्रवक्ष्यामि शिवतत्त्वसमायुताम् ।
आदौ प्रणवसंयुक्तां शिवमन्तेऽणुवाचकम् ॥
नाम कृत्वा ततः शंभुः संपुटीकृत्य होमयेत् ।
एवं साहस्रिको होमः पाशत्रयवियोजकः ॥
जननादिवियोगेन दीक्षेय दुर्लभा खग ।' इति ॥ ६ ॥

अत्रापि मन्त्रभेदमाह

प्रत्येकं मातृकायुग्मवर्णैस्तत्त्वानि शोधयेत् ।
यदि वा पिण्डमन्त्रेण सर्वमन्त्रेष्वयं विधिः ॥ ७ ॥

युग्मेति मातृकामालिनीरूपस्य । अयं विधिरिति यथोदितोहरूपः ॥७॥

"हे खगेश्वर गरुड ! मैं एक ऐसी शिवतत्त्व से समायुक्त दीक्षा की चर्चा करने जा रहा हूँ, जो बड़ी ही सरल और संक्षिप्त है । पहले ओङ्कार का प्रयोग, पुनः शिव के नाम से सम्पुटित, शिष्य नाम से ही हवन करना चाहिये । यह 'ॐ शिव (शिष्यनाम) शिवाय स्वाहा' रूप मन्त्र होना चाहिये । इस मन्त्र से एक हजार हवन करे अर्थात् आहुतियाँ प्रदान करे । यह हवन आणव, कार्म और मायीय तीनों पाशों का भस्म कर देता है । यह दीक्षा जनन आदि संसृति के समस्त अभिशापों को ध्वस्त कर देने में समर्थ है । यही कारण है कि, यह दुर्लभ दीक्षा मानी गयी है ।"

सामान्य न्यास के अनन्तर इस सरल मन्त्र से शिवत्वप्रदा दीक्षा सचमुच दुर्लभ ही कही जा सकती है । भगवान् शंकर और गरुड के संवाद रूप से व्यक्त किरण शास्त्र की यह उक्ति सर्वजन साध्य है ॥ ६ ॥

इस दीक्षा प्रक्रिया में भी मन्त्रभेद की परम्परा है । वही कह रहे हैं—

मातृका और मालिनी दोनों वर्णों से प्रत्येक तत्त्व का यथा निर्दिष्ट विधि के अनुसार शोधन होना चाहिये । अथवा पिण्ड मन्त्र[1] से भी शोधन किया जा सकता है । शोधन की यह विधि सभी मन्त्रों के माध्यम से सम्पादित की जा सकती है । इसके लिये ऊह[2] की आवश्यकता होती है । बीज और

---

१. श्रीत० ७।२　　२. श्रीत० १६।२६८-२६९ ।

नच एतद्गुरुमात्रकार्यमित्याह

यथा यथा च स्वभ्यस्तज्ञानस्तन्मयतात्मकः ।

गुरुस्तथा तथा कुर्यात् संक्षिप्तं कर्म नान्यथा ॥ ८ ॥

ननु विस्तृतायां दीक्षायां स्वभ्यस्तज्ञानत्वं गुरोरुपादेयम्, संक्षिप्तायां किं तेनेत्याशङ्कां गर्भीकृत्यागममेव संवादयति

पिण्ड-मन्त्र सभी संविद् के स्पन्दात्मक उल्लास ही हैं। अयत्नज और यत्नज—दो प्रकार के वर्णोदय का वर्णन पहले किया जा चुका है। यत्नज चक्रोदय के सन्दर्भ में ही यह रहस्य व्यक्त होता है। चाहे बीजात्मक मन्त्र हों या पिण्डात्मक—ये सभी प्राग्बोध रूप ही माने जाते हैं। मातृका-मालिनी के वर्ण बीज रूप हैं और पिण्डात्मक रूप में सभी वर्ण राशि के प्रकार परिगणित हैं। शोधन की उक्त विधि सभी मन्त्रों में (चाहे वे बीजात्मक हों या पिण्डात्मक) लागू होती है ॥ ७ ॥

प्रायः दीक्षा का उत्तरदायित्व और उसकी प्रक्रिया के सम्पादन का भार गुरु का ही होता है, फिर भी शास्त्रकार यह व्यक्त करना चाहते हैं कि, शिष्य भी गुरु का अनुकरण करे। अपने अभ्यास के बल पर समस्त ज्ञान-विज्ञान को हस्तामलकवत् प्राप्त करने वाले दैशिक शिरोमणि तो तादात्म्य बोध के साक्षात् प्रतीक ही होते हैं। वे इस प्रक्रिया के प्रमाण ही हैं। अतः वे जैसे-जैसे जिस विधि का प्रयोग करते हैं, वैसा ही आचरण शिष्य भी करे। उसी विधि का अनुसरण करे, यह संक्षिप्त दीक्षा के कार्यों को पूरा करने के लिये आवश्यक है। अन्यथा कर्म सम्पादन असंभव सा हो सकता है ॥ ८ ॥

प्रश्न करते हैं कि, इसके पहले विक्षिप्त (विस्तृत) दीक्षा प्रकरण में गुरु के लिये स्वभ्यस्त ज्ञानवान् होना आवश्यक है, उपादेय है—यह कहा गया है, संक्षिप्त दीक्षा में भी स्वभ्यस्त ज्ञान-गुरु की क्या उपादेयता है ? इस विषय में आगमिक प्रामाण्य प्रस्तुत कर रहे हैं—

श्रीब्रह्मयामले चोक्तं संक्षिप्तेऽपि हि भावयेत् ।
व्याप्तिं सर्वाध्वसामान्यां किंतु यागे न विस्तरः ॥ ९ ॥

याग इति यजिक्रियारूपायामितिकर्तव्यतायामित्यर्थः ॥ ९ ॥

ननु यद्येवं, तद्बहुवित्तव्ययायाससाध्येन विस्तृतेन कर्मणा कोऽर्थ इत्याशङ्क्याह

अतन्मयीभूतमिति विक्षिप्तं कर्म सन्दधत् ।
क्रमात्तादात्म्यमेतीति विक्षिप्तं विधिमाचरेत् ॥ १० ॥

आह्निकार्थमेवोपसंहरति

श्रीब्रह्मयामल शास्त्र में यह कहा गया है कि, संक्षिप्त दीक्षा में भी स्वभ्यस्त ज्ञान नितान्त उपादेय है। सर्वाध्वसामान्या व्याप्ति का भावन दीक्षा के सन्दर्भ में अनिवार्यतः आवश्यक है। अध्वशोधन के बिना तो यह सम्पन्न हो नहीं की जा सकती है। सभी प्रकार की दीक्षाओं में यह एक सामान्य नियम है। इसलिये अध्वशोधन के लिये अभ्यस्त ज्ञान-गुरुदेव का महत्त्व सर्वोपरि है। जहाँ कहीं कोई अन्तर पड़ता दीख रहा होता है, वह केवल याग की क्रियाओं का ही प्रसङ्ग होता है। इसमें गुरु ही प्रमाण होता है। संक्षिप्त दीक्षा में अन्यत्र की तरह याग प्रक्रिया को विस्तार नहीं प्रदान करना चाहिये। याग का तात्पर्य यहाँ केवल होम से नहीं अपितु याजन प्रक्रिया की परम्परा और उसकी इतिकर्तव्यता से सम्बन्धित सम्पूर्ण कार्यशैली से है ॥ ९ ॥

प्रश्न करते हैं कि, यदि ऐसी बात है और याग में विस्तार न देना ही श्रेयस्कर है तो फिर इस अकूत धनराशि-व्यय और अमित श्रमसाध्य विस्तृत याग-प्रक्रिया से क्या लाभ? इसी आशङ्का का समाधान प्रस्तुत कर कर रहे हैं—

वस्तुतः सत्कर्म कभी व्यर्थ नहीं जाता है। यह सच है कि, अध्वा-शोधन से सम्बन्धित यह अध्वापद्धति जिसे 'विक्षिप्त' की लक्षणामयी विलक्षण संज्ञा प्रदान की गयी है—अतन्मयी भूत-पद्धति है, फिर भी इसे करते रहने से और क्रमिक रूप से इस प्रक्रिया में प्रवृत्त रहने से तादात्म्य

संक्षिप्तो विधिरुक्तोऽयं कृपया यः शिवोदितः ।
दीक्षोत्तरे कैरणे च तत्र तत्रापि शासने ॥ ११ ॥

इति शिवम् ॥ ११ ॥

सिद्धिरूप सुपरिणाम को प्राप्ति होती है, इसमें सन्देह नहीं। यहाँ अतन्मयी भूत और तादात्म्य—ये दो शब्द विशेष रूप से विचारणीय हैं।

किसी काम में लगे रहने की यह पहली शर्त होती है कि, उसमें लगन पैदा हो जाय। लगन के बिना उसमें मन लग ही नहीं सकता। लगन एक प्रकार की तन्मयता ही होती है। विना तन्मय हुए काम में कर्मठता का अभाव ही रहता है। बहुत थका देने वाले और थैली को खाली कर देने वाले खर्चीले काम मन में एक उचाट पैदा करते हैं। ऐसी दशा में तन्मयता नहीं आ सकती। अतन्मयता अश्रद्धा को जन्म देती है। विक्षिप्त याग में ऐसा होना ही स्वाभाविक है। इसीलिये उसे अतन्मयीभूत कर्म कहते हैं।

इसके विपरीत मन लगाकर लगनपूर्वक काम करने में एक आनन्द मिलने लगता है। कर्मठ व्यक्ति कर्मण्यता का सुख पहले से ही पाने लगता है। उसका एक-एक क्षण महत्त्वपूर्ण हो जाता है। वह कर्म में रम जाता है। तदात्मक वृत्ति ही तादात्म्य है। शिष्य, गुरु, अध्वा-शोधन और परिष्कृति सब मिलकर एक ऐसा वातावरण निर्मित कर देते हैं, मानों सबकी एकात्मकता उत्पन्न हो गयी हो। सबसे अच्छी बात तो यह होती है कि, इसमें थकावट नहीं चुस्ती बनी रहती है। पैसों के अधिक खर्च होने की अब चिन्ता भी नहीं रहती। अतः यद्यपि कर्म विक्षिप्त है, विस्तृत है, फिर भी उसे करते-करते तादात्म्य की उपलब्धि हो जाती है। अतः वित्तशाठ्य न कर, यदि लक्ष्मी की कृपा परिवार पर हो, तो इसे सुसम्पन्न करना श्रेयस्कर होता है ॥ १० ॥

संक्षिप्त दीक्षा प्रकाशन का लक्ष्य पूरा कर संक्षिप्त कथन के द्वारा ही आह्निक में प्रतिपादित विषय का उपसंहार कर रहे हैं। यहाँ क्रमागत उपसंहार शैली का परित्याग कर नयी पद्धति अपनायी गयी है। पहले एक

संक्षिप्तमोक्षदीक्षाकर्मप्रावीण्यसोत्कर्षः ।
व्याकार्षीदष्टादशाह्निकमेतज्जयरथाख्यः ॥

इति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य श्रीमदभिनवगुप्तविरचिते
राजानकजयरथकृतविवेकाख्यव्याख्योपेते
श्रीतन्त्रालोकविवेके संक्षिप्तदीक्षाप्रकाशनं नाम
अष्टादशमाह्निकम् ॥ १८ ॥

श्लोक की पहली अर्द्धाली से आह्निक का उपसंहार कर दूसरी अर्द्धाली से दूसरे आह्निक का आरम्भ करते आये हैं। इस आह्निक में पूरा अनुष्टुप् उपसंहार की प्रक्रिया में प्रयुक्त है। शास्त्रकार कह रहे हैं कि,

'मैंने यहाँ जिस संक्षिप्त विधि का उल्लेख और प्रतिपादन किया है, यह मेरा स्वोपज्ञ कथन नहीं है, अपितु साक्षात् भगवान् शंकर द्वारा ही उदीरित है। उन्होंने अपने द्वारा, अन्य शास्त्रों में प्रसङ्गवश इस विषय में जो कुछ व्यक्त किया है, जैसे—दीक्षोत्तर शास्त्र में भी और किरण शास्त्र में भी स्वयं जो कुछ कहा है, वही यहाँ प्रकाशित किया है। इति शिवम् ॥ ११ ॥

अट्ठारहवीं आह्निकी दीक्षाविधि विख्यात।
जयरथ ने अतिदक्षता-सहित किया व्याख्यात ॥

× × × ×

परभृत्, परमो रम्यः हंसोऽभूत् यदनुग्रहात्।
तदंघ्रिपद्मपीयूषपानाय मधुपोऽभवत् ॥
संक्षिप्तामथ विक्षिप्तां दीक्षां विज्ञाय दैशिकः।
अष्टादशाह्निकीं व्याख्यात् स एव विधि-विश्रुताम् ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचित
राजानकजयरथकृतविवेकव्याख्योपेत
डॉ०परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीर-विवेक-भाषाभाष्यसंवलित
श्रीतन्त्रालोक का संक्षिप्तदीक्षाप्रकाशन
नाम अठारहवाँ आह्निक संपूर्ण ॥

अथ

श्रीतन्त्रालोके

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचिते
श्रीराजानकजयरथकृतविवेकाख्यव्याख्योपेते

एकान्नविंशमाह्निकम्

भवभेदविभवसंभवसंभेदविभेदबलवन्तम् ।
बलवन्तं नौमि विभुं दारुणरूपग्रहाग्रहतः ॥

इदानीं श्लोकार्धेन सद्योनिर्वाणदीक्षां निरूपयितुं प्रतिजानीते

अथ सद्यःसमुत्क्रान्तिप्रदा दीक्षा निरूप्यते ।

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचित-
राजानकजयरथकृतविवेकव्याख्योपेत-
डॉ० परमहंसविरचितनीर-क्षीरविवेक
भाषाभाष्य-संवलित

श्रीतन्त्रालोक

का

उन्नीसवाँ आह्निक

विभु तव बल यह भव-विभव, भेद विभेद-विलास ।
देख विनत जयरथ बलद ! करो महाग्रह नाश ॥

इस आह्निक में सद्यःसमुत्क्रान्ति दीक्षा का निरूपण किया जा रहा है। इस दीक्षा को सद्यःनिर्वाण दीक्षा भी कहते हैं। उत्क्रान्ति उस अवस्था का नाम है, जब प्राण शरीर का परित्याग कर ऊर्ध्व गमन करते हैं। इसे मृत्यु

ननु यदधिकारेणायं ग्रन्थः प्रवृत्तस्तत्र तावदियं स्फुटाक्षरं नोक्ता, तदिहास्या निरूपणेन कोऽर्थ इत्याशङ्क्याह

तत्क्षणाच्चोपभोगाद्वा देहपाते शिवं व्रजेत् ।
इत्युक्त्या मालिनीशास्त्रे सूचितासौ महेशिना ।। १ ।।

की शक्ति भी कहते हैं[1]। प्राणों की उत्क्रान्ति से मृत्यु हो जाती है। कर्म-विपाक के अनुसार कुछ लोगों के प्राणसूत्र जल्दी टूटते नहीं। उन्हें बड़ा कष्ट होता है। यह सद्यः (तत्काल) घटित हो जाय और आसन्न-मृत्यु जीव अपनी नयो पुनर्जन्म की यात्रा शुरू करे, इसी उद्देश्य से इस दीक्षा का विधान किया जाता है। एक तरह से यह दूसरे के अधिकार क्षेत्र से छेड़-छाड़ की तरह है। क्या दैशिक के पास इतनी बलवत्ता आ जाती है कि, वह तत्काल प्राण वियोजन की प्रक्रिया में पारङ्गत हो जाता है? इसका उत्तर आगमिक प्रज्ञा पुरुष हाँ में देते हैं। मन्त्र शक्ति का यह चमत्कार है। मन्त्र बल से सब कुछ सम्भव है। साधना के द्वारा यह शक्ति प्राप्त की जा सकती है। प्राण का तुरत छूट जाना भी इस बात का प्रमाण है कि, इधर मन्त्र का प्रयोग हुआ और उधर तत्काल प्राण का महाप्रयाण सम्पन्न हुआ। ऐसा चमत्कार साक्षात् दृष्टिगोचर होता है। पहले इस प्रक्रिया का प्रचलन प्रचुर रूप से होता था। अब इसमें ह्रास हो गया है किन्तु इस प्रयोग की महत्ता के प्रति सन्देह नहीं किया जा सकता।

सबके अधिकार की एक सीमा होती है। अपने ही अधिकार क्षेत्र में अधिकारी काम करता है। यहाँ उत्क्रान्ति की चर्चा है। पर जिस उपजीव्यात्मक अधिकार के आधार पर इस ग्रन्थ की प्रवृत्ति की बात की जाती है, वहाँ स्फुटाक्षर इस प्रकार की दीक्षा की चर्चा है ही नहीं। ऐसी स्थिति में यहाँ इसके निरूपण का उद्देश्य क्या है? इस पर कह रहे हैं कि,

ठीक मृत्यु के समय जब कि, प्राण-प्रयाण की अन्तिम समय-सीमा आ गयी हो, जीवन-सूत्र छिन्न-भिन्न होकर बिखर जाने वाला हो और

---

१. 'मृत्योरुत्क्रान्तिदा नाम शक्तिरीश त्वया हृता'—श्रीदुर्गासप्तशती (५।९८)

नच एतत्स्वोपज्ञमेवास्माभिरुक्तमित्याह

देहपाते समीपस्थे शक्तिपातस्फुटत्वतः ।
आसाद्य शांकरीं दीक्षां तस्माद्दीक्षाक्षणात्परम् ॥ २ ॥

शिवं व्रजेदित्यर्थोऽत्र पूर्वापरविवेचनात् ।
व्याख्यातः श्रीमतास्माकं गुरुणा शम्भुमूर्तिना ॥ ३ ॥

समीपस्थ इति द्विश्यादिक्षणभाविनि ॥ ३ ॥

उसे यह निर्वाण दीक्षा मिल जाय एवं तत्क्षण देहपात हो जाय, तो यह निश्चय है कि, उसे शिवत्त्व की उपलब्धि हो जाती है। यह भी संभव है कि, कुछ काल तक अभी कर्मविपाक के अनुसार कुछ कर्मफल का उपभोग शेष हो और इसके बाद शरीरपात हो जाये, तो वह शिवलोक की प्राप्ति कर लेता है। इन दोनों उक्तियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि, सर्वेश्वर शिव ने इस विषय की सूचना मालिनीविजयोत्तर तन्त्र में दे दी है ॥ १ ॥

मालिनीविजयोत्तर तन्त्र में इसका स्फुटाक्षर वर्णन न होने के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि, यह मेरा स्वोपज्ञ कथन है। वस्तुतः इसका सूत्र मुझे अपने ही स्वनामधन्य साक्षात् शम्भुमूर्त्ति श्रीमान् शम्भु से प्राप्त हुआ। उन्होंने पूर्वापर विवेचन-विश्लेषणपूर्वक यह विषय विशदरूप से व्याख्यात किया है। उनके अनुसार जब शरीरान्त सन्निकट हो, व्यक्ति मरणशय्या पर पड़ा मरण-वरण के अन्तिम दो-चार क्षणों की विवश-प्रतीक्षा में हो, उस समय यदि उसके ऊपर शक्तिपात की सुधा-वर्षा हो जाय और शक्तिपात की स्फुटता में ही उसे यदि शाङ्करी-दीक्षा दे दी जाय, तो उसका मरणक्षण भी वरेण्य बन जाय। उस दीक्षा के प्रभाव से वह तत्काल शिवभाव को प्राप्त कर लेता है। यह इस दीक्षा का ही महा-प्रभाव माना जाता है ॥ २-३ ॥

एवमपि शक्तिपातस्य वैचित्र्यं दर्शयति

यदा ह्यासन्नमरणे शक्तिपातः प्रजायते ।
तत्र मन्देऽथ गुर्वादिसेवयायुः क्षयं व्रजेत् ॥ ४ ॥

अथवा बन्धुमित्रादिद्वारा सास्य विभोः पतेत् ।

शक्तिपात के वैचित्र्य के सम्बन्ध में अपने विचार यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं—

मरणासन्न व्यक्ति पर शक्तिपात के लक्षण प्रकट होने और उनके पहचानने पर ही दीक्षा प्रक्रिया का प्रवर्त्तन देशिकशिरोमणि गुरुदेव करते हैं। यदि यह शक्तिपात मन्द श्रेणी का होता है, तो इसमें दीक्षा को दो अवस्थाओं पर विचार करना चाहिये—१. यदि मरण समोपस्थ नहीं है, तो वह व्यक्ति दीक्षा के बाद गुरु या भगवत् सेवा में रहकर ही अपने शेष आयुष्य को बिताये। सेवा में आयु का व्यतीत होना ही श्रेयस्कर है, तभी उसकी मुक्ति हो सकती है। २. यदि वह सेवा में असमर्थ है और उसके बन्धु-बान्धव, भाई या मित्र जो भी उसके कल्याण की कामना करने वाले हों, वही ऐसी व्यवस्था कर दें। इससे उसकी उत्क्रान्ति-दीक्षा फलवती होगी और वह मृत्यु का वरण कर शिवत्व की प्राप्ति शीघ्र कर सकेगा। ऐसे पुरुष पर जो सेवा में संलग्न होता है, या भगवद्भक्ति में लगा होता है या बन्धुओं द्वारा उसके लिये पूजा आदि को व्यवस्था करा दी गयी हो, उस पर परमेश्वर शिव की शक्ति स्वयं भी कृपा कर आपतित होती है। 'सास्य विभोः पतेत्' इस उक्ति से यह सिद्ध होता है कि, सेवा भाव से व्यक्ति अपना जीवन बिताये, तो पहले यदि शक्तिपात न भी हुआ रहे, तो शक्तिपात हो जाता है।

इसी प्रसङ्ग में श्लोक ४ में प्रयुक्त 'शक्तिपातः प्रजायते, इस उक्ति पर भी विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। 'प्रजायते' क्रिया का अर्थ है—विशेष रूप से उत्पन्न होना है। शक्तिपात उत्पन्न नहीं होता, गिरता है। वर्षा उत्पन्न नहीं होती वरन् वैन्दव सूत्रिका के रूप में गिरती है। शक्तिपात में अनुग्रह की रश्मियाँ होती हैं, जो शक्तिपात योग्य शिष्य या साधक या सेवक पर प्रकाश प्रक्षिप्त करती हैं और उसका कल्याण होता है।

पूर्वं वा समयी नैव परां दीक्षामवाप्नवान् ॥ ५ ॥
आप्तदीक्षोऽपि वा प्राणाञ्जिहासुः क्लेशवर्जितम् ।
अन्त्यान्गुरुस्तदा कुर्यात्सद्य उत्क्रान्तिदीक्षणम् ॥ ६ ॥

ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि, पहले से ही शक्तिपात उस व्यक्ति पर था और मरने के समय व्यक्त हो गया। इस बीच वह पृथ्वी में पड़े बीज की तरह सोया पड़ा था। ऐसी अवस्था में मरने के समय यह शक्तिपात की बात क्या संकेत करती है ?

श्लोक २ में एक क्रम भी निर्दिष्ट है। पहले शक्तिपात स्फुट हुआ और इसके स्फुटत्व के अनन्तर शांकरी दीक्षा दी गयी, परिणामस्वरूप शिव को और व्रजन की क्रिया हुई। इसमें पूर्वापर भाव भी है। पूर्वापर के इस आधार पर यह सोचा भी नहीं जा सकता कि, पहले दीक्षा दी गयी, तब शक्तिपात हुआ। दीक्षा तो उत्क्रान्ति के लिये दी गयी होती है। पहले शक्तिपात उस व्यक्ति में उत्पन्न हो, इसी सन्दर्भ में एक जिज्ञासा और होती है—'क्या जीवन भर शुभ्र के जागरण में प्रवृत्त और स्वात्म-उत्कर्ष की साधना में संलग्न पुरुष जिस पर जीते जी शक्तिपात नहीं हुआ था, मरने के समय किसी अदृश्य शक्ति के माध्यम से वे लक्षण प्रकट होते हैं, जो शक्तिपात पवित्रित साधक पुरुष के जीवन काल में घटित हो गये होते हैं ?' इस विषय का समाधान अभिलाष की उत्पत्ति के प्रसङ्ग से भी हो सकता है[1]।

जो कुछ भी हो, शास्त्र इसका समर्थन कर रहा है। इसे पारम्परिक मान्यता की दृष्टि से मानना ही उचित है। एक दूसरी स्थिति वहाँ तब आती है, जब शिष्य समय दीक्षा प्राप्त कर चुका होता है। सारा जीवन बीत गया, अब मरने की घड़ी आयी। किन्तु उसे परा दीक्षा नहीं प्राप्त हो सकी थी। आजीवन समयाचार पालन में लगा रहा। शुचिता का प्रभाव

---

१. श्रीत० १३।२५१

आयुः क्षयं व्रजेदिति तत्क्षये समयी संभाव्यमान इत्यर्थः । सेति शक्तिः, तेन आसन्नमरणस्य गुरुसेवया स्वयमेवमसामर्थ्ये बन्धुमित्राद्यभ्यर्थनया लक्षितपारमेश्वरशक्तिपातस्य सद्यउत्क्रान्तिदीक्षा कार्येति तात्पर्यम् । समयी-त्यर्थात् मध्ये शक्तिपाते, आप्तदीक्ष इत्यर्थात् तीव्रे । अन्त्यानिति यियासू-नित्यर्थः ॥ ६ ॥

तो पड़ना हो था। उसमें मध्य शक्तिपात के लक्षण प्रकट हुए। इधर मृत्यु ने भी दस्तक दी। ऐसे पुरुष को भी सद्यःउत्क्रान्ति दीक्षा से गुरुदेव उपकृत करें। यही श्रेयस्कर है।

तीसरी स्थिति तीव्र शक्तिपात के लक्षणों के परिलक्षित होने की है। समयाचार पालन कर लेने के योग्य शिष्य आप्तदीक्ष हो चुका है। उसे परा दीक्षा भी दे दी गयी है। इस स्थिति में शरीरान्त की घड़ी के आ जाने पर उत्क्रान्ति दीक्षा दी जा सकती है। प्राणोत्क्रमण के समय की मर्मान्तिक पीड़ा से तत्काल मुक्ति के उद्देश्य से यह दीक्षा दी जा सकती है। यह ध्यान देने की बात है कि, गुरु-दीक्षा से निर्विकल्प के प्रकाशन के बाद तो यह शरीर मन्त्र-मात्र की ही तरह रह जाता है[1]। शिष्य मुक्त हो चुका होता है। केवल प्राण के उत्पीड़न से बचने के लिये हो आप्तदीक्ष को उत्क्रान्ति दीक्षा देने की आवश्यकता पड़ती है। इस सम्बन्ध में तेरहवें आह्निक में भी विचार किया गया है। विशेष स्वाध्याय के लिये वहाँ भी देखना उचित है[2]।

एक चौथी स्थिति भी उत्क्रान्ति दीक्षा की होती है। यह स्थिति यियासु शिष्यों की होती है। यियासा[3] एक सत्प्रवृत्ति है। रुद्र शक्ति समावेश सिद्ध साधक के हृदय में ही यियासा उत्पन्न होती है। यह एक प्रकार की पूर्णता प्राप्त करने की प्यास है, जो उसे सद्गुरु के प्रति ले जाती है। ऐसे जिगिमिषु शिष्य के शरण में आ जाने पर गुरुदेव करुणा से द्रवित हो उठते हैं और सद्यःउत्क्रान्ति दीक्षा देने के लिये तत्पर हो जाते हैं। यह दीक्षा

---

१. श्रीत० १३।२३१; २. श्रीत० १३।२३४-२३८;१५

३. श्रीत० १३।२१८, २२३, २४६, २४८-४९

नच असमय एवैषामेतत्कार्यमित्याह

नत्वपक्वमले नापि शेषकार्मिकविग्रहे ।
कुर्यादुत्क्रमणं श्रीमद्गह्वरे च निरूपितम् ॥ ७ ॥

दृष्ट्वा शिष्यं जराग्रस्तं व्याधिना परिपीडितम् ।
उत्क्रमय्य ततस्त्वेनं परतत्त्वे नियोजयेत् ॥ ८ ॥

किसी शक्तिपात के लक्षण के परिलक्षित होने की अपेक्षा नहीं रखती। इसीलिये यियासु के लिये 'अन्त्य' शब्द का प्रयोग कर इसकी पृथक् स्थिति का निर्देश कर दिया गया है ॥ ४-६ ॥

उत्क्रमण दीक्षा समय-सापेक्ष दीक्षा है। इसे जब चाहे तब या जिसे चाहे उसे, नहीं दिया जाना चाहिये। इसी तथ्य की दृष्टि से इसे उत्क्रान्ति संज्ञा प्रदान की गयी है। विशेषरूप से दो बातों का ध्यान इसमें रखना ही चाहिये—

१. ऐसे पुरुष जिनके मलका परिपाक अभी तक नही हो सका है। मल का परिपाक शक्तिपात-पवित्रित होने पर ही हो पाता है। जब तक मल का प्रभाव उस पर परिलक्षित हो रहा हो, वह इस दीक्षा का अधिकारी नहीं होता। उसमें शक्तिपात के लक्षण भी नहीं दीख पड़ते। उसमें शक्तिपात संभव ही नहीं है। वहाँ अनायास शक्तिपात होता है। एक तरह से अपरिपक्व मल और अनायात शक्तिपात अन्योन्याश्रित से प्रतीत होते हैं। परिपक्व मल ही आयात शक्तिपात होता है। उसे ही अन्त समय में यह दीक्षा दी जा सकती है, अन्यथा नहीं।

२. दूसरी स्थिति भी कुछ इसी प्रकार की है। जिसका शरीर अभी अवशिष्ट कर्मफलों के प्रभाव को झेल रहा होता है, उसकी कार्मिकता उसके कलेवर को कर्मविपाकजन्य इन्द्रजाल से अभिषिक्त करती है। उसमें जिजीविषा का आवेश होता है। अभी मृत्यु उसे अपने आक्रोश में नहीं लेना चाहती है। वह अभी अनासन्न-मरण है। ऐसे पुरुष को भी यह दीक्षा

अपक्वमल इत्यनायातशक्तिपात इत्यर्थः । शेषकार्मिकविग्रह इति अनासन्नमरण इति यावत् । नच एतद्युक्तिमात्रसिद्धमेवेत्याह श्रीमद्गह्वर इति ॥ ८ ॥

नच अयमासन्नमरणत्वाभिधानपर एवागम इत्याह

विशेषणविशेष्यत्वे कामचारविधानतः ।
पूर्वोक्तमर्थजातं श्रीशम्भुनात्र निरूपितम् ॥ ९ ॥

नहीं दी जा सकती । ऐसे लोगों को उत्क्रमण की दीक्षा देने से आचार्य प्रायश्चित्त का भागी होता है । श्रीमद् कुलगह्वर शास्त्र में इसका निरूपण किया गया है ।

देशिक शिरोमणि सर्वप्रथम यह देखें कि, हमारा शिष्य वृद्धावस्था से विपन्न है । जरा से इसका शरीर जर्जर है । विभिन्न व्याधियों से बुरी तरह प्रभावित है । पीड़ा की कड़वाहट से इसके प्राण उत्पीडित हैं । उस अवस्था में उसे देखकर करुणा-वरुणालय आचार्य उत्क्रान्ति दीक्षा से अनुगृहीत करें । प्राणों के उत्क्रमण से उसके जीवन को मृत्यु के माध्यम से परतत्त्व में नियोजित करने का तत्काल उपक्रम करें । इससे शिष्य के ऐहिक अभिशापों का अन्त हो जाता है और शैव-महाभाव-तादात्म्य की उपलब्धि कर लेता है । अब वह बूँद समुद्र बन जाता है । तपते तवे से उत्तप्त होकर अन्त होने की जगह उसे रत्नाकर का अमर लहराव मिल जाता है ॥ ७-८ ॥

इस दीक्षा का नाम समुत्क्रमण दीक्षा है । यह शिष्य की मरणासन्नता पर ही आधारित नहीं की जा सकती । श्लोक ८ में दो हेतु १. जराग्रस्तता और २. व्याधिपीडामयी कारुणिकता दिये गये हैं, जिनके तत्काल निवारण के लिये भी इस दीक्षा को देने की बात कही गयी है । यह परतत्त्व नियोजिका दीक्षा भी कही जा सकती है । इसीलिये आचार्य जयरथ कह रहे हैं कि, यह 'आसन्नमरणत्वाभिधान परक' नहीं है । शास्त्रकार इसे दूसरे शब्दों में व्यक्त कर रहे हैं—

यदा हि शिष्यस्य विशेष्यत्वं जराग्रस्तत्वादेश्च विशेषणत्वं तदा शिष्यस्य प्राप्तसमयादिदीक्षस्य सद्यःसमुत्क्रान्तिदीक्षेति पूर्वं वा समयीत्याद्युक्तं भेदद्वयम्, व्यत्यये तु जराग्रस्तस्य सतः शिष्यत्वे गुर्वादिसेवयेत्याद्युक्तं भेदद्वय-मित्युक्तम्। अत्र श्रीशम्भुना पूर्वोक्तमर्थजात निरूपितमिति ॥ ९ ॥

एवमेतदुचितं कालमपेक्ष्य क्षुरिकादिन्यासमभिधत्ते

विधिं पूर्वोदितं सर्वं कृत्वा समयशुद्धितः ।
क्षुरिकामस्य विन्यस्येज्ज्वलन्तीं मर्मकर्तरीम् ॥ १० ॥

यह दीक्षा आसन्नमरणत्वाभिधान परक नहीं है, अपितु श्लोक में प्रयुक्त विशेष्य-विशेषण शब्दों को ध्यान में रखकर ही इसका अर्थ करना चाहिये। दीक्ष्य शिष्य है। यह विशेष्य है। इसमें विशेष्यत्व है। जरा-ग्रस्तत्व विशेषण है। यहाँ यदि शिष्य समयादि और परा दीक्षा प्राप्त कर आप्तदीक्ष है, तो तत्काल यह दीक्षा दे देनी चाहिये। इसी आधार पर पहले आप्तदीक्ष और समयी—ये दो भेद शिष्य के किये गये थे। एक तीव्र शक्ति-पात का उदाहरण और दूसरा समयी मध्य-शक्तिपात का प्रतीक माना गया है।

इसके विपरीत 'जराग्रस्त' इस विशेषण से यदि विशिष्ट शिष्य है, तो वह गुरु सेवा में आयु बिताये। यदि ऐसा न हो तो बन्धु-मित्रादि द्वारा ही कुछ ऐसी व्यवस्था की जाये, जिससे जराग्रस्तता के बावजूद दीक्षा दी जा सके। इस आधार पर यह कहा गया है कि, पहले कहे गये ४-६ श्लोकों में जो कुछ गया है, उसी पूर्वोक्त तथ्य को ही श्लोक ८ में शिष्यरूप विशेष्य शब्द के माध्यम से और जराग्रस्तरूप विशेषण शब्द के माध्यम से विश्लिष्ट किया गया है। शास्त्रकार यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि, परम गुरुदेव श्री शम्भुनाथ ने यहाँ उक्त अर्थ का ही निरूपण किया है ॥ ९ ॥

इतनी मौलिक बातों पर विचार करने के बाद सारा तथ्य स्पष्ट हो गया है। अब वह समय उपस्थित है, जब विधि में उतरने का निर्देश दिया जाय। यही ध्यान में रखकर शास्त्रकार क्षुरिकादि न्यास का अभिधान कर रहे हैं—

एतन्न्यासश्चास्मदागम एवोक्त इत्याह

कृत्वा पूर्वोदितं न्यासं कालानलसमप्रभम् ।
संहृतिक्रमतः सार्धं सृक्छिन्दियुगलेन तु ॥ ११ ॥
आग्नेयीं धारणां कृत्वा सर्वमर्मप्रतापनीम् ।
पूरयेद्वायुना देहमङ्गुष्ठान्मस्तकान्तकम् ॥ १२ ॥

गुरु को पहले कही गयी सारी प्रक्रिया पूरी करने के बाद समय शुद्धि की भी समीक्षा परीक्षा कर लेनी चाहिये। तत्पश्चात् मर्म का कृन्तन करने वाली मन्त्र के तेज से ज्वालामालिनी की दीप्ति सी दीप्तिमन्त चमकती मन्त्रमयी छुरिका का शिष्य के ऊपर न्यास करना चाहिये। समय शुद्धि का तात्पर्य छुरिका प्रयोग के पहले शिष्य द्वारा अपनायी गयी उन समस्त विधियों से लिया जा सकता है, जो समयी और पुत्रक आदि दीक्षाओं के प्रसङ्ग में सम्पन्न की गयीं हैं। जैसे—पाश-विच्छेद और सूत्र-क्लृप्ति के प्रयोग और अध्व-संशुद्धि आदि।[1]

इसके बाद मालिनीविजयोत्तर तन्त्र में वर्णित भुवनाध्वा का पूर्ववत् न्यास करना चाहिये[2]। इससे शिष्य में कालाग्नि की अनलप्रभा की आभा का उल्लास हो जाता है। पुनः उसे आग्नेयी धारणा में अधिष्ठित करना चाहिये। आग्नेयी धारणा को 'सर्वमर्मप्रतापिनी धारणा' कहते हैं।[3] इसके साथ ही वायु से कुम्भक प्रयोग द्वारा पैर के अंगूठे से लेकर मस्तक पर्यन्त आपूरित करना चाहिये। इस वायु को अंगुष्ठ से ब्रह्मरन्ध्र की ओर प्रेरित करना चाहिये। यह संहार-क्रम की प्रक्रिया मानी जाती है। ब्रह्मरन्ध्र से अंगुष्ठ तक की प्रक्रिया सृष्टि-क्रम वाली मानी जाती है। ऊपर से वायु को नीचे की ओर ले जाना तथा नीचे से ऊपर की ओर ले जाना—यह प्राणापानवाह की साधना से इस क्रिया को सम्पादित करने की ओर संकेत करता है।

---

१. मा० वि० ९।६३, ७९, ८२; २. मा० वि० ६।११-१८
३. मा० वि० १७।२७-३०

तमुत्कृष्य ततोऽङ्गुष्ठादूर्ध्वान्तं वक्ष्यमाणया ।
कृन्तेन्मर्माणि रन्ध्रान्तात् कालरात्र्या विसर्जयेत् ॥ १३ ॥
अनेन क्रमयोगेन योजितो हुतिवर्जितः ।
समय्यप्येति तां दीक्षामिति श्रीमालिनीमते ॥ १४ ॥

वक्ष्यमाणयेति त्रिंशाह्निके । हुतिवर्जित इत्यनुसन्धानमात्रेणेत्यर्थः ॥ १४ ॥

यहाँ क्षुरिका के न्यास पर ध्यान देने की आवश्यकता है। क्षुरिका का वर्त्तमान अर्थ छुरी या चाकू है। चाकू की आकृति का एक सिरा ही निशित हाता है । यहाँ ऐसी क्षुरिका का प्रयोग वांञ्छित है, जिसके दोनों सिरे तीक्ष्ण धार वाले हैं। वरन् ऐसी दुधारी छुरिका का वह भाग जिसका संहार-क्रम प्रक्रिया में प्रयोग होगा, वह अग्र भाग में कुछ दंतीली सी होनी चाहिये । यहाँ शल्य क्रिया का प्रयोग नहीं होता । केवल यह प्रक्रिया मन्त्रात्मक होती है । हाँ छुरिका वहाँ रहनी चाहिये । गुरुदेव ने पहले शिष्य के ऊपर कालानलप्रभ न्यास किया । पुन आग्नेयो-धारणा के द्वारा शिष्य के सारे मर्म को उत्तप्त कराने की प्रक्रिया पूर्ण की । अब सृष्टि-क्रम से अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र से अंगुष्ठ तक के मर्मस्थलों का जिनमें मलों का प्रभाव शेष था, उनका कर्तन कर दिया और पुनः संहार-क्रम से अर्थात् अंगुष्ठ से ऊर्ध्वान्त (रन्ध्रान्त) समस्त मर्मों को काट कर उसो दंतीली क्षुरी से उनको शरोर से निकाल बाहर कर कालरात्रि को विसर्जित कर दिया । इस प्रयोग को 'क्षुरिका-प्रयोग' कहते हैं । इसमें अयस्क क्षुरिका को बाहर से गुणित चिह्न की तरह कर्तनवत् प्रदर्शित करे, किन्तु आन्तरिक मन्त्र प्रयोग से मर्मों का आध्यात्मिक कर्तन भो सम्पन्न करे । यह सब गुरुदेव पर निर्भर करता है । यहाँ क्षुरिका का अर्थ कैंची कभी नहीं करना चाहिये ।

यह क्रम प्रायः पचास बार अपनाना उचित है । इसमें बाह्य आहुति का प्रयोग वर्जित है । केवल मन्त्र[1] से ही यह क्रिया सम्पन्न करनी चाहिये । इस प्रक्रिया को नियमानुसार प्राणापानवाह साधना के माध्यम से सिद्ध करते हैं ।

---

१. मा० वि० १७।२९

अत्रैव पक्षान्तरं दर्शयति

षोडशाधारषट्चक्रलक्ष्यत्रयखपञ्चकात् ।
क्वचिदन्यतरत्राथ प्रागुक्तपशुकर्मवत् ॥ १५ ॥

प्रविश्य मूलं कन्दादेश्छिन्दन्नैक्यविभावनात् ।
पूर्णाहुतिप्रयोगेण स्वेष्टे धाम्नि नियोजयेत् ॥ १६ ॥

क्वचिदिति एकत्र । अन्यतरत्रेति ग्रन्थिद्वादशकादौ । तदुक्तं

मन्त्रवेत्ता गुरु यदि इसका पारखी है, तो यह निश्चय है कि, शिष्य यदि समयी भी हुआ तो भी वह इस निर्वाण दीक्षा की फलवत्ता से कृतार्थ हो जाता है। यह केवल शास्त्रकार का ही मत नहीं है, अपितु मालिनीविजयोत्तर तन्त्र द्वारा प्रातिपादित विधिक सिद्धान्त भी है। शास्त्रकार कह रहे हैं कि, यह कृन्तन-विधान वक्ष्यमाण भी है। व्याख्याकार जयरथ कह रहे हैं कि, श्रीतन्त्रालोक के तीसवें आह्निक में इसका और इसके मन्त्र की विशद चर्चा है। यह ध्यान रहे कि, यह सारी प्रक्रिया अनुसन्धानात्मक है। इसमें बाह्य प्रयोग मात्र लाक्षणिक है ॥ ११-१४ ॥

इस विषय का एक दूसरा पक्ष भी है। इसके चार मुख्य विन्दु हैं, जिनके आधार पर यह साधनात्मक प्रयोग सिद्ध होता है। वे चार हैं— १. षोडश आधार २. षट्चक्र, ३. तीन लक्ष्य और ४. खपञ्चक। इन चारों के अतिरिक्त भी ऐसी प्रक्रिया है, जो सोलहवें आह्निक में अणु शिष्य के सन्दर्भ में व्यक्त है। इसके अनुसार मूल में प्रवेश कर कन्द आदि का छेदन करते हुए पारमेश्वर तादात्म्य बोध को भावना करनी पड़ती है। इसके बाद पूर्णाहुति का प्रयोग कर गुरुदेव शिष्य के अभिलषित धाम में नियुक्त कर देते हैं। शिष्य का अभिलषित यदि उसके उत्कर्ष के अनुकूल न हो, तो वे अपने द्वारा निर्धारित धाम में ही नियोजन की व्यवस्था कर देते हैं।

'मेढ्रस्याधः कुलो ज्ञेयो मध्ये तु विषसंज्ञकः ।
मूले तु शाक्तः कथितो बोधनादप्रवर्तकः ॥
अग्निसंज्ञस्ततश्चोर्ध्वं अङ्गुलानां चतुष्टये ।
नाभ्यधः पवनाधारो नाभावेव घटाभिधः ॥
नाभिहृत्पद्ममार्गे तु सर्वकामाभिधो मतः ।
संजीवन्यभिधानोऽन्यो हृत्पद्मोदरमध्यगः ॥
वक्षःस्थले स्थितः कूर्मो गले लोलाभिधः स्मृतः ।
लम्बकस्य स्थितश्चोर्ध्वं सुधासारः सुधात्मकः ॥
तस्यैव मूलमाश्रित्य सौम्यः सौम्यकलाश्रितः ।
भ्रूमध्ये गगनाभोगो विद्याकमलसंज्ञितः ॥

इस विषय में आगमिक-प्रामाण्य व्याख्याकार श्री जयरथ प्रस्तुत कर रहे हैं—

१. षोडश आधार—१. ''मेढ्र के अधोभाग में अवस्थित 'कुल' नामक आधार। २. मध्य में अवस्थित 'विष' संज्ञक आधार। ३. मूल में 'शाक्त'। यह बोध नाद का प्रवर्त्तक आधार माना जाता है। ४. मूल से चार अङ्गुल ऊपर 'अग्नि' नामक आधार। ५. नाभि के ठीक भीतरी भाग में नीचे 'पवन' नामक आधार। ६. नाभि में ही अवस्थित 'घट' नामक आधार। ७. नाभि और हृदय पद्मों के मार्ग में 'सर्वकाम' संज्ञक आधार। ८. हृदय पद्म में जिस आधार का प्रकल्पन करते हैं, उसका नाम 'संजीवनी' है। ९. वक्षस्थल में स्थित 'कूर्म'। १०. गले में अवस्थित आधार का नाम 'लोल' है। ११. गले में लटकने वाले लम्बक के ऊपर अवस्थित आधार का नाम 'सुधाधार' है। वस्तुतः यह अमृत का आधार ही है। मुँह में लार का आना इसी आधार की विशेषता है। १२. सौम्य कला समन्वित 'सौम्य' नामक आधार उसी लम्बक की जड़ में अवस्थित है। १३. 'गगनाभोग' नामक आधार दोनों भवों के बीच में अवस्थित है। १४. 'विद्याकमल' नामक आधार रौद्र आधार माना जाता है। यह तालु के तल भाग में अवस्थित है। रुद्र शक्ति से यह शाश्वत समुल्लसित है। यही इसकी विशेषता है।

रौद्रस्तालुतलाधारो रुद्रशक्त्या त्वधिष्ठितः ।
चिन्तामण्यभिधानोऽन्यश्चतुष्पथनिवासकः ॥
ब्रह्मरन्ध्रस्य वै ह्यूर्ध्वे तुर्याधारस्य मस्तके ।
नाड्याधारः परः सूक्ष्मो घनव्याप्तिप्रबोधकः ॥ इति ।
'खमनन्तं तु जन्माख्ये नाभौ व्योम द्वितीयकम् ।
तृतीयं तु हृदि स्थाने चतुर्थं बिन्दुमध्यतः ॥
नादाख्यं तु समुद्दिष्टं षट्चक्रमधुनोच्यते ।
जन्माख्ये नाडिचक्रं तु नाभौ मायाख्यमुत्तमम् ॥

---

१५. 'चतुष्पथ' नामक अंग में जिसे 'चतुष्किका' भी कहते हैं, वहाँ पर 'चिन्तामणि' नामक आधार है। १६. इन सभी आधारों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आधार का नाम 'नाडी' है। इसे 'नाड्याधार' भी कहते हैं। यह ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर अवस्थित है। तुर्याधार तो स्वयं ब्रह्मरन्ध्र ही है। इसके ऊर्ध्व भागीय मस्तक में यह अत्यन्त सूक्ष्म आधार माना जाता है। इसमें जो व्यक्ति साधना के बल पर अवस्थान प्राप्त कर लेता है, उसे यह संबोध स्वयं समुत्पन्न हो जाता है कि, इस विश्वात्मक उल्लास में शैव महाभाव घन रूप से व्याप्त है।"

२. षट् चक्र—१. "जन्मस्थान में 'नाडिचक्र'। २. नाभि में 'माया' नामक चक्र। ३. हृदय में 'योगिचक्र'। ४. तालु में 'भेदन' चक्र। ५. बिन्दु में 'दीप्तिचक्र' और ६. नाद में 'शान्त' नामक चक्र अवस्थित हैं।"

३. तीन लक्ष्य (लक्ष्यत्रय)—१. "अन्तर्लक्ष्य (ऊर्ध्वद्वादशान्त)—साधना में संलग्न व्यक्तियों के लिये इसका निर्धारण अत्यन्त आवश्यक है। अन्तर्लक्ष्य और बहिर्दृष्टि ये दोनों जीवन-क्रम में उत्कर्ष उत्पन्न करने के अनन्य आधार हैं। ऊर्ध्व द्वादशान्त को शक्ति द्वादशान्त भी कहते हैं। २. मध्यलक्ष्य-मध्य शरीर का भुवः भाग है। इसी में प्राणापानवाह का क्रम चलता है, जो शरीर के 'भू' भाग और 'स्वः' भाग में जीवन का संचार करता है। ३. बहिर्लक्ष्य–अमाकेन्द्र (आमावस्य केन्द्र)। इस स्थान पर सूर्यरूपी प्राण और अपानरूपी सोम दोनों शैव अस्तित्व में

हृदिस्थं योगिचक्रं तु तालुस्थं भेदनं स्मृतम् ।
बिन्दुस्थं दीप्तिचक्रं तु नादस्थं शान्तमुच्यते ॥
अन्तर्लक्ष्यं बहिर्लक्ष्यं मध्यलक्ष्यं तृतीयकम् ।' इति च ॥

प्रागिति षोडशाह्निके । पूर्णाहुतिप्रयोगेणेति तद्वदित्यर्थः ॥ १६ ॥

समाहित हो जाते हैं । जहाँ सूर्य और चन्द्र दोनों अस्त होते हैं, ज्योतिष के अनुसार वहीं अमा होती है । इसीलिये उस स्थान को जहाँ प्राण और अपान दोनों अस्त हो जाते हैं, उसे अमा केन्द्र कहते हैं । इसका तीसरा नाम 'चिति' केन्द्र भी है क्योंकि प्राण और अपान का न रहना एक प्रकार का मरण माना जाता है । उसी बिन्दु पर जीवनीशक्ति को भगवती चिति उद्दीप्त कर शरीर में भेजती है । इसका चौथा नाम नासिक्य-द्वादशान्त[1] भी है । यह प्रत्येक व्यक्ति के नासाग्र से १२ अङ्गुल पर अवस्थित है । ८४ अङ्गुल का पूरा शरीर होता है । इसमें १२ अङ्गुल की लम्बाई जोड़ देने पर कुल ९६ अङ्गुल का यह शरीर हो जाता है । १०८ अङ्गुल के ऊर्ध्वद्वादशान्त का विज्ञान इसके अतिरिक्त है ।"

४. **'ख' पञ्चक (पाँच शून्य स्थान)**—१. "अनन्त नामक 'ख' (शून्य) जन्म स्थान में प्रकल्पित है । २. नाभि में अवस्थित 'ख' को व्योम कहते हैं । ३. हृदय में अवस्थित 'ख' को 'हृद्व्योम' कहते हैं । ४. चौथा 'ख' बिन्दु के मध्य में है । इसे 'मध्यव्योम' कहते हैं । ५. पाँचवाँ व्योम नाद में है । इसे 'नादव्योम' कहते हैं ।"

इस तरह सोलह आधार और उनके अंग, छः चक्र, तीन लक्ष्य और पञ्च शून्य, ये सभी इस शरीर के आधार माने जाते हैं ॥ १५-१६ ॥

---

१. श्रोत० ६।२१३

अत्रैव प्राधान्येनापि पक्षान्तरमाह

ज्ञानत्रिशूलं संदीप्तं दीप्तचक्रत्रयोज्ज्वलम् ।
चिन्तयित्वामुना तस्य वेदनं बोधनं भ्रमम् ॥ १७ ॥

गह्वरशास्त्रोक्त एक अन्य पक्षान्तर को शास्त्रकार यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं—

ज्ञान त्रिशूल परासंविद् शूलाब्ज का मध्य भाग होता है। यह उदान वायु के (जो हृदय से ऊर्ध्वद्वादशान्त पर्यन्त क्षेत्र में सक्रिय रहता है) स्पन्द से आन्दोलित रहता है। परासंविद् की रश्मियाँ उसे विकस्वरता प्रदान करती हैं। इस त्रिशूल के तीनों कोण परा, परापरा और अपरा के चक्रों से अत्यन्त उज्ज्वल रहते हैं। इसकी कल्पना इस प्रतीक-चित्र रूप में की जा सकती है—
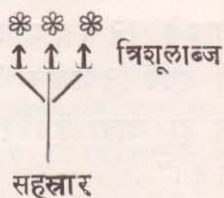
ऊर्ध्वद्वादशान्त का यह क्षेत्र सहस्रार के अधोमुख कमल के ऊपर निकलने वाले नाल दण्ड के ऊपरी भाग के १२ अङ्गुल के परिवेश में अवस्थित है। यहाँ चौरासी अङ्गुल का शरीर, नासिक्य-द्वादशान्त के १२ अङ्गुल और ऊर्ध्वद्वादशान्त के १२ अङ्गुल मिलाकर १०८ अङ्गुल का हो जाता है। १०८ अङ्गुल के ऊपर अनाख्याशिव का प्रकल्पन किया जाता है। ज्ञानत्रिशूल अत्यन्त दीप्तिमन्त तीन अब्जरूप चक्रों से सुशोभित होता है।

चक्रानुचिन्तन की यह प्रक्रिया उस समय कारगर होती है, जब साधक भी इस परासंविद् साधना का अनुसन्धान कर सकता हो। गुरुदेव उत्क्रान्तिदीक्षा के समय इसका निर्देश दें, स्वयं भी उसके अनुसन्धान में पारिभाषिक शब्दों का उच्चारण करते हुए सहायक बनते जाँय।

इस ऊर्ध्वद्वादशान्त स्थित दीप्त ज्ञानत्रिशूल का शरीर के तीन भागों में चिन्तन करना चाहिये—१. कन्दादि-क्षेत्र में, २. हृद्पद्म में विशेषरूप से

दीपनं ताडनं तोदं चलनं च पुनः पुनः ।
कन्दादिचक्रगं कुर्याद्विशेषेण हृदम्बुजे ॥ १८ ॥

और ३. नासिक्यद्वादशान्त में। इस प्रक्रिया में सात छोटी-छोटी क्रियायें भी सम्पादित करनी पड़ती हैं। वे हैं—१. वेदन, २. बोधन, ३. भ्रम, ४. दीपन, ५. ताडन, ६. तोदन और ७. चलन। इन सातों क्रियाओं का अनुसन्धान इस प्रकार करना चाहिये—

१. वेदन—वह क्रिया है, जिसमें ज्ञानत्रिशूल के अस्तित्व का सम्बोध हो। शिष्य को यह संवित्ति होती रहे कि, इस दीप्त ज्ञान-शूल से हमारे शरीर के मर्म दीप्त हो रहे हैं।

२. बोधन—जिन-जिन मर्मों पर इसका चालन हो, उनमें एक प्रकार की जागृति के लक्षण उत्पन्न हों।

३. भ्रम—बायीं ओर और दाहिनो ओर जैसे जलती हुई मशाल घुमायी जाती हो, उसी तरह इस जलते त्रिशूल का आवर्त्तन अनुभव करे।

४. दीपन—समस्त मर्म उद्दीप्त हो रहे हैं, यह भाव मन में कौंधता रहे।

५. ताडन—संघट्टन का ही यह एक प्रकार है। जैसे—प्राण सूर्य और अपान-सोम के संघट्ट से 'शुचि' नामक अग्नि उद्दीप्त होती है, ज्ञान-शूल के ताडन से मर्म के पाश ध्वस्त हो जाते हैं।

६. तोदन—एक मर्म बिन्दु से दूसरे मर्म की ओर गतिशील करने की प्रेरणा में सतत संलग्न रहना, जिससे इसमें शैथिल्य न आ जाय।

७. चलन—यह बार-बार इस प्रक्रिया को पूरी करने का गतिशील सातत्य है।

गुरुद्वारा निर्दिष्ट विधि से शिष्य क्रमिकरूप से इन्हें पूर्ण करने में लगा रहता है। आरम्भ में कन्द आदि बिन्दुओं से होते हुए विशेषरूप से हृदय कमल को विताडित, तोदित और चलित करना चाहिये।

इसके बाद की क्रिया बड़ी महत्त्वपूर्ण है।

द्वादशान्ते ततः कृत्वा बिन्दुयुग्मगते क्षिपेत् ।
निर्लक्ष्ये वा परे धाम्नि संयुक्तः परमेश्वरः ॥ १९ ॥

न तस्य कुर्यात्संस्कारं कंचिदित्याह गह्वरे ।
देवः किमस्य पूर्णस्य श्राद्धाद्यैरिति भावितः ॥ २० ॥

ज्ञानं परा संविदेव, तदेव तत्तदाधारादिभेदनात् त्रिशूलम् । चक्रत्रये-त्यरात्रयरूपेण परादिना। अमुनेति ज्ञानत्रिशूलेन। भ्रमं वामादिक्रमेणा-वर्तनम् । तोदं प्रेरणम् । विशेषेणेति तद्धि मुख्यं जीवस्याधिष्ठानम् । बिन्दु-युग्मगत इति प्राणापानत्रोटरूप इत्यर्थः । तस्येति प्राप्तपारमैश्वर्यस्य ॥ २० ॥

नासिक्यद्वादशान्त में जब प्राण और अपान दोनों जहाँ अस्त हो जाते हैं, वह एक बिन्दु मान लीजिये । उसे शिव-बिन्दु कह सकते हैं । जिस क्षण शरीर में आने के लिये वहाँ से श्वास का उद्गम हो, वह उत्स स्थान दूसरा बिन्दु है । इसे 'शाक्त-बिन्दु' कहते हैं । इन दोनों बिन्दुओं के मध्य का जा अन्तराल है, वह शैवसुधा का समुद्र है । उसमें इस त्रिशूल को चला कर फेंक दें, अथवा शरीर से ऊपर ही परात्मक निर्लक्ष्य (अनाख्य) धाम में ही उसे विसर्जित कर दें । इस पर-धाम में प्रक्षेप करते समय मानों एक प्रकार की युति हो जाती है । साधक उस परमधाम से संयुक्त होकर परमेश्वर हो हो जाता है ।

कुलगह्वर शास्त्र में भगवान् भूतभावन महादेव ने यह निर्देश दिया है कि, ऐसे परधाम-प्रवेश सक्षम पुरुष की उत्क्रान्ति होने पर कोई भी निवापादि संस्कार सम्पन्न न कराये जाँय । ऐसे साक्षात् परमेश्वररूप सिद्ध साधक को सामान्य संस्कारों जैसी छोटी क्रियाओं से क्या लाभ हो सकता है ? वह तो स्वयं पारमैश्वर्य भाव से भावित हो चुका होता है ॥ १७-२० ॥

नच एतदस्मच्छास्त्र एवोक्तमित्याह

श्रीमद्दीक्षोत्तरे त्वेष विधिर्वह्निपुटीकृतः ।
हंसः पुमानधस्तस्य रुद्रबिन्दुसमन्वितः ॥ २१ ॥
शिष्यदेहे नियोज्यैतदनुद्विग्नः शतं जपेत् ।
उत्क्रम्योर्ध्वनिमेषेण शिष्य इत्थं परं व्रजेत् ॥ २२ ॥

वह्निः रेफः। हंसः ह। पुमान् म। तस्येति वह्निपुटीकृतस्य हंसस्य। रुद्र ऊकारः ह्म्रूँ। एतदिति पिण्डाक्षरम् ॥ २२ ॥

श्रीमद्दीक्षोत्तर शास्त्र वह्नि से संपुटित हंस और उसके नीचे पुमान् का प्रयोग कर रुद्र और बिन्दु से समन्वित कर शिष्य के देह में आरोपित, नियोजित करने की प्रक्रिया पर बल देता है। इस मन्त्र के नियोजित करने के बाद स्वयं शिष्य या आचार्य कोई भी अनुद्विग्न भाव से शान्तिपूर्वक इसका यदि एक माला भी जप करता है, तो यह निश्चित है कि, ऊर्ध्व निमेष मात्र में ही उसका उत्क्रमण घटित हो जायेगा। इस प्रकार वह परशिव भाव की प्राप्ति कर लेता है। इसमें प्रयुक्त कूटाक्षरों का अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है—

वह्नि (अग्निबीज)-र्, इससे संपुटित हंस (हकार) र्ह् बीजाक्षर निष्पन्न होगा। इसके नीचे पुमान् (म) और उसमें रुद्र (ऊकार) लगाना चाहिये। पिण्डाक्षर में इस तरह इसका र्ह्र्म् ऊं अर्थात् 'ह्म्रूँ' बीज मन्त्र निर्मित होगा। इस बीजमन्त्र में प्राण के उत्क्रमण कराने की अद्भुत क्षमता होती है। यह शास्त्रीय-विधि किसी अन्य कर्मकाण्ड की अपेक्षा नहीं करती। केवल वाक्तत्त्व के वैलक्षण्य, उसके महाप्रभाव और स्वेच्छामृत्यु में मन्त्र के नियोजन की ओर संकेत करती है। इसमें गुरु के इस गौरवपूर्ण आनुभविक साक्षित्व और तान्त्रिक-योग का भी पता चलता है, जिसमें वह शिष्य के शरीर से वागात्मक ब्रह्म का नियोजन करता है ॥ २१-२२ ॥

एतदेव शास्त्रान्तरेऽपि अतिदिशति

एष एव विधिः श्रीमत्सिद्धयोगीश्वरीमते ।

नच अयोगिनोऽत्राधिकार इत्याह

इयमुत्क्रामणी दीक्षा कर्तव्या योगिनो गुरोः ॥ २३ ॥

अनभ्यस्तप्राणचारः कथमेनां करिष्यति ।

वक्ष्यमाणां ब्रह्मविद्यां सकलां निष्कलोम्भिताम् ॥ २४ ॥

कर्णेऽस्य वा पठेद्भूयो भूयो वाप्यथ पाठयेत् ।

स्वयं च कर्म कुर्वीत तत्त्वशुद्ध्यादिकं गुरुः ॥ २५ ॥

मन्त्रक्रियाबलात्पूर्णाहुत्येत्थं याजयेत्परे ।

एवं शरीरगं चारमभिधाय ब्रह्मविद्याविधिमभिधातुमाह वक्ष्यमाणामित्यादि । वक्ष्यमाणामिति त्रिंशे । निष्कलोम्भितामिति निष्कलया पञ्चाक्षरया विद्ययोम्भितां प्रतिवाक्यं संपुटितामित्यर्थः ॥ २३-२५ ॥

यह विद्या और यह विधि केवल दीक्षोत्तर तन्त्र में ही नहीं है, अपितु सिद्ध योगीश्वरी तन्त्र में भी इसका निर्देश है। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि इसके प्रयोग में केवल तान्त्रिकयोग-सिद्ध साधक का ही अधिकार है। इसी तथ्य को श्लोक व्यक्त कर रहा है कि यह उत्क्रामणी दीक्षा योग-सिद्ध गुरु द्वारा ही सम्पन्न होनी चाहिये। जिसे प्राणापानवाह का अभ्यास नहीं है, वह इसे कैसे कर सकता है? अर्थात् कथमपि पूरा प्रयोग नहीं कर सकता।

आगे आने वाले तीसवें आह्निक में एक ऐसी ब्रह्मविद्या का वर्णन करते हैं, जो सकल और निष्कल रूप पञ्चाक्षर विद्या से उम्भित अर्थात् प्रतिवाक्य पञ्चाक्षर विद्या से सम्पुटित है। उसे पहले शिष्य के कान में पढ़े और उसका अभ्यास कराने के लिये बार बार बुलवा कर उसका उच्चारण भी शुद्ध करा दे। इससे शिष्य में योग्यता आ जायेगी। इसके बाद स्वयं शिष्य भी इसका प्रयोग मनोयोग पूर्वक करे। साथ ही गुरु द्वारा तत्त्व-शुद्धि आदि

ननु समनन्तरमेवोक्तं यदयोगिना गुरुणा नेयं कार्या तत्कथमेतदिदानी-मेवोच्यते इत्याशङ्क्याह

योगाभ्यासमकृत्वापि सद्य उत्क्रान्तिदां गुरुः ॥ २६ ॥
ज्ञानमन्त्रक्रियाध्यानबलात्कर्तुं भवेत्प्रभुः ।

अत्र च ज्ञानादिसद्भावेऽपि ब्रह्मविद्याया एव प्राधान्यमित्याह

अनयोत्क्रम्यते शिष्यो बलादेवैककं क्षणम् ॥ २७ ॥

संक्षिप्त कर्मकाण्ड का भी सम्पादन कराये। इस तरह के प्रयोग में मन्त्र की मान्त्रिक शक्ति का और क्रियाशक्ति दोनों की प्राभाव्य भव्यता का शक्तिमन्त प्रदर्शन होता है। दोनों की शक्तियों के संघट्ट से उद्देश्य की अनायास सिद्धि हो जाती है। इसी शक्तिमत्ता के सन्दर्भ में पूर्णाहुति की प्रक्रिया भी पूरी करनी चाहिये। इस प्रकार शिष्य का परनियोजन पूर्ण हो जाता है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि, शास्त्रकार ने पहले शारीरिक प्राणचार पर आधारित विधि का निर्देश किया है। उसके बाद ब्रह्मविद्या की विधि के अनुपालन का उपदेश भी किया है ॥ २३-२५ ॥

प्रश्नकर्त्ता पूछता है कि, गुरुदेव! आपने अभी-अभी यह कहा है कि, अयोग-सिद्ध गुरु इस प्रक्रिया को पूरा नहीं करा सकता। ऐसी दशा में 'स्वयं च कर्म कुर्वीत' अर्थात् स्वयं अनभ्यस्त गुरु को भी यह कर्म करना चाहिये, यह कथन परस्पर विरोधी हो जाता है। ऐसा क्यों? इस प्रश्न का समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं कि,

योगाभ्यास न करने वाला भी गुरु ज्ञान मन्त्र, क्रिया और ध्यान के बल से सद्यःउत्क्रान्ति-दीक्षा देने में समर्थ हो जाता है ॥ २६ ॥

अनभ्यस्त-योग दैशिक द्वारा कर्म सम्पादन उतना श्रेयस्कर नहीं माना जाता फिर भी वह जो कर्म करा रहा होता है, उससे उसका ज्ञान रहता है, क्रिया की क्षमता होती है और ध्यान का आधार होता ही है। इतना कुछ होने पर भी शास्त्रकार यह घोषित करना चाहते हैं कि, ज्ञानादि के सद्भाव में भी ब्रह्मविद्या की शक्ति का ही वहाँ प्राधान्य होता है। वही कह रहे हैं—

कालस्योल्लङ्घ्य भोगो हि क्षणिकोऽस्यास्तु किं ततः ।
सद्यउत्क्रान्तिदा चान्या यस्यां पूर्णाहुतिं तदा ॥ २८ ॥
दद्याद्यदास्य प्राणाः स्युर्ध्रुवं निष्क्रमणेच्छवः ।

एककं क्षणमिति यत्क्षणादनन्तरं स्वारसिकमेव अस्य मरणं भवेदिति भावः । ननु

'..................येनेदं तद्धि भोगतः ।'

इत्युक्त्या तत्क्षणभाविनोऽपि कर्मणो भोगं विनास्य कथङ्कारं प्रक्षयः स्यादित्याशङ्कयाह भोग इत्यादि । किं तत इति स्थितेनापि क्षीणप्रायेण तेन न कश्चिदर्थ इत्यर्थः । तदा दद्यादिति येनास्य तत्कालमेव प्राणा निर्यान्तीत्यर्थः, अतश्च एकैकस्यापि कालक्षणस्य नात्र उल्लङ्घनं भवेदिति भावः ॥ २७-२८ ॥

इस ब्रह्मविद्या के प्रयोग से और उसके बल से शिष्य तत्काल उत्क्रान्त कर दिया जाता है। उसके जीवन के अवशिष्ट आयुष्य का उल्लंघन हो जाता है और एक लघु क्षण में ही स्वारसिक रूप में उसकी मृत्यु हो जाती है। यहाँ कुछ लोग यह पूछ सकते हैं कि,

"........कर्मक्षय भोग से ही होता है।"

किन्तु यहाँ उसकी मृत्यु स्वारसिक रूप से तुरत हो जाती है। परिणामतः उसके कर्म तो शेष ही रह जाते हैं। शास्त्रकार कह रहे हैं कि, ऐसा प्रश्न यहाँ निरर्थक है। यहाँ भोग भी क्षणिक हो जाते हैं। क्षण में ही वे भोग भी भुक्त हो जाते हैं या क्षीण हो जाते हैं। यदि कुछ क्षीण भोग बच भी जाँय, तो वे निष्प्रभावी हो जाते हैं। वे कुछ नहीं कर सकते।

श्लोक २८ की दूसरी अर्धाली में अन्या (दूसरी) सद्यः उत्क्रान्तिदा दीक्षा का संकेत उस तात्कालिकता से है, जब शिष्य ऊर्ध्वश्वास की स्थिति में चला गया होता है और उसके प्राण अब तब में निश्चित रूप से निष्क्रमण के लिये छटपटा रहे होते हैं। उस समय बिना एक एक क्षण का विलम्ब किये तत्काल पूर्णाहुति का प्रयोग करना प्रारम्भ कर देना चाहिये। वे क्षण बड़े महत्त्वपूर्ण होते हैं। पूर्णाहुति से जीवन सूत्र के टूटते ही उसकी महायात्रा का पथ प्रशस्त हो जाता है ॥ २७-२८ ॥

क्रियादिपरिहारेणापि ब्रह्मविद्याया एवात्र साधनत्वमस्तीत्याह

विनापि क्रियया भाविब्रह्मविद्याबलाद्गुरुः ॥ २९ ॥

कर्णजापप्रयोगेण तत्त्वकञ्चुकजालतः ।

निःसारयन्यथाभीष्टे सकले निष्कले द्वये ॥ ३० ॥

तत्त्वे वा यत्र कुत्रापि योजयेत्पुद्गलं क्रमात् ।

यत्र कुत्रापीत्यनेन यथाभीष्टत्वमेव उपोद्वलितम् ।

न केवलं क्रियादेरेव परिहारेण अत्र अस्याः साधनत्वम्, यावद्गुरोर-पीत्याह

ऐसा भी संभव है कि, समय पर गुरु उपलब्ध न हों और कर्मकाण्ड-प्रक्रिया को पूरी करने का अवसर ही न हो, इधर प्राण पखेरू उड़ जाने को आकुल हों रहे हों, तो क्या करना चाहिये ? इस पर कह रहे हैं कि, यहाँ तो क्रिया का परिहार करना ही पड़ेगा । ब्रह्मविद्या ही एक मात्र वहाँ कल्याणकारिणी होती है । इसी को स्पष्ट करते हुए शास्त्रकार कह रहे हैं कि,

बिना क्रिया के भी तीसवें आह्निक में वक्ष्यमाण ब्रह्मविद्या के बल से ही गुरु यह दीक्षा सम्पन्न करे । दाहिने कानों में इसका जप प्रारम्भ करे । इस प्रयोग का परिणाम यह होता है कि, मन्त्र की शक्ति शारीरिक तत्त्वों पर जो कञ्चुक जाल पड़ा हुआ है, उससे निकालकर उसके प्राण को सकल या निष्कल तत्त्व जो भी अभीष्ट होता है, उसमें नियोजित कर देती है । यह मन्त्र शक्ति का ही प्रभाव है कि, क्रिया आदि के परिहार में भी इस दीक्षा का सुपरिणाम प्राप्त हो जाता है ॥ २९-३० ॥

यहाँ एक पग और आगे बढ़े कर इस विषय की क्रान्तिकारिणी घोषणा कर रहे हैं कि, क्रिया परिहार की बात तो सामान्य स्तर की है । यदि विशेष स्तर पर गुरु भी उपलब्ध न हों, तो भी अर्थात् गुरु के परिहार में भी यह क्रिया सम्पन्न करनी चाहिये ।

समयी पुत्रको वापि पठेद्विद्यामिमां तथा ॥ ३१ ॥

तथेति यथा मुमूर्षुरिमां शृणुयादित्यर्थः ॥ ३१ ॥

एवमस्य किं स्यादित्याशङ्क्याह

तत्पाठात्तु समय्युक्तां रुद्रांशापत्तिमश्नुते ।

तुशब्दो हेतौ, एतावता अस्य समयदीक्षाभवेदित्यर्थः ।

ननु कथमनयोर्गुरुवदेतत्पाठो न्याय्य इत्याशङ्क्याह

एतौ जपे चाध्ययने यस्मादधिकृतावुभौ ॥ ३२ ॥

नाध्यापनोपदेशे वा स एषोऽध्ययनादृते ।

नच अयमनयोरध्ययनादन्यः पाठ इत्याह स एषोऽध्ययनादृते इति । नशब्दः पूर्वतः सम्बन्धनीयः ।

गुरु के न रहने पर समयाचार-सिद्ध समयी-शिष्य अथवा पुत्रक दीक्षा प्राप्त पुत्रक शिष्य ही इस विद्या को आसन्नमरण व्यक्ति के कानों में पढना प्रारम्भ करे। इसे किसी तरह करीबुलमर्ग (मरणासन्न मुमूर्षु) सुन ले, बस वागात्मक वह स्पन्द हो उसके मरण क्षण को धन्य बना देता है। उसका मरण उसे इष्ट के शरण में पहुँचाने में चरितार्थ हो जाता है ॥ ३१ ॥

इसी तथ्य को इस श्लोक से समर्थित कर रहे हैं। शास्त्रकार कह रहे हैं कि,

इस मन्त्र के पाठ मात्र से मानो समय-दीक्षा ही सम्पन्न हो जाती है। समयी के लिये समयी-दीक्षा के सन्दर्भ में कही गयी रुद्रांशापत्ति रूप फल की प्राप्ति हो जाती है। इसी बीच में किसी शिष्य ने यह पूछ ही लिया कि, गुरुदेव ! गुरु के न रहने पर भी क्या समयी और पुत्रकों द्वारा यह पाठ उचित माना जा सकता है ? इस पर कह रहे हैं कि,

ये दोनों अर्थात् समयी और पुत्रक दोनों इस बात के लिये अधिकृत होते हैं। उन्हें केवल अध्यापन और उपदेश में अधिकार नहीं होता। ये दोनों कार्य अर्थात् अध्ययनोप देशरूप कार्य गुरुदेव के लिये ही निर्धारित हैं और पाठरूपी कार्य इन दोनों के अतिरिक्त कार्य है। इसलिये समयी और पुत्रक द्वारा मन्त्रपाठ में किसी प्रकार का अनौचित्य नहीं माना जा सकता ॥ ३२ ॥

ननु यदि नाम नायमुपदेशादिरूपः पाठस्तत्कथमस्य समयदीक्षा कृता भवेदित्युक्तमित्याशङ्क्याह

पठतोस्त्वनयोर्वस्तुस्वभावात्तस्य सा गतिः ॥ ३३ ॥

एतदेव दृष्टान्तोपदर्शनेन हृदयङ्गमयति

यथा निषिद्धभूतादिकर्मा मन्त्रं स्मरन्स्वयम् ।
आविष्टेऽपि क्वचिन्नैति लोपं कर्तृत्ववर्जनात् ॥ ३४ ॥
यथा च वाचयञ्शास्त्रं समयी शून्यवेश्मनि ।
न लुप्यते तदन्तःस्थप्राणिवर्गोपकारतः ॥ ३५ ।

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि, यह पाठ यदि उपदेशरूप नहीं है, तो इस पाठ के सुनने मात्र से यह कैसे कहा जा सकता है कि, इस तरह के पाठ से मुमूर्षु की रुद्रांशापत्तिरूप समय-दीक्षा सी हो जाती है ? इस का उत्तर दे रहे हैं कि, जब पुत्रक या समयी कोई भी यह पाठ करने लगता है, तो यह वस्तु स्वाभाव्यवश अर्थात् पाठरूप वस्तु के वागात्मक मन्त्रोल्लास के माहात्म्य से ही उसकी समयदीक्षा सम्पन्न हो जाती है। उसकी सद्गति का कारण वाक् चैतन्य का चिरन्तन प्रभाव मात्र है ॥ ३३ ॥

इसी तथ्य को दृष्टान्त के माध्यम से अभिव्यक्त कर रहे हैं—

जैसे निषिद्ध भूत आदि कर्म करने वालों का मन्त्र स्मरण करते हुए भी उनका आवेश लुप्त नहीं होता, वे स्वयम् आविष्ट रहते हैं और आवेश से उनके मन्त्र के अस्तित्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, उसी प्रकार समयी और पुत्रक आदि पाठ करते हैं। वे पाठ के आवेश में होते हैं, फिर भी उनके समयित्व या पुत्रकत्व का लोप नहीं होता क्योंकि उसमें इनको कर्त्तृत्वाभिमान नहीं होता। शास्त्र का पाठ वे करते हैं। यह क्रिया एकान्त शून्यवेश्म अर्थात् भीड़रहित शान्त किसी घर में होती है। उस समय इन दोनों के हृदय में एक ही विचार उच्छलित होता रहता है कि, इस पाठ से वहाँ उपस्थित प्राणिवर्ग का उपकार सम्पन्न हो रहा है। ऐसी स्थिति

निषिद्धेति । यदुक्तं

'मन्त्रवादो न कर्तव्य इतिकर्तृत्ववर्जनात् ।' इति ।

नहि एवं करोमीत्यत्र अस्य कश्चिदभिमान इत्यर्थः । शून्येत्यनेन जनवैविक्त्यमेवात्रास्याभिप्रेतमित्युक्तम् । उपकारत इति शास्त्राणां हि श्रवणमात्रत एव पापक्षयो भवेदिति भावः ।

तदुक्तं

'गोघ्नश्चैव कृतघ्नश्च ब्रह्महा गुरुतल्पगः ।
शरणागतघाती च मित्रविस्रम्भघातकः ॥
दुष्टः पापसमाचारो मातृहा पितृहा तथा ।
श्रवणादस्य भावेन मुच्यन्ते सर्वपातकैः ॥' इति ॥ ३५ ॥

में उनके समयलोप या पुत्रकत्व-लोप की संभावना नहीं होती, वरन् करुणा भाव ही प्राधान्यतः जागृत रहता है । श्लोक ३४ में 'निषिद्धभूतादिकर्मा' शब्द का प्रयोग किया है । इस सम्बन्ध में आगमिक दृष्टिकोण प्रस्तुत कर रहे हैं—

'इतिकर्त्तृत्व के वर्जन के कारण मन्त्रवाद का प्रयोग नहीं करना चाहिये । यह निषिद्ध है ।"

इस तरह के निर्देश के रहते हुए भी निषिद्ध झाड़ फूँक करने वाले लोग स्वयम् आविष्ट होते हैं फिर भी मन्त्र-सत्ता में कोई विकृति नहीं आती ।

मैं इस प्रकार इसे कर रहा हूँ—इस तरह का कोई अभिमान यहाँ नहीं रहता । जहाँ तक प्राणिवर्ग के उपकार का प्रश्न है । इस विषय में भी शास्त्र कहता है कि,

"भले ही कोई व्यक्ति गो-वध के पाप से ग्रस्त हो, गो-हत्या के क्रूर पाप का वह भागी है, अथवा कृतघ्न है । कृतघ्नता गोहत्या से बढ़कर पापवृत्ति मानी जाती है । इससे भी बड़ा ब्रह्म हत्यारा होता है । उससे भी दुष्ट शरण में आये हुए व्यक्ति के हत्यारे होते हैं । मित्रता के प्रति आन्तरिक विश्वासघात करने वाला पापी ही क्यों न हो ! इन महान् पापियों के अतिरिक्त कोई भी दुष्ट हो, पापाचार में प्रवृत्त पुरुष हो, मातृ हत्यारा और पिता की भी हत्या करने

एतदेव प्रकृते योजयति

तथा स्वयं पठन्नेव विद्यां वस्तुस्वभावतः ।
तस्मिन्मुक्ते न लुप्येत यतो किञ्चित्करोऽत्र सः ।। ३६ ।।

नन्वस्य मा भूदेव कश्चिद्दोषः

'अदीक्षितानां पुरतो नोच्चरेच्छास्त्रपद्धतिम् ।'

इति हि अस्ति समयः, तत्कथमिमां विद्यामेतदग्रे पठन्न प्रत्यवैतीत्याह

ननु चादीक्षिताग्रे स नोच्चरेच्छास्त्रपद्धतिम् ।। ३७ ।।

वाला हो क्यों न हो, इस विद्या के श्रवण मात्र से समस्त पाप-कलङ्क-पङ्क-रूप किल्विष से छुटकारा मिल जाता है ।"

इस तरह के शास्त्र वाक्यों से यह सिद्ध होता है कि, निरभिमान रहते हुए समयी और पुत्रक भी इस ब्रह्मविद्या का श्रावण कर सकते हैं ।। ३४-३५ ।।

उक्त प्रतिपादन से यह स्पष्ट हो जाता है कि, इस प्रकार स्वयं उस विद्या का पाठ करने वाले समयी या पुत्रक स्वयं नहीं लुप्त होते । यद्यपि मुमूर्षु मुक्त हो जाते हैं । पर इनके समयाचार-उल्लङ्घन रूप 'लोप' के विषय में सोचा भी नहीं जा सकता क्योंकि वे स्वयं किञ्चित्कर्त्तृत्व युक्त ही रहते हैं, अर्थात् उन्हें कर्त्तृत्वाभिमान नहीं होता । विद्या की वस्तु-स्वभाव-शक्ति से ही शिष्य की मुक्ति होती है । यहाँ समय का अलोप, विद्या का वस्तु स्वभाव और मुमूर्षु को मुक्ति इन तीन विषयों का संसूचन एक श्लोक में ही कर दिया गया है ।। ३६ ।।

ऐसे समयी या पुत्रक पुरुषों का मान लिया कि, कोई दोष नहीं, किन्तु आगम कहता है कि,

"अदीक्षितों के समक्ष इस शास्त्र-पद्धति का उच्चारण भी न करे ।"

यह एक समयात्मक आदेश वाक्य है । इस समय के विरुद्ध आचरण करने पर अर्थात् इस विद्या का अदीक्षित के समक्ष उच्चारण करने से क्या उसे कोई प्रत्यवाय नहीं आ सकता ? इस पर कह रहे हैं कि,

अदीक्षित व्यक्ति के आगे शास्त्र-पद्धति का उच्चारण नहीं करना चाहिये । यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है ।। ३७ ।।

एवं तर्हि नास्य कदाचिदपि पाठः प्राप्तः, अतः कुड्यादयोऽप्यदीक्षिताः किं न संनिहिता भवेयुरित्याह

हन्त कुड्याग्रतोऽप्यस्य निषेधस्त्वथ कथ्यते ।

पर्युदासेन यः श्रोतुमवधारयितुं क्षमः ॥ ३८ ॥

स एवात्र निषिद्धो नो कुड्यकीटपतत्रिणः ।

अथेदमुच्यते यच्छास्त्रश्रवणादौ योग्यानां दीक्षितसदृशानामत्र निषेधो विवक्षितः, नतु कुड्यप्रायाणां जडानामित्याह अथेत्यादि ॥

एवं तर्हि कुड्यप्रायस्य मुमूर्षोरग्रेऽपि पठतोऽस्य कः समयलङ्घनार्थं इत्याह

इस निर्देश का पालन करने पर कभी भी यह किया ही नहीं जा सकता। यदि अदीक्षित की परिभाषा पर विचार किया जाय तो कुड्य आदि भी इसी श्रेणी में आ सकते हैं, तो क्या कहीं भी यह पाठ नहीं किया जा सकता ? क्या कुड्य आदि को भी इस परिभाषा के परिवेश में परिगणित किया जाय ? इस प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं—

यह दुःख की बात है कि, इस परिभाषा के अनुसार भित्ति आदि के सामने भी, घर में भी इस पाठ को नहीं कर सकते। इसलिये यहाँ पर्युदास विधि के अर्थ लगाना चाहिये कि, जो व्यक्ति इसे सुनने के लिये पर्याप्त आस्था और धीरज भी रख सकने में समर्थ हो अथवा इसके मन्त्रार्थ का अवधारण करने में समर्थ हो, जो सुने और उसे गुने किन्तु अदीक्षित हो, उसके सामने इसे न पढ़ा जाय। वस्तुतः अदीक्षित ही निषिद्ध है। इस परिवेश में कुड्य (दीवाल), कीट, पशु और पक्षी आदि जड़ों की गणना इसमें नहीं की जानी चाहिये। यहाँ नञ् समास दीक्षित सदृश योग्य के निषेध में प्रयुक्त है ॥ ३८ ॥

इस पर एक प्रश्न और भी उछाल रहे हैं कि, मुमूर्षु भी कुड्यप्राय ही होता है। उसे कुछ समझ तो रहती नहीं। उसके सामने भी इसके पढ़ने से क्या समयी के समय का उल्लङ्घन हो सकता है ? इस जिज्ञासा की शान्ति के लिये कह रहे हैं कि,

तर्हि पाषाणतुल्योऽसौ विलीनेन्द्रियवृत्तिकः ॥ ३९ ॥
तस्याग्रे पठतस्तस्य निषेधोल्लङ्घना कथम् ।

नन्वेवं पाषाणप्रायस्यास्य किमेतत्पाठेन, मैवमित्याह

स तु वस्तुस्वभावेन गलिताक्षोऽपि बुध्यते ॥ ४० ॥
अक्षानपेक्षयैवान्तश्चिच्छक्त्या स्वप्रकाशया ।
प्राग्देहं किल तित्यक्षुर्नोत्तरं चाधितष्ठिवान् ॥ ४१ ॥
मध्ये प्रबोधकबलात् प्रतिबुध्येत पुद्गलः ।

ननु को नाम अत्र अस्य प्रबोधको यद्बलादन्तरा अयं प्रबोधमासादयेदित्याशङ्क्याह

यह बात तो सही है कि, वह पाषाण तुल्य जड़ हो जाता है। उसकी इन्द्रिय-वृत्तियाँ भी विलीन हो जाती हैं। उसके आगे पढ़ने से 'अदीक्षित के सामने न पढ़े, इस उक्ति रूप समयाचार का उल्लङ्घन कैसे कहा जा सकता है ? वास्तविकता यह है कि, विलीनेन्द्रिय-वृत्तिक होने पर वस्तुधर्म के प्रभाव से वह भीतर ही भीतर यह समझने लगता है कि, इससे हमारे रास्ते के रोड़े हट से रहे हैं। स्वप्रकाशा आन्तरिक चेतना-शक्ति से उसे बोध का प्रकाश मिलने लगता है। यहाँ तीन स्थितियों को ध्यान में रखकर उसकी दशा पर विचार करना है—१. यह देह जिसे वह छोड़ने की इच्छा कर रहा है और लाचार पड़ा है। २. उत्तर कालीन गति का किसी प्रकार का आकलन न हो पाने से वह कहीं अधिष्ठित होने की स्थिति में नहीं है। ३. तब तक मध्य में मन्त्रात्मक वाग्वीर्यवत्ता से संबोध की ये किरणें फूट पड़ती हैं। यही मध्य प्रबोधन है। इसके बल से वह प्रतिबुद्ध हो जाये ; यही तो बन्धुओं, मित्रों, परिजनों और समयी पुत्रक आदि की सदिच्छा होती है॥ ४०-४१ ॥

जिज्ञासु यह जानना चाहता है कि यह मध्य में कौन आ उपस्थित होता है जिसके बल से वह पुद्गल बोध को उपलब्ध हो पाता है ? इसका उत्तर प्रस्तुत कर रहे हैं—

मन्त्राः शब्दमयाः शुद्धविमर्शात्मतया स्वयम् ॥ ४२ ॥
अर्थात्मना चावभान्तस्तदर्थप्रतिबोधकाः ।
तेनास्य गलिताक्षस्य प्रबोधो जायते स्वयम् ॥ ४३ ॥
स्वचित्समानजातीयमन्त्रामर्शनसंनिधे ।

स्वयं प्रबोधो जायते इति । यद्वक्ष्यति

'यामाकर्ण्य महामोहविवशोऽपि क्रमाद्गतः ।
प्रबोधं वक्तृसांमुख्यमभ्येति रभसात्स्वयम् ॥' (३० आ०) इति ॥

मन्त्र शब्दमय होते हैं । वे शुद्ध विमर्शात्मक माने जाते हैं । विमर्शात्मक होने के कारण ही वे स्वयम् अर्थ रूप से अवभासित होते हैं । वे अपने अर्थ के स्वयम् अवबोधक बन जाते हैं । शब्दों में ज्ञानरूपिणी शक्ति का अधिष्ठान होता है । ज्ञान में भी एक ऐसी शक्ति काम करती है, जो स्वयं चिन्मयातीत होती है । ऐसी अप्रकल्प्य शक्तिमत्ता के प्रभाव से वह मुमूर्षु पुद्गल भी प्रभावित होने लगता है । यद्यपि उसकी इन्द्रियाँ इस समय काम नहीं कर पा रही होतीं हैं फिर भी उसमें आन्तरिक चिति शक्ति तो काम करती ही रहती है । पाठ के शब्दों से जब विमर्शात्मक चेतन तरङ्गें फूट पड़ती हैं, तो उसकी आन्तरिक चेतना में समान जातीयता के फलस्वरूप विमर्श का मन्त्रामर्श स्पन्दित हो उठता है । चिदग्नि की रश्मियों के सान्निध्य से एक चमत्कार घटित होता है । वही प्रबोध है, जो उसे हो जाता है और उसमें रुद्रांशापत्ति चरितार्थ हो जाती है । इस सम्बन्ध में आह्निक (३०।६५-६६) का श्लोक यह घोषित करता है कि,

"जिस उत्क्रान्ति विद्या को सुन कर महामोह से विवश व्यक्ति भी क्रमणपूर्वक अविलम्ब बोध को प्राप्त कर लेता है और स्वयं वक्ता का सांमुख्य प्राप्त कर लेता है ।"

यहाँ दो बातें विशेषतः ध्यातव्य हैं—१. इस ब्रह्मविद्या को सुनकर विलीनाक्ष पुद्गल पुरुष उत्क्रमणपूर्वक प्रबोध को प्राप्त होता है । २ स्वयं शीघ्रतापूर्वक वक्ता का सांमुख्य भी प्राप्त कर लेता है । वक्ता के सांमुख्य का

एतदेव दृष्टान्तमुखेनापि घटयति

यथा ह्यल्पजवो वायुः सजातीयविमिश्रितः ॥ ४४ ॥
जवी तथात्मा संसुप्तामर्शोऽप्येवं प्रबुध्यते ।

सजातीयेति तालवृन्तादिसमुत्थेन । एवमिति मन्त्रामर्शनादिना ॥ ४४ ॥

एवं तर्ह्यस्य अदीक्षिताग्रे मन्त्रपाठात् स्फुटमेवापतितः समयलोप इत्याशङ्क्याह

प्रबुद्धः स च संजातो न चादीक्षित उच्यते ॥ ४५ ॥
दीक्षा हि नाम संस्कारो न त्वन्यत्सोऽस्ति चास्य हि ।

तात्पर्य क्या है ? वक्ता स्वयं शिव हैं। मन्त्रवक्ता गुरु, समयी या पुत्रक हो सकता है। मन्त्र के बल से ही शिव सांमुख्य उपलब्ध हो पाता है ॥ ४२-४३ ॥

इस तथ्य को दृष्टान्त के माध्यम से अभिव्यक्त कर रहे हैं—

जैसे वायु बह रहा है। उसमें शीतलता है, सुगन्ध है, गति भी मन्द है। उस समय उसके बहाव से तेजी नहीं रहती। वही वायु जब सजातीय दूसरे वायु प्रवाह के सम्पर्क में आता है, तो उसकी गति तेज हो जाती है। उसी प्रकार आत्मा समान जातीय आमर्श से संपृक्त होकर जीवनन्मुक्त हो जाता है। प्रबोध को उपलब्ध होना एक असाधारण बात है ॥ ४४ ॥

फिर भी जो मुख्य प्रश्न था कि, अदीक्षित के आगे बोलने से समय-लोप हो जाता है, यह बात तो ज्यों की त्यों अनुत्तरित ही रह गयी है। इस पर कह रहे हैं कि,

जो प्रबुद्धता के स्तर को प्राप्त हो गया है, वह अब अदीक्षित नहीं माना जा सकता। दीक्षा एक प्रकार का संस्कार ही है। वह उस पुरुष को सहज ही प्राप्त हो गया है। प्रबोधता भी एक प्रकार का संस्कार है। अब वह संस्कार सम्पन्न हो चुका है। वह संस्कृत (दीक्षित) हो गया है। उसके सामने यह ब्रह्मविद्या पढ़ी जा सकती है। उससे पाठक का समयलोप नहीं हो सकता।

दीक्षा हि नाम मान्त्रः संस्कारः, सच अस्य प्रबोधान्यथानुपपत्त्या स्वरसत एव मन्त्रामर्शादिना सिद्ध इति को नामास्य समयलोपार्थः ॥ ४५ ॥

एवं शास्त्रपाठादिनापि परोपकृतावस्य न कश्चित्समयलोपजन्मा दोष इत्याह

अत एव निजं शास्त्रं पठति क्वापि सामये ॥ ४६ ॥

तच्छ्रुत्वा कोऽपि धन्यश्चेन्मुच्यते नास्य सा क्षतिः ।

सामय इति समयिनीत्यर्थः ॥

ननु एवमेतन्निर्विषयं वाक्यं स्यादित्याशङ्कयाह

शास्त्रनिन्दां मैष कार्षीद्द्वयोः पातित्यदायिनीम् ॥ ४७ ॥

व्याख्याकार ने दीक्षा को मान्त्र-संस्कार की संज्ञा दी है । 'प्रबोधान्यथानुपपत्ति' शास्त्रीय पारिभाषिक शब्द है । बिना प्रबोध के संस्कार की उपपत्ति असभव है । वह स्वारस्यवश मन्त्र के आमर्श के माध्यम से उसे सिद्ध हो सकी है । इसलिये ऐसी अवस्था में उसके समयलोप का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता । इस आधार पर हम कह सकते हैं कि, न वह अब अदीक्षित है और न समयी के समयलोप की ही कोई सम्भावना है ॥ ४५ ॥

इस तरह शास्त्र के पाठ आदि की इस क्रिया के फलस्वरूप परोपकार का पुण्यकर्म भी सम्पन्न होता है। समय-चर्या में अनुशासित शिष्य को किसी प्रकार का समयलोप रूप दोष नहीं होता। यही कह रहे हैं—

इसलिये कहीं भी समयिनी दीक्षा में दीक्षित रहते हुए भी वह अपने शास्त्र के इस रहस्यानुशासन सम्बन्धी मन्त्रात्मक वाक्यों का पाठ करता है। इसके तीन सुखद परिणाम होते हैं—१. कोई भी इस शास्त्र का श्रवण कर कृतार्थ हो जाता है। २. मुमूर्षु की उत्क्रान्ति हो जाती है और ३. उसे समयलोप-जन्य दोष भी नहीं होता। यहाँ समयलोप की बात से बढ़कर उसके परोपकार का पुण्य-परिणाम होता है। उसके पाठ को सुनकर यदि कोई मुक्त हो, तो इससे बढ़कर उत्तम काम क्या हो सकता है ?

इत्येवंपरमेतन्नादीक्षिताग्रे पठेदिति ।

अत्र च सविचिकित्सं परं स्वकञ्चुकानुप्रवेशेनैव प्रबोधयितुमाह

यथा च समयी काष्ठे लोष्टे वा मन्त्रयोजनाम् ॥ ४८ ॥

कुर्वंस्तस्मिश्चलत्येति न लोपं तद्वदत्र हि ।

इस वैचरिक परिवेश में एक आशङ्का यह होती है कि, कहीं यह समयलोप रूप आदेश निर्विषय न हो जाय! निराधार निर्देश निरर्थक हो माने जाते है। इस पर शास्त्रकार अपना विचार प्रस्तुत कर रहे हैं—

वास्तव में 'अदीक्षित के सामने शास्त्र को न पढ़ें' इस विधिवाक्य का लक्ष्य एक मात्र यही है कि, १. कहीं कोई अदीक्षित व्यक्ति आस्थाहीनता के कारण शास्त्र की उपेक्षा या निन्दा न करने लगे। २. कहीं समय अनुशासन में रहते हुए भो समयो उच्छृङ्खल भाव से शास्त्र-पाठ द्वारा यह न कहने लगे कि, शास्त्रकार ने व्यर्थ ही पाठ का निषेध किया है। मैं तो इसे यत्र तत्र सर्वत्र पढ़ता हूँ। यह भो शास्त्र-निन्दा हो है। शास्त्र-निन्दा एक ऐसा अपराध है, जो दोनों को पतित बना देती है। इसलिये शास्त्र के निर्देशों के रहस्यात्मक पक्ष पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है॥ ४६-४७॥

विचिकित्सा मनुष्य को ऐसी रुजा है, जिसको कोई चिकित्सा ही नहीं है। कहते हैं कि, सन्देह की दवा धन्वन्तरि के पास भो नहीं है। किन्तु शास्त्र इस सम्बन्ध में निराश नहीं करता। वह कहता है कि, ऐसे विचिकित्स्य सकल पुरुष के उद्बोध के लिये अपने कञ्चुक के अनुप्रवेश की विधि का प्रयोग करना चाहिये। वही कह रहे हैं—

जैसे समयी साधक काष्ठ (समिधा आदि) और लोष्ठ (मिट्टी से बने पार्थिव लिङ्ग आदि) आदि में मन्त्रों का योजन करता है। तदनन्तर इनके प्रयोग द्वारा अपने अभीष्ट की सिद्धि करता है। यहाँ काष्ठ और लोष्ठ नितान्त अदीक्षित हैं। उनमें मन्त्र योजन से योजक के समय का लोप नहीं होता, उसो तरह मुमूर्षु के कल्याण के लिये प्रयुक्त पाठ से उसके समय का लोप नहीं होता। तद्वत् शब्द उसी सादृश्य को व्यक्त करता है।

काष्ठ इति समिधादौ। लोष्ट इति मृल्लिङ्गादावुपादेये। अत्रेति मुमूर्षौ॥

अत्रैव हेतुमाह

यतोऽस्य प्रत्ययप्राप्तिप्रेप्सोः समयिनस्तथा ॥ ४९ ॥

प्रवृत्तस्य स्वभावेन तस्मिन्मुक्ते न वै क्षतिः ।

प्रत्ययो निजमन्त्रस्फारसंवादः॥

यहाँ दो क्रियायें 'चलति' और 'एति' विशेष रूप से विमृश्य हैं। दोनों वर्त्तमान काल, अन्य पुरुष और एकवचन की क्रियायें हैं। इनका कर्त्ता समयी है। काष्ठ और मुमूर्षु के साथ 'चलति' और लोष्ठ तथा मुमूर्षु के साथ 'एति' का अन्वय करते हैं। समित् आनयन और गुरुदेव को अर्पण करने का काम समयी शिष्य का है। समिधा के साथ चलता है। उसमें मन्त्र योजना की पृथक् विधि है। इसी प्रकार पार्थिव पूजन की प्रक्रिया में शैव महाभाव को प्राप्त होता है। ये दोनों काम समयी स्वयं करता है। 'एति' क्रिया समयी के साथ दो तरह से अन्वित होती है—१. 'समयी तस्मिन् एति' और 'समयी लोपं न एति'। इस तरह यह सिद्ध हो जाता है कि, समयलोप का सन्दर्भ गम्भीरता पूर्वक विचारणीय है॥ ४८॥

समयलोप न होने के हेतु के विषय में एक दूसरे वैचारिक आधार को प्रस्तुत कर रहे हैं—

चूंकि समयी के मन में अपने मन्त्र-प्रयोग की प्रायोगिक फलवत्ता को विश्वास में उतार कर प्रत्यक्ष परीक्षित करने की आकाङ्क्षा का उल्लास भी अनिवार्य रूप से रहता ही है। अतः वह स्वभावतः ब्रह्मविद्या का प्रयोग करता है। परिणामतः मुमूर्षु मुक्त हो जाता है। एक उपकार और पुण्य का काम भी सम्पन्न हो जाता है। शास्त्रकार 'वै' अव्यय का प्रयोग कर यह निश्चायक घोषणा करते हैं कि, इसमें किसी प्रकार की कोई क्षति नहीं है॥ ४९॥

ननु आचार्यस्य तावत् परानुग्रहे नास्ति काचित् क्षतिः, समयिपुत्रक-योस्तु प्रासङ्गिकत्वेनापीत्युक्तम् ; साधकस्य पुनरत्र का वार्ता इत्याशङ्क्याह

साधकस्तु सदा साध्ये फले नियतियन्त्रणात् ॥ ५० ॥

मक्षिकाश्रुतमन्त्रोऽपि प्रायश्चित्तौचितीं चरेत् ।

औचितीमिति तीव्रमध्यादिभेदेन । अत एव

'स्वमन्त्रमक्षसूत्रं च गुरोरपि न दर्शयेत् ।'

इत्याद्युक्तम् ॥ ५० ॥

प्रश्न साधक की स्थिति के विषय में उपस्थित होता है । प्रक्रिया में पूर्ण सक्षम तो आचार्य होता है । उसके निर्दोष कार्य सम्पन्न करने से कोई क्षति नहीं होती । वह दूसरों पर अनुग्रह करने में भी समर्थ होता है । समयी और पुत्रक ये दोनों भी प्रसङ्गवश इस प्रक्रिया के कर्तृत्व में स्वीकृत मान लिये गये हैं । साधक की इस स्थिति में कहाँ कलना की जा सकती है ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

साधक सतत साधना में संलग्न रहता है । उसे अनवरत अपना उद्देश्य दीख पड़ता है । वह अपने साध्य की सिद्धि में लगा हुआ होता है । उसे अपने ऊपर घोर नियन्त्रण रखना पड़ता है । इसे शास्त्रकार नियति-यन्त्रण कहते हैं । यदि वह उसमें शैथिल्य का तनिक भी आचरण करता है, तो उसकी यह दुर्बलता मानी जाती है । उसकी क्रिया की पूर्णता का यह छिद्र होता है । छिद्रों में बहुल अनर्थ की संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता । शास्त्रकार कहते हैं कि, यदि मक्षिका भी उसके मन्त्र के उच्चारण को सुन ले, तो उसे स्तरीयता के अनुसार प्रायश्चित्त करना पड़ता है। स्तरीयता को शास्त्र की भाषा में औचित्य कहते है । यदि वह तीव्रशक्ति या मध्य या मन्द श्रेणो में से किसी श्रेणी का साधक हो, उसे अपनी श्रेणो के अनुसार प्रायश्चित्त करना ही पड़ेगा । इसी लक्ष्य को ध्यान में रख कर आगम कहता है कि,

'अपने मन्त्र को और अक्षसूत्र (माला) को गुरु से भी छिपा कर रखना चाहिये अर्थात् उन्हें भी नहीं दिखाना चाहिये ।'

एतमेतत्प्रसङ्गादभिधाय प्रकृतमेवाह

इत्थं सद्यःसमुत्क्रान्तिर्योक्ता तामाज्ञया गुरौः ॥ ५१ ॥

समय्यादिरपि प्रोक्तकाले प्रोक्तार्थसिद्धये ।

स्वयं कुर्यात्समभ्यस्तप्राणचारगमागमः ॥ ५२ ॥

अकृताधिकृतिर्वापि गुरुः समयशुद्धये ।

अधस्तनपदावस्थो नतु ज्ञानेद्धचेतनः ॥ ५३ ॥

जिस मन्त्र को उपांशु जप करने में गुरु भी नहीं सुन सकता, उसे मक्षिका कैसे सुन सकती है ? इससे ही उसकी पवित्रता में बाधा पड़ जाती है ॥ ५० ॥

प्रसङ्गवश इतनी सारी बातों के विश्लेषण के बाद प्रकृत विषय का वर्णन कर रहे हैं—

'इस प्रकार की इस सद्यःसमुत्क्रान्ति दीक्षा का कथन मैंने अपने गुरु के आदेश के अनुसार ही किया है। प्रसङ्गवश जिस समयी आदि दीक्षा की चर्चा की गयी है, वह सन्दृब्ध विषय के समर्थन के उद्देश्य से ही, उस अर्थ की सिद्धि के लिये ही की गयी है। ऐसा गुरु-स्तरीय आचार्य जिसने प्राणपानवाह प्रक्रिया में पूर्ण अभ्यास कर लिया है, वही क्षमतापूर्वक संपादित कर सकता है। प्राणचार का गमागम एक ईश्वरीय अनिवार्यता है, जोवन का आधार है। इसके अभ्यास की विधियाँ है। इनके अभ्यस्त हो जाने पर योगी कालजयी हो जाता है। ऐसा गुरु ही इस दोक्षा का सर्वाधिकारी है।

जिसने अभी श्वासचार की आगमिक प्रक्रिया में पूर्णता नहीं प्राप्त की है, वह इस विषय का अनधिकारी माना जाता है। अभी वह अकृताधिकृति गुरु है। अकृताधिकृति वह गुरु भो होता है, जो अधिकार तो प्राप्त कर चुका है किन्तु अपने अधिकार का प्रयोग नहीं करता। समय शुद्धि में प्रवृत्त नहीं होता। उसे अधोगामी होना पड़ता है। आगम कहता है कि,

अकृतेति । यदुक्तम्

'अधिकारं न चेत्कुर्याद्विद्येशः स्यात्तनुक्षये ।' इति ।

ज्ञानेद्ध इति परमाद्वयनिष्ठस्य हि

'मा किंचित्त्यज मा गृहाण································।'

इति नयेन विधिनिषेधाविषयत्वात् को नाम समयलोपस्य अवकाश एवेत्याशयः ॥ ५१-५३ ॥

ननु इयं सद्यःसमुत्क्रान्तिलक्षणा दीक्षा गुरुकार्येति नास्ति विमतिः, स्वयंकार्यतायां तु किं प्रमाणमित्याशङ्क्याह

इतीयं सद्यउत्क्रान्तिः सूचिता मालिनीमते ।
स्वयं वा गुरुणा वाथ कार्यत्वेन महेशिना ॥ ५४ ॥

'यदि वह अपने अधिकार का, अपने सामर्थ्य या बलवत्ता का प्रयोग नहीं करता, तो वह शरीर छूट जाने पर 'विद्येश' बनेगा ।'

ऐसे व्यक्ति के विषय में जिसने ज्ञान के प्रकाश की पूर्णता को प्राप्त कर लिया है, चिति के चिन्मय चैतन्य से तादात्म्य प्राप्त कर स्वात्म को विधि-निषेध के स्तर से ऊपर उठा लिया है, उस पर ये नियम लागू नहीं होते । आगम कहता है कि,

'यहाँ न तो कुछ छोड़ना है और न ग्रहण करना है' अर्थात् हेयोपादेय-विज्ञान वेत्तृत्व से जो संवलित है, उसके यहाँ समयलोप आदि का प्रश्न ही कैसे उठ सकता है ॥ ५१-५३ ॥

प्रश्न करते हैं कि, यदि समर्थ गुरु यह पुण्य कार्य सम्पादन करता है, तब तो यह उत्तम ही है और शास्त्र द्वारा प्रमाणित भी है किन्तु इसकी स्वयं कार्यता में क्या प्रमाण उपस्थापित किया जा सकता है ? इस पर कह रहे हैं—

मालिनीविजयोत्तर तन्त्र में यह सद्यःउत्क्रान्ति दीक्षा चर्चित है । उसके अनुसार स्वयं या गुरु द्वारा यह सम्पन्न की जा सकती है । यह महेश्वर की उक्ति है । यही प्रमाण है ॥ ५४ ॥

तदेवाह

सर्वं भोगं विरूपं तु मत्वा देहं त्यजेद्यदि ।
तदा तेन क्रमेणाशु योजितः समयी शिवः ॥ ५५ ॥

त्यजेदिति स्वयम् । योजित इति गुरुणा ।

यदुक्तं तत्र

'सर्वमप्यथवा भोगं मन्यमानो विरूपकम् ।
स्वशरीरं परित्यज्य शाश्वतं पदमृच्छति ॥'' (१७।२५) इति ।
'अनेन क्रमयोगेन योजितः परमे पदे ।
समय्यपि महादेवि दीक्षोक्तं फलमश्नुते ॥' इति च ॥

जहाँ तक स्वयं कार्यत्व विषयक महेश्वर की आज्ञा का प्रश्न है, उसका तात्पर्य यह है कि, यदि समयी समस्त भोगवाद को विरक्ति के भाव से देखकर इससे अपना मन मोड़कर स्वयं देहत्याग के लिये तत्पर हो, उस समय उक्त क्रम में ही गुरु उसे इस दीक्षा में योजित कर दे । ऐसा योजित समयी साक्षात् शिव रूप ही हो जाता है ।

आगम कहता है कि,

"इस सारे सृष्टि प्रपञ्च अथवा यह समस्त भोगवाद को विरूपक अर्थात् हेय मान कर यदि अपने शरीर का परित्याग करता है, तो वह शाश्वत पद की प्राप्ति कर लेता है" । (मा० वि० १७।२५)

मालिनीविजयोत्तर तन्त्र के प्रथम अधिकार के ४७वें श्लोक के अनुसार "यदि साधक इस योग का क्रमिक साधन करते हुए परम पद में गुरु द्वारा प्रयुक्त कर दिया जाये, तो भले ही वह समयी हो फिर भी हे महादेवी पार्वती ! वह सद्यःउत्क्रान्ति दीक्षा की फलवत्ता को ही प्राप्त करता है ।" यह बात स्वयं भगवान् शंकर ने माँ पार्वती से दीक्षा के प्रसङ्ग में कही है ।

यहाँ निम्नलिखित बिन्दुओं पर अध्येता को विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है—१. हेयोपादेय-विज्ञान वेत्तृत्व, २. भोगवाद के प्रति विरक्ति, ३. योग की क्रमिक सिद्धि में संलग्नता, ४. गुरु का सहयोग, ५. स्वयं

आह्निकार्थमेव प्रथमार्धेनोपसंहरति

उक्तेयं सद्यउत्क्रान्तिर्या गोप्या प्राणवद्बुधैः ॥ ५६ ॥

इति शिवम् ॥ ५६ ॥

सद्योनिर्वाणप्रदमान्त्रमहावीर्यलाभलुब्धेन ।
एकान्नविंशमाह्निकमेतत्किल जयरथेन निरणायि ॥

इति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्ताविरचिते श्रीतन्त्रालोके श्रीजयरथविरचितविवेकाभिख्यव्याख्योपेते सद्यउत्क्रान्ति-प्रकाशनं नाम एकान्नविंशमाह्निकम् ॥ १९ ॥

देह त्याग की प्रवृत्ति और, ६. शिवत्व की उपलब्धि। सद्यःउत्क्रान्ति दीक्षा के ये मूल तत्त्व हैं।

अन्त में शास्त्रकार अपनी पूर्व स्वीकृत शैली के अनुसार प्रथम अर्धाली से आह्निकार्थ का उपसंहार कर रहे हैं—

इस प्रकार इस पूरे आह्निक में सद्यःउत्क्रान्ति दीक्षा पर पूरा प्रकाश डाला गया है। यह विज्ञ पुरुषों द्वारा प्राणों के समान हो रक्षणीय है। अनधि-कारी पुरुषों के प्रति अप्रकाश्य है और गुरुजनों द्वारा आचरणीय एवम् आदरणीय है ॥ ५६ ॥ इति शिवम् ॥

तत्क्षण परिनिर्वाण विधि मन्त्र-शक्ति सुपरीप्सु।
ऊनविंश आह्निक विवृति कर्त्ता जयरथ वीप्सु ॥

× × ×

एकान्नविंशकस्यैवम् आह्निकस्य समीक्षणे।
लक्ष्मणेनाप्तदीक्षोऽयं 'हंसः' स्वक्षमतां व्यधात् ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य श्रीमदभिनवगुप्त द्वारा विरचित-
राजानकजयरथकृत विवेक-व्याख्योपेत
डॉ०परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीर-विवेकभाषाभाष्य-संवलित
श्रीतन्त्रालोक का सद्यःउत्क्रान्तिप्रकाशन नामक
उन्नीसवाँ आह्निक परिपूर्ण ॥ १९ ॥

अथ

श्रीतन्त्रालोके

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचिते
राजानकजयरथकृतविवेकाख्यव्याख्योपेते

विंशतितममाह्निकम्

जयति विभुर्बलदाता मूढजनाश्वासदायि येन वपुः ।
बहिराद्यन्तवदपि मध्यशून्यमुल्लासितं सततम् ॥

इदानीं द्वितीयार्धेन सप्रत्ययां दीक्षां वक्तुमाह

अथ दीक्षां ब्रुवे मूढजनाश्वासप्रदायिनीम् ॥ १ ॥

आश्वासः प्रत्ययः ॥ १ ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्य श्रीमदभिनवगुप्तपादविरचित
श्रीराजानकजयरथकृतविवेकाख्यव्याख्योपेत
डॉ०परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीरविवेक-
भाषाभाष्य-संवलित

श्रीतन्त्रालोक

का

बीसवाँ आह्निक

अज्ञजनाश्वासक बलद, जय विभु गुरु बलदेव ।
मध्यशून्य आद्यन्तवद, उज्ज्वल तव बल, देव ॥

अपने उक्त भाव से भरे मङ्गल श्लोक में मूढजनों को भी आश्वस्त करने वाले अपने उपास्य की प्रार्थना श्रीमान् व्याख्याकार ने की है। प्रत्येक

आह्निक के प्रारम्भ में मङ्गल श्लोक प्रस्तुत करने की शैली जयरथ की एक विशिष्ट शैली है, जिसमें 'बल' शब्द का अधिकांश आह्निकों में उपयोग किया गया है। इससे दो प्रकार के प्रकल्पन मन में उत्पन्न होते हैं—१. 'बल' चक्र-साधना में प्रयुक्त प्रत्याहार शब्द है। स्वाधिष्ठान चक्र में ६ मातृका वर्ण न्यस्त होते हैं। प्रथम वर्ण 'ब' है और अन्तिम वर्ण 'ल'। इसके बीच के चार वर्ण भ, म य और र मिलकर ६ होते हैं। यह बलप्रद चक्र है। इसके अधिष्ठाता विष्णु हैं। विष्णुरूप बल को यह प्रार्थना हो सकती है। २. बल, अतिबल, बलभद्र, बलप्रद, बलावह, बलवन्त, बलदाता और बलेश्वर ये नाम क्रमशः १४, १५, १६, १७, १८, १९, २० और २१ इन आठ आह्निकों में आये हुए उपास्य के नाम हैं। प्रतीत होता है कि, इनका अत्यन्त प्रिय 'बल' नामक कोई मित्र, पुत्र, गुरुभ्राता या पथप्रदर्शक रहा हो, जिसका स्मरण इन आह्निकों के प्रारम्भ में ही करने से उन्हें आत्मतृप्ति होती रही हो। इसी तरह दूसरे आह्निक से १३ वें आह्निक तक क्रमशः २. जयकृत, सजय ३. विजय ४. जयन्त ५. अपराजितः जयति, ६. सुजय सजय ७. जयरुद्र ८. जयकीर्ति ९. जयावह १०. जयमूर्त्ति, ११. जयोत्साह, १२. जयद और १३. जयवर्द्धन रूप उपास्य नामों में 'जय' शब्द को प्रमुखता दी गयी है। इन संज्ञाओं में स्वात्मनाम का समन्वय इनकी स्वात्मस्तुति की प्रवृत्ति भी कही जा सकती है। प्रथम आह्निक में तो वे महानन्द का ही स्मरण करते हैं।

अपनी पूर्व स्वीकृत शैली के अनुसार श्लोक की दूसरी अर्धाली से इस आह्निक का आरम्भ कर रहे हैं। इस आह्निक में मूढजनाश्वासदायिनी दीक्षा को सन्दृब्ध किया गया है। अदृश्य शक्तियों को न समझने वाले बहुत से लोग समाज में हों, यह स्वाभाविक है। उन्हें विश्वास में लाने के लिये कुछ ऐसे प्रयोग किये जाते हैं, जिन्हें प्रत्यक्ष देखकर गुरु में, आचार्य में या प्रयोक्ता के साथ ही साथ अदृश्य शक्तियों पर भी विश्वास हो जाता है। देख कर मन में यह प्रत्यय हो जाता है कि, अरे! यह तो चमत्कार हो गया। मन में बात जम जाती है। इसीलिये इस दीक्षा को सप्रत्यया दीक्षा भी कहते हैं॥ १॥

तदेवाह

त्रिकोणे वह्निसदने वह्निवर्णोज्ज्वलेऽभितः ।
वायव्यपुरनिर्धूते करे सव्ये सुजाज्वले ॥ २ ॥
बीजं किंचिद्गृहीत्वैतत्तथैव हृदयान्तरे ।
करे च दह्यमानं सच्चिन्तयेत्तज्जपैकयुक् ॥ ३ ॥
वह्निदीपितफट्कारधोरणीदाहपीडितम् ।
बीजं निर्बीजतामेति स्वसूतिकरणाक्षमम् ॥ ४ ॥

आश्वास प्रदान करने के लिये कुछ प्रत्यक्ष प्रयोग अनिवार्यतः आवश्यक होते हैं। इसे चमत्कार प्रदर्शन भी कहते हैं। सुबुद्ध लोग यहाँ सावधान रहते हैं। कुछ लोग आग पर नंगे पाव चलकर दिखाते हैं। कुछ हाथ में अंगारे रख कर अपनी देवसिद्धि का प्रदर्शन करते हैं। श्लेष के बल पर यहाँ दो प्रकार के प्रयोगों की ओर एक साथ ध्यान आकृष्ट किया गया है—१. प्रत्यक्ष और २. अप्रत्यक्ष।

१. प्रत्यक्ष—हवन करने के लिये तांबे का तिकोना हवन-पात्र लोग रखते हैं। वह वह्निसदन कहलाता है। वह्निवर्ण रेफ को तरह चमकीला होता है। हवा से फूंक कर अग्नि जला दिया गया है और अब निष्कम्पशिखामयी आग की लपट निकल रही है। वह्नि सदन जल रहा है। उसे प्रदर्शक पहले बाँये हाथ में उठा लेता है। उसमें कुछ बीज (चना, जौ या धान आदि) दायें हाथ से उठाकर डालता है। परिणामस्वरूप बीज जल जाता है। अब वह निर्बीजता को प्राप्त हो जाता है। अब वह अपनी बोजान्तर उत्पन्न करने की क्षमता (सूति) खो देता है, यह सिद्ध हो जाता है। जड़बुद्धि, मन्द और मूर्ख से मूर्ख व्यक्ति भी यह मानने के लिये विवश हो जाते हैं।

२. अप्रत्यक्ष—गुरु अब समझाता है कि, अप्रत्यक्ष रूप से भी यह होता है। वह कहता है—हृदय वह्नि का सदन है। त्रिकोण 'ऐं' बीज से अधिष्ठित है। अग्नि धारणा में रेफ बीज से उज्ज्वल है। कुम्भक अवस्था में वायव्यपूर षडश्र वायुबीज से निर्धूत (निष्कम्प) और सुजाज्वल (दीपशिखावत्) प्रकाशमान है।

वह्निसदन इत्यर्थात् ऊर्ध्वमुखे। वह्निवर्णेति रेफः। वायव्यपुरं षडश्रम्, अर्थात् यकारेर्लाञ्छितम्। सव्य इति दक्षिणे। बीजं किंचिदिति धान्यादि। तज्जपैकयुगिति फट्कारोद्दीपितरेफावर्तनपर इत्यर्थः ॥ ४ ॥

उसी अग्नि सदन हृदय के आलवालान्तराल में अपने अणुत्व को भी, सृष्टि-बीज को दग्ध करते हैं। इस यज्ञ में एक मन्त्र का प्रयोग भी करते हैं। मा० वि० (४।२२) के अनुसार विद्यापद (हृदय केन्द्र) में चार (विद्यापदानि चत्वारि सार्द्धवर्णं तु पञ्चमम्) रेफ बीजाक्षर हैं और पाँचवाँ पद अस्त्र-मन्त्र है। यही तथ्य श्लोक चार की प्रथम अर्धाली में व्यक्त है। वह्नि से दीपित अर्थात् चार रेफ बीजाक्षरों के साथ पाँचवा सार्धवर्ण अर्थात् 'फट्' रूप अस्त्र-मन्त्र से धोरणी प्रज्वलित करते हैं। कश्मीर में बर्फीली हवाओं से बचने के लिये हृदय पर अंगीठी जलाकर रखते हैं। उसे धोरणी कहते हैं। धोरणी में आग जलती है। हृदय में उक्त पंचाक्षर को धोरणी क्रिया करते हैं। धोरणी का दूसरा अर्थ होता है—फट्कारोद्दीपित अग्नि के चार बीजाक्षरों को सतत आवर्त्तन किया। मन में निरन्तर जप, जिससे ऊर्जा की आग प्रज्वलित हो जाय। उस आग में सृष्टि बीज का हवन कीजिये और पाइयेगा कि, चमत्कार हो रहा है। इस विषय से सम्बद्ध एक श्लोक है—

> अन्तर्निरन्तरनिरिन्धनमेधमाने
>
> कस्यांचिदद्भुतमरीचिविकासवेद्याम् ।
>
> मायान्धकारपरिपन्थिनि संविदग्नौ
>
> विश्वं जुहोमि वसुधादिशिवावसानम् ॥

हृदय स्थित संविद्-अग्नि में विश्वबीज का हवन ! कितना सुन्दर यज्ञ है यह ! ऊपर का प्रकरण भी एक आन्तर (हृदय) यज्ञ है। इसमें सारे सृष्टि-बीज निर्बीजता को प्राप्त करेंगे, यह निश्चय है। आग में बीज डालना प्रत्यक्ष प्रयोग है। उसे देखकर सभी लोग यह सामने ही जान लेंगे कि, बीज जल गया और यह दूसरा आन्तर प्रयोग है। यह अनुभूति का विषय है। पहले प्रयोग से दूसरे आन्तर प्रयोग पर प्रत्यय होना स्वाभाविक है। इसीलिये इसे सप्रत्ययादीक्षा कहते हैं ॥ २-४ ॥

स्वसूतिकरणाक्षमत्वमेव व्याचष्टे

तप्तं नैतत्प्ररोहाय तेनैव प्रत्ययेन तु ।
मलमायाख्यकर्माणि मन्त्रध्यानक्रियाबलात् ॥ ५ ॥
दग्धानि न स्वकार्याय निर्बीजप्रत्ययं त्विमम् ।
स श्रीमान्सुप्रसन्नो मे शंभुनाथो न्यरूपयत् ॥ ६ ॥
बीजस्याप्यत्र कार्या च योजना कृपया गुरोः ।
यतो दीक्षा सुदीप्तत्वात्स्थावराण्यपि मोचयेत् ॥ ७ ॥

अपने बीज से अनवरत सृष्टि का प्रसव होता रहे, इसे 'स्वसूतिकरण' कहते हैं। इसमें असामर्थ्य क्या है? क्रमिक रूप से बीजाङ्कुर की तरह अन्त में वृक्ष, वृक्ष से पुनः बीज और पुनः आगे समुत्पत्ति की परम्परा में कैसे अवरोध हाता है? इस पर अपने विचार व्यक्त कर रहे हैं—

जैसे धान्यबीज को अग्नि में भून देने पर बीज की प्ररोह शक्ति समाप्त हो जाती है और उसमें अंकुर, शाखा, पल्लव, पुष्प और फल की परम्परा नहीं चल सकती, उसी तरह, उसी प्रत्यय के आधार पर मल और माया से उत्पन्न जो कर्मराशि होती है, वह मन्त्र, ध्यान और क्रियायोग के बल से दग्ध हो जाती है। उसको निमित्त मानकर कोई कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता। इसे 'निर्बीज प्रत्यय' कहते हैं। इस निर्बीज प्रत्यय को इनके गुरुदेव श्रीमान् शंभुनाथ ने कृपा कर इनको बताया था। इस दीक्षा-विधि का पर्याप्त निरूपण किया था।

इस विषय में शास्त्रकार का यह निर्देश है कि, गुरु द्वारा बीज की योजना भी की जानी चाहिये। बीज में दीप्ति की योजना के प्रभाव से इतनी शक्ति आ जाती है कि, यह मनुष्यों की मुक्ति के अतिरिक्त स्थावरों तक को मुक्त कर सकती है। मल और माया के कार्य बध्य को बन्धन देना है। दग्ध हो जाने पर ये अपने कार्य में असमर्थ हो जाते हैं। बीज जब दीप्त होता है, तो उसमें शक्ति का उल्लास होता रहता है। अदीप्त रहने पर जङ्गमों के बीज

स्वकार्यायेति बध्यबन्धनाय। सुदीप्तत्वादिति अदीप्तत्वे हि जङ्गमानामपि योजना असाध्या स्थावराणां का वार्तेत्यभिप्रायः। तदुक्तम्

'ऋक्षपक्षितरक्ष्वादीन् स्थावराण्यपि मोचयेत्।'

अत एवाह

यो गुरुर्जपहोमार्चाध्यानसिद्धत्वमात्मनि।
ज्ञात्वा दीक्षां चरेत्तस्य दीक्षा सप्रत्यया स्मृता ॥ ८ ॥
अवधूते निराचारे तत्त्वज्ञे नत्वयं विधिः।
साचारैः क्रियते दीक्षा या दृष्टप्रत्ययान्विता ॥ ९ ॥
निराचारेण दीक्षायां प्रत्ययस्तु न गद्यते।

अयं विधिरिति सप्रत्ययदीक्षालक्षणः। साचारैः क्रियाप्रधानैः। दृष्टः प्रत्ययो निर्बीजकरणादिः। निराचारेणेति ज्ञानिना ॥

की योजना असाध्य हो जाती है, अन्य स्थावर आदि की तो बात ही क्या है? आगम कहता है कि,

"बीज की योजना, वानर, भालु, पक्षियों और क्रूर हिंसक सिंह, चीते और भेड़ियों को भी मुक्त कर देती है"।

इस उक्ति से बीज योजना का महत्त्व सिद्ध होता है। प्रत्यय पूर्ण होने के कारण इसका निर्बाध प्रभाव दीक्ष्य वर्ग के ऊपर पड़ता है ॥ ५-७ ॥

उक्त सन्दर्भ को ही पुष्ट करते हुए उसके सम्बन्ध में निर्णायक तथ्यों का निरूपण कर रहे हैं—

जो गुरु जप, होम, अर्चा और ध्यान आदि की स्वात्मसिद्धि और योग्यता के आधार पर अपने को इस प्रकार की दीक्षा देने की क्रिया में सिद्ध मानता है, वही इस सप्रत्यय दीक्षा देने में प्रवृत्त हो। उसी की दीक्षा सप्रत्यया दीक्षा कही जा सकती है। यह विशेष बात ध्यान देने की है कि, सप्रत्यया दीक्षा अवधूत, निराचार (आचार का निश्चयपूर्वक विज्ञानवान्) और तत्त्व मर्मज्ञ विद्वान् को नहीं दी जा सकती। उन लोगों को इस प्रकार प्रत्यय दिलाने की

एतदेव युक्त्यागमाभ्यामुपपादयति

ज्ञानं स्वप्रत्ययं यस्मान्न फलान्तरमर्हति ॥ १० ॥
ध्यानादि तु फलात्साध्यमिति सिद्धामतोदितम् ।

नार्हतीति स्वप्रत्ययत्वादेव, फलादिति निर्बीजकरणादिसाधनात् ॥

एवमधिकारिपरीक्षामभिधाय तुलाविधिमभिधत्ते

तुलाशुद्धिपरीक्षां वा कुर्यात्प्रत्यययोगिनीम् ॥ ११ ॥
यथा श्रीतन्त्रसद्भावे कथिता परमेशिना ।

आवश्यकता नहीं होती। क्रिया प्रधान आचार के आचार्यों द्वारा जो दृष्ट (साक्षात्) प्रत्ययान्विता अर्थात् सप्रत्यया दोक्षा दी जाती है, इसकी कोई आवश्यकता उस समय नहीं होतो, जिस समय कोई विज्ञ प्राज्ञ आचार्य पुरुष दीक्षा दे रहा होता है। ऐसी दीक्षा में प्रत्यय के प्रदर्शन की कोई आवश्यकता नहीं होती ॥ ८-९ ॥

युक्ति और आगम से इस विषय का उपपादन कर रहे हैं—

स्वप्रत्यय ज्ञान निश्चायक होता है। इस विषय का तात्त्विक रूप 'यह है', इस प्रकार के ज्ञान को 'स्वप्रत्ययज्ञान' कहते हैं। स्वात्मविश्वास के आधार पर हम यह जान सकते हैं कि, इस क्रिया का यह परिणाम है। स्व-प्रत्यय ज्ञान फलान्तर की उत्पत्ति नहीं करता। अन्य ध्यान आदि जितने कार्य हैं, ये तो फल से ही प्रतिफलित होते हैं। जैसे शिष्य ने निर्बीज दीक्षा ली, यह क्रिया हुई। निर्बीज दोक्षा का फल है—मल राशि का नाश। मल-माया नाश रूप फल से ध्यान आदि के उत्पन्न होने का फल मिलने लगा। यह फलान्तर कार्य है। इसलिये स्वप्रत्यय ज्ञान ही ऐसा ज्ञान है, जिसमें फलान्तर की योग्यता की कोई आवश्यकता नहीं होतो। सिद्धामत को भी यही मान्यता है। फलान्तरता की अर्हता को वह स्वीकार नहीं करता ॥ १० ॥

यहाँ तक सप्रत्यया दीक्षा, स्वप्रत्यय ज्ञान और अधिकारी आचार्य की चर्चा हुई। अब शास्त्रकार यह बतलाना चाहते हैं कि, तुलाविधि क्या है?

ननु इयमस्मच्छास्त्रे नाभिहितेति किं शास्त्रान्तरप्रक्रियागौरवेणेत्या-शङ्कयाह

श्रीपूर्वशास्त्रेऽप्येषा च सूचिता परमेशिना ॥ १२ ॥

आनन्द उद्भवः कम्पो निद्रा घूर्णिश्च पञ्चमी ।

इत्येवंवदता शक्तितारतम्याभिधायिना ॥ १३ ॥

यह तुलाविधि भी प्रत्यययोगिनी अर्थात् सप्रत्ययदीक्षा मानी जाती है। इसकी चर्चा तन्त्रसद्भाव नामक शास्त्र में आयी हुई है। स्वयं परमेश्वर शिव ने तुला-विधि का निर्देश दिया है ॥ ११ ॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि, यह त्रिकशास्त्र में कही गयी विधि नहीं है। शास्त्रान्तर की प्रक्रिया है। ऐसी अवस्था में इस विधि का अपनी प्रक्रिया में कथन करना एक प्रकार से ग्रन्थ-विस्तार का भार बढ़ाना ही है। अतः यह उपेक्ष्य है। इस पर कह रहे हैं—

श्रीपूर्वशास्त्र (श्रीमालिनीविजयोत्तर तन्त्र) में स्वयं परमेश्वर शिव ने इसे सूचित किया है। अतः इसकी यहाँ चर्चा न तो अनुचित कही जा सकती है और न ही इससे ग्रन्थ गौरव का कोई अतिरिक्त भार ही शास्त्र पर आयेगा। परमेश्वर शिव ने आनन्द, उद्भव, कम्प, निद्रा और घूर्णि इन पाँच अवस्थाओं में शक्तिपात के सन्तुलन और उसकी प्रभावशालिता की क्रमवत्ता का संसूचन किया है। इसे शक्तिपात के तारतम्य के सन्दर्भ में उन्होंने व्यक्त किया है।[1] एक तरह से ये शक्तिपात के लक्षण ही हैं। इन लक्षणों को देखकर गुरु पूर्वोक्त अशेष आचार्यों का क्रियान्वयन शुरू करता है। उसे दीक्षा में सुविधा भी हो जाती है। यहाँ इन परिभाषिक शब्दों के सामान्य अर्थ इस प्रकार किये जा सकते हैं—

१. आनन्द—आनन्दः ब्रह्मणो रूपम्[2]। ब्रह्मानुभूति के सुख को ही आनन्द कहते हैं। शिव-शक्ति के यामल प्रसार के संघट्ट के सुख को आनन्द कहते हैं।[3]

---

१. मा० वि० ११।३५ २. श्री त०भाग १, आ० १, पृ० ३८२, पं० १८।
३. श्रीत० ३।६८

ननु अत्र तुलादीक्षायाः कटाक्षीकरणे किमवस्थितमित्याशङ्कयाह

उद्भवो लघुभावेन देहग्रहतिरोहितेः ।

ननु कथमत्र देहग्रहतिरोधानमित्याशङ्कयाह

---

२. उद्भव—उद्भूति क्रिया का कार्य। प्रमाता उद्बुभूषु होता है। शक्तिपात से उसके मन में स्वात्मपरिष्कार के उत्कर्ष के कारण शैव महाभाव में मिलने की भावना की उत्पत्ति होती है और उसमें हल्कापन आ जाता है।

३. कम्प—शारीरिक प्रभाव की एक स्पन्दनात्मिका परिणति। आनन्द के शरीर में संचार से एक सुख मिलता है और शरीर काँप उठता है।

४. निद्रा—अच्छी नींद के सुख से सराबोर व्यक्ति की शान्ति नींद की प्रतीक मानी जाती है। आनन्द से विभोर होने और सरसता के क्षणों में जो तन्मयता आती आती है। उससे नींद लग जाती है।

५. घूर्णि—इस अवस्था में शक्तिपात के प्रभाव से मस्तिष्क में अनायास कुछ चक्कर सा आ जाता है। जैसे बिजली आ जाने पर पंखे या मशीनों के पहिये घूमने लगते हैं। यह भी शक्तिपात की ही एक लक्षण है।

इन पाँचों लक्षणों से आविष्ट शिष्य को गुरु अच्छी तरह निरख-परख कर, उनमें तीव्रता-मन्दता आदि की स्तरीयता को समझ कर यह निर्णय कर लेता है कि, इसका शोधन अच्छी तरह हो गया है। उसके बाद ही 'पाशस्तोभ' 'पशुग्राह' और 'शेषवर्त्तन' की क्रियायें सम्पन्न होती हैं।

उद्भव के सम्बन्ध में विशेष उल्लेख करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि, जब शैवभाव के कारण मुख्यरूप से शिवत्व उल्लसित होता है, तो पार्थिव भाव की मुख्यता समाप्त हो जाती है[1] क्योंकि सारे पाशदग्ध हो गये होते हैं। इस भाव की परिपक्वता में पार्थिवता का ग्रहण ओझल हो जाता है अर्थात् समाप्त हो जाता है। 'तिरोहिति' शब्द पूरी तरह समाप्ति का ही वाचक है। परिणाम यह होता है कि, शिष्य एक दम हल्का अर्थात् भारहीन हो जाता है। यदि एक तराजू के एक पलड़े पर ऐसे शिष्य को बिठा दिया जाय और दूसरी ओर कुछ फूल रख दिये जाँय तो फूल वाला पलड़ा ही नीचे की ओर रहेगा और शिष्य

---

१. श्रीत० मा० वि० ११।३६

देहो हि पार्थिवो मुख्यस्तदा मुख्यत्वमुज्झति ॥ १४ ॥
भाविलाघवमन्त्रेण शिष्यं ध्यात्वा समुत्प्लुतम् ।

मुख्यत्वमुज्झतीति अशेषपाशक्षपणात् । भावीति त्रिंशे । यद्वक्ष्यति

'लघुत्वेन तुलाशुद्धिः सद्यःप्रत्ययकारिणी ।
तारः शमरयेः पिण्डो नतिश्च चतुरर्णकम् ।
शाकिनीस्तोभनं मर्म हृदयं जीवितं त्विदम् ।' (श्रीत० ३०।९३-९४)इति ।

का पलड़ा भारहीन होने के कारण ऊपर उठ जायेगा । एक तरह शिष्य तुला-दीक्षा सिद्ध हो जाता है ।

देहग्रह-तिरोधान की चर्चा यहाँ की गयी है। उसका पुनः परामर्श कर रहे हैं—

शरीर पार्थिव है । पार्थिवता के ग्रहण से हो भार बढ़ता है । पार्थिवता जहाँ तिराहित हुई, वहीं भारहीनता उत्पन्न हो जाती है । आगे कहे जाने वाले लाघव मन्त्र[1] से शिष्य को अभिमन्त्रित कर गुरु यह ध्यान करता है कि, शिष्य उड़ सा रहा है । मन्त्र के माहात्म्य से उसकी भारहीनता और पुष्ट हो जाती है ।

इस विषय का विशद वर्णन इसी ग्रन्थ में आगे किया गया है । उसी का उद्धरण[2] यहाँ दे रहे हैं—

लघुत्व अर्थात् पार्थिव मुख्य ग्रह के तिरोधान हो जाने पर भारहीनता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसे तुलाशुद्धि कहते हैं । यह सद्यःप्रत्यय-कारिणी अर्थात् तत्काल विश्वास दिलाने वाली स्थिति है, जिसे साधक गुरु द्वारा प्राप्त कर सकता है । इसमें गुरुदेव मन्त्रों का भी प्रयोग करते हैं । इस मन्त्र का स्वरूप शास्त्रकार ने स्वयं इस संकेत के साथ वर्णित किया है । तार (प्रणव) को श (गुह्य), म (नितम्ब), र (मेरुदण्ड) और य (वामस्कन्ध) इन अक्षरों के साथ मिलाने से एक चार वर्णों का मन्त्र निर्मित होता है, जिसे एक पिण्ड-मन्त्र कह सकते हैं । साथ ही इन वर्णों के साथ

---

१. श्रीत० ३०।९३-९४ २. श्रीत० ३०।९३-९४

समुत्प्लुतमिति पार्थिवदेहाभिमानन्यग्भावेन पराकाशरूपतामापन्नो येनायं तुलायां कुसुमसमानतामासादयेत् । यदुक्तं श्रीतन्त्रराजे

'आकाशतुल्यो भवति शिष्यः सन्दीक्षितस्तदा ।
भैरवो वा भवेत्सो वै दग्धसंसारबन्धनः ॥

पश्चात्तुलामर्पयेत अश्मान्येवमपास्य तु ।
सप्तविंशतिपुष्पैश्च कृतां मालां समर्पयेत् ।
तत्समः साधको जायात्प्रहीणावरणो यदा ।' इति ॥

कोष्ठक में दिये अंकों का भी एक पिण्ड प्रकल्पित होता है । इस मन्त्र पिण्ड के साथ 'नमः' शब्द भी जोड़ते हैं । इस मन्त्र का नाम शाकिनीस्तोभन है । इसे जीवन का मर्म मानते हैं । शक्ति का केन्द्र रूप यह 'हृदय' है ।'

इसका अप्रतिम महत्त्व सभी स्वीकार करते हैं । परमगुरु जयरथ ने इसे उद्घाटित करके तन्त्रशास्त्र की अतिरहस्यात्मकता के दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए भी 'रहस्यं नातिगोपनीयं न्याय' के अनुसार ही लोकोपकार किया है । इस मन्त्र का 'श्म्र्यूं नमः' यह रूप निष्पन्न होता है । यद्यपि तार का स्वरूप त्रयोदश स्वरात्मक 'ओ' के साथ बिन्दु लगाकर प्रकल्पित करते हैं किन्तु यहाँ केवल 'ॐ' इसी रूप को ग्रहण कर मन्त्र के इसी रूप को मान्यता दी गयी है ।

जहाँ तक समुत्प्लुति का प्रश्न है, यह स्पष्ट कर दिया गया है कि, देहाभिमान के परित्याग से भारहीनता की स्थिति में साधक पराकाशरूपता को भी प्राप्त कर लेता है । परिणामस्वरूप वह तराजू पर फूलों से भी हल्का प्रमाणित हो जाता है । इस सम्बन्ध में 'श्रीतन्त्रराज' नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि,

"शिष्य आकाश तुल्य भारहीन हो जाता है । शिष्य की सम्यक् दीक्षा का ही यह सुपरिणाम है । संसार के बन्धनों के दग्ध हो जाने (पाशप्लोष) के कारण वह साक्षात् भैरव रूप ही हो जाता है । इस स्थिति को प्राप्त करने को प्रमाणित करने के लिये उस भैरवभाव प्राप्त शिष्य को तुला के एक पलड़े पर अर्पित करते हैं । दूसरे पलड़े पर रखे माप-बाट के प्रस्तरखण्डों को हटा

ननु यथोक्तप्रक्रियामात्रेणैव किमेवं सप्रत्यया दीक्षा सिद्ध्येन्नवेत्या-शङ्क्याह

कर्माणि तत्राशेषाणि पूर्वोक्तान्याचरेद्गुरुः ॥ १५ ॥

अत्र च संस्कारस्याधिकारिपरीक्षानन्तरमुद्देशोऽपि उभयशेषत्ववचना-शयेन तुलाविध्यनन्तरमभिधानम् ॥ १५ ॥

एतदेवोपसंहरति

देते हैं। उस पर २५ पुष्पों से बनाई गयी माला रखते हैं। चूँकि दीक्षित शिष्य के समस्त आवरणों का निराकरण कर दिया गया है। अतः वह साधक २७ पुष्पों की माला के भार के बराबर ही हो जाता है।"

इस कथन से यह सिद्ध हो जाता है कि, क्रियायोग सिद्ध पाशस्तोभक, मन्त्रप्रयोक्ता होता है और अनुग्रह के अधिकारी शिष्य का निश्चित रूप से उद्धार करने में समर्थ होता है ॥ ११-१४ ॥

जिज्ञासु यह जानना चाहता है कि, क्या उक्त प्रक्रिया पूरी करने मात्र से सप्रत्यया दीक्षा सिद्ध हो जाती है? इसका समाधान कर रहे हैं कि,

नहीं, केवल इतनी प्रक्रिया ही सप्रत्यया दीक्षा के लिये पर्याप्त नहीं है। इसके लिये अशेष प्रक्रिया पूरी करने की आवश्यकता होती है। त्रिकोण वह्निसदन प्रयोग से लेकर निर्दिष्ट मन्त्रजप पर्यन्त सारा कर्म, सिद्ध गुरु द्वारा सम्पादित होना चाहिये। तुला विधि तो अधिकारिपरीक्षा मात्र है। यहाँ एक विशेष तथ्य की ओर संकेत कर रहे हैं। श्रीतन्त्रालोक (१।३१३) के अनुसार संस्कार सम्बन्धी अनुजोद्देश अधिकारि-परीक्षा के बाद ही उल्लि-खित है। हमें यह ध्यान रखना है कि, श्लोक ३१३ को प्रथम अर्धाली के वचन का आश्रय क्या है? वहाँ अधिकारिपरीक्षान्तः संस्कार के बाद तुला विधि की चर्चा है और यहाँ इन दोनों के शेष स्थिति को ध्यान में रखकर तुला विधि के बाद ही इन दोनों की चर्चा है ॥ १५ ॥

सप्रत्यया दीक्षा का इस आह्निक में संक्षेप रूप से वर्णन करने के उपरान्त अब आह्निकान्त में इसका उपसंहार कर रहे हैं—

उक्ता सेयं तुलाशुद्धिदीक्षा प्रत्ययदायिनी ।

इति शिवम् ॥

श्रीमद्गुरुवरशास्त्रस्वात्ममयप्रत्ययानुविद्धमतिः ।
एतज्जयरथनामा विंशतितममाह्निकं व्यवृणोत् ॥

इति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्य-श्रीमदभिनवगुप्तविरचिते श्रीतन्त्रालोके श्रीजयरथविरचितविवेकाभिख्यव्याख्योपेते तुलादीक्षाप्रकाशनं नाम विंशतितममाह्निकम् ॥ २० ॥

इस प्रकार तुलाशुद्धि दीक्षा जो तत्काल प्रत्यय-प्रदायिनी मानी जाती है, उसका यहाँ तक कथन किया गया है । इति शिवम् ॥

स्वात्मबोध अरु शास्त्रगत-गुरु-विज्ञात-विवेक ।
जयरथ निर्मित विवृति यह, विंशाह्निकज 'विवेक' ॥

\+ + +

शास्त्राभ्यासात् स्वतः संविद्-
समुद्रेकाच्च केनचित् ।
विंशाह्निकार्थ-विज्ञानं
व्याकृतं 'मानसौकसा' ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य श्रीमदभिनवगुप्तपादविरचित
राजानकजयरथकृत विवेकाख्यव्याख्योपेत
डॉ०परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीर-विवेक-भाषाभाष्यसंवलित
श्रीतन्त्रालोक का विक्षिप्त(विस्तृत)दीक्षा प्रकाशन नामक
बीसवाँ आह्निक सम्पूर्ण ॥२०॥

॥ शुभं भूयात् ॥

अथ

श्रीतन्त्रालोके

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचिते

श्रीजयरथकृतविवेकाख्यव्याख्योपेते

एकविंशतितममाह्निकम्

भेदप्रथाविलापनबलेश्वरं तं बलेश्वरं वन्दे ।
यः सकलाकलयोरपि मितात्मताया निषेधमादध्यात् ॥

इदानीं द्वितीयार्धेन परोक्षदीक्षायां कर्म निगदितुं प्रतिजानीते

परोक्षसंस्थितस्याथ दीक्षाकर्म निगद्यते ॥ १ ॥

परोक्षसंस्थितस्येति देशकालाभ्याम् ॥ १ ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचित-

राजानकजयरथकृतविवेकाख्यव्याख्योपेत-

डॉ॰परमहंसमिश्रविरचित-नीर-क्षीर-विवेक

भाषा-भाष्य-संवलित

श्रीतन्त्रालोक

का

इक्कीसवाँ आह्निक

भेदसरणिविशासन सबल, प्रबलबलेश्वर वन्द्य ।
सकलाकल मिति संशमन, वन्दे जगदभिनन्द्य ॥

आह्निक के आरम्भ में परोक्ष दीक्षा की प्रक्रिया के कथन की प्रतिज्ञा कर रहे हैं—

ननु इयमस्मच्छास्त्रे दीक्षा नोक्तेत्यास्तां प्रत्युत संनिहितैकविषयं

'रुद्रशक्तिसमाविष्टः स यियासुः शिवेच्छया ।
भुक्तिमुक्तिप्रसिद्धयर्थं नीयते सद्गुरुं प्रति ॥' (मा० वि० १।४४)

इत्यादि एतद्विरुद्धमुक्तम्, तत्कथमिह एतत्प्रतिज्ञातमित्याशङ्क्याह

भुक्तिमुक्तिप्रसिद्धयर्थं नीयते सद्गुरुं प्रति ।

परोक्ष में रहने वाले दीक्ष्य को दीक्षा देने के लिये जितने कर्म अपेक्षित होते हैं, उन्हीं कर्मों का वर्णन करने के लिये इस आह्निक का अवतरण कर रहे हैं। 'परोक्ष' शब्द पारिभाषिक है। देश और काल दोनों दृष्टियों से जो समक्ष नहीं होते, वे शिष्य और समय दोनों परोक्ष होते हैं। परोक्ष[1] अर्थ में ही लिट्लकार (व्याकरण दृष्टि से) व्यवहृत होता है। वहाँ अनद्यतन भूत अर्थ में परोक्ष शब्द का प्रयोग किया जाता है। मृत व्यक्ति भी परोक्ष श्रेणी में आते हैं। शास्त्रीय परोक्ष-दीक्षा का प्रयोग करते समय इन बातों का विचार कर लेना चाहिये। कालगत परोक्ष में जीवित और मृत दोनों प्रकार के दीक्ष्य आते हैं। ऐसे जीवित या मृत व्यक्ति दीक्षा पाने योग्य हैं या नहीं, इसका निर्णय गुरु पर ही निर्भर करता है ॥ १ ॥

इस पारोक्षी दीक्षा के सम्बन्ध में भी यह कहा जा सकता है कि, यह हमारे उपजीव्य शास्त्र (श्रीपूर्वशास्त्र) में वर्णित नहीं है और यह भी कि,

"रुद्रशक्ति में समाविष्ट होने के कारण वह यियासु होता है और शिवेच्छा से ही भुक्ति मुक्ति की सिद्धि के लिये सद्गुरु के प्रति प्रेषित कर दिया जाता है"[2]। इस उक्ति में 'प्रति' शब्द भी पारोक्षी दीक्षा के प्रतिकूल है, क्योंकि परोक्ष रहने पर सद्गुरु के प्रति यियासु कैसे हो सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं—

---

१. अष्टा० ३।२।२५ २. मा० वि० १।४४

इत्यस्मिन्मालिनीवाक्ये प्रतिः सांमुख्यवाचकः ॥ २ ॥

सांमुख्यं चास्य शिष्यस्य तत्कृपास्पदतात्मकम् ।

तत्कृपेति तच्छब्देन गुरुः, सा च संनिहितासंनिहितयोरविशिष्टैवेत्याशयः ॥ २ ॥

ननु भवत्वेवं,

'तमाराध्य ततस्तुष्टाद्दीक्षामासाद्य शांकरीम् ।' (१।४५)

इत्यादि सांनिध्यैकजीवितं कथमत्र संगच्छतामित्याशङ्क्याह

'भुक्ति और मुक्ति की यथेच्छ सिद्धि के लिये शिव की इच्छाशक्ति द्वारा सद्गुरु की सेवा में ले जाया जाता है'। श्रीमालिनीविजयोत्तर तन्त्र की यह उक्ति हमारे दार्शनिक दृष्टिकोण के विपरीत नहीं है। यहाँ प्रतिशब्द साम्मुख्य वाचक है। यदि दीक्ष्य परमेश्वर को कृपा से गुरु का साम्मुख्य प्राप्त करता है, तो इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि, शिष्य गुरु की कृपा का आस्पद हो रहा है। कृपा की आस्पदता शिष्य की पात्रता पर ही निर्भर करती है। इसमें शक्तिपात का भी प्रभाव परिलक्षित होता है। दीक्ष्य यदि मृत है, तो उसके आत्मिक स्तर पर अपने उद्धार का भावोदय और अगर जीवित है, तो गुरु प्राप्ति की छटपटाहट उसे गुरु के सम्मुख उपस्थित होने के लिये अविलम्ब प्रेरित करेगी। गुरु की कृपा ता चाहे सन्निहित हो या असंनिहित, दोनों के प्रति समान रूप से अपनत्व प्रदान कर शिष्य को धन्य बना देती है ॥ २ ॥

प्रश्नकर्त्ता पूछता है कि, श्रीमन्! मान लिया आप की बात। किन्तु यह तो बताइये कि, श्रीमालिनीविजयोत्तर तन्त्र में उसी के आगे वहीं यह भी तो लिखा है कि,

"गुरु की आराधना कर उसे तुष्ट कर देना चाहिये। उसकी तुष्टि के उपरान्त ही शाङ्करी दीक्षा लेनी चाहिये।"

यह उक्ति इस तथ्य की प्रस्थापना करतो है कि, गुरु का सान्निध्य और उसकी आराधना शाङ्करी दीक्षा के लिये अनिवार्य शर्त्त है। सान्निध्य और आराधना समीप रहकर ही हो सकते हैं। परोक्ष और सान्निध्य दोनों

तमाराध्येति वचनं कृपाहेतूपलक्षणम् ॥ ३ ॥

कृपाहेत्विति तेन स्वयमेवमभावे बन्ध्वादिद्वारेणैतद्भवेदिति भावः ॥ ३ ॥

न केवलमेतदत एवावगतं यावदितोऽपीत्याह

तत्संबन्धात्ततः कश्चित्तत्क्षणादपवृज्यते ।
इत्यस्यायमपि ह्यर्थो मालिनीवाक्यसन्मणेः ॥ ४ ॥

का परस्पर विरोध है । ऐसी दशा में पारोक्षो दोक्षा कैसे शास्त्रोय मानी जाय ? उक्ति विरोध में कैसे मेल खा सकता है ? इस जिज्ञासा का समाधान कर रहे हैं—

श्लोक में तम् आराध्य (उसकी आराधना, पूजा या सन्तुष्टि रूप) पूर्वकालिक क्रिया सान्निध्य पर बल नहीं देतो, अपितु यह गुरुदेव की कृपा के उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्रयुक्त है । कृपा को प्राप्ति तो बन्धुओं द्वारा भो गुरु की आराधना से हो सकती है । यदि शिष्य मृत भी हो य जोवित हो, परोक्ष दीक्षा दोनों अवस्थाओं में सम्भव है । हाँ गुरुदेव अवश्य सन्तुष्ट हों ॥ ३ ॥

मालिनीविजयोत्तर तन्त्र की उक्ति (आराध्यरूपिणी) से ही यह समर्थित नहीं होता, वरन् इससे भी बढ़कर एक ओर प्रयोग है, जिससे पारोक्षी दीक्षा समर्थित होती है । उक्त तन्त्र के अधिकार १ श्लोक ४५ की द्वितोय अर्धाली है—'तत्क्षणाद्वोपभोगाद्वा देहपाताच्छिवं व्रजेत्' । इसमें प्रयुक्त 'तत्' शब्द सूचित करता है कि, गुरुदेव से किसी प्रकार आराधना और कृपा सूत्रों के सम्बन्ध से अर्थात् आराधना से सन्तुष्ट हो जाने पर उसी समय कोई भो पात्र शिष्य, अपवर्ग का अधिकारी हो जाता है । श्रुति कहतो है 'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्' । यहाँ तो गुरु की कृपा हुई नहीं कि, अपवर्ग उपलब्ध ! श्रीमालिनीविजयोत्तर तन्त्र के वाक्य मणि हैं । उनसे अनन्त अर्थराशि की रश्मियाँ फूटतो रहतो हैं । उन पर गहन विमर्श को आवश्यकता है ।

उसमें प्रयुक्त 'तत् क्षणात्' प्रयोग में 'क्षणात्' शब्द विपुल व्यंग्यार्थ का व्यञ्जक है । शास्त्र में लिखा है कि, शिवेच्छा से यियासा होने पर वह शिष्य सद्गुरु के प्रति नीयते (ले जाया जाता है) इस कार्य में एक तरह से

एतदर्थत्वमेव अस्य वाक्यस्य व्याचष्टे

तत्क्षणादिति नास्यास्ति यियासादिक्षणान्तरम् ।
किंत्वेवमेव करुणानिघ्नस्तं गुरुरुद्धरेत् ॥ ५ ॥

आदिशब्दात् गमनतत्प्राप्तिक्षणादयः । न हि मृतस्य देशान्तरस्थितस्य वा एवं संभवेदिति भावः । एवमेवेति स्वयं तदाराधनादिनिरपेक्षमित्यर्थः । निघ्नः परवशः ॥ ५ ॥

पुष्कल काल की अपेक्षा है । पहले गुरु के प्रति शिष्य में जिगमिषा का भाव, फिर शिवानुग्रह और पुनः गुरु की प्राप्ति, तब परीक्षा, शिक्षा-दीक्षा का क्रम पूरा होने पर फलोपभोग ! दीक्ष्य का लक्ष्य दूर से दूर रहने पर भी पूर्ण होता हुआ परिलक्षित होता है ।

यहाँ तो बस कृपा हुई कि, इधर 'क्षणात्' अर्थात् अविलम्ब अपवर्ग ! कितनी शक्ति है आराधना की । इसमें न यियासा की आवश्यकता और न गुरु के पास गमन का गौरव ! न हल्दी लगी न फिटकरी, रंग चोखा निकला । तत्क्षणात् तात्कालिक अपवर्ग ! भला देशान्तर में रहने वाले शिष्य गुरु से इतनी जल्दी कैसे मिल सकते हैं । मृत के लिये तो सम्भव ही नहीं हैं । किन्तु गुरु के अनुग्रह से पारोक्षी दीक्षा द्वारा यह तत्काल सम्भव हो जाता है ।

परम कारुणिक दैशिक शिरोमणि गुरु करुणा के वशीभूत हो जाते हैं । मरे हुए शिष्य के लिये बन्धु आदि द्वारा प्रार्थना किये जाने पर ही द्रवित हो जाते हैं । यह सोचने की बात है कि, मृत या देशान्तर स्थित दोनों प्रकार के शिष्यों द्वारा गुरु की आराधना भी सम्पन्न नहीं होती फिर भी उन्हें अपवर्ग के अमन्द आनन्द की उपलब्धि अनायास हो जाती है। गुरु द्वारा उनका उद्धार हो जाता है । 'एवमेव' शब्द का प्रयोग गुरुदेव के उदात्त हृदय का प्रमाण है। इसी तरह अर्थात् विना कुछ किये परिणाम की प्राप्ति ! इन सब बातों से यह निश्चित हो जाता है कि, श्रीमालिनीविजयोत्तर तन्त्र में भी पारोक्षी दीक्षा की सूचना है ॥ ४-५ ॥

के च अत्र अधिकारिण इत्याशङ्क्याह

गुरुसेवाक्षीणतनोर्दीक्षामप्राप्य पञ्चताम् ।
गतस्याथ स्वयं मृत्युक्षणोदिततथारुचेः ॥ ६ ॥
अथवाधरतन्त्रादिदीक्षासंस्कारभागिनः ।
प्राप्तसामयिकस्याथ परां दीक्षामविन्दतः ॥ ७ ॥

पारोक्षी दीक्षा के कौन अधिकारी होते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं—

पारोक्षी दीक्षा में जिन लोगों का अधिकार है, वे लोग कई श्रेणी में विभक्त किये जा सकते हैं । जैसे—

१. गुरु की सेवा में शिष्य लगा हुआ था । भक्तिपूर्वक सेवा भाव में रहते हुए ही उसकी मृत्यु हो गयी, अभी वह दीक्षा नहीं पा सका था । विना दीक्षा के ही वह मर गया । उसे मुक्ति मिले, इसलिये उसे पारोक्षी दीक्षा देनी चाहिये ।

२. अभी दीक्षित नहीं था । दीक्षा की रुचि थी किन्तु अप्रत्याशित तत्काल मृत्यु हो गयो । उसे यह अवसर ही नहीं मिल पाया कि, उसकी व्यवस्था कर सके । गुरु इस बात को जानते थे कि, उसे दीक्षा दी जानी है, पर विधि वश वंचित रह गया ।

३. अथवा, ऐसे लोग जो अधर तन्त्रों में दीक्षित हैं । उनमें यदि यह आकांक्षा उत्पन्न हो कि, हमें ऊर्ध्व तन्त्र शैव महापूर्णार्था—प्रक्रिया के अनुसार दीक्षा लेनी चाहिये । उन पर गुरुदेव की कृपा होनी चाहिये । ऐसे लोग पारोक्षी दीक्षा के अधिकारी होते हैं ।

४. वह व्यक्ति जो समय दीक्षा को प्राप्त था । अभी उसे उसके बाद मिलने वाली पुत्रक दोक्षा नहीं मिली थी । ऐसा शिष्य मरणोपरान्त मृतोद्धार-दीक्षा को प्राप्ति से मुक्ति पा सकता है ।

डिम्बाहतस्य योगेशीभक्षितस्याभिचारतः ।
मृतस्य गुरुणा यन्त्रतन्त्रादिनिहतस्य वा ॥ ८ ॥
भ्रष्टस्वसमयस्याथ दीक्षां प्राप्तवतोऽप्यलम् ।

क्षीणेति चिरतरं गुरुसेविन इत्यर्थः । तदुक्तं

'न प्राप्तोऽपि परां दीक्षां गुरुभक्तोऽपि यत्नतः ।
कालेनान्तरितो यस्मात्तस्य मोक्षः कथं भवेत् ॥
किं वृथा तस्य संक्लेशो मोक्षमुद्दिश्य यः कृतः ।
किं किंचिद्विद्यते तस्य कर्म यन्मोक्षसाधनम् ॥'

---

५. डिम्ब अवस्था में ही अर्थात् प्राणान्तक पीड़ा के पड़ते ही मृत्यु हो जाने से वह अपवर्ग का अधिकारी नहीं हो पाता । डिम्ब शब्द से १–लूट आदि में चोट लगने की प्राणान्तक पीड़ा, २–प्रलय, ३–शस्त्रहीन कलह्-धक्का मुक्की या शकटघात या हृदयाघात और ४–विप्लव आदि—अर्थ लिये जाते हैं । चाहे किसी अवस्था का डिम्बाहत पुरुष पारोक्षी दीक्षा का अधिकारी होता है ।

६. किसी व्यक्ति पर किसी ने अभिचार कर दिया । अभिचार के कारण वह योगेशी शक्तियों का शिकार हो गया अथवा जहर देने आदि से अकाल मरण को प्राप्त हो गया हो, ऐसे लोग भी इस दीक्षा के अधिकारी होते हैं ।

७. किसी के आचरण के उद्देश्य से मारण मन्त्रों से युक्त यन्त्र-निर्माण किये जाते हैं । ये यन्त्र भोजपत्र पीपलदल, ठीकरे आदि पर भी बनाये जाते हैं, जिनमें यन्त्रों के साथ अङ्कों का उल्लेख भी किया जाता है । इसके साथ ही तन्त्र का कर्मकाण्ड भी पूरा किया जाता है, जिसमें व्यक्ति नाम को मारक बीजों से सम्पुटित कर काक पंख, उलूक पंख, काकनीडकाष्ठ, नमक, सरसों और काकोलूक मांस का हवन किया जाता है । ये यन्त्र-तन्त्र प्रयोग भी अभिचार श्रेणी में ही आते हैं । इन्हें भी पारोक्षी दीक्षा देकर उनका मरणोपरान्त उद्धार करते हैं ।

इत्युपक्रम्य

'गुरुभक्तस्य दान्तस्य सत्याचाररतस्य वै ।
मृतस्यापि परं स्कन्द दीक्षाकर्म विधीयते ॥' इति ।

मृत्युक्षणेति तदैव हि अस्य गुरौ प्रसन्ने सद्यःसमुत्क्रान्तिदीक्षा भवेदित्युक्तम्, अन्यथा तु इयमिति विभागः । अत एव दीक्षामप्राप्य पञ्चतां गतस्येति अत्रापि संबन्धनीयम् । अधरतन्त्रं वैदिकादि । परामिति पुत्रकादिरूपाम् । डिम्बाहृतस्येति शकटादिभिर्जडप्रायैर्मारितस्येत्यर्थः । अभिचारत इति विषादिना । यन्त्रं भूर्जपत्रादौ मारणानुगुणो मन्त्रसंनिवेशः, तन्त्रं तदनुगुणमेव पूजाहोमादि । तदुक्तं

---

८. समयाचार के पालन में असमर्थ होने के कारण जो आचार भ्रष्ट होकर मर जाता है, वह भी परोक्ष दीक्षा का अधिकारी होता है ।

इस सम्बन्ध में व्याख्याकार जयरथ आगम प्रामाण्य उपस्थित कर इन तथ्यों का समर्थन करते हैं । गुरु सेवारत मृत के विषय में आगम कहता है कि,

"एक व्यक्ति गुरु की सेवा में भक्ति और श्रद्धा पूर्वक निरन्तर लगा रहता था । समयी होने पर भी पुत्रक दीक्षा नहीं पा सका था । काल और कर्म के प्रभाव से बीच में ही उसकी मृत्यु हो गयी । प्रश्न है कि, उसकी मुक्ति कैसे हो सकती है ? क्या उसकी सारी सेवा का परिश्रम, उसकी भक्ति की कर्मठता का क्लेश, सब व्यर्थ चला जाना चाहिये ? भक्ति भी और सेवा भी तो मुक्ति के उद्देश्य से ही करता था । तो क्या उसकी सारी सेवा यों ही व्यर्थ मान ली जाय ? पूछते हैं कि, क्या कोई मोक्ष का साधन उसके लिये उपलब्ध है ? वह कौन सा कर्म है, जिसे वह करे ?"

"स्वयं इतना प्रश्न स्कन्द से सुनकर भगवान् उत्तर दे रहे हैं कि, स्कन्द ! उस गुरु भक्त, दान्त और सत्य के आचार में रत सदाचारी व्यक्ति के मर जाने पर उसे मरणोपरान्त दीक्षा दी जाती है । वही पारोक्षी दीक्षा है" ।

इसी तरह मन्त्र-तन्त्र प्रयोग और इसके अतिरिक्त किसी अभिचार से मरने वालों के सम्बन्ध में भी आगम प्रामाण्य से सिद्ध होता है कि, विभिन्न प्रकार से मरने वालों की पारोक्षी दीक्षा होनी ही चाहिये—

'नगाग्राल्लुठिता ये च वृक्षान्निपतितास्तु ये।
उद्बन्धनैर्मृता ये च शकटेन तु चूर्णिताः॥
अग्निना तु प्रदग्धा ये वेश्मपातात्तु ये मृताः।
नदीकूपेष्वगाधेषु मृता ये पापकारिणः॥
मूढगर्भाश्च या नार्यो गर्भच्यावेन या मृताः।
दान्तेन महिषेणापि दुष्टप्राणिमृताश्च ये॥
विषेण त्यक्तजीवा ये ये वै चात्मोपघातकाः।
गोघ्नाश्चैव तु ब्रह्मघ्नाः पितृघ्नाः मातृघातकाः॥
व्याधिभिश्च मृता ये तु लूताद्यैः सुरसुन्दरि।
अन्यैर्बहुविधैः क्रूरैर्येषां संख्या न विद्यते॥ इति।

"पहाड़ों की चोटी से गिरकर, पेड़ों की डाल के टूटने-छूटने और दबने के चोट से घायल होकर, गले में फाँसी लगाकर मरने वाले और गाड़ियों के धक्कों से घायल होकर मरने वाले लोगों को भी पारोक्षी-दीक्षा दी जानी चाहिये। इसके अतिरिक्त आग से जले, छत से गिरकर मरे, दीवालों से दबकर मरे, नदियों और जलाशयों में डूबकर मरे, पापकर्मा, अकाल-कालकवलित लोग भी इसी दीक्षा से मुक्त हो सकते हैं।

ऐसी स्त्रियाँ जो गर्भ की विकृतियों से मर जाती हैं, गर्भपात से मरे, दंतैले पशुओं के काटने या दाँतों की चोट से मरे, भैंसों की मार से मरे, पागल कुत्तों, नेवलों, साँपों, सियारों, लोमड़ियों जैसे जानवरों के काट खाने से मरे लोग, जहर खाकर मरे, आत्महत्यारे, गोघाती, ब्रह्महत्यारे, पितृहन्ता, मातृ-घाती, लूता (मकरी) और विस्फोट आदि के उपद्रव से मृत व्यक्ति इसी दीक्षा से मुक्त हो सकते हैं! भगवान् स्वयं कहते हैं कि, हे देवि! इन अभागे लोगों के अतिरिक्त अन्यान्य विभिन्न क्रूर कर्मों से भी जो अनगिनत लोग यमलोक की यात्रा के लिये लाचार हो जाते हैं, ये सभी सिवाय मृतोद्धारी-दीक्षा के मुक्त नहीं हो सकते"।

तथा

'अनाथलुप्तपिण्डानां तथा डिम्बाहतेष्वपि ।
कुविधौ च मृतानां तु दीक्षा मृतवती भवेत् ॥' इति ।

एतच्च दीक्षितादीक्षितविषयमपि भवेदिति सामान्येनोक्तम् । अलमिति अत्यर्थं पुत्रकादिरूपतयेत्यर्थः ।

ननु एवंविधाः सर्व एव म्रियन्ते, तत्किमेषामविशेषेणैव मृतोद्धारीं दीक्षां गुरुः कुर्यान्नवेत्याशङ्क्याह

इसके अतिरिक्त एतद्विषयक एक और उद्धरण देकर इस विषय का समर्थन ही कर रहे हैं—

"ऐसे लोग जो अनाथ एवं आश्रयहीन थे, लुप्त पिण्ड थे, विप्लव और विद्रोह में आहत हुए थे, अथवा जिस किसी भी प्रकार से बुरी तरह कुचल कर, फिसल कर, चोथड़ों में बमविस्फोट आदि में छिन्न-भिन्न होकर मर जाते हैं, उनके लिये मृतवती-दीक्षा का विधान है"।

इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिये कि, ये मरने वाले लोग दीक्षित और अदीक्षित दोनों तरह के हो सकते हैं। दीक्षा पाकर भी इस तरह बुरी मौत मरने वाले अकाल मृत्यु से ही मृत माने जाते हैं। जिनकी दीक्षा लिये विना ही मौत हो जातो है, ये तो और भी अभागे लोग होते हैं। सामान्यतया ये सभी इस दीक्षा के अधिकारो हैं। समय-दीक्षोपरान्त पुत्रकादि रूप उच्च श्रेणी के भी दीक्षा प्राप्त लोग दुर्भाग्यवश ऐसो चपेट में आ जाते हैं, तो वे भी इसी श्रेणी में आते हैं। उनका उद्धार भी पारोक्षी-दीक्षा से हो सकता है ॥ ७-८ ॥

प्रसङ्गवश एक आवश्यक प्रश्न करते हैं कि, इतने लोगों की मृत्यु विभिन्न कारणों, परिस्थितियों और उन-उन लोगों के कर्म विपाक के अनुसार होती होगी—यह तो निश्चित है। क्या इन सब लोगों को मृतोद्धारी-दीक्षा गुरु सामान्य रूप से ही देते हैं? अथवा इसमें कोई विशेष-पद्धति अपनाते हैं? इस प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं—

बन्धुभार्यासुहृत्पुत्रगाढाभ्यर्थनयोगतः ॥ ९ ॥
स्वयं तद्विषयोत्पन्नकरुणाबलतोऽपि वा ।
विज्ञाततन्मुखायातशक्तिपातांशधर्मणः ॥ १० ॥
गुरुर्दीक्षां मृतोद्धारीं कुर्वीत शिवदायिनीम् ।

गाढेति नतु उत्ताना । स्वयमिति परप्रार्थनानिरपेक्षतयेत्यर्थः । बलत इति नतु तन्मात्रादेव । तन्मुखेति बन्ध्वाद्यभ्यर्थनाद्वारेणेत्यर्थः । अंशेति तीव्र-मध्यमन्दाद्यपेक्षया । एवमेवंविधानामेषां बन्ध्वादिगाढाभ्यर्थनाद्यन्यथानुपपत्त्या आयातशक्तिपातत्वं निश्चित्य मृतोद्धारीं दीक्षां गुरुः कुर्यादिति अत्र तात्पर्यम् ।

इस तरह की मृत्यु के बाद मृतात्मा के भाई-बन्धु, उसकी पत्नी, उसके मित्र और मृतक के पुत्र मृतात्मा के उद्धार के उद्देश्य से गुरु के पास आते हैं। सभी अपने-अपने स्तर से प्रार्थना करते हैं। स्वाभाविक है कि, ये प्रार्थनायें हृदय के भावनाओं की प्रतीक होती हैं। इसलिये उनमें कभी छिछलापन नहीं हो सकता। प्रार्थना में जितनी प्रगाढता होती है, उतनी ही वह भावमयी और बलवती होती है। परिणामतः वह अभ्यर्थना बन जाती है। इसके फलस्वरूप भक्त-वत्सल गुरुदेव द्रवित हो उठते हैं। उनमें स्वयं भी मृतक के प्रति समवेदना और सहानुभूति रहती ही है। अतः उनके हृदय का दयाभाव और उनकी प्रार्थनाओं का समन्वय हो जाता है। बन्धु-बान्धवों और स्त्री आदि की प्रार्थनायें सापेक्ष होती हैं, किन्तु गुरुदेव की करुणा निरपेक्ष होती है। उसमें उनका कोई स्वार्थ नहीं होता।

इस तरह गुरुदेव के यहाँ बन्धु-बान्धवों आदि की विनम्र प्रार्थनाओं के आधार पर बहुत सारी बातें स्पष्ट हो जाती हैं। वे मृतात्मा के विषय में उसके स्वभाव, आचरण, संज्ञान के स्तर और उसकी आस्था आदि के सम्बन्ध में भी बातें करते हैं। इन बातों से गुरुदेव उसके तीव्र, मध्य और मन्द रूप शक्तिपात के स्तर का अनुमान लगा लेते हैं कि, किस अंश में उसके ऊपर शक्तिपात के भेद अपना प्रभाव डाल चुके हैं। उनकी प्रार्थना की गम्भीरता और विनम्र अनुरोध के आधार पर शक्तिपात के स्तर का निश्चय कर गुरु मृतोद्धारी-दीक्षा देने का निर्णय करता है।

बन्ध्वादीनां च तदुद्दिधीर्षापरतया प्रार्थनादयो जायमानाः परमेश्वरशक्तिपातमूला एव न स्नेहमात्रमूलाः सर्वत्र तथादर्शनायोगात्। नच अत्र व्यधिकरणत्वं दोषो यदयस्कान्तायोगोलकस्पन्दनादिवत् भिन्नदेशान्यपि कारणेभ्यः कार्याणि भवन्ति दृश्यन्ते

> 'सा शक्तिरापतत्याद्या पुंसो जन्मन्यपश्चिमे।
> तन्निपातात् क्षरत्यस्य मलं संसारकारणम्॥
> क्षीणे तस्मिन्नियियासा स्यात्परं नैःश्रेयसं प्रति।' इति।

तथा

> 'तस्यैव तु प्रसादेन भक्तिरुत्पद्यते नृणाम्।
> यया यान्ति परां सिद्धि तद्भावगतमानसाः॥' (म० भार०)

इत्यादि संनिहितजीवदेकविषयमिति नेह कश्चिदनेन विरोधः॥

बन्धुओं में मृतात्मा के उद्धार की आकांक्षा स्वाभाविक है। इसी आकांक्षा के कारण वे गुरुदेव से दीक्षा देने की प्रार्थना करते हैं। इसे केवल प्रार्थना मात्र ही नहीं मानना चाहिये अपितु ये पारमेश्वर शक्तिपात की ही परिचायिका हैं। वस्तुतः ये शक्तिपात मूलक ही होती हैं। केवल स्नेह मात्र मूलक नहीं होतीं। यहाँ 'योगतः', 'करुणाबलतः' और 'धर्मणः' इन प्रयोगों में वैयधिकरणत्व दोष नहीं है, क्योंकि जैसे चुम्बक से दूरदेशस्थ लौह वस्तुओं में स्पन्दनरूप कार्य, व्यवहार में दीख पड़ते हैं, उसी तरह आकांक्षा से शक्तिपात की कल्पना और दीक्षा की सम्भावना आदि कार्य हो जाते हैं। इस विषय में आगम कहता है कि,

"वह आद्या शक्ति पुरुष के पूर्व जन्म में स्वयम् उस पर आकर अपना चमत्कार दिखा देती है। उस पर शक्तिपात हो जाता है। उसके निपात से दीक्ष्य के मलों का विनाश हो जाता है। ये मल ही संसार के बन्धन के कारण होते हैं। इन मलों के विनष्ट हो जाने पर दीक्ष्य में पर-भैरव तादात्म्य के आनन्दोपभोग के लिये एक 'यियासा' की उत्पत्ति होती है। वह सोचता है कि, अब हमें केवल निश्रेःयस का मार्ग ही अपनाना चाहिये।"

इसके अतिरिक्त एक और उक्ति इसके समर्थन में यहाँ प्रस्तुत है। उसके अनुसार भी "किसी अदृश्य दयालु के प्रसाद से ही मनुष्यों में एक शक्ति

न चैतदस्माभिः स्वोपज्ञमेवोक्तमित्याह

श्रीमृत्युञ्जयसिद्धादौ तदुक्तं परमेशिना ॥ ११ ॥

तदेवार्थतः पठति

अदीक्षिते नृपत्यादावलसे पतिते मृते ।
बालातुरस्त्रीवृद्धे च मृतोद्धारं प्रकल्पयेत् ॥ १२ ॥

उत्पन्न होता है। उपास्य के प्रति भक्तिभाव भरित भक्त लोग उसी शक्ति से आत्यन्तिकी सिद्धि प्राप्त कर पाते हैं। यह महाभारत की उक्ति है।"

ये दोनों उद्धरण यही संकेतित करते हैं कि, जीते जो मनुष्य में उस शक्तिपात का प्रभाव हो जाता है। उसी के फलस्वरूप उसमें परमेश्वर के प्रति जिगमिषा उत्पन्न होती है। वे भक्ति से प्रेरित होते हैं तथा परासिद्धि के अधिकारी हो जाते हैं। मरने पर लोग जो प्रार्थना आदि करने आते हैं, वह प्रार्थना भी जोवदवस्था की शक्ति सत्ता की मौलिकता के कारण हो सम्भव है ॥ ९-१० ॥

ये सारी बातें हमारी स्वोपज्ञ उक्तियाँ नहीं हैं। अन्य शास्त्र भी इस तरह के सिद्धान्तों से समापूरित हैं। वही कह रहे हैं—

श्री मृत्युञ्जय, सिद्धा आदि शास्त्रों में भगवान् ने स्वयं इसकी चर्चा की है ॥ ११ ॥

परमेश्वर की उक्तियों का निष्कर्षार्थ ही अपने शब्दों में व्यक्त कर रहे हैं—

दीक्षा प्राप्त किये विना ही राजाओं, आलसियों, पतितों, बालकों, असाध्य रोगियों, स्त्रियों और वृद्ध व्यक्तियों की यदि मृत्यु हो जाय, तो उनको मृतोद्धारी-दीक्षा दी जानी चाहिये। इसमें किसी बड़े और छोटे को महत्ता और निष्कृष्टता का प्रश्न आड़े नहीं आना चाहिये। ये सभी समान रूप से मृतोद्धारी-दीक्षा के अधिकारी हैं।

विधिः सर्वः पूर्वमुक्तः स तु संक्षिप्त इष्यते ।
गुर्वादिपूजारहितो बाह्ये भोगाय सा यतः ॥ १३ ॥
अधिवासचरुक्षेत्रं शय्यामण्डलकल्पने ।
नोपयोग्यत्र तच्छिष्यसंस्क्रियास्वप्नदृष्टये ॥ १४ ॥
मन्त्रसंनिधिसंतृप्तियोगायात्र तु मण्डलम् ।
भूयोदिने च देवार्चा साक्षान्नास्योपकारि तत् ॥ १५ ॥

यदुक्तम्

'अदीक्षिते तु नृपतौ तत्सुतेषु द्विजातिषु ।
भोगालसेषु वा देवि कर्मदोषैश्च विघ्निते ॥
न चेष्टं न तपस्तप्तं न ध्यातं न प्रतिष्ठितम् ।
पातित्येन मृतानां तु येषां नरकसंस्थितिः ॥
निदानैर्बहुभिर्देवि स्त्रीबालवृद्ध आतुरे ।
मृतेषूद्धरणार्थाय दीक्षार्थं परमेश्वरः ॥
यष्टव्यः पूर्ववद्देवः .... ।'

(१८ अ०) इति ।

इस सम्बन्ध जितनी विधियाँ निर्दिष्ट हैं, वे सभी पहले कही गयी हैं। उनकी संक्षिप्त चर्चा यहाँ अप्रासंगिक नहीं होगी। पूर्वोक्त दीक्षा संनिहित जीवद्विषया मानी जाती है। वह भोग के लिये विहित है। इसमें गुरु आदि की पूजा की जो प्रक्रिया है, उसकी कोई आवश्यकता नहीं है। अधिवास, चरुक्षेत्र शय्याविधान, मण्डल की कल्पना (जिसमें शिष्य की रक्षा के लिये लक्ष्मण-रेखा की तरह भस्म आदि से रेखा बनायी जाती है), शिष्य के भविष्यदर्शन के लिये स्वप्न दिखाने की साधना का भी एक विधान गुरु लोग करते हैं, उसकी भी यहाँ कोई आवश्यकता नहीं होती। मण्डल से लेकर चरु विधान आदि मन्त्र की सान्निधि, उसको या देववर्ग को संतृप्ति के लिये सम्पन्न किये जाते हैं।

श्री मृत्युञ्जय तन्त्र और सिद्धा तन्त्र के आधार पर ही उक्त बातों का प्रतिपादन शास्त्रकार ने किया है। व्याख्याकार ग्रन्थ के अधिकार १८ की उक्तियों का शब्दशः उद्धरण प्रस्तुत कर रहे हैं—

तत्र अदीक्षित इत्यनेन त्रयोऽधिकारिण उक्ता येषु आद्यं द्वयं तुर्यश्चेति। द्विजातिषु इत्यनेन तृतीयः। पातित्येनेत्यादिना तु डिम्बाहतादिः, अन्यैस्तु भ्रष्टस्वसमय उक्तः। एषां हि असम्यक्प्रजापालनात् भोगासक्तत्वात् दैवदोषादिविघ्नितत्वात् तपश्चरणादेश्चाभावात् अवश्यसंभावनीयं भ्रष्टसमयत्वम्। अत्र चोन्मेषकृता क्लिष्टकल्पनया यत् व्याख्यातम्, तदाग्रहमात्रपरतयेत्युपेक्ष्यम्। सेति संनिहितजीवद्विषया पूर्वोक्ता दीक्षा। मण्डलेति शिष्यरक्षार्थं शय्यायां बहिः सर्वतोदिक्कं भस्मादिना रेखासंनिवेशः। यदुक्तं

'भस्मना रोचनाद्यैश्च अस्त्रप्राकारचिन्तनम्।' इति।

नोपयोगीति चरुशय्यादि हि शिष्यस्य संस्कारार्थं स्वप्नदर्शनार्थं वा, स एव च न संनिहित इति किमनेनेत्यर्थः।

"जिन राजाओं की अदीक्षित अवस्था में मृत्यु हो जाती है, उनकी और उनके पुत्रों की भी मृतोद्धारी-दीक्षा होनी चाहिये। (आचार्य जयरथ कहते हैं कि, राजा लोग सम्यक् रूप से प्रजा का पालन नहीं करते, रात-दिन भोग में आसक्त रहते हैं और दैव-दोष से वे किसी नियम का पालन नहीं कर पाते हैं। साथ-साथ उनमें तपोमय आचरण का सर्वथा अभाव होता है। फलतः उनके समयाचार के निर्वाह की सम्यक् कल्पना नहीं की जा सकती। फलतः वे भ्रष्ट हो जाते हैं। उसी दशा में इधर मौत ने अपना पाश यदि कस दिया और उनका देहावसान हो गया तो, उनका या ऐसे ही उनके पुत्रों का भी कल्याण कैसे सम्भव है? बस एक ही मार्ग मृतोद्धारी दीक्षा का ही बचता है, जिससे इनका उद्धार हो सकता है।)

द्विजन्मा पुरुष जो भोगवश, आलस्यवश अथवा अपने कर्म विपाक जन्य दोषों से उत्पन्न विघ्न के फलस्वरूप अपने आचार का प्रतिपालन नहीं कर पाते, सबको मृतोद्धारी दीक्षा दी जानी चाहिये। वे लोग जिन्होंने न कोई यज्ञ किया, न कोई तपस्या की, न ही उपास्य के ध्यान द्वारा ही अपने उद्धार का कभी प्रयत्न किया है और नहीं किसी की प्रतिष्ठा की, उनके लिये भी यही एक मार्ग शेष रह जाता है। ऐसे लोग जिनकी प्रवृत्ति पतित कार्यों में

मण्डलं देवार्चा चेत्येतत् पुनरुपयोगीति प्राच्येन संबन्धः । यदुक्तं

'सर्वार्चनं स्थण्डिले स्यान्न च तत्राधिवासनम् ।' इति ।

न साक्षादिति मन्त्रसंनिधिद्वारा पारम्पर्येणेत्यर्थः, नहि अस्य स्वयमेव मण्डलदर्शनादीत्याशयः ॥ १५ ॥

न चात्र मन्त्रसंनिधानाय एतदेव निमित्तमित्याह

क्रियोपकरणस्थानमण्डलाकृतिमन्त्रतः ।
ध्यानयोगैकतद्भक्तिज्ञानतन्मयभावतः ॥ १६ ॥

ही रही है और पातित्य अवस्था में यमराज के घर आतिथ्य सत्कार प्राप्त करने के लिये जा पहुँचे और उन्हें नरक का अभिशाप मिला, ऐसे असंख्य लोगों का उपचार मृतोद्धारी-दीक्षा में ही निहित है ।

अन्यान्य अनेक कारणों से भी यदि किसी स्त्री, बालक या वृद्ध अथवा रुग्ण, पीडित, चोटिल, घायल या उतावले व्यक्ति की मृत्यु हो जाय तो, इनके उद्धार के लिये क्या करना चाहिये ? इन्होंने तो कभी कोई जप, तप, ध्यान आदि की क्रियायें को ही नहीं, तो भगवान् कहते हैं कि, हे देवि ! ऐसी दशा में उनके उद्धार के उद्देश्य से दीक्षा के लिये परमेश्वर का ही आश्रय लेना चाहिये । वही सर्वेश्वर यष्टव्य है । मृतोद्धारी-दीक्षा का यही लक्ष्य है ।' मण्डल और चरु विधान के विषय में यह ध्यान रखना चाहिये कि,

"यह देवार्चन या सर्वार्चन स्थण्डिल में नहीं करना चाहिये । वहाँ अधिवासन भी अनुपयोगी होता है ।"

शास्त्रकार कहते हैं कि, मन्त्र की सन्निधि में दीक्षा के पारम्परिक क्रम में मण्डल विधान उपयोगी होता है—किन्तु इस प्रकरण में, चाहे मण्डल हो या देवार्चन, कोई साक्षात् उपयोगी नहीं माना जाता । शिष्य की मृतोद्धारी-दीक्षा में ये सभी कृत्य अनुपयोगी हैं ॥ १२-१५ ॥

मण्डल के सन्दर्भ में श्लोक १५ में मन्त्र-सन्निधि की चर्चा की गयी है । यहाँ मन्त्र संन्निधान के निमित्त का ही आकलन कर रहे हैं—

तत्प्रविष्टस्य कस्यापि शिष्याणां च गुरोस्तथा ।
एकादशैते कथिताः संनिधानाय हेतवः ॥ १७ ॥
उत्तरोत्तरमुत्कृष्टास्तथा व्यामिश्रणावशात् ।

क्रियादि ध्यानादि च अवलम्ब्य एकादश एते संनिधानाय हेतवः कथिता इति संबन्धः । एकेति प्रधाना । कस्यापीति प्रामादिकस्य । यदुक्तं

'प्रमादात्तु प्रदिष्टस्य विचारं नैव कारयेत् ।' इति ।

उत्तरोत्तरमिति यथा क्रियात उपकरणमित्यादि । एते च समुदिता अप्युत्कृष्टा इत्याह तथा व्यामिश्रणावशादिति ॥ १७ ॥

क्रिया, उपकरण, स्थान, मण्डल, आकृति और मन्त्र के प्रथम विभाग के छह एवं ध्यान, योग, भक्ति, ज्ञान और तन्मयत्व के पाँच, इन दोनों को मिलाकर अर्थात् क्रिया भाग के छः तथा ज्ञान भाग के पाँच अर्थात् ६+५=११ मन्त्र सन्निधान के हेतु माने जाते हैं । इसमें क्रिया भाग के मान्त्रिक संनिधान सबीज-दीक्षा और ज्ञान भाग के मन्त्र सन्निधान निर्बीज-दीक्षा के लिये प्रयुक्त होते हैं । इसीलिये दीक्षा के ये दो विभाग सबीज-दीक्षा और निर्बीज-दीक्षा ही होते हैं[1] । इन ग्यारह कारणों का दीक्षा के प्रकरण में अवश्य आकलन करना चाहिये ।

यदि मण्डल में चाहे शिष्य या गुरु प्रमादवश कोई प्रवेश कर जाय, तो इस सम्बन्ध में आगम का विचार है कि, उस पर कोई विचार नहीं करना चाहिये । ये उत्तरोत्तर उत्कृष्ट कारण माने जाते हैं, जैसे—क्रिया से उपकरण, उपकरण से स्थान आदि । उत्तरोत्तर उत्कृष्टता के साथ इनका अवसर और आवश्यकतावश सामुदायिक रूप से भी मन्त्र-सन्निधान हो तो उसे और भी उत्कृष्ट माना जाता है । व्यामिश्रणा शब्द ही इसकी सूचना दे रहा है । यह सब गुरुदेव पर निर्भर करता है कि, वह कब, कैसे और किस अवसर पर इनका उपयोग करे ॥ १६-१७ ॥

---

१. मा० वि० ४।७

अत्रैव अस्पष्टं किंचिद्व्याचष्टे

क्रियातिभूयसी पुष्पाद्युत्तमं लक्षणान्वितम् ॥ १८ ॥
एकलिङ्गादि च स्थानं यत्रात्मा संप्रसीदति ।
मण्डलं त्रित्रिशूलाब्जचक्रं यन्मन्त्रमण्डले ॥ १९ ॥
अनाहूतेऽपि दृष्टं सत्समयित्वप्रसाधनम् ।
तदुक्तं मालिनीतन्त्रे सिद्धं समयमण्डलम् ॥ २० ॥
येन संदृष्टमात्रेति सिद्धमात्रपदद्वयात् ।

यहाँ उपर्युक्त कुछ ऐसी बातों का विश्लेषण कर रहे हैं, जो स्वयं में अस्पष्ट हैं। जैसे—

१. क्रिया—क्रिया इतनी सूक्ष्म और असन्तोषजनक रूप से कृपणतापूर्वक संजोयी नहीं होनी चाहिये, अपितु अच्छी तरह सूत्रित और अपेक्षाकृत बड़े पैमाने पर आयोजित होनी चाहिये। साथ ही साथ फूलों से सजायी गयी तथा उत्तमोत्तम लक्षणों से समन्वित हो। ऐसी स्थिति में ही गुरु को मन्त्र संविधान में सन्तुष्टि होती है।

२. स्थान—यह ऐसा होना चाहिये, जहाँ जाकर अवलोकन के साथ ही मन भीतरी प्रसन्नता से भर उठे। यदि पास में स्थापित शिवालय हो, तो और भी अच्छा लक्षण माना जाता है।

३. मण्डल—तीन-तीन शूलाब्ज चक्रों से अधिष्ठित हो। इसमें ६ शूल, ६ बीज मन्त्र, ६ अब्ज मध्य में द्व्यक्षर मन्त्रात्मक मण्डल का प्रकल्पन होता है। यह मन्त्रमण्डल में ही अवस्थित हो अर्थात् उन उन कमलों पर परा-परापरा-अपरा मन्त्रों की छाया हो, जिसे कोई यों ही बिना बुलाकर दिखाये ही यदि देख ले, तो उसे यह लगे कि, यहाँ जो भी रहेगा, वह सच्चाई और निष्ठापूर्वक समयाचार का पालन कर सकेगा। मालिनीविजयोत्तर तन्त्र में इसे मण्डलत्रितय (समयमण्डल) की संज्ञा दी गयी है।

आकृतिर्दीप्तरूपा या मन्त्रस्तद्वत्सुदीप्तिकः ॥ २१ ॥
शिष्टं स्पष्टमतो नेह कथितं विस्तरात्पुनः ।

मात्रेति पूजादिव्यवच्छेदात् ॥

एवमेतत्प्रसङ्गादभिधाय प्रकृतमाह

कृत्वा मण्डलमभ्यर्च्य तत्र देवं कुशैरथ ॥ २२ ॥
गोमयेनाकृतिं कुर्याच्छिष्यवत्तां निधापयेत् ।

इसे देखने मात्र से सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। इसमें सिद्धा[1] द्व्यक्षरा विद्या साधना की मुख्यता होती है। यही तथ्य श्लोक २१ से भी समर्थित है। नासाक्रान्त महाप्राण दण्ड और बिन्दु से समन्वित यह अत्यन्त गोपनीय मन्त्र 'ह्री' है। इसी विद्या से उस स्थान को लाल धागे से वेष्टित करना चाहिये। उस वेष्टित क्षेत्र में आकर योगिनियाँ अपने शक्ति सम्प्रदाय का विवरण प्रस्तुत करती हैं। मण्डल के असंख्य स्वरूप, निर्माताओं की कला कुशलता पर निर्भर है।

४. आकृति और मन्त्र—इन्हें अत्यन्त दीप्तिमन्त होना चाहिये। जितनी दीप्त आकृति होगी, उतना ही दीप्त उसका बीजमन्त्र हो सकता है। ये सभी सबीज-दीक्षा के भाग हैं। इसके अतिरिक्त अन्य बिन्दु इतने स्पष्ट हैं कि, उनका विश्लेषण करना अनावश्यक समझ कर छोड़ दिया गया है ॥ १८-२१ ॥

प्रसङ्गवश इन बिन्दुओं पर विचार करने के उपरान्त प्रकृत विषय का वर्णन कर रहे हैं—

इस प्रकार की मण्डल प्रक्रिया पूरी कर लेने के बाद वहीं भगवान् भूतभावन की पूजा की प्रक्रिया भी पूरी कर लेनी चाहिये। वहीं मध्य बिन्दु स्थान पर प्रेत की उससे मिलती जुलती मूर्त्ति, जिसे प्रेत की आकृति कह सकते हैं, निर्मित करनी चाहिये। यह आकृति मात्र बारह अङ्गुल की होनी चाहिये। यह शिष्य (दीक्ष्य) ही है, यह मानकर वहीं उसे संन्निधापित करने

---

१. मा० वि० २३।२०

ततस्तस्यां शोध्यमेकमध्वानं व्याप्तिभावनात् ॥ २३ ॥
प्रकृत्यन्तं विनिक्षिप्य पुनरेनं विधिं चरेत् ।
महाजालप्रयोगेण सर्वस्मादध्वमध्यतः ॥ २४ ॥
चित्तमाकृष्य तत्रस्थं कुर्यात्तद्विधिरुच्यते ।

आकृतिमिति द्वादशाङ्गुलाम् । यदुक्तं

'.......................विशेषात्तत्र चाकृतिः ।
कर्तव्या रजसावश्यं सदृशी द्वादशाङ्गुला ॥
कार्या वा गोमयाद्देवि कुशैर्वा स्नानशोधिता ।' इति ।

का विधान है । इसके बाद उस आकृति पर एक शोध्य-अध्वा का उस आकृति में पूरी व्याप्ति का भावन करते हुए उस पर पुष्प से पुरुष का निक्षेप करने से एक दिव्य परिवेश निर्मित हो जाता है । यहाँ एक अध्वा में 'एक' शब्द सर्वप्रधान का अर्थ दे रहा है । छह अध्वाओं में सर्वोच्च और प्रधान अध्वा 'मन्त्राध्वा' है । उसी का शोधन कर प्रकृत्यन्त-तत्त्व (पुरुष) का निधापन ऊर्ध्वाकर्षण की दृष्टि से ही करना उचित माना गया है ।

इतना सारा विधान पूरा कर लेने के बाद 'महाजाल' का प्रयोग करके उसके (प्रेत के) चित्त का आकर्षण करना चाहिये । विश्व षडध्व-मण्डल माना जाता है । मृतक इस समय किस अध्वा में भटक रहा है, यह अज्ञात है । उसे कैसे खोजा जाय, यह समस्या उपस्थित होती है । इसलिये महाजाल का प्रयोग करते हैं । इस प्रयोग से उसके चित्त का आकर्षण हो जाता है । गुरु इस विद्या का अनुभवी विद्वान् होता है । उस प्रेत-चित्त का आकर्षण कर उसे उसी आकृति में स्थापित कर देना चाहिये । आकृति वहाँ पहले से स्थापित है । आकृति के विषय में आगम कहता है कि,

"आकृति का विशेष रूप से निर्माण होना चाहिये । आकृति में तीन द्रव्यों का प्रयोग अपेक्षित है—१. रजस् (मिट्टी), २. कुश और ३. गोमय ।

प्रकृत्यन्तमिति अत ऊर्ध्वमाकर्षणीयः पुमानवस्थित इत्याशयः । एनमिति वक्ष्यमाणम् । एवमनेन मृतजीवद्विधिविभागानन्तरभावी महाजालोपदेश आसूत्रितः ।

तद्विधिमेव आह

मूलाधारादुदेत्य प्रसृतसुविततानन्तनाड्यध्वदण्डं
वीर्येणाक्रम्य नासागगनपरिगतं विक्षिपन् व्याप्तुमीष्टे ।
यावद्धूमाभिरामप्रचिततरशिखाजालकेनाध्वचक्रं
संछाद्याभीष्टजीवानयनमिति महाजालनामा प्रयोगः ।। २५ ।।

उचित यह है कि, गोमय और गाङ्गेय मृत्तिका इन्हें एक में मिश्रण कर कुश पर लगा कर आकृति बनायी जाय। यों अलग भी इनकी आकृतियों का निर्माण कलाकार कर सकता है। यह बारह अङ्गुल की होनी चाहिये। बारह अङ्गुल का आग्रह प्राणप्रयाण में द्वादशान्त पथ के आश्रय के कारण ही है। ये तीन माने जाते हैं – (१. ऊर्ध्वद्वादशान्त २. नासिक्यद्वादशान्त और ३. अधोद्वादशान्त।) अन्त समय में वहाँ उसी आकृष्ट का शरीर छूटता दीख पड़ता है। सूक्ष्म शरीर देखता है कि, यह हमारा भौतिक देह मुझसे अलग हो गया। इसी द्वादशान्त अवस्थान के कारण आकृति का द्वादशाङ्गुल परिमाण उचित कहा जा सकता है ॥ २२-२४ ॥

यह मृतजीवद्विधि है। इससे मृत के नव जीवन के निर्माण की दिशा निर्णीत और निर्धारित होती है। इस विधि के अनन्तर तुरत महाजाल प्रयोग से उसके चित्त का आकर्षण आवश्यक है। उसी की विधि का निर्देश कर रहे हैं—

आचार्य सर्वप्रथम स्वात्म में अवस्थित होने का उपक्रम करे। 'स्व' में अवस्थित होकर ही ऐसे प्रयोग किये जा सकते हैं। श्री दुर्गासप्तशती में प्रयुक्त 'स्वस्थैः स्मृता' शब्द उपासना में इसे आवश्यक कर्त्तव्य मानता है। इससे शिवाहंभाव स्वभाव की भव्यता आती है और एक महत्त्वपूर्ण आध्या-

इह अयं महाजालनामा प्रयोगो यदाचार्यः शिवाहंभावस्वभावतया स्वात्मनि अवतिष्ठमानो मूलाधारात् जन्मस्थानादुदेत्य रेचकपूरककुम्भकाद्यवष्टम्भात् पौनःपुन्येन प्राणशक्तिं प्रबोध्य मूलकारणतया, तत एव प्रसृता निखिलदेहव्यापकतया सुवितताः सार्धकोटित्रयात्मकत्वादनन्ता नाड्य एव ऊर्ध्वाधरगमागमनिमित्ततया स्पष्टप्रवाहात्मकनिमित्ततया च अध्वरूपो दण्डः तात्स्थ्यात्तदाकारः प्राणः तं वीर्येण शाक्तेन बलेन आक्रम्य स्वायत्तीकृत्य, हृदाद्युल्लङ्घनक्रमेण नासारन्ध्राग्रं प्राप्तं सन्तं विक्षिपन् बहिः सर्वतः प्रसारयन्

त्मिक कार्य के सम्पादन का सामर्थ्य उल्लसित हो जाता है। स्वात्म में अवस्थित हो जाने के उपरान्त मूलाधार चक्र से अश्विनी मुद्रा के प्रयोग से प्राणापानवाह अध्व (मार्ग) को संचालित करे। पुनः पूरक, कुम्भक और और रेचक क्रम से मेरुदण्ड में चक्रों को चालित करने की प्रक्रिया पूरी कर ले। इससे शरीरस्थ ३॥ करोड़ नाड़ियों में भी अभिनव प्राणवत्ता का और शक्ति का संचार हो जाता है। ये नाडियाँ सारे शरीर में प्रसृत हैं, गमनशील हैं, व्याप्त हैं और सम्यक् रूप से वितत रहती हुई जीवन की ऊर्जा रेखाओं की तरह स्पन्दित होती रहती हैं। इनमें बहुत सी रक्तवहा एवं मुख्य नाड़ियाँ प्राणवहा भी होती हैं। इन नाड़ियों के आधार पर ही इनसे होता हुआ प्राण और अपान का गमागम होता रहता है। इसीलिये इन्हें नाड्यध्व दण्ड कहते हैं। एक तरह से दण्डाकार मार्ग में उस समय प्राण पौर्णमास केन्द्र से आमावस्य केन्द्र तक की जीवन यात्रा सम्पन्न करता है। इसलिये इस दण्डाकार मार्ग में प्राण भी दण्डाकार ही हो जाता है।

सिद्ध साधक प्राण को अपनी साधना की वीर्यवत्ता से, ऊर्जा से और अपने शाक्त बल से अपने अधिकार में कर लेता है। सोऽहं की मध्य तुटि को तोड़ कर अपनी इच्छा के अनुसार जितने समय तक चाहे, उतने समय तक जिस चक्र में चाहे, उसी चक्र में रोके रख सकता है। यह प्रक्रिया आचार्य पूरी कर ले। इसके बाद नासिक्य द्वादशान्त में प्राण को न ले जाकर उसे सृष्टि के सद्भाव में व्याप्त करने के उद्देश्य से बाहर विश्व में निक्षिप्त कर दे।

यावत् विशेषानुपादानात् विश्वं व्याप्तुं प्रभवति, तावदेवाशुद्धाध्वमध्यवर्तित्वात् धूमप्रायेण बहलबहलेन स्वरश्मिनिकुरम्बेन सकलमेवाध्वानं संछाद्य गर्भीकृत्य शीघ्रमेव मत्स्यमिवाभीष्टं जीवमानयति प्राणकरणाद्येकीकारेणाकर्षयतीत्यर्थः। मायाबीजामर्शतश्च अयमेवंनामा यत्संहारक्रमेण पूर्वं दण्डं रेफं शाक्तपरिस्पन्दा-

---

आचार्य नासिका के आकाश से निकलते समय जब नासिका के अग्रभाग में पहुँचे, उसी समय अर्थात् द्वादशान्त में पहुँचने से पहले ही विश्व में उसका विक्षेप कर दे और यह सोचे कि, 'मेरा प्राण विश्व में व्याप्त हो गया है।' इस कार्य में आचार्य को बड़ी सावधानी बरतनी पड़ती है। उसके कई कारण हैं—१. सारा विश्व अशुद्ध अध्वा से व्याप्त होता है। परिणामतः सर्वत्र एक अपरिकल्पनीय 'धुआँस' (धूम्रता) सर्वत्र व्याप्त रहती है। अशुद्धता की इस समस्या का समाधान आवश्यक है। २. इसके लिये प्रकाश की व्यवस्था चाहिये। मण्डल में मन्त्राब्जों से परिपूरित मध्यावस्थान के केन्द्र में बैठा आचार्य 'प्राक् संविद् प्राणे परिणता' की दृष्टि से उसी संविद्-तत्त्व के प्राण-प्रकाश को चिदाकाश में यहीं से संचारित करता है। उसका प्राण अब पहले से अधिक प्रकाशमान हो उठता है। उससे अभिराम और प्रचिततर शिखायें फूटने लगती हैं। आचार्य अपने केन्द्र से उनके प्रकाश का संचालन करता है।

आचार्य की इस सावधानी से सारा अशुद्ध अध्वा प्राण-प्रकाश से ढक जाता है। सब कुछ साफ दीख पड़ने लगता है। उसकी संविद् शिखा रश्मियों के उज्ज्वल ज्वालामय जाल से अब वह जीव बच कैसे सकता है? वह संकल्पित जीव इस जाल में उसी तरह आ जाता है, जैसे महाजाल डालने पर अनेकानेक मत्स्य उसमें अपने आप आ फँसते हैं। आचार्य उस जीव को वहाँ से आकृष्ट कर मण्डल में स्थापित उसी कुश-गोमय और मृत्ति-का निर्मित आकृति में अवस्थापित कर देता है। शास्त्रकार इसे महाजाल नामक प्रयोग की संज्ञा प्रदान करते हैं।

इस प्रयोग में व्याख्याकार ने मन्त्रात्मकता के बल के महत्त्व का भी प्रतिपादन किया है। यद्यपि श्लोक में इस मन्त्र का स्पष्टाक्षर उल्लेख नहीं है, फिर भी संकेत है कि, मूलाधार में जिस अश्विनी बीज का प्रयोग करते हैं, यहाँ भी मन्त्रात्मक संकेत है—प्रसृत और वितत वीर्य 'ह'कार है। नाड्यध्व

त्मना वीर्येण हकारेण आक्रम्य, तदनु नासामीकारं परिगतं ज्योतिरूपेण शिखा-जालकेन बिन्दुना संछाद्य अभीष्टं जीवमानयतीति ।

यदुक्तं

'निष्कम्पः सकलः शान्तो ह्यहमेव परः शिवः ।
परमात्मा सर्वगतो जगद्व्याप्तं मयाखिलम् ॥

दण्ड 'रेफ' है । नासागगन परिगत 'ई'कार है । बिन्दु की व्याप्ति की आकांक्षा है । इस तरह बीज मन्त्र अर्थात् 'माया बीज' के प्रयोग का अस्पष्टाक्षर संकेत श्लोक में भी शास्त्रकार ने दिया है ।

जिस रहस्य को शास्त्रकार ने मात्र सूचित किया था, व्याख्याकार ने नामतः उसका उल्लेख कर दिया है । तन्त्र में गोपनीयता और उद्घाटनीयता का द्वन्द्व चलता है । 'अतिरहस्यत्वात् नोद्घाटनीयम्' और 'रहस्यं नाति गोपनीयम्' दोनों बातें अपनानी पड़ती हैं । अनधिकारी द्वारा बीज मन्त्रों का प्रयोग हानिकर होता है । कुछ भी हो, यहाँ आचार्य मायाबीज का आश्रय लेता है । विना इस बीज के महाजाल प्रयोग निष्फल या उपद्रवपूर्ण भी हो सकता है । इसमें संहार क्रम अपनाना पड़ता है । बीज के साथ मृतात्मा का नाम जोड़कर दण्ड (रेफ) को शाक्तपरिस्पन्दात्मक ऊर्जस्वल वीर्य से (हकार से) आक्रान्त करना चाहिये । उसके बाद नासागगन परिगत (ईकार) को शिखाजाल रूप ज्योतिश्चक्रात्मक (बिन्दु) से आच्छादित करना पड़ता है । इसमें माया बीज का एक नया लम्बा रूप बनता है । उसी से बाह्य अशुद्धाध्व के अन्तराल में भटकते जीव का आकर्षण होता है । इस विषय में आगम कहता है कि,

"आचार्य सर्वप्रथम दृढता और आस्थापूर्वक शैवतादाम्य ढार्ढ्य को अपना कर यह निश्चय करे कि,

मैं हो निष्कम्प सर्वरूप शान्त परम शिव हूँ । मैं परमात्मा स्वरूप हूँ । सर्व व्याप्त हूँ । मेरे द्वारा यह सारा विश्व व्याप्त है । इस ध्यान से परिनिष्ठित हो जाने पर आचार्य आगम विधि के अनुरूप प्राण का नियन्त्रण करने में संलग्न हो जाय । सर्वप्रथम रेचक कर श्वास को बाहर प्रक्षिप्त कर दे । नासिक्य द्वादशान्त से शाक्त उल्लास को देखते

एवंध्यानगतः कुर्याद्रेचकं पूरकं ततः ।
कुम्भकान्ते रेचकेन निक्षिपेदखिलं शनैः ॥
रेचकान्ते पुनः स्वान्तं द्वादशान्ते सशक्तिकम् ।
लक्षयेदङ्कुराकारां सर्वाण्डान्तरचारिणीम् ॥
मायाबीजं समुच्चार्य चैतन्यं लिङ्गसंयुतम् ।
शुद्धमम्बुकणाकार यत्र स्रोतोऽन्तरे स्थितम् ॥
गृहीत्वा तत्प्रयोगेण महाजालेन युक्तितः ।
गृहीतं हृदये स्थाप्यं बीजाभिख्यासमन्वितम् ॥' इति ॥ २५ ॥

हुए पूरक करे। कुम्भक कर पौर्णमास केन्द्र में अवस्थित होकर सारी करणेश्वरी देवियों को सोमरस से तृप्त करे। फिर धीरे-धीरे तिथिक्रम से अपान को (सोमतत्त्व को) प्राणरथ पर बिठाकर पूरी तरह शरीर से निकाल कर रेचक विधि से नासिक्य द्वादशान्त के आमावस्य केन्द्र में अवस्थित हो जाय। वह शेवसद्भाव केन्द्र है। उसमें प्राण और अपान दोनों मिल जाते हैं। शरीर उस समय निष्प्राण रहता है। शिवत्व की उस उर्वर भूमि से शक्ति का अंकुर निकलता है। सिद्ध साधक साक्षी बन कर उसे देखता है। उसी अंकुर से प्रतिपदा से लेकर पूर्णिमा तक की शुक्ल पक्ष की तिथियाँ विकसित होती हैं। उसी अङ्कुराकारा और सारे अण्डों में संचरण में समर्थ शक्ति का साक्षात्कार प्रथम तुटि में होता है। आचार्य को इस प्रक्रिया में परिवृढ होना चाहिये। वहीं माया बीज का स्पन्दात्मक एवं विमर्शात्मक उच्चार करना चाहिये। इसी बीज के आकर्षण से मृतात्मा के लिङ्ग संयुत चैतन्य को आकृष्ट करते हैं। वह स्फटिक की तरह श्वेत और शुचिता का प्रतीक होता है। जल का एक श्वेत शुद्ध कण जिस तरह विशुद्ध और चमक वाला दीख पड़ता है, उसी तरह वह इस अनन्त आत्माओं के महास्रोतस्वान् के अन्तराल में चमकता रहता है। ऐसे चैतन्य को बड़ी युक्ति से महाजाल से ग्रहण कर लेते हैं। उस चैतन्य को, जो बीज (माया) की महनीय मनोरम कान्ति से आचार्य द्वारा समन्वित कर दिया गया है, जब पकड़ में आ जाय, तो पहले उसे अपने हृदय में बिठा कर वात्सल्य से अभिषिक्त करना चाहिये" ॥ २५ ॥

ननु किमयं परोक्षदीक्षायामेव लब्धावकाशो नवेत्याशङ्क्याह

एतेनाच्छादनीयं व्रजति परवशं संमुखीनत्वमादौ
पश्चादानीयते चेत्सकलमथ ततोऽप्यध्वमध्याद्यथेष्टम् ।
आकृष्टावुद्धृतौ वा मृतजनविषये कर्षणीयेऽथ जीवे
योगः श्रीशंभुनाथागमपरिगमितो जालनामा मयोक्तः ॥२६॥

एतेन जालनाम्ना प्रयोगेण यदाच्छादनीयमध्वचक्रं परवशमस्वतन्त्रं सदाक्रष्टुः सांमुख्यमेति, अनन्तरमपि एतेन तन्मध्यादेव सकलं चेत् जीवजातमथ यथाभीष्टमेकत्वमेवानीयते समाकृष्यते तदाकृष्टौ पशोरुद्धृताबुद्धारे शिष्यस्य, अथ मृतजीवनविषये परोक्षदीक्षायामाक्रष्टव्ये जीवे जालनामा श्रीमद्गुरुवचनादधिगतोऽयं प्रयोगो मयोक्तः परान्प्रत्युपदिष्ट इत्यर्थः ॥ २६ ॥

इस महाजाल विद्या के आविष्कार का आधार क्या है और क्या यह परोक्ष-दीक्षा में ही चरितार्थ है ? इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट कर रहे हैं—

इस जाल नामक प्रयोग से सारा अध्वचक्र ही आच्छादित कर लिया जाता है। मन्त्र शक्ति बल से समग्र अध्वमण्डल इसके अधीन हो जाता है। इसी परवशता के कारण वह आकर्षण करने वाले आचार्य के पास खिंचा चला आता है। ऐसी अवस्था में आचार्य सारे अध्वचक्र के बीच से केवल यथेष्ट मृतात्माओं के विषय में भी यह प्रयोग कर सकता है किन्तु सन्दर्भ उस दीक्ष्य अर्थात् विशेष कर्षणीय मृतात्मा का होता है, जिसके विषय में यह प्रयोग किया जा रहा है, उसी का उद्धार करता है। वही कर्षणीय जीव इस प्रयोग से मुक्त हो जाता है। शास्त्रकार कहते हैं कि, यह महाजाल नामक योग अपने शिवस्वरूप गुरुदेव शम्भुनाथ के वचनों से, उनके आगमिक वाक्यों से मैंने अधिगत किया है। आज यही मैं अपने अध्येताओं के लिये उपदिष्ट कर रहा हूँ ॥ २६ ॥

नन्वत्र पाशवानां गौरवाणां च प्राणादीनां कथङ्कारमेकीकारो भवेदित्याशङ्कां दृष्टान्तोपदर्शनेन निरवकाशयति

चिरविघटिते सेनायुग्मे यथामिलिते पुन-
र्हयगजनरं स्वां स्वां जातिं रसादभिधावति ।
करणपवनैर्नाडीचक्रैस्तथैव समागतै-
र्निजनिजरसादेकीभाव्यं स्वजालवशीकृतैः ।। २७ ।।

यथा हि चिरं विश्लिष्टेऽपि कटकद्वये पुनः संघटिते हयादयो हयादिभिरेव निजनिजानुगुण्येन संघटन्ते, तथैव जालप्रयोगमहिम्ना गौरवाः प्राणाद्याः पाशवैः प्राणद्यैरेवेति पिण्डार्थः ।। २७ ।।

ननु मृतः स्वर्निरयादौ स्वकर्मवशेन तां तां गतिमापद्यते इति कथमसावाकृष्यत इत्याशङ्क्याह

महाजाल के इस प्रयोग से सारा अध्वचक्र परवश होकर तो चला आता ही है, सारे जीव समुदाय भी आ मिलते हैं। इन पाशबद्ध प्राणों के मिलन का दृष्टान्त के माध्यम से शब्दचित्र प्रस्तुत कर रहे हैं—

दो सेनायें किसी लड़ाई में लिप्त थीं। विजय के बाद राजा ने उन्हें विघटित कर दिया था। समय पर राजा ने उनका पुनः संगठन किया। पुराने परिचित पुनः मिले। अपने अपने गुणधर्म और स्वभावानुकूल लोगों से मिलने में उन्हें खुशी हुई। पशु पशु से, घोड़े घोड़े से और हाथी हाथियों से जुड़े, मिले और इसी तरह मिला करते हैं, उसी तरह यहाँ मन्त्रशक्ति समन्वित प्राणप्रयोग द्वारा और नाडी चक्रों द्वारा खींच कर लाये जाने पर वे उसी मण्डल में मिलते हैं। उसमें पाशव प्राण और गौरव प्राण सभी अपने अपने रागानुरागरसके अनुरूप जाल से वशीकृत होने पर परस्पर मिलते हैं ॥ २७ ॥

शास्त्र में उल्लेख है और गुरुवर्ग भो यह उपदेश करता है कि, मृत आत्मा स्वर्ग या नरक में जाकर अपने कर्म विपाक के अनुसार अपनी अपनी गति को प्राप्त करते हैं। यहाँ उनके आकर्षण की बात को गयी है। यह कैसे सम्भव है, इस पर अपने विचार व्यक्त कर रहे हैं—

महाजालसमाकृष्टो जीवो विज्ञानशालिना ।
स्वःप्रेततिर्यङ्‌निरयांस्तदैवैष विमुञ्चति ॥ २८ ॥

एतदेव दृष्टान्तोपदर्शनेन द्रढयति

तज्ज्ञानमन्त्रयोगाप्तः पुरुषश्चैष कृत्रिमम् ।
योगीव साध्यहृदयात्तदा तादात्म्यमुज्झति ॥ २९ ॥

यथाहि परपुरप्रवेशादौ साध्यैकात्म्यमापन्नोऽपि योगी साध्यहृदयात् तत् कृत्रिमं तादात्म्यं तदैवोज्झति, तथा तस्य जालप्रयोगे विदुषो गुरोः ज्ञानादिभिराप्तः समाकृष्टोऽयमपि जीवशब्दव्यपदेश्यः संकुचित आत्मा प्रेततिर्यगादेरिति वाक्यार्थः ॥ २९ ॥

नच एतदपूर्वं किंचिदित्याह

स्थावरादिदशाश्चित्रास्तत्सलोकसमीपताः ।
त्यजेच्चेति न चित्रं स एवं यः कर्मणापि वा ॥ ३० ॥

इस प्रयोग विज्ञान के वेत्ता आचार्य द्वारा महाजाल प्रयोग से सम्यक् रूप से आकृष्ट जीव स्वर्ग में, प्रेतयोनि में, तिर्यक् (पशु पक्षियों की) योनि में या नरक में ही क्यों न हो, तुरत उस परिस्थिति से छुटकारा पाकर यहाँ पहुँचता है । इसे दृष्टान्त के माध्यम से स्पष्ट कर रहे हैं—

पुर्यष्टक ज्ञान ओर औपासनिक सिद्धमन्त्रों के विज्ञान में पारङ्गत योगी किसी साध्य के शरीर में प्रवेश कर अपने उद्देश्य की पूर्ति में लीन है किन्तु अवसर आते ही उस साध्य के साथ योजित तादात्म्य को तुरत छोड़ देता है, उसी तरह यहाँ भी जालकृष्ट जीव अपने भाव से मुक्त होकर यहाँ आ जाता है ॥ २८-२९ ॥

यह कोई अपूर्व और अनहोनी बात नहीं है । अपितु सामान्य शास्त्रोक्त विधियों के ही अनुसार घटित होने वाली बात है । यही कह रहे हैं—

स्थावर जंगम आदि प्राणियों के मृतात्माओं की बड़ी विचित्र स्थिति होती है । अधिकतम अपने कर्मविधान के अनुसार जिन जिन अवस्थाओं में पड़े रहते हैं, अभी उनके विभिन्न भोगों के अनुसार विभिन्न दशाओं को

यः कर्मवशादपि तास्ताः परिगृहीता गतोऽस्यजेत् स महाजालसमाकृष्टः पुरुषश्चेदेवं, तदा किमिदमाश्चर्यस्थानमिति वाक्यार्थः ॥ ३० ॥

मनुष्यजन्मनि पुनरयं विशेष इत्याह

अधिकारिशरीरत्वान्मानुष्ये तु शरीरगः ।
न तदा मुच्यते देहाद्देहान्ते तु शिवं व्रजेत् ॥ ३१ ॥

ननु यद्येवं, तदनेन संस्कारेण अस्य तत्र कश्चिद्विशेषो भवेन्न वेत्याशङ्क्याह

विवशता से स्वीकार करने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं रहता । अप्रत्याशित रूप से एक को छोड़कर दूसरी गति स्वीकार करनी पड़ती है । उसी तरह महाजाल के प्रयोग से जिस अवस्था में था, उसे छोड़कर आकर्षण के बलपर अगर आना हो पड़ा, तो इसमें आश्चर्य को कोई बात नहीं । अर्थात् इस प्रकार मृतात्मा का आनयन एकदम स्वाभाविक है ॥ ३० ॥

मनुष्य योनि में जिस मृतात्मा का जन्म हो चुका होता है, उसके विषय से शास्त्रकार कह रहे हैं—

अन्य योनियाँ परवश योनियाँ हैं । उनकी जड़ता का आयाम आत्मा को जड़ बनाकर रखता है । वहाँ से आत्मा के आनयन में कोई कठिनाई नहीं होती । जब आत्मा को पुरुष योनि में प्रवेश मिल जाता है, तब उसको कुछ दूसरी आधिकारिकता होती है । मन्त्र के बल से भी उस आत्मा के आकर्षण में कठिनाई होतो है । मनुष्य देह से विमुक्ति नहीं मिलती, अपितु पोड़ा और विघ्न का भय बना रहता है । ऐसी अवस्था में गुरुदेव वह कार्य रोक देते हैं । मात्र दीक्षा विधि पूरी कर देते हैं । परिणामस्वरूप जब उसका देहान्त होता है, तो उसकी मुक्ति हो जाती है ॥ ३१ ॥

इस दीक्षा संस्कार से मनुष्य योनि में आ पड़े उस मृतात्मा पर कोई विशेष प्रभाव पड़ता है, या नहीं ? इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए कह रहे हैं कि,

तस्मिन्देहे तु काप्यस्य जायते शाङ्करी परा ।
भक्तिरूहाच्च विज्ञानादाचार्याद्वाप्यसेवितात् ॥ ३२ ॥

असेवितादिति नहि एतन्माहात्म्यादस्य अत्र अन्यत्किंचिदुपादेयमित्याशयः ॥ ३२ ॥

नन्वेवं तद्देहमत्यजतोऽस्य जीवस्येह अप्राप्तेः कस्य संस्कारः स्यादिति कृतं परोक्षदीक्षयेत्याशङ्क्याह

तद्देहसंस्थितोऽप्येष जीवो जालबलादिमम् ।
दार्भादिदेहं व्याप्नोति स्वाधिष्ठित्याप्यचेतयन् ॥ ३३ ॥

व्यापकस्वभावत्वान्न अस्य उभयत्राधिष्ठानं न भवेदित्युक्तं व्याप्नोतीति । अचेतयन्नपीति अख्यातिबलात् ॥ ३३ ॥

उस शरीर में इस दीक्षा का एक अदृश्य अलौकिक चामत्कारिक प्रभाव पड़ता है । उसका प्रवृत्तियाँ बदल जाती हैं । स्वभाव में शम का जागरण परिलक्षित होने लगता है । यह 'कापि' शब्द-प्रयोग से अनुमित होता है । उसमें परा शाङ्करी ऊर्जा का समायोजन सा हो जाता है । भक्ति के लक्षण का ऊहन उसमें किया जा सकता है । सबसे बड़ी बात यह होती है कि, उस जीवन में किसी आचार्य के उपसेवन के अभाव में भी इस प्रकार के विज्ञान की सांस्कारिकता का उदय होता है । अतः यह कहा जा सकता है कि, इस दीक्षा से बढ़ कर कोई दूसरा निमित्त उसके लिये उपादेय नहीं हो सकता ॥ ३२ ॥

बड़ी ही उत्तम कोटि की जिज्ञासा शिष्य कर रहा है । वह पूछता है— गुरुदेव ! मनुष्य देह को छोड़कर न आने वाला वह आत्मा तो दूर ही रहा फिर संस्कार किसका ? इस अवस्था में तो यह परोक्ष-दीक्षा ही अनावश्यक हो गयी ? इसका समाधान कर रहे हैं—

वस्तुतः उस शरीर में स्थित रहता हुआ भी वह आत्मा अपने सर्वव्यापक प्रभाव और महाजाल के प्रयोग के बल से उस दार्भ शरीर में आ ही जाता है । गोमय, मृदा और कुशनिर्मित इस मण्डलस्थ शरीर में उसे आना ही

यद्वा गुरुबलात्तु मनुष्यदेहमपि एष त्यजेदेवेत्याह

योगमन्त्रक्रियाज्ञानभूयोबलवशात्पुनः ।
मनुष्यदेहमप्येष तदैवाशु विमुञ्चति ॥ ३४ ॥

ननु गृहीततज्जन्मनो जीवस्यैवमुक्तम्, अगृहीतदेहस्य पुनः का वार्तेत्याशङ्क्याह

सुप्तकल्पोऽप्यदेहोऽपि यो जीवः सोऽपि जालतः ।
आकृष्टो दार्भमायाति देहं फलमयं च वा ॥ ३५ ॥

पड़ता है। अपनी अधिष्ठिति से दार्भ शरीर को व्याप्त करता हुआ भी वह अख्याति के कारण चेतना पैदा नहीं कर सकता। इतना ही उसके लिये पर्याप्त है कि, वह उभयत्र अधिष्ठित हो पाता है ॥ ३३ ॥

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि, इधर दैशिक शिरोमणि गुरुदेव ने अपनी योगशक्ति, मन्त्रशक्ति, तदनुरूप क्रियायोगसम्भूति और विज्ञानवेत्तृता की समन्विति से अपनी पूरी क्षमता का प्रयोग कर इस विधि का संचालन कर दिया। परिणामतः जिस मनुष्य शरीर में वह जन्म प्राप्त किया है, उसे तत्काल छोड़ने को विवश हो जाता है। उस आत्मा को दो तरफा लाभ मिलता है। एक तरफ कर्म बन्धन में पड़ कर आवागमन के चक्कर से छुटकारा एवं शरीर त्याग। दूसरी ओर दार्भशरीर में आकर पारोक्षी दीक्षा द्वारा तत्काल मुक्ति। इस तरह दीक्षा उसके लिये सर्वाधिक उपादेय हो जाती है ॥ ३४ ॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि, जिस जीव ने मनुष्य शरीर धारण कर लिया, उसकी तो यह दशा होती है। किन्तु जिस आत्मा ने अभी शरीर धारण नहीं किया है, उसकी स्थिति क्या होती है? इस प्रश्न का समाधान कर रहे हैं—

शरीर छोड़ने की मर्मान्तक पीड़ा से जीव मूर्च्छित सा हो जाता है। सूक्ष्म शरीर में भी वह सुप्तकल्प ही रहता है। अभी प्रेत अवस्था में भटकना ही उसके भाग्य में बदा हुआ था कि, उसी समय पारोक्षी-दीक्षा का प्रयोग

नन्वत्र कुशैर्गोमयेन वा देहस्य कल्पना कार्येत्यनन्तरमेवोक्तम्, तत्क-
थमिह अस्य फलमयत्वमप्युच्यते इत्याशङ्क्याह

जातीफलादि यत्किंचित्तेन वा देहकल्पना ।

प्रत्युत अत्र विशेषोऽस्तीत्याह

अन्तर्बहिर्द्वयौचित्यात्तदत्रोत्कृष्टमुच्यते ॥ ३६ ॥

ननु यद्यत्र जोवः संनिधत्ते, तदस्य ज्ञानक्रिये कस्मान्नेत्याशङ्क्याह

प्रारम्भ हो गया। इस सांयोगिक आयोजन से जीव का मुक्ति-पक्ष प्रशस्त हो जाता है। वह दार्भशरीर में महाजाल के प्रयोग के कारण आ जाता है। संयोगवश यदि गुरुदेव ने दार्भ शरीर की व्यवस्था न कर फलमय हो शरोर का समायोजन किया, तो वह जोव उसी में आने के लिये विवश होता है ॥ ३५ ॥

पहले कुश, मृदा और गामय निर्मित शरीर के निर्माण को चर्चा शास्त्र में की गयी है। यहाँ फलमय शरीर की चर्चा की गयो है। ऐसा क्यों ? इस पर कह रहे हैं कि,

यह शास्त्र सम्मत नियम है। जायफल (या चमेली के पुष्पों का 'प्रचय' अर्थ भी लिया जा सकता है। चमेली में फल नहीं लगते। अतः उसका पुष्प ही जातोफल की जगह गृहीत हो सकता है) के शरीर में उसे आना पड़ता है। इसीलिये जातोफल के साथ आदि शब्द का प्रयोग कर यह भी स्पष्टाक्षर निर्देश दिया गया है कि, जो कुछ भी अवसर के अनुकूल उपलब्ध हो और उसमें देह कल्पना हो, उसमें वह आ जाता है। आन्तरिक दृष्टि से और बाह्य दृष्टि से दैशिक जिसमें औचित्य का प्रकल्पन करता है, वही उसका उत्कृष्ट शरीर होता है ॥ ३६ ॥

प्रश्नकर्त्ता पूछता है कि, जीव उस दार्भ या फलमय शरीर को व्याप्त कर अवस्थित होता है, उस समय उसमें ज्ञान और क्रियाकरण क्षमता रहती है या नहीं ? इसी का उत्तर दे रहे हैं—

ततो जालक्रमानीतः स जीवः सुप्तवत्स्थितः ।
मनोविशिष्टदेहादिसामग्रीप्राप्त्यभावतः ॥ ३७ ॥
न स्पन्दते न जानाति न वक्ति न किलेच्छति ।
तादृशस्यैव संस्कारान् सर्वान् प्राग्वत्प्रकल्पयेत् ॥ ३८ ॥
निर्बीजदीक्षायोगेन सर्वं कृत्वा पुरोदितम् ।
विधिं योजनिकां पूर्णाहुत्या साकं क्षिपेच्च तम् ॥ ३९ ॥
दार्भादिदेहे मन्त्राग्नावर्पिते पूर्णया सह ।
मुक्तपाशः शिवं याति पुनरावृत्तिवर्जितः ॥ ४० ॥

जाल द्वारा गृहीत वह जीव उस समय गहरी नींद में जैसे कोई सोया रहता है, उसी तरह रहता है। उसे बड़ी थकान होती है। मृत्यु की पीड़ा, भटकने की थकान और जाल की पकड़ में आने की श्रान्ति, इनसे वह मूच्छित सा हो गया होता है। उसे अभी वह देह तो मिला नहीं है, जिससे मन अभी काम नहीं करता। मनोविशिष्ट देह के न होने से और अन्यान्य देहोपयोगी, क्रियोपयोगी और प्रवृत्ति एवं जानकारी योग्य गुण के अभाव के कारण वह श्लथ होकर एकदम ढीला पड़ गया होता है। उसे यह बोध भी नहीं रहता कि, मैं कहाँ आ गया हूँ? बोल तो वह सकता ही नहीं। किसी इच्छा की उसमें उत्पत्ति नहीं हो पाती। ऐसे इस जीव को संस्कार सम्पन्न करने का सारा उपाय प्रकल्पन गुरु को करना चाहिये ॥ ३७-३८ ॥

उसे निर्बीज दीक्षा देशिक शिरोमणि दे। पहले कहे गये सारे विधि विधान वहाँ उसके कल्याण की कामना से सम्पादित करना चाहिये। योजनिका क्रिया पूरी करने के बाद पूर्णाहुति का प्रयोग कर उसी की पूर्णता के क्षण में उस जीव का निक्षेप कर देना चाहिये। दार्भ आदि शरीर में वह व्याप्त रहता ही है। पूर्णाहुति के साथ मन्त्रात्मक संविदग्नि में उसके प्रक्षेप करते ही उसके समस्त पाश भस्म हो जाते हैं। वह मुक्तपाश हो जाता है। तदनन्तर तत्क्षण शिवत्व की प्राप्ति कर लेता है। उसका यह शैवतादात्म्य पुनरावृत्ति से रहित होता है। आवागमन मय इस संसृतिचक्र को अतिक्रान्त कर वह अवस्थित हो जाता है ॥ ३९-४० ॥

सप्रत्यया त्वियं यत्र स्पन्दते दर्भजा तनुः ।
तत्र प्राणमनोमन्त्रार्पणयोगात्तथा भवेत् ।। ४१ ।।
साभ्यासस्य तदप्युक्तं बलाश्वासि न तत्कृते ।

तादृशस्येति सुप्तवदवस्थितस्य । तमिति दार्भादिदेहम् । तदुक्तं

'पश्चात् स्रुचं त्वाज्ययुतां प्रान्ते तत्प्रकृतिं कुरु ।
उत्थितां समपादस्थः ···· ··· ···· ··········· ।।'

इत्युपक्रम्य

कभी-कभी कुछ चामत्कारिकता भी वहाँ घटित होती है। निर्बीज दीक्षा से पहले ही संस्कृत जोव में जब कुछ दिव्यता का समावेश हो जाता है, तो वह दार्भ या फलमय शरीर स्पन्दित हो उठता है। यह स्पन्दन सबके प्रत्यय का, विश्वास का आधार बन जाता है। इसे सप्रत्यया दीक्षा का प्रमाण मानते हैं। यह कैसे घटित होता है ? इस प्रश्न को ध्यान में रखते हुए शास्त्रकार कह रहे हैं कि, उसमें प्राण और मन का मन्त्रार्पणयोग हो जाता है। मन्त्र की शक्ति से प्राणवत्ता का संचार और संकल्पात्मकता का ऊहन यहाँ करना चाहिये। मन्त्रशक्ति से ही यह सम्भव है। यह स्पन्दन उसी जीव के आनयन के पश्चात् होता है, जो साभास रहता है। अपने पहले के जीवन में वह शैवतादात्म्य के प्रयास में लगा रहने वाला होता है। अथवा अभ्याससम्पन्न पूर्णदक्ष एवं क्रिया सक्षम गुरु के प्रभाव से भी यह घटित हो सकता है। गुरु प्रभाव और उनके बल के प्रति यजमान को आश्वस्त करने वाली यह घटना है। यह कोई मृतात्मा के संस्कार का निदर्शन नहीं हैं।

दार्भ शरीर के पूर्णाहुति-प्रक्षेप के सम्बन्ध में आगमिक प्रामाण्य प्रस्तुत किया गया है। उसमें वर्णित है कि,

"स्रुक् को आज्य (गोघृत) से भर कर उसे सावधानी से पैरों को बराबर कर खड़े होकर हाथ से उठाना और उसे अपनी प्रकृति में रखना आवश्यक है। स्रुक् उलट पलट न जाये—इसका ध्यान रखना चाहिये।"

'..... .... ततः पूर्णां विनिक्षिपेत् ।
दहेत्तां प्रतिमामग्नौ परे धाम्नि नियोजत् ।
स गच्छेच्छिवसायुज्यं सत्यं सत्यं न संशयः ॥' इति ।

तदिति स्पन्दनम् । तत्कृत इति । नहि दीक्ष्यस्य अयं कश्चित्संस्कार इत्याशयः ॥

एतदेव जीवत्परोक्षदीक्ष्यदीक्षायामपि अतिदिशति

मृतोद्धारोदितैरेव यथासम्भूति हेतुभिः ॥ ४२ ॥
जीवत्परोक्षदीक्षापि कार्या निर्बीजिका तु सा ।
तस्यां दर्भाकृतिप्रायकल्पने जालयोगतः ॥ ४३ ॥

इस उक्ति से यज्ञ की, यज्ञकर्त्ता की और प्रक्रिया के निर्दोष सम्पन्न करने में की सावधानी की सूचना होती है। इस तथ्य के उपक्रम के अनन्तर आगे का निर्देश आगम करता है कि,

"सब मन्त्र प्रयोग कर लेने के बाद पूर्णाहुति का प्रक्षेप करना चाहिये। उस प्रेत प्रतिमा को अग्नि में प्रक्षिप्त कर दग्ध कर दे और उसमें व्याप्त आत्मा को परम शिव धाम में नियोजित करने की योजनिका प्रक्रिया पूरी कर देनी चाहिये। इस प्रक्रिया से पारोक्षी-दीक्षा दीक्षित शिव सायुज्य को प्राप्त कर लेता है। यह ध्रुव सत्य है। इसमें संशय के लिये लेशमात्र भी अवकाश नहीं" ॥ ४१ ॥

उक्त प्राक्रिया मृतोद्धारी दीक्षा के अन्तर्गत आती है। इसमें आत्मा का शरीर से विच्छेद हो गया रहता है। अतः इसे परोक्ष दीक्षा कहते हैं। बहुत से लोग कहीं दूर देश में निवास करते हैं और जीवित होते हैं। वे गुरु के समीप आने में असमर्थ होते हैं। उनके लिये भी बन्धु-बान्धव आचार्य से प्रार्थना करते हैं। ऐसे लोगों की दीक्षा जीवत्पराक्षदीक्षा कहलाती है। इसके विषय में ही कह रहे हैं—

मृतोद्धार दीक्षा के सन्दर्भ में जो विधियाँ अपनायी जातो हैं, यथा-सम्भव वे सारी विधियाँ जीवत्परोक्षदीक्षा में भी अपनायी जाती हैं। उन्हीं उपकरणों और निमित्त भूत साधनों से इसे सम्पन्न करना उचित है।

सङ्कल्पमात्रेणाकर्षो जीवस्य मृतिभीतितः ।
शिष्टं प्राग्वत्कुशाद्युत्थाकारविप्लोषवर्जितम् ॥ ४४ ॥

सम्भूतिः सम्भवः । यद्यपि अतिदेशबलादेव अस्यां निर्बीजत्वं सिद्धं, तथापि जीवति सबीजत्वशङ्कापि कस्यचित् मा भूदित्युक्तं निर्बीजिका तु सेति । सङ्कल्पमात्रेणेति नतु अत्र भरः कार्य इत्यर्थः ॥ ४४ ॥

अयं च आम्नात एव विषये जालप्रयोगः सिद्धयेन्न अन्यत्रेत्याह

पारिमित्यादनैश्वर्यात्साध्ये नियतियन्त्रणात् ।
जालाकृष्टिर्विनाभ्यासं रागद्वेषान्न जायते ॥ ४५ ॥

यद्यपि अतिदेशात्मक कथन से ही यह अर्थ हो जाता है। फिर भी जीते जी सबीज दीक्षा की बात भी कोई न सोचे। इसलिये यहाँ स्पष्टाक्षर उल्लेख कर दिया गया है कि, जीवत्परोक्षदीक्षा भी निर्बीजिका ही होनी चाहिये ।

अभी व्यक्ति जोवित है। परोक्ष में है। उसे दीक्षा देनी है। उसके लिये दार्भ आदि शरीर के प्रकल्पन के साथ ही महाजाल का प्रयोग आचार्य के द्वारा नहीं होना चाहिये। इससे जोवित पुरुष के तत्काल मरने का भय रहता है। इसलिये उसके जीव का संकल्पात्मक आकर्षण मात्र ही करना उचित है। स्रुक् द्वारा आज्य को पूर्णाहुति और दार्भ शरीर का अग्नि में निक्षेप आदि को छोड़कर अन्य शेष कार्य पहले की तरह ही पूरा करना चाहिये। वर्जित कार्य को सम्पन्न करने का मूर्खतापूर्ण आग्रह करने से उद्देश्य पूर्त्ति में बाधा हो सकती है। दीक्षा का मङ्गलमय अवसर मृत्यु के अमङ्गल में बदल सकता है ॥ ४२-४४ ॥

ऊपर के वचनों से यह सिद्ध होता है कि, जाल का प्रयोग आम्नात अर्थात् सम्प्रदाय स्वीकृत विषय सन्दर्भ में ही करना चाहिये, अन्यत्र नहीं। यही कह रहे हैं—

पारिमित्य, अनैश्वर्य, साध्य में नियतियन्त्रण का अनभ्यास और राग-द्वेष के कारण दुर्भावगस्त अवस्थाओं में जाल द्वारा जीवाकर्षण की प्रक्रिया नहीं अपनायी जानी चाहिये। इन विशिष्ट शब्द-प्रयोगों पर विशेष ध्यान देना चाहिये—

यथाहि अभ्यासं विना जालाकृष्टिः क्रियमाणा न संपद्यते, तथा रागद्वेषाभ्यामपि। तथा प्रवृत्तो हि पुमान् नियतियन्त्रितं साध्यमर्थं कथमन्यथाकुर्यात्, यदयं सङ्कुचितात्मरूपत्वादनीश्वरः । न च एतदिच्छानुविधायिनो भावा इत्युक्तं प्राक्, इह तु परमेश्वरतावेशात्तथाभावो भवत्येव। परमेश्वर एव हि गुरुशरीराधिष्ठानद्वारा अनुग्राह्याननुगृह्णाति, स च अचिन्त्यमहिमेति असकृदुक्तम् ॥ ४५ ॥

---

१. पारिमित्य—अभ्यास के न रहने से जालाकृष्टि प्रयोग में दक्षता नहीं आ पाती। दक्षता का अभाव आचार्य की परिमित और सीमित जानकारी का ही प्रभाव है। उसके ज्ञान की मिति (कमी) का द्योतक है। गुरु की कम जानकारी ही उसका पारिमित्य है।

२. अनैश्वर्य—स्वयं संकोच ग्रस्त रहने से ईश्वर भाव की प्राप्ति नहीं हो सकती। ईश्वरता का अभाव ही अनैश्वर्य है। संविद्-प्रकाश का प्रसार ही ऐश्वर्य है। अभो तक गुरु में यह स्तरीयता यदि नहीं आ सकी, तो वह किसी कार्य को पूरा में अनोश्वर हो जाता है। अनीश्वर का भाव ही अनैश्वर्य कहलाता है।

३. नियतियन्त्रण—साध्य अर्थ को सिद्ध करने के लिये यह देखना पड़ता है कि, उसके उपर नियति कञ्चुक का कितना कसाव है। आचार्य उस आवरण को ताड़ देता है और अपना नियन्त्रण स्थापित कर दोक्ष्य की पुरानो प्रवृत्तियों को बदल देता है। यह भी अभ्यास से ही सम्भव है। अनीश्वर गुरु यह नहीं कर पाता।

यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि, आचार्य परमेश्वर शिव से तादात्म्य भाव से अवस्थित रहता है। वह शैव महाभाव के आवेश में रहता है। गुरु शरीर तो परमेश्वर का हो स्वरूप होता है। गुरु शरोर में अधिष्ठित रह कर ही अनुग्राह्य लोगों पर वह अनुग्रह करता है। उस अचिन्त्य शक्ति परमेश्वर की शक्तियों की कल्पना भी नहीं की जा सकती। यह सब कहने का यही तात्पर्य है कि, कभी भी अनधिकार चेष्टा नहीं करनी चाहिये। उक्त विशेष-दोक्षा के सन्दर्भ में जालाकृष्टि जैसा प्रयोग कभी नहीं करना चाहिये ॥ ४५ ॥

एवं जालोपदेशमादिश्य, संस्क्रियागणस्य बलाबलविचारमभिधातुमाह

परोक्ष एवातुल्याभिर्दीक्षाभिर्यदि दीक्षितः ।
तत्रोत्तरं स्याद्बलवत्संस्काराय त्वधस्तनम् ॥ ४६ ॥

अतुल्याभिरिति कुलतन्त्रप्रक्रियादिरूपाभिः । अनेकपुत्राद्यभ्यर्थितैरुद्धार्यं प्रति बहुभिराचार्यैरेवंक्रियमाणानां दीक्षाणां संभाव्यमानतया हि एवमुक्तम् । उत्तरमिति कौलिकं दीक्षादिकर्म । अधस्तनमिति तन्त्रोक्तम् ॥ ४६ ॥

तुल्यायां दीक्षायां पुनः क्रियमाणायां किं स्यादित्याशङ्क्याह

भुक्तियोजनिकायां तु भूयोभिर्गुरुभिस्तथा ।
कृतायां भोगवैचित्र्यं हेतुवैचित्र्ययोगतः ॥ ४७ ॥

परोक्ष-दीक्षा के सम्बन्ध में एक नयी समस्या की ओर ध्यान आकर्षित कर रहें हैं । कभी ऐसा घटित हो सकता है कि, एक व्यक्ति के कई पुत्र अलग-अलग दूर-दूर देशों में रहते हैं । ऐसी अवस्था में अपने जीवित पिता को अत्यन्त वृद्ध देख या जानकर कई आचार्यों से यदि परोक्ष दीक्षा की प्रक्रिया वे पूरी करा लें, तो ऐसी असमान दीक्षाओं का परिणाम क्या होगा ? इस समस्या का समाधान दे रहे हैं—

यदि ऐसी अतुल्य दीक्षायें जो भिन्न-भिन्न तान्त्रिक परम्पराओं और आचार्यों से सम्पन्न करायी गयी हों, उनमें जो उत्तर अर्थात् सर्वोत्कृष्ट शास्त्रीय दीक्षारूप कौलिक-दीक्षा है, वही बलवती होती है । उससे अधस्तन दीक्षाओं का भी संस्कार हो जाता है । ऐसी स्थिति परस्पर सम्पर्क के अभाव में होती है । सरल दूर संचार साधनों से सम्पन्न आज के युग में इसकी सम्भावना और कल्पना नहीं की जा सकती ॥ ४६ ॥

प्रश्नकर्त्ता पुनः पूछता है कि, मान लीजिये कि, एक ही सम्प्रदायाम्नाय के अनुसार ही दीक्षा प्रक्रिया पूरी की गयी हो, तो इसका परिणाम क्या हो सकता है ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

नन्वेवमत्रास्तु, मुक्तियोजनिकायां तु मुक्तौ वैचित्र्यायोगात् व्यर्थं हेतु-वैचित्र्यं स्यादित्याशङ्क्याह

परोक्षदीक्षणे मायोत्तीर्णे भोगाय योजयेत् ।
भोगानीप्सा दुर्लभा हि सती वा भोगहानये ॥ ४८ ॥

भोगायेति नतु मोक्षाय। दुर्लभेति भोगवासनाविच्छेदस्य असंभाव्य-मानत्वात् । कस्यचिन्महात्मनस्तु भोगानीप्सा सम्भवन्ती मोक्षायैव भवेदित्याह सती वा भोगहानये इति ॥ ४८ ॥

यदि तुल्य दीक्षायें समान आचार्यों से सम्पन्न करायी गयी हैं, तो इसके परिणाम भी उत्तम कोटि के होते हैं । ये दीक्षा-कर्म के सुपरिणाम के हेतु होते हैं। यहाँ कर्म का वैचित्र्य उपस्थित है। एक ही जगह उनके दीक्षाजन्य पुण्य दीक्षित के कल्याण के लिये उपार्जित कराये गये हैं। इससे उसके भोग में भी वैचित्र्य अवश्यंभावी है ॥ ४७ ॥

समान दीक्षा में जीवत्पारोक्षी दीक्षा के ही ये सन्दर्भ हैं । प्रश्नकर्त्ता यह जानना चाहता है कि, यदि मुक्ति दीक्षा दी जाय और मुक्तियोजनिका विधि अपनायी जाय, तो वहाँ क्या होगा ? मुक्ति में तो किसी वैचित्र्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती । इस अवस्था में हेतुवैचित्र्य भी नहीं होता। वह भी व्यर्थ ही होता है । ऐसी अवस्था में शास्त्र क्या कहता है ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

परोक्ष मुक्ति दीक्षा माया से उत्तीर्ण विषयक होती है । दीक्षा भोग के लिये योजित होनी चाहिये, मोक्ष के लिये कदापि नहीं। मायोत्तीर्णता में भी भोगवासना अवशिष्ट रहती है ।

भोग-वासना का अभाव एवं भोग के अभिलाष की अनुत्पत्ति ये दोनों बातें दुर्लभ हैं । भोगवासना विच्छेद प्रायः असम्भव ही होता है । यदि किसी महात्मा पुरुष में भोग के प्रति कोई आकर्षण नहीं होता, तो इसे मोक्ष-लक्ष्मी का वैलक्षण्य मानते हैं । ऐसा पुरुष ही मोक्ष का अधिकारी होता है । इसीलिये शास्त्रकार यह स्पष्ट कर रहे हैं कि, भोग की वासना यदि ऐसे पुरुष में हो भी तो इससे भोग का क्षय ही होता है। मुक्ति उसके लिये हस्तामलक के समान सर्वदा उपलब्ध रहती है ॥ ४८ ॥

ननु परोक्षदीक्षायां यद्येवं भोगायापि योजनिका क्रियते, तत्कथं सत्यामपि भोगानीप्सायामस्य मोक्षः स्यादित्याशङ्कायां ससंवादमेव समाधानमभिधत्ते

उक्तं हि स्वान्यसंवित्त्योः स्वसंविद्बलवत्तरा ।
बाधकत्वे बाधिकासौ साम्यौदासीन्ययोस्तथा ॥ ४९ ॥

बलवत्तरेति एवं हि कृतयामपि गुरुणा भुक्तियोजनिकायामस्य मुक्तिरेव भवेदिति भावः। अत एवोक्तं बाधिकेति। असाविति स्वसंवित्। साम्यौदासीन्ययोरिति गुरुशिष्योभयसंविद्गतयोः। तथेति बाधिकैवेत्यर्थः ॥ ४९ ॥

कभी-कभी प्रश्न भी बड़े अच्छे और मजेदार हो जाते हैं। पूछने वाला पूछ बैठता है कि, गुरुदेव यह कसी बात है कि, परोक्ष दीक्षा में भी भोगवाद की योजनिका-प्रक्रिया का सम्पादन करने की आज्ञा दी जा रही है? इस स्थिति में तो भोग की लिप्सा के न रहने पर मोक्ष के अनिवार्य होते हुए भी भोग योजनिका से मोक्ष में अवराध उत्पन्न हो जायगा। शास्त्रकार इसका समाधान कथोपकथन की समान भाषा में दे रहे हैं—

वे कहते हैं कि, प्रियवर! तुम्हें पहले हो यह बतलाया जा चुका है कि, जहाँ दो संवित्तियाँ आपस में टकराती हैं, तो अपनी संवित्ति ही दोनों में बलवत्तर मानी जाती है। यहाँ इस सन्दर्भ में आचार्य की संविद् और भोगानोप्साभव्य उस महात्मा की संवित्तियाँ मिल रही हैं। गुरु ने यदि भुक्ति की योजनिका-प्रक्रिया अपनायी तो भी शिष्य की भोगवाद से विरक्त-संविद् ही बलवती रहने के कारण उसका मोक्ष निर्बाध सम्पन्न होगा। इसमें शङ्का की कोई आवश्यकता नहीं। बाधा के उपस्थित होने पर भी शिष्य की स्वात्मसंवित्ति इसे दूर कर देती है। यह ध्यान देने की बात है कि, आचार्य की संवित्ति में साम्य का प्राधान्य है और शिष्य की संवित्ति में औदासीन्य का समुद्र लहरा रहा है। स्पष्ट है कि, आचार्य की दीक्षा के बाद भी शिष्य की संवित्ति समस्त बाधाओं को निराकृत करने में समर्थ होगी ॥ ४९ ॥

अत्रैव गुर्वन्तरोपदिष्टं विशेषं दर्शयति

श्रीमान् धर्मशिवोऽप्याह पारोक्ष्यां कर्मपद्धतौ ।

तदेवाह

परोक्षदीक्षणे सम्यक् पूर्णाहुतिविधौ यदि ॥ ५० ॥
अग्निश्चिटिचिटाशब्दं सधूमं प्रतिमुञ्चति ।
धत्ते नीलाम्बुदच्छायां मुहुर्ज्वलति शाम्यति ॥ ५१ ॥
विस्तरो घोररूपश्च महीं धावति चाप्यधः ।
ध्वांक्षाद्यश्रव्यशब्दो वा तदा तं लक्षयेद्गुरुः ॥ ५२ ॥

इस सम्बन्ध में अन्य आचार्यों ने क्या उपदेश दिये हैं, इसको जानना भी आवश्यक है। इसी दृष्टि से यहाँ विशेष रूप से परोक्ष-दीक्षाविषयक चर्चा कर रहे हैं—

श्रीमान् आचार्य धर्मशिव ने भी परोक्ष-दीक्षा के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये हैं। उनके अनुसार परोक्षा-दीक्षा के प्रसङ्ग में पूर्णाहुति के समय आज्याहुति में जिस तरह के शब्द उत्पन्न होते हैं और जैसे उनके विभिन्न लक्षण होते हैं, उनका ध्यान रखना चाहिये। आहुति प्रक्षेप से हविष्य के जलने से जो ध्वनियाँ या लक्षण होते हैं, उनमें—१. चिटचिटा की ध्वनि यदि आग से निकले और इस ध्वनि के छोड़ते ही धुएँ का ऐसा अम्बार उत्पन्न हो जाय, मानों काले बादलों की घनी घटा हो वहाँ छा गयी हो। २. आग बराबर न जले, कभी धीमी हो जाय और यहाँ तक कि, आग बुझ-सी जाय, ३. कभी आग का इतना विस्तार हो जाय कि, होता और यजमान कष्ट में पड़ जाँय, ४. कभी इतना घोर रूप धारण कर ले कि, लगे कि, मण्डप का आच्छादन ही जल उठेगा। ५. कभी कुण्ड में आग की लपटें नीचे ही कुण्ड में लहराती-सी दीख पड़ें। ६. कभी कौवे की बोली के समान आवाज आती जान पड़े, तो इनसे आचार्य को तुरन्त सावधान हो जाना चाहिये। ये लक्षण यह स्पष्ट करते हैं कि, जिसे दीक्षा दी जानी

ब्रह्महत्यादिभिः पापैस्तत्सङ्गैश्चोपपातकैः ।
तदा तस्य न कर्तव्या दीक्षास्मिन्नकृते विधौ ॥ ५३ ॥

अस्मिन्निति वक्ष्यमाणे ॥ ५३ ॥

तमेव विधिमाह

नवात्मा फट्पुटान्तःस्थः पुनः पञ्चफडन्वितः ।
अमुकस्येति पापानि दहाम्यनु फडष्टकम् ॥ ५४ ॥

है, वह घोरतम ब्रह्महत्या जैसे पाप कर चुकने वाला अपराधी व्यक्ति है। अथवा इसी पूरक उपपातकों का निर्भीक प्रयोक्ता है। ऐसे पापी पुरुष की दीक्षा अपने तत्काल प्रभाव से स्थगित कर देनी चाहिये। यह दीक्षा तब तक सम्पन्न नहीं करनी चाहिये, जब तक उस घोर पाप का प्रायश्चित न हो जाय। इस प्रायश्चित की विधि आगे ही बतलायी जाने वाली है ॥ ५०-५३ ॥

उसी विधि का निर्देश कूट शब्दों में कर रहे हैं। इनमें सर्वप्रथम आचार्य अपनी स्थिति को मन्त्र से सुरक्षित कर दीक्ष्य के नाम के सहारे उसके पापों को दग्ध करता है और उसके बाद फट् मन्त्र से उसे पूरित करता जाता है। इसी विधि को मन्त्रोच्चारपूर्वक एक सहस्र हवन करने के बाद तब दीक्षा देता है। पूरी विधि इस प्रकार है—

आचार्य अपने स्वरूप को शिवमय आकलित कर लेने के उपरान्त ही कोई विधि आचार में उतारता है। शास्त्र में शिव और गुरु का अभेद स्वरूप प्रसिद्ध ही है। शिव को शास्त्रों में नवात्मा के रूप में मान्यता दी गयी है। वह—१. निष्कल २. सकल ३. मायात्रितय ४. कालनियति ५. राग ६. प्रधान ७. बुद्धि ८. विद्या और ९. पार्थिव रूपों में विश्व में व्याप्त है। शिव के सदृश ही सिद्ध आचार्य अपने को उसी रूप में प्रतिष्ठित करता है। स्वयं को वह नव फडन्त मन्त्रों से युक्त करता है। उसका क्रम परापरामन्त्र में पूर्ण होता है। उसे इस प्रकार समझ सकते हैं—

इति साहस्रिको होमः कर्तव्यस्तिलतण्डुलैः ।
अन्ते पूर्णा च दातव्या ततोऽस्मै दीक्षया गुरुः ॥ ५५ ॥
परयोजनपर्यन्तं कुर्यात्तत्त्वविशोधनम् ।

तत इति एवंविध्यनन्तरम् ॥

क्रम संख्या	शिव के ९ रूप		परापरा मन्त्रों के अंश
१.	निष्कल	—	ॐ अघोरे ह्रीः
२.	सकल	—	परमघोरे हुँ
३.	मायात्रितय	—	घोररूपे हः
४.	कालनियति	—	घोरमुखि !
५.	राग	—	भीमे
६.	प्रधान	—	भीषणे
७.	बुद्धि	—	वम पिब हे [बम और पिब के साथ प्रयोज्य नि का लोप हो गया है]
८.	विद्या	—	र र रु रु फट्
९.	पार्थिव	—	हुँ हुः फट्

इस चित्र में नवात्मा फट् मन्त्र का प्रयोग कर पुनः पञ्च फडन्त विद्यामन्त्र का प्रयोग कर इन दोनों के पुट में अपने को अवस्थित-प्रकल्पित करे। इस प्रकार नवात्मा फट् के पुट में स्वयम् अवस्थित रहकर पुनः विद्यांशरूप पञ्च फडन्त का उच्चारण करे। इसके बाद दीक्ष्य के नाम के साथ सम्बन्ध कारक का प्रयोग कर यह कहे कि, 'मैं [आचार्य] उस (दीक्ष्य) के पापों को जला रहा हूँ।' इतना कह कर फडष्टक मन्त्र का उच्चारण करे। फडष्टक मन्त्र विद्यांश और पार्थिवांश को मिलाकर बनता है। इससे एक सहस्रात्मक होम होना चाहिये। हविष्य के रूप में आज्य, तिल और चावल मात्र का प्रयोग होना चाहिये। एक हजार आहुतियों के बाद पूर्णाहुति भी करना चाहिये। पूर्णाहुति करके गुरु उसे दीक्षा के द्वारा कृतार्थ करे और

अमुमेव विधिं सन्निहितस्य जीवतोऽप्यतिदिशति

प्रत्यक्षेऽपि स्थितस्याणोः पापिनो भगवन्मयीम् ॥ ५६ ॥

शक्तिं प्राप्तवतो ज्येष्ठामेवमेव विधिं चरेत् ।

अत्रैव पक्षान्तरमाह

यदि वा दैशिकः सम्यङ् न दीप्तस्तस्य तत्पुरा ॥ ५७ ॥

इस विधि के प्रयोग के माध्यम से शिष्य के समस्त तत्त्वों का इस प्रकार विशोधन करे कि, उसका परतत्त्वयोजन सम्पन्न हो जाय। इस तरह शिव तादात्म्य समापन्न आचार्य शिष्य को भी परतत्त्व में योजित कर देता है। यह पापदहनपूर्विका परोक्ष-दीक्षा तन्त्रशास्त्र की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि मानी जाती है ॥ ५४-५५ ॥

यदि कोई जीवित सन्निहित शिष्य हो, तो उसे भी दीक्षा देने के अवसर पर यही विधियां लागू होती हैं। एक विधि जब दूसरी क्रिया में भी प्रयोज्य हो, तो उसे अतिदेश-विधि कहते है। मीमांसा शास्त्र के अनुसार अतिदेश की परिभाषा इस प्रकार की जाती है—'अतिदेशो नाम इतरधर्मस्य इतरस्मिन् प्रयोगाय आदेशोऽतिदेशः। दूसरा विग्रह इस प्रकार भी हो सकता है—

'अन्यत्र प्रणीतायाः कृत्स्नायाः धर्मसंहतेः।
अन्यत्र कार्यतः प्राप्तिरतिदेशः स उच्यते' ॥

अर्थात्, दूसरी जगह के लिये प्रणीत पूरी धर्मविधि जब प्रक्रिया में दूसरी जगह लागू होने लगे, तो उसे अतिदेश विधि कहते है। यहाँ पारोक्षी-दीक्षा की विधि का विधान किया गया था। उसी को जीवित संन्निहित व्यक्ति की दीक्षा में भी लागू करने की बात की गयी है। इसीलिये जयरथ ने इसे 'अतिदिशति' क्रिया शब्द के माध्यम से व्यक्त किया है—

अणु (शिष्य) यदि प्रत्यक्ष ही स्थित हो, तो उसकी दीक्षा में भी ऊपर कहे हुए विधान के अनुसार ही सारी प्रक्रिया पूरी करनी चाहिये। हवन के विभिन्न लक्षणों को देखते हुए इसकी पापराशि को दग्ध कर शिवतापर्यन्त पहुँचाने के लिये दीक्षा दी जानी चाहिये ॥ ५६ ॥

प्रायश्चित्तैस्तथा दानैः प्राणायामैश्च शोधनम् ।
कृत्वा विधिमिमां चापि दीक्षां कुर्यादशङ्कितः ॥ ५८ ॥

तस्येति प्रत्यक्षेऽपि स्थितस्य अणोः ॥ ५८ ॥

तत्त्वज्ञस्य पुनरेतन्न किंचिदुपादेयमित्याह

सर्वथा वर्तमानोऽपि तत्त्वविन्मोचयेत्पशून् ।
इच्छयैव शिवः साक्षात्तस्मात्तं पूजयेत्सदा ॥ ५९ ॥

यहाँ एक और समस्या का समाधान कर रहे हैं। यह समस्या दैशिक से सम्बन्धित है। हो सकता है कि, दीक्षा उतनी दीप्तिमन्त न हो, उतनो मान्त्रिक ऊर्जा उसमें न भरी जा सके, तो उस प्रत्यक्ष उपस्थित अणु का विविध प्रायश्चित्त विधानों द्वारा, अनेक प्रकार के पापनाशक दान जैसे गोदान-भूदान आदि के द्वारा और अनेक प्रकार के प्राण सम्बन्धी आगमिक आयामों द्वारा पहले शोधन करना चाहिये। शोधन करने के बाद ही जीव-न्मोक्ष दीक्षा दी जानी चाहिये। इस स्थिति में शङ्का की कोई आवश्यकता नहीं ॥ ५७-५८ ॥

उपर्युक्त दीक्षा में सभी विधियाँ दक्ष, विधिवेत्ता, अभ्यासनिपुण देशिक के सम्बन्ध में कही गयी हैं। यहाँ विधिज्ञ के बाद तत्त्वज्ञ देशिक से दीक्षा लेने के सम्बन्ध में विचार व्यक्त कर रहे हैं—

तत्त्ववेत्ता की बात ही विलक्षण है। वह तो साक्षात् शिव ही होता है। वह प्रत्येक स्थिति से देशकालजन्य विषमताओं को भी समभाव से झेलता हुआ अपनी इच्छा मात्र से शिष्यों का उद्धार कर देता है। इसलिये ऐसे गुरु की श्रद्धापूर्वक सपर्या करनी चाहिये। इस कार्य में तनिक कार्पण्य का प्रदर्शन नहीं करना चाहिये। जो शिष्य कृपणता पर उतर कर अपनी उदात्त वृत्तियों का परिचय नहीं देता, वह उत्तम फल नहीं प्राप्त कर पाता, वरन् अधोगामी और अभिशप्त हो जाता है।

शाठ्यं तत्र न कार्यं च तत्कृत्वाधो व्रजेच्छिशुः ।
न पुनः कीर्तयेत्तस्य पापं कीर्तयिता व्रजेत् ॥ ६० ॥
निरयं वर्जयेत्तस्मादिति दोक्षोत्तरे विधिः ।

सर्वथेति येन केनचित्प्रकारेण । शाठ्यं विचिकित्सा । वर्जयेदिति पापकीर्तनम् ॥

आह्निकार्थमेवोपसंहरति

एषा परोक्षदीक्षा द्विधोदिता जीवदितरभेदेन ॥ ६१ ॥

इति शिवम् ॥

यदि गुरु में शिष्य को कुछ प्रतिकूल प्रतीति या कोई त्रुटि दीख पड़े, तो भी उसका वाचनिक प्रचार नहीं करना चाहिये । यह गुरु निन्दा कहलाती है । गुरु निन्दा निश्चय ही नरकप्रदा होता है । इसलिये ऐसे कामों से बचने का निर्देश शास्त्र हमेशा दिया करते हैं । यहाँ शास्त्रकार ने भी उससे बचने का आदेश विधिलिङ् की क्रिया के माध्यम से ही दिया है । यह विधि दीक्षोत्तर तन्त्र में स्पष्ट लिखी हुई है ॥ ५९-६० ॥

आह्निक का उपसंहार अपनी निर्धारित शैली में करते हुए शास्त्रकार कह रहे हैं कि,

यह परोक्षा-दीक्षा का प्रकरण पूरा हुआ । यह दो प्रकार की होती है । १. जीवत्परोक्ष-दीक्षा और २. मृतोद्धारी परोक्ष-दीक्षा । दोनों प्रकार से शिष्य के कल्याण में गुरु को प्रवृत्त होना चाहिये ॥ ६१ ॥

॥ इति शिवम् ॥

निखिलजगदुद्दिधीर्षाहर्षाकुलमानसेनेयम् ।
व्याख्याह्निके व्यरच्यत किलैकविंशे जयरथेन ॥

इति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचिते
राजानकजयरथकृतविवेकाख्यव्याख्योपेते
श्रीतन्त्रालोकविवेके परोक्षदीक्षाप्रकाशनं नामैक-
विंशमाह्निकम् ॥ २१ ॥

विश्वोद्धारक लालसा-लालित संवित्सिद्ध ।
एकविंश आह्निक विवृति-कर्त्ता जयरथ ऋद्ध ॥

× × × ×

शास्त्रज्ञोऽपि स्वतः सिद्धः हंसः सूर्येन्दुसाधकः ।
एकविंशाह्निकीं व्याख्यां व्यदधात् गुर्वनुग्रहात् ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य श्रीमदभिनवगुप्तपादविरचित-
राजानकजयरथकृत विवेक-व्याख्योपेत
डॉ०परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीर-विवेकभाषाभाष्य-संवलित
श्रीतन्त्रालोक का परोक्ष-दीक्षा प्रकाशन नामक
इक्कीसवाँ आह्निक परिपूर्ण ॥ २१ ॥

शुभं भूयात्

अथ

श्रीतन्त्रालोके

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचिते

राजानकजयरथकृतविवेकाख्यव्याख्योपेते

द्वाविंशतितममाह्निकम्

दुर्वृत्तजनकुसंस्कृतिसंहरणव्यावृतास्यतां दधतम् ।
देवममन्दं वन्दे वन्दनमानन्दनं जगताम् ॥ १ ॥

इदानीं द्वितीयार्धेन लिङ्गोद्धारदीक्षां वक्तुमाह

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यं श्रीमदभिनवगुप्तपादविरचित

श्रीराजानकजयरथकृतविवेकाख्यव्याख्योपेत

डॉ०परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीरविवेक-

भाषाभाष्य-संवलित

श्रीतन्त्रालोक

का

बाईसवाँ आह्निक

पिशुन कुसंस्कृति-शमन के लिये खड़े, बा, आस्य ।
विश्वसुखद ! जयरथ विनत, देव ! सर्वसमुपास्य ! ॥

उपास्य देव का स्मरण करने के बाद राजानक श्री जयरथ शास्त्रकार की शैलीगत विशेषता की ओर ध्यान आकृष्ट कर द्वितीय अर्द्धाली से इस आह्निक के अवतरण की सूचना दे रहे हैं। इस अर्द्धाली के माध्यम से शास्त्रकार कह रहे हैं कि,

लिङ्गोद्धाराख्यामथ वच्मः शिवशासनैकनिर्दिष्टाम् ॥ १ ॥

एकेति यदुक्तं प्राक्

'अत एवेह शास्त्रेषु शैवेष्वेव निरूप्यते ।
शास्त्रान्तरार्थानाश्वस्तान्प्रति सांस्कारिको विधिः ॥
अतश्चात्युत्तमं शैवं योऽन्यत्र पतितः स हि ।
इहानुग्राह्य ऊर्ध्वोर्ध्वं नेतस्तु पतितः क्वचित् ॥
अत एव हि सर्वज्ञैर्ब्रह्मविष्णवादिभिर्निजे ।
न शासने समाम्नातं लिङ्गोद्धारादि किञ्चन ॥'

(१३।३५९) इति ॥ १ ॥

(एकमात्र) शिवशासन में ही निर्दिष्ट लिङ्गोद्धार दीक्षा का मैं वर्णन करने जा रहा हूँ। एकमात्र शिवशासन में निर्देश को बात पहले भी श्रीतन्त्रालोक[१] में कही गयी है । व्याख्याकार उसे यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

"इसी लिये अनुग्रह योग्य शिष्यों के कल्याण के उद्देश्य से केवल शैवशासन में ही यह व्यवस्था दी गयी है कि, अन्यान्य पाञ्चरात्रादि शास्त्रान्तरों के वचनों के प्रति जो अब तक आश्वस्त थे, पर अब शास्त्रान्तर रूप शैवशास्त्र के अमृत से आश्वस्त होना चाहते हैं, ये लोग जब शैव गुरुजनों की सेवा में उपस्थित होते हैं, तो उन्हें देखकर करुणा-पूर्वक शैवदर्शनवेत्ता गुरु उनको इस विधि से दीक्षित करता है। उनको संस्कार सम्पन्न करने की यह विधि ही लिङ्गोद्धार-दीक्षा कहलाती है । इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि, शैवमत सर्वोत्तम मत है। जो अन्य शास्त्रीय वचनों, नियमों और व्यवहार से असन्तुष्ट है अर्थात् उस शास्त्र की दृष्टि से पतित हो गया है, उसका भी उद्धार यह शास्त्र करता है। उसको भी दीक्षित कर उसे मोक्ष (ऊर्ध्वोर्ध्व) का अधिकारी बना देता है। इस शासन में जो दीक्षित हो जाता है, वह कभी पतित नहीं हो सकता । इसीलिये अपने शास्त्रों में सर्वज्ञता के अहंकार से ग्रस्त वेदान्तवादी और वैष्णव आदि

१. श्रीत० १३।३५७-३५९

ननु इयमस्मच्छास्त्रे दीक्षा किमुक्ता न वेत्याशङ्कयाह

उक्तं श्रीमालिनीतन्त्रे किल पार्थिवधारणाम् ।
उक्त्वा यो योजितो यत्र स तस्मान्न निवर्तते ॥ २ ॥

योग्यतावशसंजाता यस्य यत्रैव शासना ।
स तत्रैव नियोक्तव्यो दीक्षाकाले ततस्त्वसौ ॥ ३ ॥

फलं सर्वं समासाद्य शिवे युक्तोऽपवृज्यते ।
अयुक्तोऽप्यूर्ध्वसंशुद्धिं संप्राप्य भुवनेशतः ॥ ४ ॥

आचार्यों द्वारा लिङ्गोद्धार दीक्षा की कहीं अपने शास्त्रों में चर्चा तक नहीं की गयी है ।"

इसी आधार पर इसे शिवशासनेक निर्दिष्ट कहा गया है ॥ १ ॥

जिज्ञासु यह पूछता है कि, शिवशासन में लिङ्गोद्धार दीक्षा की चर्चा की गयी है या नहीं ? इस पर शास्त्रकार कह रहे हैं कि,

श्रीमालिनीविजयोत्तर तन्त्र में पार्थिव धारणा की बात लिखी है। उसके बाद शास्त्रकार शिव ने यह भी कहा है कि, जो शिष्य इस धारणा से योजित कर दिया जाता है, वह इस धारणा से कभी निर्वात्तित नहीं होता[1] । योग्यता के आधार पर जिसकी जहाँ पर जैसी शिक्षा सम्बन्धी अधिकार की सीमा हो अथवा इस विषय में गुरु का अनुशासनात्मक आदेश हो, वह वहीं नियोजित करने योग्य होता है। उसे वहीं नियुक्त करना चाहिये। दीक्षा देते समय गुरुदेव इन सभी बातों का निर्धारण कर लें। इससे शासन के अनुसार निर्दिष्ट सारे फल प्राप्त होते हैं। इसका सबसे महत्त्वपूर्ण फल है—शिवत्व की समुपलब्धि। शिवभक्ति संयुक्त होने के फलस्वरूप वह परमगति को प्राप्त कर लेता है। अप पूर्वक बृज् धातु से घञ् प्रत्यय लगाने पर अपवर्ग शब्द बनता है। यहाँ अपवृज् से आत्मनेपद के प्रयोग का तात्पर्य है कि, आचार्य से दीक्षित होने पर वह स्वयं (आत्मने हिताय) अपवर्ग का अधिकारी हो जाता है।

---

१. मा० वि० १२।४१ ।

शुद्धः शिवत्वमायाति दग्धसंसारबन्धनः ।
उक्त्वा पुंधारणां चोक्तमेतद्वैदान्तिकं मया ॥ ५ ॥
कपिलाय पुरा प्रोक्तं प्रथमे पटले तथा ।
अनेन क्रमयोगेन संप्राप्तः परमं पदम् ॥ ६ ॥
न भूयः पशुतामेति शुद्धे स्वात्मनि तिष्ठति ।

वैदान्तिकमिति विज्ञानम् ॥

मान लीजिये कि, उसका समायोजन शिव से अभी सम्पन्न नहीं हुआ। अभी वह अयुक्त है। किसी ऊर्ध्व संचरण के लिये अनिवार्यतः आवश्यक ऊर्ध्व-संशुद्धि की प्राप्ति कर वह ऊर्ध्व गति का अधिकारी होता है। उस समय आचार्य स्वयं भुवनेश[1] (कालाग्निरुद्र भैरव या अनन्तेश्वर) जो इस भुवन के अधीश्वर हैं, उनसे यह प्रार्थना करता है कि, मैं इसे ऊर्ध्वगति के लिये शुद्ध कर चुका हूँ। भगवन्! इसके ऊर्ध्व मार्ग में किसी प्रकार की बाधा न आये, ऐसी कृपा आप करें। यह अनामय पथ का पथिक है। शिव की आज्ञा से ही मैंने इसे दीक्षा दी है। इसके अपव्रजन में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिये। इस प्रार्थना से भुवनेश प्रसन्न हो जाते हैं और वे इसे शुद्ध होने की मान्यता देकर आगे बढ़ने का पथ प्रशस्त कर देते हैं। शास्त्रकार इसीलिये यह स्पष्ट उल्लेख करते हैं कि, भुवनेश से शुद्धता का अनुग्रह पाकर वह शुद्ध हुआ शिष्य शिवत्व को प्राप्त करता है। उसके संसार के सारे बन्धन दग्ध हो गये होते हैं। स्वच्छन्द तन्त्र भी इस तथ्य को स्वीकार करता है कि, इसकी शुद्धि कालाग्निरुद्र की शुद्धि से सम्पन्न होती है[2]। यह सारा वर्णन पुरुष की देह धारणा के अनुसार ही किया गया है। शास्त्रकार इसे पुंधारणा[3] कहते हैं। इस विज्ञान को ही उन्होंने वैदान्तिक विज्ञान की संज्ञा दी है।

---

१. मा० वि० ९।६३-६४; श्रीत० ८।२२

२. स्व० १०।६; मा० वि० १२।४२

३. मा० वि० १२।३९

ननु इह लिङ्गोद्धारदीक्षावचने संदिहानं प्रति सागरं तत्तंकामस्य हिमवद्वर्णनं किमिदमुच्यते इत्याशङ्क्याह

अतो हि ध्वन्यतेऽर्थोऽयं शिवतत्त्वाधरेष्वपि ॥ ७ ॥
तत्त्वेषु योजितस्यास्ति पुनरुद्धरणीयता ।
समस्तशास्त्रकथितवस्तुवैविक्त्यदायिनः ॥ ८ ॥
शिवागमस्य सर्वेभ्योऽप्यागमेभ्यो विशिष्टता ।
शिवज्ञानेन च विना भूयोऽपि पशुतोद्भवः ॥ ९ ॥

सिद्धयोगीश्वरी तन्त्र के प्रथम पटल में ही इस तथ्य का वर्णन कपिल के लिये परमेश्वर ने किया है। उसका निष्कर्ष यह है कि, जो व्यक्ति इस क्रम-योग का आश्रय लेता है, उसका परम कल्याण होता है। वह परम पद का अधिकारी हो जाता है। अन्त में मोक्ष प्राप्त कर लेने के बाद उसका छुट-कारा इस संसृति-चक्र से हो जाता है। आवागमन के बन्धन से मुक्त होने के कारण वह पुनः जन्म प्राप्त कर आणव भाव ग्रस्त नहीं होता। परम शुद्ध स्वात्मसंवित्-तादात्म्य भाव में शाश्वत विराजमान हो जाता है॥ २-६ ॥

जिज्ञासु ने यह पूछा था कि, लिङ्गोद्धार दीक्षा त्रिक आम्नाय के शास्त्रों में वर्णित है या नहीं ? प्रश्न में एक सामान्य जिज्ञासा मात्र थी। उसके समाधान के स्थान पर यह अप्रासंगिक वर्णन करने की क्या आवश्यकता आ पड़ी ? यह तो ऐसी बात है, मानो समुद्र पार जाने के उपाय की जिज्ञासा करने वाले के समक्ष कोई हिमालय का वर्णन करना प्रारम्भ कर दे। यह सुन कर शास्त्रकार हँस पड़े। उन्होंने कहा—

वत्स ! इस वचन के व्यंग्यार्थ को समझने को चेष्टा करो। इस वर्णन से यह ध्वनित हो रहा है कि, शिवतत्त्व को अपेक्षा अधर तत्त्वों अर्थात् माया आदि के अधिकार क्षेत्र में आने वाले अशुद्ध अध्वागत तत्त्वों में पहले से ही जो नियोजित हैं, उनकी भी पुनरुद्धरणीयता यह आगम स्वीकार करता है।

अत इति वाक्यत्रयात्। अधरेष्विति तत्त्वेष्विति मायादशायामपीत्यर्थः। एवमधरदर्शनस्थोऽपि आयातशक्तिपातः शैवागमप्रक्रियया भुवनेशादिवत् गुरुणा पुनरुद्धरणीय एव इति कटाक्षितम्। तत्र च लिङ्गोद्धारदीक्षैव उपाय इति सर्वत्रोक्तम्। समस्तानि शास्त्राणि कापिलादीनि, तत्र कथितं वस्तु प्रकृतिपुरुषविवेकादि, एवमपि एषां न मायातो मुक्तिरिति तदुक्तवस्तु-वैविक्त्यदायित्वात् सर्वागमेभ्यः शैवागमस्यैव प्राधान्यम्, अतश्च तत एव साक्षात्परपदप्राप्तिः। दर्शनान्तरप्राप्तानां हि पुनरपि अधरपदप्राप्तिरेवेत्युक्तं प्राक् बहुशः ॥ ९ ॥

तत्र च इयानपेक्षणीयः क्रम इत्याह

मोक्ष की लिप्सा से अमोक्ष में ही माया द्वारा भ्रान्त अधरदर्शनस्थ विद्वान् व्यक्ति भी शक्तिपात प्रेरित होकर शैवागम प्रक्रिया से जैसे भुवनेश आदि से शुद्ध होते हैं, उसी तरह शैवागम परिवृढ दैशिक शिरोमणि गुरुदेव द्वारा भी शुद्ध कर पुनरुद्धार के वे योग्य हैं, अर्थात् उनके उद्धार का एक मात्र उपाय लिङ्गोद्धार दीक्षा ही है। यह दीक्षा हमारे शास्त्रों का एक ऐसा आविष्कार है, जिसे किसी शास्त्र ने लिखने की कौन कहे, सोचा तक नहीं था।

अन्य समस्त शास्त्रों (सांख्य आदि) में कही गयी सारी प्रकृति-पुरुष विज्ञान आदि बातें केवल अनुभवहीनता के स्तर की कही गयीं बातें मात्र हैं। उनसे मोक्ष के स्थान पर भ्रान्ति का अभिशाप ही मिलता है। ऐसे शास्त्रों की अपेक्षा शैवागम ही श्रेष्ठतम शास्त्र है। अन्य सभी आगमों से इस आगम का यही वैशिष्ट्य है। इसके सर्व प्रमुख दर्शन होने का यही कारण है। इसी से साक्षात् मोक्ष-लक्ष्मी के अक्षय धाम की प्राप्ति होती है। शिवज्ञान के विना पुनः पशुता की प्राप्ति अनिवार्य है। इसमें सन्देह नहीं ॥ ७-९ ॥

किसी महत्त्वपूर्ण व्यापार की एक पृष्ठभूमि होती है। विना उसके उद्देश्य की सिद्धि में अनपेक्षित बाधायें आती हैं। यहाँ पृष्ठभूमि की पुष्टि के लिये आवश्यक कृत्यों का क्रमिक उल्लेख कर रहे हैं।

क्रमश्च शक्तिसंपातो मलहानिर्यियासुता ।
दीक्षा बोधो हेयहानिरुपादेयलयात्मता ॥ १० ॥

१. शक्तिपात[1]—तारतम्य पूर्वक शिष्य में प्रकाश एवं शुभ्र के जागरण-के लिये गुरु एवं स्वयं सर्वेश्वर शिव भी शक्ति का संपात करते हैं। यह तीव्र, मध्य और मन्द भेदों के परस्पर योग से मुख्यतः नव प्रकार का होता है। इससे शिष्य के आन्तर अज्ञान का नाश होता है और उसमें प्रातिभ महाज्ञान की उपलब्धि हो जाती है। आचार्यरूपी चन्द्रमा की चमत्कारमयी कृपा चन्द्रिका से शिष्य की चेतना का परिष्कार हो जाता है। यह शिव-तापत्ति पर्यन्त काम करता है। अतः गुरु स्वयं सर्वप्रथम उसके ऊपर शक्ति-पात करता है। इसमें आणवी, शोधिनी और बोधिनी शक्तियाँ संयुक्त रूप से शिष्य का उद्धार करती हैं।

२. मलहानि—मायीय, कार्म और आणव ये तीन प्रकार के मल होते है। इनमें मायीय मल ब्रह्माण्ड के अधिकारियों तक में रहता है। कार्म और मायीय ये दोनों विज्ञानाकल पर्यन्त रहते हैं। सकल पुरुष में तीनों मल रहते हैं। मुख्यतः आणव मल की प्रधानता इसमें होती है। इसी मल की हानि के लिये[2] गुरु उसकी बुद्धि को शुद्ध करने का विज्ञान बतलाता है। निर्मलता दीक्षा की पहली शर्त्त है।

३. यियासुता-यियासा—गुरु के प्रति जाने की इच्छा। यह जिसमें होती है, वह यियासु शिष्य कहलाता है। 'या' धातु से सन्नन्त प्रयोग करने पर यियासा शब्द निष्पन्न होता है। इसका पर्याय शब्द जिगमिषा (गन्तुम् इच्छा) है। यियासा[3] ही शिष्य को सद्गुरु के प्रति ले जाती है।

४. दीक्षा—गुरु द्वारा ऐसे मन्त्र की प्राप्ति का अनुग्रह, जिससे समस्त अपकृत्यों का क्षय हो जाता है। शक्तिपात, मलहानि और यियासुता की परीक्षा के बाद ही दीक्षा दी जानी चाहिये।

---

१. श्रीत० १३।१२८,२१७,२७९,२९०-२९५, ३०१;   २. श्रीत० १७।७७ ;
३. श्रीत० २१।५; मा० वि० १।४४ रुद्रशक्तिसमाविष्टः स यियासुः शिवेच्छया ।
भुक्तिमुक्तिप्रसिद्धयर्थं नीयते सद्गुरुं प्रति ॥

भोग्यत्वपाशवत्यागः पतिकर्तृत्वसंक्षयः ।
स्वात्मस्थितिश्चेत्येवं हि दर्शनान्तरसंस्थितेः ॥ ११ ॥
प्रोक्तमुद्धरणीयत्वं शिवशक्तीरितस्य हि ।

---

५. बोध—बोधिनी शक्ति के अनुग्रह से प्राप्त स्वात्म-संविद्वपुष्-परमेश्वर और स्वयं का अभेदज्ञान। ज्ञान शक्ति का प्रकाश ही बोध माना जाता है[1]। हृदय भी बोध का पर्याय माना जाता है। दीक्षा के बाद शैव-शास्त्रोपदेश सुनने का अधिकार प्राप्त होता है। इससे भी बोध की उत्पत्ति होती है।

६. हेय हानि और ७. उपादेयलयात्मता—हेयोपादेय[2] विज्ञान के सम्पूर्ण बोध से हेय अध्वा को अपास्त कर उपादेय में प्रवेश मिलता है। हेय में भी उपादेय की अनुभूति से बड़ी सिद्धि मानी जाती है। उपादेयलयात्मता शिवशक्ति तादात्म्य में प्रतिफलित होती है।

८. भोग्यत्वपाशवत्त्यागः—पाश रूप ही यह सारा प्रसार है। शिव-शक्ति तत्त्व के अतिरिक्त सब पाश[3] ही है। पाश हमेशा हेय होता है। भोग में पाश की तरह विराग होना चाहिये। आणव, कार्म और मायीय नामक तीन प्रकार के पाश शास्त्र में वर्णित हैं। इनके शोधन से ही संसार से मुक्ति मिल सकती है[4]। इसलिये मोक्ष की आकांक्षा रखने वालों का यह कर्त्तव्य है कि, वे भोगवाद का उसी तरह त्याग कर दें, जैसे पाशों के शोधन द्वारा उनका परित्याग कर दिया जाता है।

९. पतिकर्तृत्वसंक्षय—भगवान् शङ्कर ने पार्वती से स्पष्ट रूप से कहा है कि ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और ईश्वर ये चार 'पति' (विश्व के अधि-कारी) माने जाते हैं[5]। भुवनों के संशोधन क्रम में लकुलीश, भारभूति, दिण्डि,

---

१. मा० वि० ३।७; श्रीत० १।२५६-२५७; श्रीत० भाग २ पृ० १५२
२. माया हेया (श्रीत० प्रथम भाग पृ० १२६), भाग २ पृ० ३५, श्रीत० ५।७४, ८।१९९ (पृ० २७३), मा० वि० १।१४-१५, मा० वि० १।४०
३. श्रीत० ८।२९२ ४. श्रीत० ८।२९४। ५. मा० वि० २।५९;

यियासुतेति गुरुं प्रति । बोध इति दीक्षानन्तरं श्रवणादावधिकारात् । हेयेति मलकर्मादिः । उपादेयलयात्मतेति शिवशक्त्याद्येकविश्रान्तिमयत्वमित्यर्थः । पाशवमाणवं मलम् । कर्तृत्वेति संसारं प्रति प्रेरणात्मकम् ॥

आषाढी, पुष्कर, नैमिष, प्रभास और अमरेश ये आठों पत्यष्टक रूप से भी विख्यात हैं। उनके इन्हीं नाम के पुरों में इनका ही अधिकार और कर्तृत्व माना जाता है। ये सारे विचार भेदवाद पर आधारित हैं। वस्तुतः अभेद-वादी दृष्टि से इनका कोई कर्तृत्व नहीं माना जा सकता। एकमात्र कर्तृत्व शिव का ही माना जा सकता है। उसी तरह अपने में भी अधिकार और कर्त्तापन का 'अह पल' रहा हो, तो उसका परित्याग कर देना चाहिये। यही पतिकर्तृत्व का संक्षय है।

१०. स्वात्मस्थिति—जब तक देहाध्यास, शरीराभिमान, विद्याभिमान और स्वात्मविस्मरणात्मक अज्ञान के संकोच से व्यक्ति ग्रस्त रहता है, उसे स्वात्मबोध या स्वबोध नहीं होता। इसीलिये कहते हैं कि, चारों वेद पढ़कर भी सत्य की परख नहीं हो पाती[1]। पूर्णाहन्ता परामर्श के शैवतादात्म्य-दार्ढ्य का प्रतीक पुरुष ही स्वात्मप्रज्ञ हो सकता है! भगवान् कृष्ण का एतद्विषक एक नया शब्द संस्कृत वाङ्मय कोश को प्राप्त हुआ है, जो इनके पहले संस्कृत साहित्य के लिये अज्ञात था। वह शब्द है—'स्थितप्रज्ञ'। इस प्रकार स्वात्म-स्थिति का बोध शैव आचार्य उन व्यक्तियों को प्रदान करता है, जो अधर द्वैत-प्रथा-पोषक शास्त्रों के स्वाध्याय से स्वात्म संकोच के कारण भ्रान्त हो चुके हैं और इस ऊर्ध्व शासन में दीक्षित होकर मोक्ष के अक्षय लक्ष्य को प्राप्त करने की आकांक्षा लेकर यहाँ आये हुए हैं।

इससे यह स्पष्ट है कि, अन्य दार्शनिक पद्धतियों के पथिक करुणा के पात्र हैं। उनके उद्धार के लिये शैव दैशिक आचार्य अनुग्रह कर तैयार हो जाता है। वह यह अनुभव करता है कि, यह व्यक्ति जो शैवशासन की शरण में आया है, यह अवश्य ही शिवशक्ति द्वारा ही प्रेरित है। बिना भगवत्प्रेरणा के कोई भी व्यक्ति स्वात्मकल्याण रूप श्रेय-मार्ग में प्रवृत्त नहीं होता।

---

१. रुद्रयामल १।२१०-२११;२२।३०

एवमस्य आयातशक्तिपातस्य किं कार्यमित्याशङ्कयाह

अथ वैष्णवबौद्धादितन्त्रान्ताधरवर्तिनाम् ॥ १२ ॥
यदा शिवार्करश्म्योघैर्विकासि हृदयाम्बुजम् ।
लिङ्गोद्धृतिस्तदा पूर्वं दीक्षाकर्म ततः परम् ॥ १३ ॥
प्राग्लिङ्गान्तरसंस्थोऽपि दीक्षातः शिवतां व्रजेत् ।

अन्तः सिद्धान्तः । उक्तं हि प्राक्

'स्वातन्त्र्यात्तु महेशस्य तेऽपि चेच्छिवतोन्मुखाः ।
द्विगुणा संस्क्रियास्त्येषां लिङ्गोद्धृत्याथ दीक्षया ॥
दुष्टाधिवासविगमे पुष्पैः कुम्भोऽधिवास्यते ।
द्विगुणोऽस्य स संस्कारो नेत्थं शुद्धे घटे विधिः ॥' (१३।२८३) इति ।

ऐसे दर्शनान्तर संस्थित पुरुष पर गुरु की कृपा और शैव अनुग्रह रूप शक्तिपात अवश्यंभावी है । इसे आयात शक्तिपात कह सकते हैं । इस स्थिति में क्या करना चाहिये, इसको ध्यान में रखकर शास्त्रकार इतिकर्त्तव्यता का उल्लेख कर रहे हैं—

अन्य मतवादों जैसे वैष्णव, बौद्ध आदि (जो अधर तन्त्र माने जाते हैं) के सिद्धान्तों के अनुसार माया और बुद्धि के स्तर पर अमोक्ष में ही वर्त्तन करने वालों के ऊपर जब विश्वप्रसविता सर्वेश्वर शिव की प्रकाश रश्मियों की राशि राशि का अभिसंपात होने लगता है, तो उनकी प्रज्ञा का प्रसून खिल उठता है। आदित्य के उदयगिरि पर आरूढ़ होते ही जैसे सहस्र सहस्र शतदल प्रस्फुटित हो जाते हैं, वैसे ही उनके हृदयारबिन्द विकसित हो उठते हैं। उनके जीवन में एक चमत्कार घटित हो जाता है । ऐसी स्थिति में ही दैशिक शिरोमणि लिङ्गोद्धार करने का उपक्रम करते हैं । उसके बाद उसे लिङ्गोद्धार दीक्षा दी जाती है । यद्यपि वह पुरुष पहले, दूसरे अधर तन्त्रों में (लिङ्गान्तर) में वर्त्तन करने वाला था, फिर भी इस दीक्षा से उसे अवश्य ही शिवत्व की उपलब्धि हो जाती है । इस विषय में श्रीतन्त्रालोक (१३।२८१-२८३) की कारिकाओं में स्पष्ट उल्लेख है कि, "सर्वतन्त्र स्वतन्त्र सर्वेश्वर शिव की

तत्र लिङ्गोद्धृतौ तावदितिकर्तव्यतामाह

तत्रोपवास्य तं चान्यदिने साधारमन्त्रतः ॥ १४ ॥
स्थण्डिले पूजयित्वेशं श्रावयेत्तस्य वर्तनीम् ।

स्वतन्त्रता के कारण, वे भी शिवता की ओर उन्मुख हो जाते हैं। इनकी दीक्षा के लिये दुगुने संस्कार की आवश्यकता होती है। जेसे दूषित घड़े को कई बार प्रक्षालित कर उसके दूषण को दूर कर ही उसमें पुष्पाधिवासन करते हैं, उसी तरह इनके अधर तन्त्र प्रभावित व्यक्तित्व को दूने संस्कार से ही शुद्ध करना पड़ता है। यह "लिङ्गोद्धृति' दीक्षा कहलाती है। यह विधि शुद्ध घड़े में नहीं अपनानी पड़ती है।"

इस कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि, अधर शास्त्रों में वर्त्तन करने वालों के हृदय में कुछ ऐसे विपरीत प्रभाव पड़े होते हैं, जिनको शुद्ध करने के उपरान्त ही लिङ्गोद्धार दीक्षा देनी पड़ती है ॥ १२-१३ ॥

लिङ्गोद्धार दीक्षा में इतिकर्त्तव्यता की चर्चा कर रहे हैं—लिङ्गोद्धार दीक्षा देने के एक दिन पहले ही इसके लिये जितने भी अपेक्षित नियम हैं, उनका आरम्भ कर दिया जाना चाहिये। सर्वप्रथम उपवास रखने का क्रम आता है अर्थात् दीक्षा के एक दिन पहले उपवास आवश्यक है। उपवास से कायशुद्धि हो जाती है। यह इस दीक्षा की पहली शर्त है। इस समयाचार का यह पहला समय है। दूसरे दिन शिष्य को अनुशासन के नियम बताना आवश्यक है। अभी वह दूसरे तन्त्र के अनुसार शासित था। अब उसे इस बात से परिचित कराना आवश्यक है कि, जिस शास्त्र के अनुसार वह दीक्षा लेने जा रहा है, उसके नियम इस प्रकार के हैं।

उपवास से कायशुद्धि के अनन्तर शान्त भाव से नियम सुनने के लिये तत्पर होकर शिष्य गुरु चरणों में उपस्थित हो चुका है। उस समय गुरु साधारण मन्त्र का प्रयोग करे और शिष्य से भी कराये। ये साधारण मन्त्र सात होते हैं। इनमें से किसी एक मन्त्र का प्रयोग गुरु करे। यहाँ साधार का साधारण अर्थ में ही प्रयोग किया गया है। आधार सहित अर्थ करने पर इससे मूलाधार और जिस आसन पर बैठते हैं, उसे शुद्ध करने के मन्त्रों का भी बोध हो जाता है। मूलाधार मन्त्र अश्विनी मुद्रा के साथ प्रयुक्त होता

एष प्रागभवल्लिङ्गी चोदितस्त्वधुना त्वया ॥ १५ ॥
प्रसन्नेन तदेतस्मै कुरु सम्यगनुग्रहम् ।

है और आसन वाला आधार मन्त्र 'ह्रीं आधारशक्तिकमलासनायै[1] नमः' है। इससे आधार शक्ति की भी पूजा की जाती है। इससे उस आसन में दिव्य शक्ति का संचार होता है। उस पर बैठकर पूजा करने से या ध्यान करने से शरीर की वैद्युतिक शक्ति शरीर में ही रुक जाती है। जो ऐसा नहीं करते उनमें पूजा की ऊर्जा स्थिर नहीं रह पाती। पृथ्वी की आकर्षण विद्युत उसे खींच लेती है। वह आधार स्थण्डिल है। स्थण्डिल शब्द निर्माण प्रक्रिया में स्थल् धातु से इलच् प्रत्यय और नुक् आगम मिलकर पहले स्थन्लिलच् बनता है। फिर न् के बाद के पहले 'ल' को 'ड' आदेश होता है और च् का लोप हो जाता है। इस तरह स्थण्डिल शब्द निष्पन्न होता है। इसका अर्थ यज्ञवेदी है या वह चबूतरा है, जिस पर मण्डप बनाया जाता है। इसमें बनी अलग पूजा-वेदी पर ईश की प्रतिष्ठा कर शिष्य के द्वारा उनकी पूजा करायी जाती है।

इस प्रकार सर्वेश्वर ईश की पूजा का सम्पादन स्वयम् आचार्य करे या शिष्य से कराये। पूजा करने के बाद आचार्य शिष्य को वर्त्तनी सुनाये। वर्त्तनी पारिभाषिक शब्द है। वर्तनी उस पाठ को कहते हैं, जो लिङ्गोद्धार दीक्षा के पूर्व शिष्य को सुनायी जाता है। यह सुनने से शिष्य में गुरु और उपास्य के प्रति आस्था उत्पन्न होती है। इसका मूल निष्कर्ष इस प्रकार है—

'हे परमेश्वर! यह व्यक्ति पहले अन्यान्य दर्शनों में अनुशासित था। वहीं का लिङ्ग (लक्षण या चिह्न) धारण कर रहा था। इसके मन में एक अभिनव प्रेरणा आपने उत्पन्न की है। आप के इस शक्तिपात से प्रेरित होकर ही यह आप के शासन में दीक्षित होना चाहता है। हे भगवन्! आप इस पर प्रसन्न हों। इसके ऊपर आप करुणापूर्वक सम्यक्रूप से अनुग्रह की वर्षा करें। इससे इसमें आमूल चूल आस्था उत्पन्न होगी।

१. श्रीत० १०।४।

स्वलिङ्गत्यागशङ्कोत्थं प्रायश्चित्तं च मास्य भूत् ॥ १६ ॥
अचिरात्त्वन्मयीभूय भोगं मोक्षं प्रपद्यताम् ।
एवमस्त्वित्यथाज्ञां च गृहीत्वा व्रतमस्य तत् ॥ १७ ॥
अपास्याम्भसि निक्षिप्य स्नपयेदनुरूपतः ।
स्नातं संप्रोक्षयेदर्घपात्राम्भोभिरनन्तरम् ॥ १८ ॥

उसी श्रद्धा भाव से भरा यह अपने पूर्वलिङ्ग का तत्काल त्याग करेगा। हो सकता है कि, इसे यह शङ्का सताने लगे कि, मैं स्वलिङ्ग त्याग का जो गर्हित पाप कर रहा हूँ, मुझे इसका प्रायश्चित करना पड़े! भगवन्! मेरी प्रार्थना है कि, वह प्रायश्चित्त इसे न लगे। यह तो आपको शरण में आने का पुण्य ही कर रहा है।

यह तत्काल तुम्हारी तन्मयता प्राप्त कर तुम्हारे तादात्म्य का सुखोपभोग पा सके। यह तादात्म्य सुख ही मोक्ष है। तुझमें मिल जाने के आनन्द भोग से बढ़ कर दूसरा कोई भोग नहीं और मेरी दृष्टि में तो यही मोक्ष है। संसार के बन्धन से विमुक्त होकर तुझमें जुट रहा है। भगवन्! यह मोक्ष तत्काल प्राप्त करे।'

आचार्य इस प्रकार की वर्त्तनी को सुनाकर ध्यानस्थ हो जाय। भगवत्ध्यान में उसे यह अन्तर्ध्वनि सुनाई पड़ती है—'एवम् अस्तु'। यह भगवत् कृपा से उत्पन्न वागात्मक अनुभूति का आन्तर उल्लास होता है। कृतार्थ आचार्य मन ही मन सर्वेश्वर शिव से इस दीक्षा सम्बन्धी शेषकार्य सम्पन्न करने की आज्ञा प्राप्त कर ले। फिर मानसिक प्रबल संकल्प से लिङ्ग त्याग की इच्छा वाले उस शिष्य के पूर्वव्रत का उसके पिण्ड से अपकर्षण कर ले। अपकर्षण से प्राप्त और मुट्ठी में बन्द उस व्रत को मन्त्रों से प्रोञ्छित जल में डाल दे तथा उसे नदी-नाले में कहीं भी बहवा दे। इसके बाद दीक्ष्य के दर्शनानुकूल एवम् उसकी योग्यता के अनुरूप मन्त्रों से प्रेरित कर शुद्ध जल से उसको स्नान कराना चाहिये। स्नान कर लेने बाद अर्घपात्र में रखे जल से उसे प्रोञ्छित कर पावनता के स्वात्मस्तर पर लाने के लिये पञ्चगव्य का पान कराना आवश्यक होता है ॥ १४-१८ ॥

पञ्चगव्यं दन्तकाष्ठं ततस्तस्मै समर्पयेत् ।
ततस्तं बद्धनेत्रं च प्रवेश्य प्रणिपातयेत् ॥ १९ ॥

वर्तनी वृत्तम् । एवमस्त्वित्यनेन श्रावणार्थ एव अभ्यनुज्ञातः । स्नपयेदिति तद्व्रतदोषनिवृत्त्यर्थम् । अनुरूपत इति दित्सितदर्शनौचित्ये-नेत्यर्थः ॥ १९ ॥

ननु इह के नाम साधारणा मन्त्राः, यन्मध्यादपि एकतमेन ईशं पूजये-दित्याशङ्क्याह

प्रणवो मातृका माया व्योमव्यापी षडक्षरः ।
बहुरूपोऽथ नेत्राख्यः सप्त साधारणा अमी ॥ २० ॥

पञ्चगव्य समस्त पापों का परिशोधन करता है । अब वह निष्पाप हो गया होता है । अतः उसे नये सिरे से शुद्ध करने के लिये ही ये प्रयोग निर्दिष्ट हैं । पञ्चगव्य पान कराने के अनन्तर उसके हाथ में 'दन्तकाष्ठ' की छड़ी (यह बदरिकाश्रम आदि में और कश्मीर के भी पर्वतीय क्षेत्रों में मिलती है । वह पवित्रतम काष्ठ होता है और उसके पूरे यष्टिभाग पर नुकीले से दन्ताङ्कुर निकले रहते हैं । उसके धारण करने से शरीर के रोगों का भी शमन होता है ।) थमा देते हैं । वह एक सहारा भी होता है और दिव्यता का प्रतीक भो होता है । पञ्चगव्य पान कराने के बाद दन्त-काष्ठ अर्पित करने का उल्लेख श्लोक में है और उसके तुरत बाद मण्डप में ले जाने को कहा गया है । इससे दन्त-काष्ठ से दन्तधावन का अर्थ नहीं लेना चाहिये । दन्तधावन के बाद स्नान आवश्यक होता है । यहाँ स्नान और प्रोक्षण पहले हो चुका है । श्लोक १८ में इसका निर्देश है । स्नान के बाद ही पञ्चगव्य पान कराया गया है, यह ध्यान देना है । इसके तुरत बाद उसको आँखों पर पट्टी बाँधकर मण्डप में प्रवेश कराना चाहिये और प्रणिपात कराना चाहिये ॥ १९ ॥

यहाँ उन साधारण मन्त्रों का विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं, जिनमें से किसी एक मन्त्र से पूजा करायी जाती है—

तेषां मध्यादेकतमं मन्त्रमस्मै समर्पयेत् ।
सोऽप्यहोरात्रमेवैनं जपेदल्पभुगप्यभुक् ॥ २१ ॥

ये साधारण मन्त्र सात प्रकार के माने जाते हैं । वे क्रमशः इस प्रकार से यहाँ वर्णित हैं—१. प्रणव, २. मातृका, ३. माया, ४. व्योमव्यापी, ५. षडक्षर, ६. बहुरूप और, ७. नेत्र मन्त्र । प्रणव ॐ कार को कहते हैं । देवी प्रणव और पञ्चप्रणवों का पृथक् स्वरूप माना जाता है । मायाबीज के रूप में 'औं' (श्रीत० ३०।६,२०,२६) और ह्रीं (श्रीत० ३०।१०७) दोनों परिगणित हैं ! मातृका बीज 'ह्रीं अक्ष ह्रीं' और मालिनी बीज 'ह्रीं नफ ह्रीं' हैं (३०।१७) । षडक्षर छह अक्षरों से निर्मित कई मन्त्र होते हैं किन्तु 'ॐ क्रीं ह्सौं ह्रौं' षडक्षर मन्त्र के रूप में प्रसिद्ध है[1] । व्योमव्यापी का अर्थ आकाश में व्याप्त है । आकाश के लिये आ, क्ष, ख, ग और ह—ये पाँच अक्षर प्रयुक्त होते हैं । प्रसङ्गवश यही यथास्थान प्रयुक्त होते हैं । व्योमव्यापी वायु होता है । वायुबीज 'यं' है । अक्षरों को उलट फेर कर कई कई तरह से लिखित बहुरूप मन्त्र कहलाते हैं । जैसे 'स्हौः ह्सौः' प्रयोग[2] है । नेत्र मन्त्र ज्योतिः प्रकाशात्मक मन्त्र कहलाते हैं । नेत्रतन्त्र का मूल मन्त्र नेत्रमन्त्र कहलाता है । ॐ ह्रौं ज्वाला मन्त्र के साथ एक नेत्र 'ङ' का भी प्रयोग किया जाता है । ह्रस्व 'इकार' नेत्र बीजरूप से परिगणित है । ये सातों साधारण मन्त्र हैं ॥ २० ॥

इन सात प्रकार के मन्त्रों में से किसी एक को आचार्य शिष्य को अर्पित करे । वही मन्त्र उसका 'गुरु मन्त्र' कहलाता है । उसका आजीवन जप उसे करना चाहिये । जप करना उसी दिन से प्रारम्भ करना चाहिये, जिस दिन से वह मण्डप में प्रवेश पा चुका है । कम से कम भोजन कर या यदि सम्भव हो, तो विना खाये-पीये अभुक्त रहकर ही गुरु-मन्त्र का उस समय चौबीस घण्टे जप करना चाहिये ॥ २१ ॥

---

१. निर्वाणतन्त्र १५।४

२. श्रीत० ३०।२७-२८ ।

मन्त्रमस्मै समर्प्याथ साधारविधिसंस्कृते ।
वह्नौ तर्पिततन्मन्त्रे व्रतशुद्धिं समाचरेत् ॥ २२ ॥

एनमिति साधारणमेकतमं मन्त्रम् । अल्पभुगिति अभुगिति च सामर्थ्यानुसारम् ॥ २२ ॥

एवमस्य शोधनं कृत्वा पातकच्युतिमभिधातुमाह

पूजितेनैव मन्त्रेण कृत्वा नामास्य संपुटम् ।
प्रायश्चित्तं शोधयामि फट्स्वाहेत्यूहयोगतः ॥ २३ ॥

शिष्य को मन्त्र देने के अनन्तर मन्त्रों की मन्त्रात्मकता के अनुसार निर्धारित विधियों से कुण्ड को अग्नि का संस्कार कर उसे संस्कृत कर लेना चाहिये। जो मन्त्र शिष्य को अर्पित किया गया है, उसे विधिपूर्वक तृप्त करना भी आवश्यक है। मन्त्र-तर्पण आहुतियों के अर्पण से ही पूर्ण होता है। इतनो प्रक्रिया पूरी कर लेने के बाद व्रतशुद्धि सम्बन्धी आधार का पालन करना भी इस दीक्षाविधि का एक अंग है ॥ २२ ॥

इस विधि के अन्तर्गत मन्त्र का तर्पण एक प्रकार का मन्त्र का पूजन ही कहा जा सकता है। इस पूजित मन्त्र के साथ शिष्य के नाम का सम्पुट बनाकर 'प्रायश्चित्त का शोधन करता हूँ' इस प्रयोग के बाद 'फट्' और 'स्वाहा' लगाये जाते हैं। इस प्रकार प्रायश्चित्त के निवारण का मन्त्र बनेगा। शास्त्रकार ने यहाँ 'ऊहयोग' शब्द का प्रयोग किया है। इसका तात्पर्य है कि, गुरु जिस मन्त्र का अर्पण शिष्य को करेगा, उसी मन्त्र से शिष्य के नाम को सम्पुटित किया जायेगा। वे मन्त्र सात प्रकार के हैं। यह गुरु पर ही निर्भर करता है कि, शिष्य के स्वभाव के अनुरूप वह किस साधारण मन्त्र का प्रयोग करता है। मान लीजिये गुरु माया मन्त्र का प्रयोग करता है तो, ऊह (तर्क विमर्श) के आधार पर मन्त्र बनेगा—'ह्रीं (देवदत्तस्य) ह्रीं प्रायश्चित्तं शोधयामि फट् स्वाहा'। देवदत्त भी ऊह नाम है। उस शिष्य का जो नाम हो, वह देवदत्त के स्थान पर षष्ठीविभक्ति के साथ प्रयोग करना चाहिये। इस ऊह मन्त्र से एक सौ आठ बार या एक हजार आवृत्ति

शतं सहस्रं वा हुत्वा पुनः पूर्णाहुतिं तथा ।
प्रयोगाद्वौषडन्तां च क्षिप्त्वाहूय व्रतेश्वरम् ॥ २४ ॥
तारो व्रतेश्वरायेति नमश्चेत्येनमर्चयेत् ।
श्रावयेच्च त्वया नास्य कार्यं किंचिच्छिवाज्ञया ॥ २५ ॥
ततो व्रतेश्वरस्तर्प्यः स्वाहान्तेन ततश्च सः ।
क्षमयित्वा विसृज्यः स्यात्ततोऽग्नेश्च विसर्जनम् ॥ २६ ॥
तच्छ्रावणं च देवाय क्षमस्वेति विसर्जनम् ।

तारः प्रणवः । एनमिति व्रतेश्वरम् ॥

से हवन करने से प्रायश्चित्त कट जाते हैं । इस तरह लिङ्गोद्धार की भूमिका तैयार होती है ॥ २३ ॥

शत आहुति का तात्पर्य एक सौ आठ आहुतियाँ ही होता है । यहाँ सौ आहुतियों के साथ ही हजार आहुतियों का कथन यह सिद्ध करता है कि, यदि साधन की कमी न हो तो एक हजार अस्सी बार ही आहुतियाँ डालनी चाहिये । इसके बाद लिङ्गोद्धार प्रक्रिया की संपूर्ति हेतु पूर्णाहुति करनी चाहिये । पूर्णाहुति 'वौषट्' जाति के समन्त्रक प्रयोग तक पूरी हो जाती है । आहुतियों के साथ फट् और स्वाहा दो जातियों का प्रयोग हो गया होता है । अब केवल नमः, वषट्, हुं और वौषट् ये चार जातियाँ ही बची हैं । इनमें हृदय के साथ नमः, कवच के साथ हुँ, शिखा के साथ वषट् और नेत्रत्रय के साथ 'वौषट् का प्रयोग होता है । जिस व्यक्ति को लिङ्गोद्धार दीक्षा देनी है, उसके इन अंगों के स्मरण से या आचार्य द्वारा स्पर्शपूर्वक पूर्णाहुति कर देनी चाहिये ।

पूर्णाहुति के प्रक्षेप के बाद व्रतेश्वर का आवाहन करना चाहिये । 'ॐ व्रतेश्वराय नमः' इस मन्त्र से व्रतेश्वर को पूजा करनो चाहिये । पूजा के बाद उसे यह सुनाना चाहिये कि, 'हे व्रतेश्वर । मैं (आचार्य) शिव-तादात्म्य सिद्ध हूँ । मैं शिव की आज्ञा से ही यह दीक्षा दे रहा हूँ । मैंने आप का आवाहन इसलिये किया है कि, उस प्रयोग पर्यन्त मेरे शिष्य का

एवं लिङ्गोद्धृतिमभिधाय दीक्षाकर्म अभिधत्ते

ततस्तृतीयदिवसे प्राग्वत्सर्वो विधिः स्मृतः ॥ २७ ॥
अधिवासादिकः स्वेष्टदीक्षाकर्मावसानकः ।

प्रथमे दिने हि अस्य उपवासः, द्वितीये लिङ्गोद्धार इत्युक्तं तृतीय इति ॥

कोई अहित न हो जाय ! आप इसके साक्षी रहें ।' इतना निवेदन करने के बाद स्वाहान्त प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान शब्दों से तर्पण करने की प्रक्रिया पूरी करनी चाहिये । इसके बाद क्षमा प्रार्थना पूर्वक विसर्जन का विधान है । सर्वप्रथम व्रतेश्वर का विसर्जन, फिर अग्नि का विसर्जन और अन्त में सर्वदेव विसर्जन कर कार्य की पूर्त्ति कर दी जाती है । केवल सर्वदेव विसर्जन के समय यह प्रार्थना अवश्य करनी चाहिये कि, 'आदरणीय देवो ! लिङ्गोद्धार के इस प्रयोग के आप सभी साक्षी हैं । इस प्रक्रिया में होने वाले किसी प्रकार के जाने अनजाने अपराधों को आप लोग क्षमा करेंगे । इतनी प्रार्थना करने के बाद सबका विसर्जन करना उचित है । यह सारी प्रक्रिया एक तरह से लिङ्गोद्धार दीक्षा की भूमिका के रूप में सम्पन्न करनी होती है ॥ २४-२६ ॥

यहाँ तक लिङ्गोद्धार प्रक्रिया को भूमिका और दीक्षा की पृष्ठभूमि में जो कुछ आवश्यक कर्म करणीय होता है, उसकी चर्चा की गयी है । अब दीक्षा कर्म का अभिधान कर रहे हैं—

लिङ्गोद्धार के प्रथम दिन उपवास और कुछ जप, दूसरे दिन व्रतशुद्धि और व्रतेश्वर-पूजन तथा पूर्णाहुति की प्रक्रिया पूरी की गयी । आज इस क्रिया का तीसरा दिन है । इस दिन भी हवन, पूजन, तर्पण आदि विधियों का सम्पादन आवश्यक होता है । अधिवास आदि दीक्षा के आह्निक कार्य माने जाते हैं । इन कामों को पूरा कर लेने पर अवसान अर्थात् अन्त में शिष्य को इच्छित दीक्षा देनी चाहिये । शिष्य जिस मन्त्र की दीक्षा लेना चाहता है, वह स्वेष्ट दीक्षा नहीं अपितु गुरु जैसी योग्यता का आकलन करे, उसके अनुसार दी जाने वाली दीक्षा स्वेष्ट दीक्षा होती है ॥ २७ ॥

ननु स्वेष्टा चेदस्य दीक्षा कार्या, तत्किमयमपि सर्वदीक्षाणामेव पात्रमित्याशङ्कयाह

प्राग्लिङ्गिनां मोक्षदीक्षा साधिकारविवर्जिता ॥ २८ ॥
साधकाचार्यतामार्गे न योग्यास्ते पुनर्भुवः ।
पुनर्भुवोऽपि ज्ञानेद्धा भवन्ति गुरुतास्पदम् ॥ २९ ॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि, देशिक गुरुदेव उसे अपनी अभिलषित दीक्षा क्यों देना चाहते हैं ? इसका तात्पर्य तो यह हुआ कि, वह गुरुदेव के अनुसार सभी प्रकार की दीक्षाओं का पात्र हो गया है। इस शङ्का को दृष्टिगत रखते हुए इसका समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं –

शास्त्रकार के अनुसार अन्य लिङ्ग (अन्य शास्त्रीय निष्ठा) धारण करने वाले व्यक्ति को शैवसिद्धान्त पर आधारित मोक्ष दीक्षा नहीं दी जा सकती। वह इस दीक्षा के अधिकार क्षेत्र में नहीं आता। इस उच्च स्तरीय मोक्ष दीक्षा का पात्र वही हो सकता है, जो प्रारम्भ से ही समयाचार पालन क्रम से वह योग्यता प्राप्त कर चुका होता है। प्राग्लिङ्गी व्यक्ति अभी एक सामान्य पृष्ठभूमि का निर्माण कर इस परिवेश में आया होता है। अतः वह साधिकार इसे नहीं पा सकता। श्रीतन्त्रालोक (२३।१०) के अनुसार यह 'पूनर्भू' कहलाता है – "एक बार अन्य शास्त्र में निष्ठा रखता था। आज पुनः उसे छोड़ कर नयी निष्ठा को अपना रहा है। शैव दर्शन के इस परिवेश में यह पुनर्भव श्रेणी में ही आता है।"

ऐसे पुनर्भू लोग अभी साधना के सकार से भी परिचित नहीं होते। मोक्ष मार्ग, साधकों में श्रेष्ठ और साधना के क्षेत्र में आचार्य श्रेणी के योग्य परिगणित होता है। इसीलिये इस मार्ग को साधकाचार्यता का मार्ग कहते हैं। इस उच्चस्तरीय साधना में जो योग्यता अपेक्षित होती है, वह योग्यता इन पुनर्भुवों में कहाँ और कैसे आ सकती है ? इसलिये ये मोक्ष दीक्षा के अयोग्य होते हैं। भाग्यवश पुनर्भू श्रेणी में भी कुछ लोग ज्ञान के प्रकाश से ज्योतिष्मन्त स्तर प्राप्त कर लेने में समर्थ हो जाते हैं। इन्हें 'ज्ञानेद्ध' कहते हैं। ज्ञान की आग से उनके कर्म जल जाते हैं। फलतः वे ताप्तदिव्य काञ्चन की तरह

मोक्षायैव न भोगाय भोगायाप्यभ्युपायतः ।
इत्युक्तवान्स्वपद्धत्यामीशानशिवदैशिकः ॥ ३० ॥
श्रीदेव्यायामलीयोक्तितत्त्वसम्यक्प्रवेदकः ।

अत्र अयोग्यत्वे पुनर्भवत्वं हेतुः । यदुक्तं

'न ते मन्त्रप्रयोक्तारः पुनर्भवतया स्थिताः ।' इति ।

ते च

'पुनर्भुश्चान्यलिङ्गी यः पुनः शैवे प्रतिष्ठितः ।' (२३।१०) इति,

लक्षयिष्यमाणाः । ज्ञानेद्धा इति पराद्वयज्ञानोद्दीपितात्मनां कुत्र नाम नाधिकारो भवेदिति भावः । अभ्युपायत इति भोगोपायभूतशास्त्रप्रक्रियाद्यनुसारेणेत्यर्थः । नच एतदनेन निर्मूलमेवोक्तमित्याह श्रीदेव्या इत्यादि ॥

चमकने वाले और चैतन्य के प्रतीक बन जाते हैं । ऐसे लोग गुरुत्व की पदवी के योग्य हो जाते हैं । इनका स्वात्म पराद्वय ज्ञान से उद्दीप्त हो उठता है । ऐसे लोगों के अधिकार की सीमा की कोई रेखा नहीं खींची जा सकती । वे सभी कामों में साधिकार स्वीकार्य होते हैं ॥ २८-२९ ॥

इस उच्च स्तर पर अधिकृत हो जाने के कारण वे न केवल मोक्ष के लिये अधिकारी हो जाते हैं, अपितु वे गुरुत्व से अलङ्कृत होकर दूसरों को भी मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त करने के अधिकारी हो जाते हैं । भोग के लिये उनमें कोई आकर्षण नहीं रहता । अब वे भोगवाद से ऊपर उठ गये होते हैं । उनमें यदि भोगोपभोग की प्रवृत्ति का अङ्कुरण कभी हो भी, तो इसके लिये उपायभूत शास्त्रीय देशनाओं की कमी नहीं है । उनके अनुसार उन्हें भोगों के उपभोग से कोई वञ्चित नहीं कर सकता । ये सारी बातें आगमिक दृष्टि से प्रमाणित हैं । दैशिक शिरोमणि स्वयम् ईशानशिव[1] ने भी श्रीदेवी के पारस्परिक संवाद के रूप में इस तथ्य का प्रतिपादन किया है । वह उक्ति ही यह सिद्ध करती है कि, ज्ञानेद्ध व्यक्ति का अधिकार सार्वत्रिक है । वह इस

---

१. सिद्धान्त शैवाचार्य दैशिक का नाम

एवंसंस्कृतस्यास्योपदेष्टव्यमित्याह

गुर्वन्तस्याप्यधोदृष्टिशायिनः संस्क्रियामिमाम् ॥ ३१ ॥
कृत्वा रहस्यं कथयेन्नान्यथा कामिके किल ।

कामिकाग्रन्थमेव पठति

अन्यतन्त्राभिषिक्तेऽपि रहस्यं न प्रकाशयेत् ॥ ३२ ॥

उक्ति के तत्त्व (रहस्य) का सम्यक् प्रवेदक हो जाता है। यों यह उक्ति भी यह सिद्ध करती है कि, ज्ञानेद्ध पुरुष चाहे मोक्ष-दीक्षा पाने से अभी वञ्चित रहा हो, फिर भी वह मोक्ष-दीक्षा का सच्चा अधिकारी है ॥ ३० ॥

सन्दर्भ पुनर्भू पुरुष को स्वेष्ट दीक्षा से सम्बधित था। उसको तीन दिवसीय संस्कार प्रक्रिया से संस्कृत बना लिया गया है। अब उसे इस स्तर पर ला दिया गया है कि, उसे लिङ्गोद्धार दीक्षा दी जा सके। इस समय उसे उपदेश देना चाहिये। यही कह रहे हैं—

कामिक शास्त्र में यह स्पष्ट उल्लेख है कि, शिष्य लिङ्गोद्धार की पृष्ठ-भूमि की प्रक्रिया पूरी करने के बाद गुरु शरण में अवस्थित है। इस समय वह एक तरह से अन्तेवासी बन गया है। उसके संस्कार जागृत हो गये हैं। वह गुरु से आँख से आँख नहीं मिलाता है। इतना विनम्र हो गया है कि, वह झुकी आँखों से ही व्यवहार निभा लेता है। गुरु की समानान्तर शय्या पर शयन नहीं करता अपितु अधःशायी बनकर गुरु को प्रतिष्ठा प्रदान करता है। यह उसके संस्कृत होने का प्रमाण है। अब उसे रहस्यविद्या का उपदेश कर देना चाहिये।

यदि ऐसी विनम्रता उसमें नहीं आती है और गुरु अभी उसके संस्कार की प्रक्रिया के परिणामों से सन्तुष्ट नहीं हैं, तो उसे कामिक शास्त्र के अनुसार रहस्य प्रकाश दीक्षा नहीं देनी चाहिये। यद्यपि अन्य तान्त्रिक प्रक्रिया के अनुसार वह केवल दीक्षित है अपितु पूर्णाभिषेक प्राप्त पुरुष है फिर भी त्रिक दार्शनिक रहस्य दीक्षा का वह अधिकारी नहीं माना जा सकता। इसका निष्कर्ष है कि,

न केवलमेवमधरदर्शनस्थस्यैव कार्यं, यावत् स्वदर्शनस्थस्यापीत्याह

स्वतन्त्रस्थोऽपि गुर्वन्तो गुरुमज्ञमुपाश्रितः ।
तत्र पश्चादनाश्वस्तस्तत्रापि विधिमाचरेत् ।। ३३ ।।

तत्रेति अज्ञे गुरौ ।। ३३ ।।

---

१. अन्य तन्त्राभिषिक्त पुरुष को भी रहस्य दीक्षा नहीं देनी चाहिये ।

२. ज्ञानेद्ध पुरुष को दीक्षा प्राप्ति का सर्वाधिकार प्राप्त है, यह सभी मानते हैं ।

३. लिङ्गोद्धार संस्कार की तीन दिवसीय तपस्या के बाद आचार्य उसे स्वेष्टा दीक्षा दें ।। ३१-३२ ।।

यह अधर दर्शन में निष्ठा रखने वाले और उसमें अभिषिक्त पुरुषों के प्रति हमारा दृष्टिकोण है । इसके साथ ही हमारी यह मान्यता भी है कि, अपने दार्शनिक आचार के पालन में रत कोई ऐसा शिष्य जो अभी अधिकारी नहीं बन सका है, उसे भी रहस्य-प्रकाश-दीक्षा नहीं देनी चाहिये । यही कह रहे हैं—

शास्त्रकार कहते हैं कि, शिष्य शैव स्वातत्र्यवाद के प्रतीक और मानक-शास्त्र षडर्धदर्शन के मार्ग में ही क्यों न अवस्थित हो, यदि वह शैवतादात्म्य सिद्ध आचार्य की शरण में आता है और अन्तेवासी बनकर रहना भी प्रारम्भ कर दिया है, तो भी वह अभी तक जिस गुरु के पास रहकर समयाचार का पालन कर रहा था, चूँकि वह अज्ञ था, इसलिये उसे भी दीक्षा देने के पहले संस्कार द्वारा संस्कृत बना लेना चाहिये । पहले वह जिस गुरु के यहाँ दीक्षा लेने के उद्देश्य से गया था, उसकी पूर्ति वहाँ नहीं हुई, क्योंकि वह गुरु स्वयम् अभी अज्ञ था । अतः अज्ञ गुरु का शिष्य भी अज्ञ ही होता है—यह ध्यान में रखकर उसका पुनः संस्कार आवश्यक हो जाता है । संस्कार के बाद ही वह दीक्षा पाने का अधिकारी हो सकता है ।। ३३ ।।

नन्वस्य अज्ञगुर्वाश्रयणात् गुणः कश्चिन्मा भूत्, दोषः कुतस्त्यो येन लिङ्गोद्धृतिरपि स्यादित्याशङ्क्याह

अज्ञाचार्यमुखायातं निर्वीर्यं मन्त्रमेव यत् ।
जप्तवान्स गुरुश्चात्र नाधिकार्युक्तदूषणात् ।। ३४ ।।
ततोऽस्य शुद्धिं प्राक्कृत्वा ततो दीक्षां समाचरेत् ।

चो ह्यर्थे । उक्तदूषणादिति अज्ञत्वलक्षणात् ।।

एवमेतद्दर्शनैक्येनाभिधाय, तद्भेदेनाप्याह

अधोदर्शनसंस्थेन गुरुणा दीक्षितः पुरा ।। ३५ ।।

प्रश्न करते हैं कि, वह शिष्य अज्ञ गुरु के पास गया इसमें उसका कोई लाभ नहीं हुआ । वह तो यह भी नहीं जानता रहा होगा कि, यह अज्ञ गुरु है । इस अवस्था में उसको कोई गुण तो नहीं मिला, तो न मिले, उसका अपराध क्या है ? किस दोष के कारण उसका लिङ्गोद्धार आवश्यक माना जा रहा है । इस शङ्का का समाधान कर रहे हैं—

वह जिस आचार्य के पास दीक्षा लेने गया था, उसके मुख से निकले सारे मन्त्र निर्वीर्य थे । जिस मूल मन्त्र की उसने दीक्षा ली, वह भी निर्वीर्य था । उसी निष्प्रभावी मन्त्र का वह तब तक जप करता चला आ रहा था, जब तक ज्ञानेद्ध गुरु के पास नहीं आया था । जब स्वयं गुरु ही अधिकार-प्राप्त नहीं था तो शिष्य की क्या गणना ? यह दोष उस शिष्य पर अनजाने ही आ पड़ा । निर्वीर्य मन्त्र जप से उसकी मेधा भी कुण्ठित हो सकती है । इसी दोष के निराकरण के लिये उसका लिङ्गोद्धार संस्कार अनिवार्यतः आवश्यक हो जाता है । इसलिये पहले उसकी शुद्धि कर लेने के बाद ही उसकी दीक्षा विधि सम्पन्न करनी चाहिये । उसकी अज्ञता ही उसका अपराध हो गया है । दूसरा कोई दोष नहीं है ।। ३४ ।।

एक ही दर्शन के अनुयायी होने पर भी लिङ्गोद्धार दीक्षा की इस स्थिति का वर्णन करने के बाद दर्शनान्तर के अनुयायियों को इस स्थिति में में क्या करना चाहिये, इसका वर्णन कर रहे हैं—

तीव्रशक्तिवशात्पश्चाद्यदा गच्छेत्स सद्गुरुम् ।
तदाप्यस्य शिशोरेवं शुद्धिं कृत्वा स सद्गुरुः ॥ ३६ ॥
दीक्षादिकर्म निखिलं कुर्यादुक्तविधानतः ।

अधोदर्शनसंस्थेनेति यथा सैद्धान्तिकेन भैरवस्रोतसि ॥

ननु एषां

'ते दीक्षायां न मीमांस्या ज्ञानकाले विचारयेत् ।' (२३।२१)

इत्यादिवक्ष्यमाणनोत्या दीक्षा तावदेवमेव क्रियताम्, उपदेशस्तु अविचार्यैव कथं कार्य इत्याशङ्क्याह

पहले दीक्षा के उद्देश्य से एक शिष्य गुरु के पास गया। वह अधः-दर्शनस्थ था। मान लीजिये कि, वह सिद्धान्तदर्शनस्थ गुरु था। उसने शिष्य को दीक्षा दे दो। अब शिष्य दोक्षित हो गया। उसी क्रम में निष्ठा और आस्था के दृढ़ हो जाने पर उस पर तीव्र शक्तिपात हो गया। अब वह अपने भविष्य के उत्कर्ष की दृष्टि से ऊर्ध्वदर्शनस्थ गुरु की सेवा में जा पहुँचा। सैद्धान्तिक को छोड़कर मानो भैरवीय तन्त्र के पास गया। शास्त्रकार कहते हैं कि, ऐसी स्थिति में वह गुरु शिष्य की पूर्ववत् शुद्धि करे। शुद्ध अर्थात् संस्कार सम्पन्न बना लेने के बाद हो वह गुरु उसे दीक्षा दे तथा दीक्षा सम्बन्धी सारे विधान पूर्ववत् हो पालन करे। इसमें किसी प्रकार को शिथि-लता नहीं करनी चाहिये ॥ ३५-३६ ॥

यहाँ नयो जिज्ञासा लेकर जिज्ञासु उपस्थित है। वह कहता है कि, गुरुदेव ! आपने श्रीतन्त्रालोक (२३।२१-२२) में स्वयं कहा है कि,

'वे दीक्षा में मीमांस्य नहीं हैं। विना मीमांसा के ही शिष्य दीक्षा देने योग्य है। ज्ञानकाल में उसको योग्यता का विचार अपेक्षित है क्योंकि गुरु ही ज्ञान का मूल माना जाता है।"

इस सिद्धान्त के अनुसार दीक्षा तो जैसे देनी चाहिये वैसे ही दी जाय किन्तु दीक्षा में जब उपदेश दिया जाने लगेगा तो, वह विना मीमांसा के कैसे दिया जायगा ? इसका समाधान कर रहे हैं—

प्राप्तोऽपि सद्गुरुर्योग्यभावमस्य न वेत्ति चेत् ॥ ३७ ॥
विज्ञानदाने तच्छिष्यो योग्यतां दर्शयेन्निजाम् ।
सर्वथा त्वब्रुवन्नेष ब्रुवाणो वा विपर्ययम् ॥ ३८ ॥
अज्ञो वस्तुत एवेति तत्त्यक्त्वेत्थं विधिं चरेत् ।

अब्रुवन्निति आत्मनि योग्यतादर्शनानुगुणम् । विपर्ययमिति यदयोग्यताज्ञापनाय पर्यवस्यतीत्यर्थः । वस्तुत एवेति नतु विलयशक्त्याद्याघ्रातत्वात् । तदिति योग्यभावावेदनम् ॥

शिष्य तीव्र शक्तिपात के वशीभूत होकर सद्गुरु के पास जाता है। वह किसी गुरु को सद्गुरु जान कर उसकी शरण में पहुँचा है। यदि वह गुरु इसकी योग्यता को नहीं जानता, तो शिष्य अपनी योग्यता का प्रदर्शन उस समय करे, जब उपदेश का समय आये। वह अपनी योग्यता का प्रदर्शन दो तरह से कर सकता है।

१. सर्व प्रथम वह बिना बोले ही अर्थात् चुप रहकर ही उस गुरु के उपदेश का आकलन करे।

२. उस समय वह कुछ उल्टी विपर्यय वाली बात कह कर देखे कि, वह गुरु कुछ बोलता है, खण्डन करता है या विपर्यय को ही मान लेता है। इससे उसकी योग्यता-अयोग्यता की थाह भी लग जाती है। अब वह निश्चय रूप से जान लेता है कि, यह सद्गुरु नहीं अज्ञ गुरु ही है। विलय करने वाली सूक्ष्मशक्तियों आदि से आघ्रात अर्थात् प्रभावित होने के कारण उसे कुछ भूल-सा गया है—ऐसी बात नहीं है। अपितु वह वस्तुतः अज्ञ ही है। इतना समझ लेने के बाद वह शिष्य उसका भी त्याग कर दे और पुनः सद्गुरु के अन्वेषण में निकलकर उक्त दोनों विधियों से उसके भी ज्ञान की स्तरीय जानकारी ले। इस प्रकार शिष्य को दीक्षा के लिये सावधानी बरतनी चाहिये ॥ ३७-३८ ॥

ननु मा भूदस्य योग्यभावदर्शनं, प्रत्युत अयोग्यतापि दृश्यते इति तिरोहितप्रायस्य अस्य कथमुक्तो विधिः कार्य इत्याशङ्क्याह

न तिरोभावशङ्कात्र कर्तव्या बुद्धिशालिना ॥ ३९ ॥
अधःस्पृक्त्वं तिरोभूतिर्नोर्ध्वोपायविवेचनम् ।

तिरोभूतत्वे हि अस्य ऊर्ध्वोपायविवेके स्पृहैव न भवेदितिभावः । एतदेव प्रपञ्चयति

सिद्धान्ते दीक्षितास्तन्त्रे दशाष्टादशभेदिनि ॥ ४० ॥
भैरवीये चतुःषष्टौ तान्पशून्दीक्षयेत्त्रिके ।

दीक्षा कोई साधारण महत्त्व की बात नहीं है। इससे प्राक्तन, वर्तमान और पुनर्जन्म की सम्भवनायें जुड़ी हुई हैं। गुरु ऐसा हो, जो मोक्षलक्ष्मी को अक्षयरूप से प्रत्यक्ष कर दिखाये। यह अनुत्तर दीक्षा से ही सम्भव है। अनुत्तर दीक्षा तक शिष्य को बड़े पापड़ बेलने पड़ते हैं। गुरु की परीक्षा, उसके ज्ञान की थाह, उसका परित्याग और पुनः यही क्रम। यह ऐसा झमेला है कि, लगता है कि, शिष्य की सारी जिन्दगी इसी में खप जाय! वह अपनी योग्यता का प्रदर्शन करेगा तो कभी उसकी अयोग्यता का भी पर्दाफाश होगा ही। ऐसा शिष्य कहीं तिरोधान का शिकार तो नहीं हो गया होता है? इस पर शास्त्रकार कह रहे हैं कि,

नहीं, उसके तिरोहित होने की शङ्का नहीं करनी चाहिये। यह बुद्धिमानी की बात नहीं मानी जा सकती है। ऐसे शिष्य में जो ऊर्ध्वशासन के ज्ञान की आकांक्षा है, वह अधःशास्त्ररत और तिरोहित शिष्य में नहीं हो सकती, यह निश्चित है ॥ ३९ ॥

दीक्षा के प्रसङ्ग में ही तन्त्र-स्वीकृत एक दार्शनिक क्रम यहाँ प्रदर्शित किया गया गया है। इस क्रम से होकर यदि शिष्य आगे बढ़ता जाय, तो उसे अनुत्तर दीक्षा की प्राप्ति हो जाती है। यही कह रहे हैं—

सर्वप्रथम दस और अठारह भेदों से विभूषित सिद्धान्त तन्त्र का क्रम आता है। इस मतवाद को 'सिद्धान्त' मतवाद कहते हैं। इस दर्शन में दीक्षित शिष्य को चौसठ भेदों वाले भैरवीय सम्प्रदाय में दीक्षित होना पड़ा। इससे भी

सिद्धवीरावलीसारे भैरवीये कुलेऽपि च ॥ ४१ ॥
पञ्चदीक्षाक्रमोपात्ता दीक्षानुत्तरसंज्ञिता ।

एतच्च त्रयोदशाह्निक एव विचारितमिति तत एव अवधार्यम् ॥

एतदेव प्रकृते विश्रमयति

तेन सर्वोऽधरस्थोऽपि लिङ्गोद्धृत्यानुगृह्यते ॥ ४२ ॥

न केवलमयोग्ये गुरौ गुर्वन्तरमाश्रयेत्, यावद्योग्येऽपीत्याह

योऽपि हृत्स्थमहेशानचोदनातः सुविस्तृतम् ।
शास्त्रज्ञानं समन्विच्छेत्सोऽपि यायाद्बहून्गुरून् ॥ ४३ ॥
तद्दीक्षाश्चापि गृह्णीयादभिषेचनपश्चिमाः ।
ज्ञानोपोद्बलिकास्ता हि तत्तज्ज्ञानवता कृताः ॥ ४४ ॥

ऊर्ध्व में अवस्थित त्रिक दर्शन की दीक्षा ली। पुनः सिद्धवीरावली शास्त्र में वर्णित भैरवसद्भाव तन्त्र में और इससे भी ऊर्ध्व अवस्थित कुल में दीक्षा लेने का अवसर उसे मिला। यह पञ्चदीक्षाक्रम शास्त्र में वर्णित है। ये उत्तरोत्तर ऊर्ध्व हैं। कुल दीक्षा अनुत्तर दीक्षा है। इन तथ्यों का विवेचन त्रयोदश आह्निक के शक्तिपात प्रकाशन के प्रसङ्ग में किया गया है[1]। इनका अवधारण वहाँ से किया जा सकता है ॥ ४०-४१ ॥

निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि, सभी अधरस्थ शिष्यों के उद्धार का एक ही मार्ग है और वह है—लिङ्गोद्धार दीक्षा। दीक्षा में यह ध्यान देने की बात है कि, अयोग्य गुरु के मिलने पर ही दूसरे गुरु की शरण में नहीं जाना चाहिये वरन् ज्ञान प्राप्ति के उद्देश्य में योग्य गुरु के अतिरिक्त अन्य गुरुजनों का उपाश्रयण करना आवश्यक और कल्याणकारी है। वह अत्यन्त भाग्यशाली शिष्य होता है, जिसके हृदय में प्रतिष्ठित परम शिव की प्रेरणा से व्यापक शैवशास्त्रज्ञान प्राप्ति के अभिलाष का उदय वृत्तियों के फलक पर हो जाता है। ऐसा ज्ञानार्थी शिष्य विभिन्न शास्त्रसिद्ध गुरुजनों

---

१. श्रीत० १३।१२०-१२१,२२२,३२-५३४५।

ननु गुरुपरित्यागे

'गुरोरवज्ञया मृत्युर्दारिद्र्यं मन्त्रवज्ञया।
गुरुमन्त्रपरित्यागात्सिद्धोऽपि नरकं व्रजेत् ॥'

इत्यादिदृष्ट्या प्रत्यवाय आम्नातः, तत्कथमेवमुक्तमित्याशङ्कां गर्भीकृत्य आगममेव संवादयति

उक्तं च श्रीमते शास्त्रे तत्र तत्र च भूयसा।
आमोदार्थी यथा भृङ्गः पुष्पात्पुष्पान्तरं व्रजेत् ॥ ४५ ॥
विज्ञानार्थी तथा शिष्यो गुरोर्गुर्वन्तरं त्विति।

की सेवा में जाकर विश्ववाङ्मय का ज्ञान अर्जित करे। उन उन शास्त्रदर्शनसम्प्रदायाम्नाय सिद्ध गुरुजनों से दीक्षा भी प्राप्त करे। उनसे अभिषिक्त और पूर्णाभिषिक्त होकर कृतार्थता का प्रदर्शन भी करे। उन-उन गुरुजनों से प्राप्त ये ज्ञान-दीक्षायें बोध की उपोद्बलक ही होती हैं ॥ ४२-४४ ॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि, इस विधि क्रम में गुरुजनों के परित्याग की बात भो आती है। गुरुजनों के एक पर एक परित्याग के सम्बन्ध में लिखा है कि,

"गुरु की अवज्ञा से मृत्यु और मन्त्र की अवज्ञा से दरिद्रता होती है। गुरु प्रदत्त मन्त्र के परित्याग से रौरव नरक में जाना पड़ता है।"

यह उक्ति यह सिद्ध करतो है कि, एक गुरु का त्यागकर दूसरे गुरु के पास जाना, जीवन में विघ्नों को निमन्त्रण देने के समान है। शास्त्र इसके प्रमाण हैं। ऐसी स्थिति में गुरु परित्याग की बात कैसे कही गयो है? इस प्रश्न को ध्यान में रखकर स्वयं शास्त्रकार आगम प्रामाण्य उपस्थापित कर रहे हैं—

श्रीमतशास्त्र में अथवा अन्यत्र शास्त्रों में भो यत्र तत्र यह प्रयोगात्मक वाक्य पढ़ने को मिलता है कि, आमोद सुगन्धि या मकरन्द रसास्वाद जन्य हार्दिक आनन्दरूप सुख का अभिलाषी भ्रमर जैसे एक फूल का रस लेकर और पुनः उसे छोड़कर अन्यान्य कुसुमों के कोश का आश्रय लेता है, उसी

अत्र च इयान् विशेषो यत् पूर्वगुर्वाज्ञया गुर्वन्तरं व्रजेदिति । तदुक्तं

'किन्तु गुर्वाज्ञया गच्छेत्तं गुरुं न परित्यजेत् ।
न सिद्धिस्तद्गुरुत्यागात्कोटिजापाद्भवेदपि ॥' इति ॥

ननु एषां गुरूणां मध्ये भूयसां किमेवं कस्यचित् कश्चिद्विशेषोऽस्ति न वेत्याशङ्क्याह

गुरूणां भूयसां मध्ये यतो विज्ञानमुत्तमम् ॥ ४६ ॥
प्राप्तं सोऽस्य गुरुर्दीक्षा नात्र मुख्या हि संविदि ।

अत्र संविदोति सामानाधिकरण्यम् ॥

तरह विज्ञान का स्पृहयालु शिष्य एक गुरु से विद्या प्राप्त कर गुर्वन्तर का भी गमन करे। इसमें किसी तरह की कोई विप्रतिपत्ति नहीं। यहाँ व्याख्याकार एक विशेष बात की याद दिला रहे हैं। उनका कहना है कि, दूसरे गुरु के पास जाना हो, तो जाये किन्तु पहले गुरु से इसकी आज्ञा प्राप्त कर लेनी चाहिये। इसके लिये उन्होंने आगम प्रामाण्य भी प्रस्तुत किया है। उसके अनुसार,

"गुर्वन्तर गमन का निषेध नहीं है। हाँ अपने गुरु की आज्ञा प्राप्त कर ले। उस गुरु का परित्याग न करे। यह कोई भृङ्ग की आमोद-यात्रा नहीं है। इसमें स्वात्म के उत्कर्ष का प्रश्न जुड़ा हुआ है। यह निश्चित और ध्रुव सत्य है कि, गुरु के त्याग के कारण उससे प्राप्त मन्त्र का करोड़ों बार जप करने पर भी सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती।"

गुरु से गुर्वन्तर गमन में यह 'विशेष' तथ्य है। इस पर विशेष ध्यान देना चाहिये ॥ ४५ ॥

प्रश्नकर्त्ता इस 'विशेष' की बात सुनकर यह सोचने लगा कि, इन अधिकाधिक गुरुजनों में ऐसा कोई विशेष है क्या ? इसी बात को ध्यान में रखकर शास्त्रकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि,

इन गुरुजनों में सबसे बड़ा विशेष वह 'विज्ञान' है, जो इस अग्नि-परीक्षा में उस शिष्य को प्राप्त हो जाता है। जिससे यह विज्ञान शिष्य में प्रतिफलित हो जाता है, वही इस शिष्य का वास्तविक गुरु होता है। इतना

एतदाराधनपरेणैव च अनेन भाव्यमित्याह

सर्वज्ञाननिधानं तु गुरुं संप्राप्य सुस्थितः ॥ ४७ ॥

तमेवाराराधयेद्धीमांस्तत्तज्जिज्ञासनोन्मुखः ।

इयता च गुर्वन्तरगमने शङ्कोच्छेदः कटाक्षीकृतः ॥

स्पष्ट करने के बाद शास्त्रकार एक रहस्य की बात कहने से नहीं चूकते। वे यह उद्घोषित से करते हैं कि, 'अत्र संविदि दीक्षा न मुख्या' अर्थात् दीक्षा की इस परम्परा में स्वयं दीक्षा ही मुख्य नहीं है। यह घोषित करते हुए वे यह समझ रहे हैं कि, जिज्ञासु यह अवश्य पूछेगा कि, यदि दीक्षा मुख्य नहीं है तो फिर क्या मुख्य है ? शास्त्रकार कहते हैं कि, श्लोक में प्रयुक्त शब्दों पर ध्यान दो, उत्तर मिल जायेगा। श्लोक में उत्तम शब्द विशेषण शब्द है। विशेष्य विज्ञान है अर्थात् गुरुजनों द्वारा दी जानी वाली दीक्षा-परम्परा में दीक्षा मुख्य नहीं, विज्ञान ही मुख्य है। वह शिष्य को प्राप्त हो गया है। अत्र की सप्तमी और संविद् में प्रयुक्त सप्तमी सामानाधिकरण्य को व्यक्त करती है। सामानाधिकरण्य शब्द व्याकरणशास्त्र का पारिभाषिक शब्द है। जब दो शब्द एक ही विभक्ति का आधार लेकर समान अधिकार के साथ प्रयुक्त होते हैं, तो वहाँ दोनों में सामानाधिकरण्य होता है और एकार्थ में अन्वित होने में चरितार्थ होता है ॥ ४६ ॥

इस उत्तम विज्ञान की उपलब्धि के लिये गुरु की आराधना पहली शर्त है। आराधना परायण आराधक शिष्य की साधना तभी फलवती होती है, जब वह ज्ञान स्वबोध के रूप में व्यक्त हो जाय। वही कह रहे हैं—

वह विज्ञानार्थी भाग्यशाली शिष्य समस्त ज्ञान-विज्ञान में पारङ्गत, स्वात्मबोध से देदीप्यमान देशिक को पाकर धन्य हो उठता है। अब वह अपनी धन्यता की अनुभूति से भरकर सुस्थित हो जाता है। गुरु द्वारा प्राप्त विज्ञान से स्थितप्रज्ञ हो जाता है। विभिन्न रहस्यों के उद्घाटन के लिये गुरु से निरन्तर जिज्ञासा कर जानने की चेष्टा में लगा रहे। यही जिज्ञासनोन्मुखता कहलाती है। इसी उद्देश्य की उपलब्धि के लिये गुरु की आराधना को अपनी साधना का आधार बना ले। यह उसकी बुद्धिमानी है। तब वह

अथ प्रथमार्धेन प्रकृतार्थगर्भीकारेण प्रकरणार्थमुपसंहरति

इति दीक्षाविधिः प्रोक्तो लिङ्गोद्धरणपश्चिमः ॥ ४८ ॥

इति शिवम् ॥ ४८ ॥

अधराधरपरदर्शननिराकृतिस्वावमर्शसामर्शः ।
द्वाविंशमाह्निकमिदं निरणैषीज्जयरथाभिख्यः ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचिते
राजानकजयरथकृतविवेकाख्यव्याख्योपेते
श्रीतन्त्रालोके लिङ्गोद्धारप्रकाशनं नाम
द्वाविंशतितममाह्निकम् ॥ २२ ॥

सच्चे अर्थ में धामान् होता है। इन प्रसङ्गों से गुर्वन्तरगमन के प्रति उठने वाली शङ्काओं का शमन हो जाता है ॥ ४७ ॥

अन्त में इस विषय का उपसंहार करते हुए यह स्पष्ट उल्लेख कर रहे हैं कि,

इस प्रकरण में जिस दीक्षा विधि का वर्णन किया गया है, उसे लिङ्गोद्धार दीक्षा कहते हैं। पश्चिम शब्द यहाँ क्रिया विशेषण की तरह प्रयुक्त है। यह विधि-क्रिया के उद्देश्य को व्यक्त करता है कि, यह विधि पूरी हुई और लिङ्गोधृति दीक्षा सम्पन्न हुई ॥ इति शिवम् ॥

मृष्ट स्वात्मदर्शन अधर-निकर निराकृति पूर्व ।
लिङ्गोद्धृति द्वाविंश की जयरथ-विवृति अपूर्व ॥

+ + +

दीक्षा न मुख्या गुरुतो ह्यवाप्तं ज्ञानं हि मुख्यं प्रविवेचकस्य ।
द्वाविंशकस्यास्य शुभाह्निकस्य 'हंसेन' भाष्यं विहितं स्वबोधात् ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य श्रीमदभिनवगुप्तपादविरचित
राजानकजयरथकृतविवेकाख्यव्याख्योपेत
डॉ०परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीर-विवेक-भाषाभाष्यसंवलित
श्रीतन्त्रालोक का लिङ्गोद्धार प्रकाशन नामक
बाईसवाँ आह्निक सम्पूर्ण ॥ २२ ॥
॥ शुभं भूयात् ॥

अथ

श्रीतन्त्रालोके

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचिते
श्रीराजानकजयरथकृतविवेकाख्यव्याख्योपेते

त्रयोविंशतितममाह्निकम्

आस्थाय भैरववपुर्निजाकृतेः संविभागेन ।
विदधातु वः स भद्रं सर्वंत इह सर्वतोभद्रः ॥ १ ॥

इदानीं द्वितीयार्धेन अभिषेकविधिमभिधातुमुपक्रमते

अथाभिषेकस्य विधिः कथ्यते पारमेश्वरः ॥ १ ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचित
राजानकजयरथकृतविवेकव्याख्योपेत
डॉ० परमहंसमिश्रविरचितनीर-क्षीरविवेक
भाषाभाष्य-संवलित

श्रीतन्त्रालोक

का

तेईसवाँ आह्निक

स्वाकृति में प्रत्यङ्ग में, 'भैरववपु' रख, भद्र ।
करें अमृत-अभिषेक-विधि, भद्र सर्वतोभद्र ॥

आह्निक के आरम्भ में अभिषेक विधि विधान का अभिधान कर रहे हैं। स्वीकृत शैली के अनुसार उभयाह्निकनिष्ठ श्लोक के पश्चार्द्ध के माध्यम से पारमेश्वरी विद्या का सूत्रपात शास्त्रकार का अभीष्ट है—

तमेवाह

यैषा पुत्रकदीक्षोक्ता गुरुसाधकयोरपि ।
सैवाधिकारिणी भोग्यतत्त्वयुक्तिमती क्रमात् ॥ २ ॥
स्वभ्यस्तज्ञानिनं सन्तं बुभूषुमथ भाविनम् ।
योग्यं ज्ञात्वा स्वाधिकारं गुरुस्तस्मै समर्पयेत् ॥ ३ ॥

यैषेति सबोजा, अभिषेकाच्चानयोरधिकारः, स च परीक्ष्य दातव्यः इति आचार्यस्य तावत् परीक्षां कर्तुमारभते क्रमादित्यादिना, क्रमादिति श्रुत-चिन्तादिप्रमुखमित्यर्थः । एतच्च सर्वत्र संबन्धनीयम् । बुभूषुमिति भाविनमिति च स्वभ्यस्तज्ञानितायाम् ॥ ३ ॥

'अथ' अव्यय मङ्गल सूचक शब्द के साथ ही साथ शास्त्र के विषया-रम्भ का भी प्रवर्त्तक शब्द है। यहाँ शास्त्र का विषय अभिषेक विधि है। यह परमेश्वर प्रेरित परम्परा का प्रतीक है। शास्त्रकार इसी का कथन करने जा रहे हैं॥ १ ॥

श्रीतन्त्रालोक के सोलहवें आह्निक में पुत्रक दीक्षा का सन्दर्भ आया है। वह सबोज दोक्षा कहलाती है। वही दीक्षा, गुरु और साधक दोनों को, अभिषेक द्वारा ही अधिकार-सम्पन्न होना प्रमाणित करती है। अभिषेक से अधिकृत करने के पहले परीक्षा लेना आवश्यक है। विना परोक्षा लिये अधिकार नहीं प्रदान करना चाहिये। यह भोग्ययुक्ति में भी अधिकृत करती है और तत्त्वयुक्ति में भी अधिकृत करती है। यह परीक्षा किस क्रम से ली जाय, इसका उत्तर श्लोक में ही है। गुरु और साधक दोनों में पहले गुरुक्रम है। इसलिये पहले गुरु की परीक्षा उचित है। 'क्रमात्' कहने का यही तात्पर्य है।

गुरु की योग्यता की परीक्षा लेने से पहले यह देखना आवश्यक है कि, क्या वह अपने ज्ञान-विज्ञान के संवर्द्धन में संलग्न रहने वाला है ? क्या वह बुभूषु है ? क्या वह भविष्यत्-उत्कर्ष के प्रति जागरूक है ? ये तीनों गुण सार्वत्रिक महत्त्व के हैं। साधक में भी इस तरह की प्रवृत्ति होनी चाहिये किन्तु गुरु के लिये तो ये गुण अत्यन्त आवश्यक हैं। इन सभी गुणों की परीक्षा

ननु अभिषेकादेव तावदधिकारो भवेदिति सर्वत्रोक्तम्, तदिहापि अभिषेक एव विधीयतां किं स्वभ्यस्तज्ञानित्वादिचिन्तयेत्याशङ्क्याह

यो नैवं वेद नैवासावभिषिक्तोऽपि देशिकः ।
समय्यादिक्रमेणेति श्रीमत्कामिक उच्यते ॥ ४ ॥

यो न वेदाध्वसन्धानं षोढा बाह्यान्तरस्थितम् ।
स गुरुर्मोचयेन्नेति सिद्धयोगीश्वरीमते ॥ ५ ॥

सर्वलक्षणहीनोऽपि ज्ञानवान् गुरुरिष्यते ।
ज्ञानप्राधान्यमेवोक्तमिति श्रीकचभार्गवे ॥ ६ ॥

कर लेने बाद और अभिषेक द्वारा सन्तुष्ट होने पर आदरणीय देशिक को चाहिये कि, अपना सारा अधिकार उसे सौंप दे। इस तरह अधिकारों का हस्तान्तरण हो जाता है और परम्परा आगे बढ़ जाती है ॥ २-३ ॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि, सर्वत्र यह कहा गया है कि, अभिषेक से ही अधिकार हो जाता है किन्तु तीन गुणों की चर्चा यहाँ आवश्यक रूप से की गयी है। ऐसा क्यों ? यहाँ तो केवल अभिषेक ही होना चाहिये और इसी का निर्देश करना चाहिये। इस प्रश्न का समाधान आगम प्रामाण्य द्वारा कर रहे हैं।

जो ऐसा नहीं है, वह अभिषिक्त होने पर भी देशिक का अधिकार नहीं पा सकता। यह बात श्रीकामिक शास्त्र में आयी हुई है। वहाँ यह निर्देश भी है कि, वह पहले समयी आदि से गुरुत्व की योग्यता का आपादन करते हुए उसी क्रम से ये तीनों गुण प्राप्त करें। तभी उसके अभिषेक की व्यवस्था उचित है। तभी वह देशिक के अधिकार से विभूषित हो सकता है। अन्यथा इस क्रम से अभिषिक्त होने पर भी देशिक नहीं हो सकता।

जो बाह्य और आन्तर छह प्रकार के अध्वविज्ञान वेत्तृत्व से वंचित है, वह गुरु पद के गौरव की अभिवृद्धि नहीं कर सकता। वह किसी दीक्ष्य को मोक्षलक्ष्मी के लक्ष्य तक नहीं पहुँचा सकता। यह सिद्धयोगीश्वरी तन्त्र की उक्ति है।

पदवाक्यप्रमाणज्ञः शिवभक्त्येकतत्परः ।
समस्तशिवशास्त्रार्थबोद्धा कारुणिको गुरुः ॥ ७ ॥

समय्यादिक्रमेण असावभिषिक्तोऽपि देशिको न भवेदिति संबन्धः। एवमनेकशास्त्रार्थसंवादनेन गुरोः स्वभ्यस्तज्ञानित्वे सर्वत्र अविगीतत्वं प्रकाशितम् ॥ ७ ॥

एवमपि एवंविधा गुरवो न कार्या इत्याह

न स्वयंभूस्तस्य चोक्तं लक्षणं परमेशिना ।
अभक्तो जीवितधिया कुर्वन्नीशानधिष्ठितः ॥ ८ ॥

श्रीकचभार्गव शास्त्र यह स्पष्ट उल्लेख करता है कि,

सभी लक्षणों से हीन होने पर भी यदि गुरु विज्ञानपारङ्गत है, ज्ञानी है, तो वही उत्तम गुरु माना जाना चाहिये ।

वास्तविकता तो यह है कि, गुरु के गौरवशाली पद को सुशोभित करने के लिये उसे पद, वाक्य और प्रमाण पारङ्गत होना ही चाहिये । इसके साथ ही शिवभक्ति योग सम्पन्न होना भी एक अनिवार्य शर्त्त है । पदवाक्य प्रमाणज्ञ होने पर भी यदि उसमें शिवभक्ति का अभाव है, तो वह इस पद के अयोग्य माना जाता है। समस्त शैव शास्त्रार्थ का अभिज्ञ और विशेष जानकारी रखने वाला निरहंकारनिष्ठ आस्थावान् शिवभक्त देशिक के हृदय में शिष्य के उत्कर्ष हेतु करुणा का समुद्र उमड़ता रहता है। वह परम कारुणिक होता है। वही सद्गुरु देशिक कहा जा सकता है। इन सभी उक्तियों का निष्कर्ष यही है कि, गुरु सर्वतन्त्रस्वतन्त्र सर्वशास्त्रपारङ्गत शिवभक्ति योग सम्पन्न और परमकारुणिक होना चाहिये। सभी शास्त्र इसी तथ्य का अनुमोदन करते हैं ॥ ४-७ ॥

इतना कुछ श्रेष्ठ गुरु के सम्बन्ध में कहने के बाद शास्त्रकार ऐसे लोगों का उल्लेख कर रहे हैं, जिन्हें कदापि गुरु नहीं बनाना चाहिये । वे इस क्रम से यहाँ उल्लिखित हैं—

पश्वात्मना स्वयंभूण्णुर्नाधिकारी च कुत्रचित् ।
भस्माङ्कुरो व्रतिसुतो दुःशीलातनयस्तथा ॥ ९ ॥
कुण्डो गोलश्च ते दुष्टा उक्तं देव्याख्ययामले ।
पुनर्भूश्चान्यलिङ्गो यः पुनः शैवे प्रतिष्ठितः ॥ १० ॥

---

१. स्वयंभू गुरु—बहुत से ऐसे प्रवञ्चक लोग समाज में श्वा-प्रस्राव-समुत्पन्न उद्भिद् के समान स्वयम् उत्पन्न होकर विना किसी प्रकार का ज्ञान प्राप्त किये 'गुरु' होने का प्रचार कर समाज को ठगने का काम करते हैं। ऐसे लोगों से सावधान रहना चाहिये ।

२. अभक्त—शिवभक्तियोग से रहित गुरु पद को कलङ्कित ही करता है और नास्तिकता को बढ़ावा देकर सामाजिक अनुशासनहीनता को जन्म देता है ।

३. जीविकोपार्जन के उद्देश्य से गुरुत्व का दुरुपयोग करने वाला भी छद्म-गुरु की श्रेणी में आता है। उसके हृदय में शिव की प्रतिष्ठा नहीं होती है। शास्त्रकार ने इसे ईशानधिष्ठित की संज्ञा प्रदान की है।

४. पशुभाव भावित—षट् कञ्चुकों के कलङ्क पङ्क में आचूल मूल सना पुरुष पुद्गल पशु होता है। धूर्त्तता के आधार पर स्वयंभू होने की घोषणा कर लोगों को अमोक्ष के मार्ग पर अग्रसर कर देता है।

५. भस्माङ्कुर—हाथ से भस्म गिराकर चमत्कार के नाम पर सामाजिक प्रवञ्चना करने वाला अत्यन्त हेय होता है।

६. व्रतिसुत—पिता किसी व्रत में संलग्न है। लोग उसका आदर करने लगते हैं। व्रत के पालन से उसके व्यक्तित्व का विकास होता है। अतः वह आदरणीय हो जाता है। उसके नाम पर उसका अयोग्य और वंचक-बुद्धि पुत्र भी अपनी बाजार गर्म करने के लिये टोना टोटका का झूठा मार्ग अपना लेता है।

७. दुश्चरित्र स्त्री का पुत्र अपनी पारिवारिक दुःशीलता को छिपाकर महान् बनने का प्रदर्शन करने लगता है।

पश्वात्मनेति नतु परमेश्वरावेशशालितयेत्यर्थः। पुनर्भूश्च दुष्ट इति प्राच्येन संबन्धः ॥

अस्मद्दर्शने तु ज्ञानवत्त्वमन्तरेण न कश्चिदयं नियम इत्याह

श्रीपूर्वशास्त्रे न त्वेष नियमः कोऽपि चोदितः।

यथार्थतत्त्वसंघज्ञस्तथा शिष्ये प्रकाशकः ॥ ११ ॥

यः पुनः सर्वतत्त्वानि वेत्तीत्यादि च लक्षणम्।

तथेति यथार्थमेव। यदुक्तं तत्र

---

८. कुण्ड और गोल प्रयोग के उच्चतम तन्त्राम्नाय-मान्य याग के नाम पर कामाचार का प्रचारक पेशेवर ओझा छाप यौनाचारी पुरुष भी समाज के कलङ्क होते हैं।

९. पुनर्भूः—पहले अन्य लिङ्ग का अनुयायी था। अब वह शैवदर्शन निष्ठ होने और प्रतिष्ठित होने का प्रदर्शनात्मक प्रचार करता है।

देव्याःयामल शास्त्र में ऐसे लोगों को 'दुष्ट' विशेषण से विभूषित किया गया है। इनका गुरुत्व में ही अधिकार नहीं है, दीक्षा के तो ये नितान्त अनधिकारी होते हैं। इनसे हमेशा बचना चाहिये ॥ ८-१० ॥

श्रीतन्त्रालोक के मूलतत्त्व-दर्शन में इस प्रकार के किसी नियम का उल्लेख है या नहीं ? इस प्रश्न के उत्तर में शास्त्रकार कह रहे हैं कि,

श्रीपूर्वशास्त्र ही हमारे दर्शन का मूलतः उपजीव्य शास्त्र है। उसमें इस तरह के किसी नियम का निर्देश नहीं है। उसके अनुसार तत्त्वों के यथार्थ रहस्यों का पूरी तरह आलोडन कर आत्मासात् कर लेने वाला गुरु ही शिष्य के हृदय कमल को ज्ञान के अरुणोदय से विकसित कर सकता है। शिष्य के स्वात्म प्रकाश का वही साक्षी होता है। इसी प्रकार के लक्षण गुरु में होने चाहिये। वह यदि सर्वतत्त्व वेत्ता हो, तो शिष्य का तो भाग्य हो खुल जाय। श्रीपूर्वशास्त्र में कहा गया है कि,

'यः पुनः सर्वतत्त्वानि वेत्त्येतानि यथार्थतः ।
स गुरुर्मत्समः प्रोक्तो मन्त्रवीर्यप्रकाशकः ॥

स्पृष्टाः संभाषितास्तेन दृष्टाश्च प्रीतचेतसा ।
नराः पापैः प्रमुच्यन्ते सप्तजन्मकृतैरपि ॥

ये पुनर्दीक्षितास्तेन प्राणिनः शिवचोदिताः ।
ते यथेष्टं फलं प्राप्य प्रयान्ति परमं पदम् ॥"

(मा० वि० २।१२) इति ।

ननु इहापि समानन्यायत्वात् तन्त्रान्तरोक्तो नियमः कस्मान्नानुषज्यते इत्याशङ्क्याह

योगचारे च यद्यत्र तन्त्रे चोदितमाचरेत् ॥ १२ ॥
तथैव सिद्धये सेयमाज्ञेति किल वर्णितम् ।

"जो गुरु इन आध्यात्मिक रहस्यों की दृष्टि से सभी तत्त्वों का तात्त्विक विश्लेषण कर पूर्ण प्रज्ञा भाव में प्रतिष्ठित हो जाता है, उसके लिये शङ्कर भगवान् कहते हैं कि, हे प्रिये ! वह सचमुच मेरे ही समान है। वही वस्तुतः मन्त्रवीर्य का प्रकाशक गुरु होता है। देखने, सुनने, स्पर्श करने और प्रेमपूर्वक उससे बात करने से मनुष्य पापों से छुटकारा पा जाता है। शिवानुग्रह के प्रभाव से जो ऐसे पुरुष से दीक्षित हो जाता है, वह यथेष्ट फल पाकर परमपद पर अधिष्ठित हो जाता है।" यह श्रीपूर्वशास्त्र (२।९-१२) में स्पष्ट रूप से प्रतिपादित है ॥ ११ ॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि, प्रस्तुत सन्दर्भ में तन्त्रान्तरों में कही गयी बातें समान शास्त्र होने के नाते स्वयम् अनुषक्त होनी चाहियें पर यहाँ ऐसा नहीं है। इसका कारण क्या है ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

योगचार शास्त्र में यह स्पष्ट निर्देश है कि, जिस तन्त्र में जो लिखा गया है, उस तान्त्रिक परम्परा में उसी निर्देश को आचरित करना चाहिये, अन्यत्र नहीं। उसी दृष्टि से यहाँ भी सम्प्रदायानुसार सिद्धि प्राप्त करने के उद्देश्य से इसी तरह का निर्देश है। इसको आगमिक उद्धरण से प्रमाणित कर रहे हैं—

आचरेदिति अर्थात् तत्रैव । यदुक्तं

'क्रियादिभेदभेदेन तन्त्रभेदो यतः स्मृतः ।
तस्माद्यत्र यदेवोक्तं तत्कार्यं नान्यतन्त्रतः ॥' इति ।

न केवलं शास्त्रान्तरेषु कुलाचारादिगतत्वेनैव गुरोरेवं नियमः, यावत्

'काणो विद्वेषजननः खल्वाटश्चार्थनाशनः ।' इति ।
'काञ्चिकोसलकर्णाटाः कलिङ्गाः कामरूपजाः ।
कुङ्कुणोद्भवकावीरीकच्छदेशसमुद्भवाः ॥
एते वर्ज्यास्तथान्येऽपि राष्ट्रियान्परिवर्जयेत् ।'

इत्यादिदृष्टया देहदेशगतत्वेनापि ॥

"वस्तुतः तन्त्रों में क्रिया-प्रक्रियात्मक भेद के अनुसार ही भेद हो जाता है। इसलिये जिस तन्त्र में जो कुछ कहा गया है, वहाँ उसी का आचरण श्रेयस्कर होता है। दूसरे तन्त्रों में कही गयी बातों का अनुसरण अपने तन्त्र में नहीं करना चाहिये।"

यहाँ यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि, अन्यान्य शास्त्रों में भी कुलाचार आदि की दृष्टि से ही ये भेद नहीं पाये जाते हैं अपितु देह की दृष्टि और देशगत आचार की दृष्टि से भो भेद होते हैं—

१. देहगत भेद—कुछ गुरुजन काने या अन्य आङ्गिक दोषों से युक्त होते हैं। कुछ गुरु विद्वेष से भरे होते हैं। इससे शिष्य को प्रवृत्ति भी कलुषित हो जाती है। कुछ गुरुजनों के बालों के झड़ जाने से उनके सिर पर चाँद उग आते हैं। कुछ ऐसे व्यर्थ और आडम्बर पूर्ण कार्य सम्पन्न कराते रहते हैं, जिससे लाभ तो कुछ नहीं होता, उल्टे शिष्य को आर्थिक कष्ट हो जाता है। ऐसे गुरुजनों से बचना चाहिये।"

२. देशगत भेद—काञ्ची, कोशल, कलिङ्ग, कामरूप, कोङ्कण, कावेरीय, कच्छ आदि देशों में उत्पन्न गुरुओं से दोक्षा नहीं लेनो चाहिये। इसके अतिरिक्त ऐसे गुरु जिनकी नागरिकता अन्य राष्ट्रिय होवे, उनको भी गुरु नहीं बनाना चाहिये।"

अस्मच्छास्त्रे पुनः कस्मादयं नियमो नोक्त इत्याशङ्क्याह

यस्तु कर्मितयाचार्यस्तत्र काणादिवर्जनम् ।। १३ ।।

यतः कारकसामग्र्यात्कर्मणो नाधिकः क्वचित् ।

देव्या यामलशास्त्रे च काञ्च्यादिपरिवर्जनम् ।। १४ ।।

तद्दृष्टदोषात्क्रोधादेः सम्यक्ज्ञातर्यसौ कुतः ।

दृष्टदोषादिति सन्तापादिलक्षणात् । यदुक्तं

'सन्तापं क्रोधने विद्याच्चञ्चले चपलाः श्रियः ।' इति ।

काञ्च्यादिदेशजन्मा हि जनः स्वभावत एव कामक्रोधादिभाग्भवेदिति भावः । असाविति क्रोधादिः, सम्यग्ज्ञाता हि आत्मवदेव सर्वभूतानि पश्यतीत्याशयः ॥ १३-१४ ॥

इन उद्धरणों में भेदवाद की दृष्टि मात्र देह और देशगत भेद पर ही आधारित है । इन तथ्यों का विचार दीक्षा की स्थिति में आवश्यक है ॥ १२ ॥

तन्त्रान्तरोक्त ये सभी नियम हमारे शास्त्र में उक्त नहीं हैं । ऐसा क्यों ? इस शङ्का का पुनः समाधान कर रहे हैं—

काणाद शास्त्र के मतवादी अथवा इसी समान स्तरीय मान्यता के अनुयायी कर्मकाण्ड को दृष्टि से आचार्य नहीं हो सकते । तन्त्र में कर्म की मुख्यता मानो जाती है । कारकसामग्र्य-वाद के अनुसार कर्म से बढ़ कर कोई श्रेयस्कर फल देने वाला नहीं होता । जबकि कणाद एवं कुछ अन्य शास्त्रकार सत्कार्यवादो न होकर असत्कार्यवादो हैं । इसो लिये काणादिवर्जन शब्द का प्रयोग यहाँ किया गया है ।

देव्या यामल में काञ्ची, कोशल आदि स्थानों के विद्या में निष्णात व्यक्तियों को 'गुरु' बनाने का निषेध किया गया है । इसका कारण उनमें दीख पड़ने वाले दोष हैं, जैसे क्रोध आदि रजोगुण समुद्भव दोष उनमें अधिकांशतः पाये जाते हैं । ये देशज स्वाभाविक दौर्बल्य एवं दोष हैं, जो इन स्थानों के निवासियों में प्रायः पाये जाते हैं । यह ध्यान देने को बात है कि, जो पुरुष सम्यक् बोध से विभूषित हैं, उनमें ये दोष कैसे हो सकते हैं ? समस्त प्राणि-

नच एतदस्माभिः स्वोपज्ञमेवोक्तमित्याह

गुरवस्तु स्वयंभ्वादि वर्ज्यं यद्यामलादिषु ॥ १५ ॥

कर्म्यभिप्रायतः सर्वं तदिति व्याचचक्षिरे ।

गुरवश्च यत्किचन स्वयंभ्वादि देव्या यामलादौ वर्जनीयतयोक्तम्, तत्सर्वं कर्म्यभिप्रायेण—इति व्याचचक्षिरे व्याख्यातवन्तः इत्यर्थः ॥ १५ ॥

तस्मात् ज्ञानवत्त्मेव मुख्यं लक्षणमाश्रयणीयमित्याह

मात्र में शैव महाभाव रखने वाले विज्ञ पुरुष सार्वात्म्यवाद के प्रतीक होते हैं। उनमें क्रोधादि दोषों की सम्भावना भी नहीं होती।

दृष्टदोष शब्द से अन्य सन्ताप आदि दोषों की परिकल्पना भी स्वतः हो जाती है। आगम कहता है कि,

'क्रोधी व्यक्ति सन्ताप की आग में मानो जलता ही रहता है। चञ्चल पुरुष में अशुद्ध विद्या का ही प्राधान्य होता है। ऐसे लोगों के यहाँ लक्ष्मी नहीं रहती। ऐसे लोगों पर ही 'लक्ष्मी चञ्चला होती है' यह कहावत चरितार्थ होती है।"

ये सभी बातें देह और देशगत दृष्टियों के अनुसार ही शास्त्रों में निर्दिष्ट हैं ॥ १३-१४ ॥

शास्त्रकार का यह 'स्वोपज्ञ' कथन नहीं है। यही स्पष्ट कर रहे हैं—

देवी यामल आदि शास्त्रों में स्वयंभू और पुनर्भू आदि गुरुजनों को निषिद्ध माना गया है। इसका मुख्य कारण कर्मवाद का ही दृष्टिकोण है। साथ ही क्रियायोग में नैपुण्य का अभाव भो है। असत्कार्यवादियों की तरह अश्रद्धा एव अनभ्यास के ये भी शिकार होते हैं। कर्मी के अभिप्राय का यही तात्पर्य है। इसी दृष्टिकोण को सभी व्याख्याकारों ने भी अपनाया है ॥ १५ ॥

अतः निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि, ज्ञानवान् होना ही गुरु का सर्वमान्य लक्षण है। इसी का आश्रय लेना चाहिये। यही कह रहे हैं। साथ ही इतिकर्त्तव्यता का निर्देश भी कर रहे हैं—

अतो देशकुलाचारदेहलक्षणकल्पनाम्[1] ॥ १६ ॥
अनादृत्यैव संपूर्णज्ञानं कुर्याद्गुरुर्गुरुम् ।

अत्रैव इतिकर्तव्यतामाह

प्राग्वत्संपूज्य हुत्वा च श्रावयित्वा चिकीर्षितम् ॥ १७ ॥
ततोऽभिषिञ्चेत्तं शिष्यं चतुःषष्ट्या ततः सकृत् ।
तन्मन्त्ररसतोयेन पूर्वोक्तविधिना गुरुः ॥ १८ ॥
विभवेन सुविस्तीर्णं ततस्तस्मै वदेत्स्वकम् ।
सर्वं कर्तव्यसारं यच्छास्त्राणां परमं रहः ॥ १९ ॥

चतुःषष्ट्येति अर्थात्कलशैः । सकृदिति एकेन । अनेन च ज्ञानस्यैव प्राधान्यात् क्रियायाः अनवक्लृप्तिः प्रकाशिता, येन श्रीपूर्वशास्त्रे स्वकण्ठोक्तोऽपि अभिषेकविधिरिह वितत्य नोक्तः ॥

इसलिये देश, कुल, आचार और देह के आधार पर गुरुत्व के सम्बन्ध में जो वर्जना और आवर्जना की स्थितियाँ हैं, उन सब को छोड़कर यह निर्णय लेना चाहिये कि, ज्ञानवान् प्रज्ञा-पुरुष ही गुरु रूप से स्वीकार किया जाये।

अतः शिष्य का यह कर्त्तव्य है कि, वह गुरु की सेवा में उपस्थित होकर सर्वप्रथम उनका वन्दन और अर्चन करे। उनसे अपनी इच्छा का निवेदन करे। उनकी स्वीकृति के बाद आदेशानुसार विधि के अंग के रूप में हवन आदि क्रियायें पूरी करे। गुरुदेव की आज्ञा के अनुसार इन विधियों के पूर्ण होते ही गुरु स्वयम् उसे चौंसठ कलशों के जल से अभिषिक्त करे। कलशों में रखे हुए जल मन्त्रों के बल से दिव्य बन गये होते हैं। उनसे किया हुआ अमृत अभिषेक शिष्य के समस्त पापों को धो डालता है। एक बार में ही रसाभिषेक प्रक्रिया पूरी कर लेनी चाहिये।

इसके बाद विज्ञान के विभव से भरपूर गुरुदेव विस्तार पूर्वक भविष्य की इतिकर्त्तव्यता का उसे निर्देश दे। वह सब कुछ उसे बता दे, जिसका अभिषेक के बाद वह अधिकारी हो गया है। अन्त में वह उसे परम रहस्यरूपिणी

कर्तव्यसारमेव अभिधत्ते

अनुग्राह्यास्त्वया शिष्याः शिवशक्तिप्रचोदिताः ।

ननु प्राक् दीक्षाकालमपहाय अभिषेकावसर एव अस्य कस्मात् परीक्षा क्रियते इत्याशङ्कां निरवकाशयितुमागमेव संवादयति

उक्तं ज्ञानोत्तरे चैतद्ब्राह्मणाः क्षत्रिया विशः ॥ २० ॥
नपुंसकाः स्त्रियः शूद्रा ये चान्येऽपि तदर्थिनः ।
ते दीक्षायां न मीमांस्या ज्ञानकाले विचारयेत् ॥ २१ ॥

मन्त्र-विद्या की दीक्षा देकर कृतार्थ कर दे। यहाँ ज्ञान की प्रधानता के दृष्टिकोण को अपना कर शास्त्रकार ने क्रिया की क्रमबद्ध उक्ति को उपेक्षा की है, अर्थात् क्रिया की महत्ता से बढ़कर ज्ञान की महत्ता को ही स्वीकार किया गया है। फलतः श्रीपूर्वशास्त्र में वर्णित और महत्त्वपूर्ण शिवोक्ति के रूप में व्यक्त अभिषेक विधि को यहाँ विस्तार पूर्वक लिखने का आवश्यकता नहीं समझी गयी, केवल संकेत की भाषा में ही सब कुछ कह दिया गया है ॥१६-१९॥

मन्त्र दीक्षा के बाद गुरुदेव स्वयं शिष्य के साथ मौनी रह कर व्रताचरण में लगें तथा शिष्य से भा सम्पन्न करायें। सबसे प्रमुख कर्त्तव्य योगेश्वरियों की प्रार्थना के साथ ही गुरुदेव का भा प्रार्थना शिष्य करे और स्पष्ट रूप से यह हार्दिक निवेदन करे कि, शिव और शक्ति से प्रेरित सभी शिष्यों पर आप करुणापूर्ण अनुग्रह करें। यह पूरी अभिषेक विधि श्रीपूर्वशास्त्र के अधिकार दश में वर्णित है। वही मूल उपजीव्य शास्त्र है। वहीं से इसको विस्तारपूर्वक जानना चाहिये।

सामने एक नया प्रश्न उपस्थित हो गया। शिष्य को परीक्षा की बात है। यह परीक्षा हो, यह तो ठीक है, पर औचित्य की बात है कि, दीक्षाकाल में परीक्षा हो ? अभिषेक के अवसर पर परीक्षा लेने का कारण क्या है ? इस शङ्का का निराकरण आगम प्रामाण्य द्वारा कर रहे हैं—

श्री ज्ञानोत्तर तन्त्र में यह स्पष्ट कहा गया है कि, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्रीवर्ग, क्लीब अथवा इनके अतिरिक्त जितने भी दीक्षा की

ज्ञानमूलो गुरुः प्रोक्तः सप्तसत्रीं प्रवर्तयेत् ।

प्रोक्त इति समनन्तरमेव ॥

ननु का नाम सप्तसत्री, तां च असौ कथं प्रवर्तयेदित्याशङ्क्याह

दीक्षा व्याख्या कृपा मैत्री शास्त्रचिन्ता शिवैकता ॥ २२ ॥

अन्नादिदानमित्येतत्पालयेत्सप्तसत्रकम् ।
अभिषेकविधौ चास्मै करणीखटिकादिकम् ॥ २३ ॥

सर्वोपकरणव्रातमर्पणीयं विपश्चिते ।
सोऽभिषिक्तो गुरुं पश्चाद्दक्षिणाभिः प्रपूजयेत् ॥ २४ ॥

इच्छा रखने वाले लोग वे दीक्षा के समय परीक्ष्य या मोमांस्य नहीं है। जिस समय अभिषेक विधि पूरी की जा रही हो और शिष्य को विस्तार पूर्वक सारी बातों को गुरुदेव समझा रहे हों, उसी समय वे मीमांस्य हैं। समस्त ज्ञान विज्ञान के मूल कारण गुरु हैं। उनकी परीक्षा में शिष्य का सफल होना शिष्य की योग्यता का परिचायक होता है।

इसके बाद सप्तसत्री प्रक्रिया के प्रवर्त्तन की आवश्यक व्यवस्था करनी चाहिये। सप्तसत्री में सात बातें आती हैं—१. दीक्षा, २. व्याख्या ३. कृपा, ४. मैत्री, ५. शास्त्र चिन्ता, ६. शिवैकता और ७. अन्न आदि का दान। यह सात सत्र हैं। उनके पालन में प्रवृत्त होने के लिये शिष्य को पूरा समय देकर नियमित जीवन व्यतीत करना पड़ता है। गुरु भी इसको साधना में साथ रहता है। शिष्य की सुविधा के लिये, आवश्यकतानुसार उसे करणी (कुछ खोदने, कुछ बनाने या निर्माण में सहायक, और समतल बनाने का लौह उपकरण), खटिका (सोने, बैठने, विश्राम का एक सहारा) एवम् अन्य उपकरण जिनसे व्रतचर्या अच्छी तरह निभ सके, इन सबकी व्यवस्था स्वयम् आचार्य करे और शिष्य को दे दे। वह अभिषिक्त शिष्य रूपी विद्वान् पुरुष सप्तसत्री सत्र के सम्पन्न हो जाने पर अपने दीक्षक देशिक शिरोमणि शिवरूप गुरुदेव को पूजा करे और यथाशक्य दक्षिणा आदि से गुरुदेव को सन्तुष्ट करे। इस सम्बन्ध में आगम कहता है कि,

तदुक्तं

'निर्भर्त्स्यैवं विधानेन अभिषेकं प्रदापयेत् ।'

इत्याद्युपक्रम्य

'उष्णीषमुकुटाद्यांश्च छत्रपादुकमासनम् ।
हस्त्यश्वशिविकाद्यांश्च राज्याङ्गानि विशेषतः ॥
करणीं कर्तरीं खट्वीं स्रुक्स्रुवौ वर्भपुस्तकम् ।
अक्षसूत्रादिकं दत्वा चतुराश्रमसंस्थितः ॥
दीक्ष्यानुग्रहमार्गेण दीक्षा व्याख्या त्वया सदा ।
अद्यप्रभृति कर्त्तव्येत्यधिकारः शिवाज्ञया ॥' इत्यादि ।
'गुरुं संपूजयेच्छिष्यो यथाविभवविस्तरैः ।' इत्यन्तम् ॥ २४ ॥

"इस प्रकार उसके देश, कुल और आचार तथा देह आदि के अहंकार के लिये उसे व्यग्यपूर्वक झिड़कते हुए शिष्य की अभिषेक प्रक्रिया पूरी करे।"

अभिषेक विधि के उपक्रम के बाद आगे और भी कहा गया है कि,

"यथास्तर यदि शिष्य को यह प्रिय हो, या राजवंशीय वित्तवैभववान् पुरुष शिष्य के लिये उष्णीष (पगड़ी), मुकुट (स्वर्ण या राजत), छाता, पादुका (खड़ाऊँ), आसन, हाथी, घोड़े पालकी आदि राज्यस्तरीय सुख के साधन जुटाये। सामान्य व्यवस्था मे करणी, खटिका, स्रुक, स्रुवा, कुश, पुस्तक, यज्ञोपवीत आदि को सुविधा एकत्रित करे। चारों आश्रमों की स्थिति को शिष्य पूरी तरह समझे। दीक्ष्य के ऊपर कृपा करके उसको दीक्षा की रहस्यवादिता से परिचित कराये और शास्त्रीय निर्देशों की व्याख्या करे।

इसके बाद वह शिष्य को यह आदेश दे कि, प्रिय शिष्य! आज से तुम्हारे द्वारा अपने आम्नाय की मान्यता को सदा ध्यान का रखा जाना चाहिये। आज भगवान् भूतभावन के आदेश के अनुसार तुझे गुरुत्व के पूर्णाधिकार सेसमन्वित कर आम्नाय पालन करने और कराने का अधिकार दे दिया गया है।"

नन्वेवमभिषेकमस्मै दत्त्वा गुरुणा अनन्तरं कथं वर्तितव्यमित्याशङ्कयाह

ज्ञानहीनो गुरुः कर्मी स्वाधिकारं समर्प्य नो ।
दीक्षाद्यधिकृतिं कुर्याद्विना तस्याज्ञया पुनः ॥ २५ ॥

इत्येवं श्रावयेत्सोऽपि नमस्कृत्याभिनन्दयेत् ।

तस्येति स्वयमभिषिक्तस्य । अयं च श्लोकः क्वचित् 'पालयेत्सप्तसत्रकम्' इत्यनन्तरं भ्रमात् लेखकैर्लिखित इति तदुपेक्ष्यम् ॥

अन्त में उपसंहार वाक्य है कि,

"गुरु की पूजा सदा वैभव के अनुसार विधिपूर्वक सम्पन्न करे" ॥ २०-२४ ॥

यहाँ मूलतः दो स्थितियाँ आमने सामने हैं। अभिषेक विधि के सम्पन्न हो जाने पर अधिकार भी हस्तान्तरित हो चुका है। एक तरफ नया अभिषिक्त शिष्य, जिसे सारे अधिकार प्राप्त हो चुके हैं। दूसरी ओर मूल गुरु हैं। प्रश्न है कि, गुरु ने अपना अधिकार शिष्य को सौंप दिया। अब गुरु क्या करे ? किस प्रकार अपने व्यवहार का सञ्चालन करे ? इस प्रश्न के सन्दर्भ में हमें यह ध्यान देना चाहिये कि, गुरु भी दो श्रेणी के हैं—१. ज्ञानहीन और २. ज्ञानवान्। यहाँ शास्त्रकार ज्ञानहीन गुरु के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त कर रहे हैं—

कर्म प्रक्रिया का जानकार जो गुरु यदि विज्ञानसिद्ध नहीं है, तो वह ज्ञानहीन की श्रेणी में आता है। जिस समय अभिषेक सम्पन्न हुआ और गुरु ने अपने अधिकार का समर्पण कर दिया, उस समय के बाद उसके पास दीक्षा देने का अधिकार भी नहीं रह जाता। यदि उसे कहीं दीक्षा देने जाना ही हो, तो उसे अपने अधिकारी शिष्य से पूछने के बाद और स्वीकृति के बाद ही जाना चाहिये। शिष्यत्व के ऊपर गुरुत्व का साधिकार गौरव प्राप्त हो जाने पर भी दीक्षित और अभिषिक्त गुरु अपने पूर्व गुरु का सदा सर्वदा अभिनन्दन करे। उसके समक्ष विनम्रता का व्यवहार करे और मिलने पर प्रणामाञ्जलि से उन्हें पुरस्कृत करे। यह इस आह्निक का २५ वाँ श्लोक है। प्रमादवश

ज्ञानिनः पुनरयं विशेष इत्याह

ततः प्रभृत्यसौ पूर्वो गुरुस्त्यक्ताधिकारकः ॥ २६ ॥
यथेच्छं विचरेद् व्याख्यादीक्षादौ यन्त्रणोज्झितः ।
कुर्वन्न बाध्यते यस्माद्दीपाद्दीपवदीदृशः ॥ २७ ॥
सन्तानो नाधिकारस्य च्यवोऽकुर्वन्न बाध्यते ।
प्राक् च कुर्वन्विहन्येत सिद्धातन्त्रे तदुच्यते ॥ २८ ॥

लेखकों ने इसे श्लोक २३ की 'सप्तसत्रक' वाली प्रथम अर्धाली के बाद ही लिख दिया था। वह क्रम ठीक नहीं। अतएव उपेक्ष्य है ॥ २५ ॥

यहाँ तक ज्ञानहीन गुरु के कर्त्तव्य और उनके प्रति अधिकृत (शिष्य से गुरु बने) दीक्षित का व्यवहार कैसा होना चाहिये, इन बातों का वर्णन किया गया। अब यह कहने जा रहे हैं कि, ज्ञानवान् गुरु का शिष्य को अधिकार सौंप देने के बाद क्या कर्त्तव्य होना चाहिये—

इसके बाद यह पूर्व का दैशिक जिसने अपना सारा अधिकार हस्तान्तरित कर दिया है, अब स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण कर जीवन का निर्यन्त्रण आनन्द उपभोग करता हुआ जीवन्मुक्त स्थिति के अप्रकल्पनीय निर्विकल्प अनुभूति में समाहित हो जाय। उसे दीक्षा और व्याख्या आदि सत्रों के सञ्चालन की कोई आवश्यकता नहीं। सत्रादि भी एक प्रकार के सम्प्रदाय के दाय हैं। इनका बन्धन अब ज्ञानवान् गुरु को नहीं होता।

यदि कभी ऐसा अवसर आ ही जाय, जब कि उसे कहीं दीक्षा और व्याख्या आदि करने-कराने की विवशता हो, तो उसे कोई बाधित भी नहीं कर सकता, जैसे दीप से दीप जल कर दूसरो को प्रकाशित करते हैं और प्रथम दीप भी प्रज्वलित रहता ही है, उसी तरह पूर्व ज्ञानवान् गुरु अपनी प्रतिभा प्रभा से आभा का विस्तार करता ही है। प्रकाश तो प्रकाशन का स्वाभाविक कार्य निर्विशेष भाव से ही सम्पन्न करता है।

यह भी ध्यान देने की बात है कि, जैसे एक दीप से शताधिक दीपों के प्रज्वलित होने पर भी प्रथम दीप अपने प्रकाशन अधिकार से च्युत नहीं

पूर्वं इति आद्यो ज्ञानीत्यर्थः। कुर्वन्नकुर्वन् न बाध्यते इत्यनेन यन्त्रणोज्झितत्वमेवोद्वलितम्। दीपाद्दीपवदिति नहि दीपान्तरं जनयतो दीपस्य प्रकाशकतायां कश्चिद्विशेष इत्याशयः। च्यवः प्रच्यवः। प्राक् अत्यक्ते अधिकारे॥

तत्रत्यमेव ग्रन्थं पठति

यथार्थमुपदेशं तु कुर्वन्नाचार्य उच्यते।
न चावज्ञा क्रियाकाले संसारोद्धरणं प्रति॥ २९॥

न दीक्षेत गुरुः शिष्यं तत्त्वयुक्तस्तु गर्वतः।
योऽस्य स्यान्नरके वास इह च व्याधितो भवेत्॥ ३०॥

य इति अवज्ञावान् गर्वितश्च। अस्येति एवंविधस्य॥ ३०॥

होता, उसी तरह गुरु द्वारा शिष्य रूप सन्तान परम्परा को अधिकार प्रदान करने पर भी वह अधिकार से च्युत नहीं होता। जैसे उसे दीक्षादि कर्म करने से भी कोई बाधित नहीं कर सकता, उसी तरह न करने पर भी कोई बाधित नहीं कर सकता।

यहाँ 'प्राक्' शब्द पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। गुरु ज्ञानवान् है। शिष्य दीक्षा लेने के लिये उपस्थित है। उसका अभिषेक भी हो चुका है पर रहस्य दीक्षा अभी नहीं हुई है। इस अवस्था में यदि अपने ज्ञानगर्व से वह गर्वित है, तो दीक्षा का कार्य करने से विघ्नों की मार से वह अवश्य ही अनर्थों की प्रतिकूलता में पड़ जाता है। यह बात सिद्धातन्त्र में कही गयी है॥ २६-२८॥

सिद्धातन्त्र के उस ग्रन्थ भाग को अपने शास्त्र के अंग के रूप में प्रयुक्त कर रहे हैं—

जो प्रज्ञा पुरुष यथार्थ का उपदेश कर शिष्य को सत्य का दर्शन कराने का प्रयत्न करता है, वही सच्चा आचार्य है। क्रिया-प्रक्रिया के सम्पादन के महत्त्वपूर्ण अवसर पर किसी प्रकार की अवज्ञा अत्यन्त निषिद्ध है। जहाँ दीक्षा का उद्देश्य ही संसार के संसरण रूपी अभिशाप से मुक्ति दिलाना है,

इदानीमस्य आचार्यस्य विद्याव्रतमभिधत्ते

प्राप्ताभिषेकः स गुरुः षण्मासान्मन्त्रपद्धतिम् ।
सर्वां तन्त्रोदितां ध्यायेज्जपेच्च तन्मयत्वतः ॥ ३१ ॥
तदैव तन्मयीभूतस्तदा वीर्यमुपागतः ।
छिन्द्यात्पाशांस्ततो यत्नं कुर्यात्तन्मयतास्थितौ ॥ ३२ ॥

उसी माङ्गलिक वेला में अवज्ञा का अमंगल कार्य कभी न करे। यदि उस समय गुरु में अपने गुरुत्व का गर्व जागरूक हो जाय, तो अच्छा यही होगा कि, वह बल्कि दीक्षा ही न दे। जो गर्वीला गुरु दीक्षा देता है, उसका निरय-निवास अवश्यंभावी है। जीवित अवस्था में व्याधिग्रस्तता से कोई बचा नहीं सकता ॥ २९-३० ॥

अब अभिषेक प्राप्त नव्य-नूतन आचार्य के विद्याव्रत के सम्बन्ध में निर्देश दे रहे हैं—

अभिषेक से अभिषिक्त गुरु का समाज और अपने सम्प्रदाय के प्रति उत्तरदायित्व बढ़ जाता है। उसका कर्त्तव्य है कि, वह अपने जीवन को तपस्या, साधना और स्वाध्याय से पूरी तरह निखार ले। सम्प्रदायगत आदर्शों की कसौटी पर खरा उतरे। इसके लिये शास्त्र उसे छः माह का अमूल्य अवसर देने की बात करता है। छः महीनों की अनवरत साधना से वह अपने को पूरी तरह सक्षम बना सकता है। सबसे पहले वह अपने आम्नाय को मन्त्र-पद्धति को, जो तन्त्र में अच्छी तरह प्रतिपादित है, पूरी तरह आत्मसात् करे। उसके ध्यान में उतर कर उसे स्वबोध से विभूषित कर दे। नियमतः गुरु प्रदत्त मूल मन्त्र का निर्देशानुसार निरन्तर नियमित जप करे। जप में तन्मय भाव से लगे। मन्त्र जप की तन्मयता से ही मन्त्रवीर्य का उल्लास होता है। उसी वीर्यात्मक दिव्यता के प्रकाश से अपने अज्ञानावृत पाश-राशि के अन्धकार का नाश कर दे। आवरण की बेड़ियों को तोड़ कर छिन्न-भिन्न कर दे। मन्त्र तादात्म्य का यही महत्त्व है, जिसको वह स्वयम् आत्मसात् कर ले।

सर्वां मन्त्रपद्धतिमिति देवीत्रयं, भैरवचतुष्टयम्, अघोराद्यष्टकं च। यदुक्तम्

'आचार्योऽपि च षण्मासं मौनी प्रतिदिनं जपेत्।
दश पञ्च च ये मन्त्राः पूर्वमुक्ता मया तव॥'

'पूर्वन्यासेन सन्नद्धस्त्रिकालं वह्निकार्यकृत्।
ध्यायेत्पूर्वोदितं शूलं ब्रह्मचर्यं समाश्रितः॥
कृत्वा पूर्वोदितं यागं त्रिशूलपरिमण्डलम्।
अभिषिञ्चेत्तदात्मानमादावन्ते च दैशिकः॥
एवं चीर्णव्रतो भूत्वा मन्त्री मन्त्रविदुत्तमः।
निग्रहानुग्रहं कर्म कुर्वन्न प्रतिहन्यते॥'

(मा० वि० १०।३५) इति॥ ३२॥

श्लोक में सभी मन्त्र पद्धतियों की चर्चा की गयी है। वे कौन-कौन सी हैं, आचार्य जयरथ श्री पूर्वशास्त्र के उद्धरण से उसे स्पष्ट कर रहे हैं—

"आचार्य भी ६ माह तक मौन भाव से प्रतिदिन जप करे। भगवान् शङ्कर कह रहे हैं कि, देवि! मैंने जिन दश और पाँच मन्त्रों की चर्चा तुमसे की थी। उन मन्त्रों के साथ न्यास का भी विधान करना पड़ता है। न्यास से न्यस्त हो कर त्रिकाल संध्या भी करनी आवश्यक होती है। साथ ही अग्नि-होत्र भी करना चाहिये। ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए पहले बतलाये गये शूलाब्ज का ध्यान भी नियमित रूप से करना चाहिये।

पहले बतलाये नियमों के अनुसार याग, जिसे त्रिशूल परिमण्डल याग कहते हैं, सम्पन्न करना आवश्यक है। इसके बाद स्वात्म को अभिषिञ्चित करना चाहिये। कलश के अमृत रस से प्रक्रिया के प्रारम्भ और अन्त में अभिषिक्त होने से दिव्यता का आधान होता है। इस प्रकार व्रतनिष्ठ रह कर मन्त्र का जप करने वाला मन्त्रवेत्ताओं में श्रेष्ठ स्थान प्राप्त कर लेता है। उसके पास इतना सामर्थ्य हो जाता है कि, निग्रह और अनुग्रह दोनों कर सके। ऐसा करने पर भी उसे किसी प्रतिघात से क्षति[1] नहीं होती"।

१. मावि० १०।३१-३५

एवं मन्त्रपद्धतिं जपतस्तन्मयतास्थितौ युक्तिमाह

हृच्चक्रादुत्थिता सूक्ष्मा शशिस्फटिकसंनिभा ।
लेखाकारा नादरूपा प्रशान्ता चक्रपङ्क्तिगा ॥ ३३ ॥
द्वादशान्ते निरूढा सा सौषुम्ने त्रिपथान्तरे ।

श्लोक ३१ में सभी मन्त्र पद्धतियों का निर्देश है। आचार्य जयरथ ने उसे तीन भागों में होने का उल्लेख किया है।

१. देवी त्रय मन्त्र—परा, परापरा और अपरामन्त्र ही देवीत्रय मन्त्र हैं—

२. भैरवचतुष्टय मन्त्र—रतिशेखर, भैरवसद्भाव, नवात्मभैरव आदि और ३. अघोराष्टक—१. अघोर, २. परमघोर, ३. घोररूप, ४. घोरमुख, ५. भीम, ६. भीषण, ७. वमन और ८. पिबन। इन्हें विज्ञान केवल भी कहते हैं। इनके पृथक् मन्त्र हैं। उनका आकलन कर उनका जप भी आवश्यक है॥ ३१-३२॥

मन्त्रों का जप करते समय उनमें तन्मयता की स्थिति का आना आवश्यक है। इसके लिये कौन सी युक्ति अपनायी जाय, इसी की चर्चा कर रहे हैं—

चक्रसाधना में तत्परता पूर्वक संलग्न रह कर जिस साधक ने मेरुदण्ड के आधार पर मूलाधार से लेकर ब्रह्मरन्ध्र से होते हुए सहस्रार तक की अन्तर्यात्रा की है, उनके लिये यह युक्ति सरल है। इसको जानकर ही तान्त्रिक योग की प्रक्रिया अपनायी जा सकती है। यह हठयोग की प्राणायाम-साधना से भिन्न है।

यहाँ सबसे पहले दो शब्दों पर विचार करना आवश्यक है। १. हृत् और २. द्वादशान्त। १. हृत् शब्द heert अर्थ में प्रचलित हृदय वाचक नहीं है। इसे शक्तिसूत्र, स्पन्द और सार अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। इसे हम 'केन्द्र' शब्द से अभिहित कर सकते हैं। प्रत्येक पुरुष के या जीव के शरीर के तीन केन्द्र होते हैं। इन्हीं तीनों केन्द्रों से जीवन संचालित होता है।

पहला केन्द्र नाभिकेन्द्र है। इसे 'मातृकेन्द्र' भी कहते हैं। इसका तीसरा नाम 'पौर्णमास केन्द्र' भी है। प्राणापानवाह का यह मुख्य केन्द्र है।

तत्र हृच्चक्रमापूर्य जपेन्मन्त्रं ज्वलत्प्रभम् ॥ ३४ ॥
चक्षुर्लोमादिरन्ध्रौघवहज्ज्वालौर्वसंनिभम् ।

दूसरा केन्द्र चितिकेन्द्र है। यह मानव शरीर के साथ आजीवन आसूत्रित रहने पर भी शरीर से अलग रहता है। श्वास इसी में समाहित होता है और उसी से निकलता भी है। इसे 'अमा केन्द्र' और आमावस्य केन्द्र भी कहते हैं। यह केन्द्र 'बिन्दु' रूप ब्रह्म का ही प्रतीक है।

तीसरा केन्द्र उन्मना का परा शूलाब्ज केन्द्र है। यही तीनों 'हृद्' हैं। जीवन के मूल स्पन्द-विन्दु हैं।

२. द्वादशान्त—इसी तरह द्वादशान्त भी पारिभाषिक शब्द है। ये भी तीन होते हैं। १. अधः द्वादशान्त, २. नासिक्य द्वादशान्त और ३. ऊर्ध्व द्वादशान्त।

मूलतः शरीर ८४ अंगुल का होता है। नासिक्य द्वादशान्त का १२ अंगुल मिला देने पर यह ९६ अंगुल का परिवेश पा लेता है और ऊर्ध्व द्वादशान्त का १२ अंगुल मिला देने पर शरीर का परिवेश १०८ अंगुल का हो जाता है।

अब मूल श्लोक के मुख्यार्थ पर विचार करना है। श्लोक कह रहा है कि, हृच्चक्र से उठकर हृच्चक्र को आपूरित कर ज्वलत्प्रभ मन्त्र का जप करें। पहला हृच्चक्र नाभि है। साधना मूलाधार चक्र से शुरू होती है। इसे अश्विनी मुद्रा के प्रयोग से जागृत करने की प्रक्रिया साधक या योगी लोग अपनाते हैं। इसे कुण्डलिनी जागरण प्रक्रिया का आदिम उपाय कहते हैं। सुषुप्तसर्प सदृशा कुण्डलिनी मेरुदण्ड में अवस्थित सौषुम्न मार्ग से ही ऊपर की ओर सरकती है। उसकी विशेषता है कि, वह १. मूलाधार केन्द्र से उठती है। २. अत्यन्त सूक्ष्म होती है। ३. सोमतत्त्व समन्वित होने से शशि के समान अमृत से परिपूर्ण और श्वैत्य में स्फटिक के समान पारदर्शितामयी चमक वाली होती है। रेखा या चक्रकला की रेखा की तरह ललाम होती है। ४. वह नाद ब्रह्ममयी के रूप में मान्य है। ५. अत्यन्त प्रशान्त चेतना की तरह शोभित होती है। ६. अश्विनी मुद्रा से मूलाधार से उठती है। स्वाधि-

सौषुम्नेत्यनेन पिङ्गलापि लक्ष्यते । तत्रेति प्राणशक्तौ द्वादशान्ते निरूढायां सत्यां, हृच्चक्रमिति गमागमाभ्यां तेन हृच्चक्रादारभ्य हृच्चक्रं यावच्चेति ज्ञेयम् । चक्षुरादिरन्ध्रौघेभ्यो वहज्ज्वालत्वादेव वडवाग्नितुल्यमत्यन्तदीप्तमित्यर्थः अत एवोक्तं ज्वलत्प्रभमिति ।

गमागमावेव मन्त्रस्य दर्शयति

यावच्छान्तशिखाकोणं विश्वाज्यप्रविलापकम् ॥ ३५ ॥

ष्ठान तक अत्यन्त सूक्ष्म होती है । हृच्चक्र (नाभिकेन्द्र-मणिपुर) से प्रतीत होने लगती है । फिर अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा, विन्दु, अर्धचन्द्र, निरोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी होते हुये सहस्रार में समाहित होती है । अत एव इसे 'चक्रपंक्तिगा' चक्र पंक्तियों में गमन करने वाली मानते हैं । ७. सौषुम्न 'त्रिपथान्तर' अर्थात् इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना के तीन पथों के मध्य से होती हुई ऊर्ध्व द्वादशान्त रूप हृच्चक के परा केन्द्र में निरूढ हो जाती है ।

यहाँ थोड़ा कुम्भकवत् रुक कर शैवमहाभाव का आनन्द लेते हैं । यहाँ उन्मना-तक की १०८ अंगुल वाले शरीर के ऊर्ध्वद्वादशान्त केन्द्र की यात्रा पूरी होती है । इस तरह पूरा हृच्चक्र पूर्ण हो जाता है । साधना से अपने वश में करने के बाद इसी अवस्थिति में अग्नि के सदृश प्रकाशमानमन्त्र का जप करना श्रेयस्कर होता है ।

उस समय साधक की आँखरूपी करणेश्वरी देवी उद्दीप्त हो उठती है । रोम के रन्ध्रों से मानों तेज और ओज की अर्चियाँ फूट पड़ती हैं । मानो सारा शरीर ज्वाला का ज्वलन्त और ज्योतिष्मन्त प्रतीक बन गया हो । इसे जयरथ ने बडवाग्नि तुल्य दीप्त कहा है । इस अवस्था में ही ज्वलत्प्रभ मन्त्र जपा जा सकता है ॥ ३३-३४ ॥

सौभाग्यशाली होता है, ऐसा अभिषिक्त आचार्य ! साधना की उपर्युक्त युक्तियाँ तन्त्राम्नाय सिद्ध साधकों को उत्कर्ष के चरम-परम बिन्दु का साक्षात्कार करा देने में समर्थ होती हैं । साधना की इस पद्धति का आधार प्राणापानवाह का गमागम व्यापार है । मन्त्रसिद्धि इसी पर निर्भर करती है । वही कह रहे हैं—

तदाज्यधारासंतृप्तमानाभिकुहरान्तरम् ।
एवं मन्त्रा मोक्षदाः स्युर्दीप्ता बुद्धाः सुनिर्मलाः ॥ ३६ ॥

शान्ते द्वादशान्ते सर्ववृत्तिसंक्षयात् अत एवोक्तं विश्वाज्यप्रविलापकमिति। नाभीत्यनेन सामीप्यात् हृच्चक्रं लक्ष्यते । एवमिति प्राणशक्तितया उच्चारात् ॥ ३६ ॥

अनुभूतियाँ शब्दो के माध्यम से उतनी सम्पूर्णता से नहीं उतर पातीं, जितनी आनन्दमयी वे होती हैं। साधक ऊर्ध्वद्वादशान्त में प्राण सूर्य की ज्वालाओं में अपानचन्द्र के सोम रस रूप आज्य की आहुति दे रहा है। (शान्त) द्वादशान्त के प्राणयाग की अग्निशिखामयी रश्मियाँ वहाँ आकीर्ण हैं अर्थात् व्याप्त हैं। उनमें अग्निसोमात्मक विश्वरूप आज्य प्रविलीन हो रहा है। आज्य की धारा पूर्णाहुति में पूरी तरह विलीन होती है और प्राण-सूर्य-सर्वस्व स्वात्मसंविद् वपुष् परमेश्वर को तृप्त कर देती है। ऊर्ध्वद्वादशान्त से नाभिरूप पौर्णमास केन्द्र पर्यन्त यह आत्मयाग प्रतिक्षण सम्पन्न होता रहता है। इसी में प्राणापान का गमागम चलता है। इस गमागम में तादात्म्य भाव से मन्त्रों का आन्तर विमर्श एक विलक्षण दिव्यता को जन्म देता है। मन्त्र भी दिव्य हो जाते हैं और ऐसे मन्त्र ही मोक्षप्रद होते हैं। अत्यन्त दीप्तिमन्त, अत्यन्त निर्मल मन्त्र ही जगे हुए मन्त्र कहलाते हैं। गमागम शब्द का यद्यपि यहाँ श्लोक में प्रयोग नहीं है किन्तु 'एवम्' अव्यय शब्द से प्राणोच्चार क्रम का आभास स्वयं हो जाता है।

आचार्य जयरथ ने नाभिशब्द के प्रयोग में जिस सामीप्य की बात लिखी है, वह मेरी दृष्टि से साधना के विपरीत है। हृच्चक्र नाभि के समीप नहीं, स्वयं नाभि ही 'हृत्' है। श्वास प्रश्वास हमेशा नाभि से सम्बन्धित होते हैं। स्वाध्यायशील अध्येता यह स्वयम् देखता है कि, बच्चों के सोते समय श्वास प्रश्वास में उनकी पेट और नाभि के अंग ही उठते हैं। नाभि तक पूरी श्वास होती है। जो लोग अनाहत से श्वास लौटा देते हैं, वे अधूरी साँस लेते हैं और अल्पायु होते हैं। इस विरोध के लिये आचार्य जयरथ के स्वात्मसंविद् से मैं विनम्र क्षमा याचना करता हूँ ॥ ३५-३६ ॥

एवं मन्त्रस्य प्राणशक्तेश्च ऐक्ये सिद्धे कुत्र नाम चक्राधारादौ जप्यमानोऽस्य मन्त्रः स्ववीर्याक्रमणात्मकं महत्त्वं यायादित्याह

मूलकन्दनभोनाभिहृत्कण्ठालिकतालुगम् ।
अर्धेन्दुरोधिकानादतदन्तव्यापिशक्तिगम् ॥ ३७ ॥

इस प्रकार मन्त्र शक्ति और प्राणशक्ति का ऐक्य स्थापित हो जाता है। प्रश्नकर्त्ता पूछता है कि, चक्रों के आधार पर जायमान उस आचार्य के मन्त्र प्राणैक्य के कारण अपनी वीर्यवत्ता से सबको आक्रान्त करने की शक्ति को और अपने महत्त्व को कैसे पा सकते हैं ? इसी तथ्य को ध्यान में रखकर शास्त्रकार साधनात्मक चक्र यात्रा का निर्देश कर रहे हैं—

मूलकन्द(मूलाधार, कन्द, नभ (लिङ्ग-स्वाधिष्ठान) नाभि (मणिपूर), हृद् (अनाहत), कण्ठ (विशुद्ध), अलिक (ललाट) आज्ञा, तालु, (ओङ्कार के) बिन्दु और अर्धचन्द्र, रोधिका (रेखिनी या रोधिनी) नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, समना और उन्मना रूप एवं शुद्धात्म परचक्र, इनका आश्रय श्वास यात्रा में लेना पड़ता है। ये सभी क्रमिक पड़ाव हैं। कुछ योगीश्वर उन्मना के बाद महाविन्दु अन्तिम परमशिवात्मक विन्दु को भी स्वीकार करते हैं[१]। कन्द (शब्द) का स्थान गुदा और लिङ्ग के बीच का गद्दीदार वह भाग है, जो मूलाधार और स्वाधिष्ठान के मध्य में है। इसे मूलकन्द कह कर एक अङ्ग भी माना जाता है। कन्द शब्द का प्रयोग नाभि के साथ भी होता है। नाभि के बाह्य अंग से मेरुदण्ड में अवस्थित मणिपूर विन्दु को यह कन्द जोड़ता है।

योगमार्ग में दक्ष योगीश्वर साधक एक एक कर इन विन्दुओं पर समन्त्रक श्वास में भी जप करता हुआ चलता है। इन्हीं विन्दुओं पर प्राणापानवाह क्रम के साथ जप करते हुए मन्त्रसाधना का आनन्द उपलब्ध कर लेता है। समस्त व्यस्त दोनों पद्धतियों के अनुसार जिन जिन चक्रों में अवस्थित होकर जप किया जाता है, वहीं वहीं मन्त्र की क्षमता का संवर्द्धन होता जाता है। यह तथ्य देवी यामल शास्त्र में लिखा है।

१. श्री० त० २३।६८ (उन्मन्यन्ते परः शिवः)

समनोन्मनशुद्धात्मपरचक्रसमाश्रितम् ।
यत्र यत्र जपेच्चक्रे समस्तव्यस्तभेदनात् ॥ ३८ ॥
तत्र तत्र महामन्त्र इति देव्याख्ययामले ।

तदन्तो नादान्तः। परचक्रम्

'............ ....**उन्मन्यन्ते परः शिवः।'** इति निरूपितम्।

क्रमस्य च अत्र अविवक्षणात् क्वचिदक्रमेणापि अभिधानम्। जपेदित्यर्थात् मन्त्रं, यस्य तत्तच्चक्राधाराधिगतत्वं विशेषणतया उपात्तम्। समस्तव्यस्त-भेदनादिति समस्तत्वं च अवलम्ब्येत्यर्थः॥ ३७-३८॥

[देवी[1]यामल, देव्या[2]ख्य यामल, श्री देव्या[3]यामल इन तीनों प्रयोगों में प्रथम प्रयोग सर्वाधिक स्पष्ट है। दूसरा प्रयोग भी देवी + आख्य= देव्याख्य शब्द निष्पन्न हो सकता है। तीसरे प्रयोग से देव्याः यामल या देवी+आ (टा) देव्या यामल शब्दों द्वारा नये देव्याः यामल का अर्थ ही निकलता है। सम्बन्धित पुस्तकों में देवो यामल और देव्यायामल दोनों नाम पृथक् ग्रन्थ रूप में मान्य हैं]।

यहाँ जो क्रम अपनाया गया है, यह एक तरह से सर्वमान्य क्रम है। कहीं-कहीं शास्त्रों में व्यतिक्रम भी दीख पड़ता है। अक्रम जप भी सम्भव है। यह साधना के स्तर की बात है। जिस साधक को साधना में जितनी शक्ति आ चुकी है, उसी के अनुसार उन विन्दुओं पर मन्त्रों के साथ बिताया जा सकता है। कुछ साधक तुटियों और तिथियों के विन्दुओं पर ही मन्त्र जप करते हैं। ७२ अंगुल के प्राणापानवाह में नाभि से नासिक्य द्वादशान्त तक के ३६ अंगुल में २½ अंगुल को दूरी लेकर १५ तिथियां एक साँस में और उसी निःश्वास में १५ तिथियाँ अर्थात् १ साँस के आने जाने ('सा' से भीतर आने और 'हं' से बाहर निकलने) में १ मास का समय लगता है। इनमें भी मन्त्र जप होते हैं और वही दिव्यता प्राप्त होती रहती है। इससे साधक धन्य हो उठता है॥३७-३८॥

---

१. श्रीत० ३।७० प्रथम भाग　　२. श्रीत० ८।२१२ पृ० १५६ तृतीयभाग
३. श्रीत० २३।१४ षष्ठभाग　　२३।३९ षष्ठ भाग

प्रकृतमेवोपसंहरति

विद्याव्रतमिदं प्रोक्तं मन्त्रवीर्यप्रसिद्धये ॥ ३९ ॥
तच्च तादात्म्यमेवेति यदुक्तं स्पन्दशासने ।
तदाक्रम्य बलं मन्त्राः सर्वज्ञबलशालिनः ॥ ४० ॥
प्रवर्तन्तेऽधिकाराय करणानीव देहिनाम् ।

तदिति व्रतम् । तादात्म्यमेवेति मन्त्रेण ॥

एवं च कृतविद्याव्रतस्यैव अस्य सप्तसत्र्यामधिकार इत्याह

सन्दर्भ विद्याव्रत का चल रहा था। उसी क्रम में तान्त्रिक साधना का यह रहस्य यहाँ उद्घाटित करना आवश्यक था। अब पुनः प्रकृत विद्याव्रत का वर्णन कर रहे हैं—

मन्त्र में वीर्यवत्ता की सिद्धि न हो, तो जप व्यर्थ सा लगने लगता है। इसी सिद्धि के उद्देश्य से विद्याव्रत नाम का एक आवश्यक व्रत यहाँ बतलाया गया है। स्पन्दशास्त्र में कहा गया है कि, इस व्रत के आचरण से तादात्म्य की भावदशा को उपलब्ध हो जाता है। इस व्रत को पूरा आक्रान्त कर उत्तम (यौगिक) बल का उल्लास जिसने कर लिया है, उसके मन्त्र इतने शक्तिमन्त हो जाते हैं कि, वह साधक सर्व वेत्तृत्व से सम्पन्न हो जाता है। उसके मन्त्रों में इतनी शक्ति और बलवत्ता भर उठती है कि, वह अपने मन्त्रों के बल से वह सब कुछ कर सकता है, जो चाहता है। जैसे प्राणियों के करण अर्थात् इन्द्रियाँ प्राणिमात्र को उसके अधिकार क्षेत्र में प्रवृत्त करने में तत्पर रहती हैं, उसी प्रकार साधक के मन्त्र भी क्रिया को सफल बनाने के लिये स्वतः प्रवृत्त होते रहते हैं। अर्थात् सिद्ध मन्त्र ही साधक के मार्गदर्शक बन कर उसके व्यवहार वाद को विशिष्ट रूप प्रदान कर देते हैं ॥ ३९-४० ॥

ऐसे चीर्ण-विद्याव्रत साधक ही सप्तसत्री के अधिकारी होते हैं। यही कह रहे हैं—

कृतविद्याव्रतः पश्चाद्दीक्षाव्याख्यादि सर्वतः ॥ ४१ ॥
कुर्याद्योग्येषु शिष्येषु नायोग्येषु कदाचन ।

योग्यायोग्यपरीक्षायां च अस्य उदाहरणदिशा युक्ति दर्शयति

रहस्ये योजयेद्विप्रं परीक्ष्य विपरीततः ॥ ४२ ॥
आचाराच्छक्तिमप्येवं नान्यथेत्यूमिशासने ।

विपरीतत आचारादिति श्रुतिस्मृतिविरुद्धात् मद्यपानादेः । एवमिति विपरीतादेव आचारात् लोकविरुद्धात् निधुवनादेः, इतरथा हि लोभलौल्यादिना प्रवर्तयेतामित्युक्तं नान्यथेति ॥

जो साधक विधि-विधान के अनुसार विद्याव्रत का पालन कर लेता है, वह स्वयं दीक्षा सत्र का सञ्चालन कर सकता है। मन्त्रों, शास्त्रीय कूट वचनों, रहस्यों और बीजादि की व्याख्या कर सकता है। उसे यह ध्यान रखना ही चाहिये कि, वह जिसे दीक्षा दे रहा है, वह उसके योग्य है। वह जिसके सामने बीजों और रहस्यों की व्याख्या कर रहा है, वह उसको समझने की क्षमता रखता है और उसके दुरुपयोग से बच सकता है। अयोग्य शिष्यों को कभी भी मन्त्र दीक्षा न दे। मालिनी विजयोत्तर तन्त्र के अनुसार सांसिद्धिक ही उत्तम अधिकारी होता है[1]।

प्रश्न उठ खड़ा होता है कि, शिष्यों की योग्यता और अयोग्यता की परीक्षा का मानदण्ड निर्धारित होना चाहिये। इस पर उदाहरण की दिशा के अनुसार युक्ति का प्रदर्शन कर रहे हैं—

यदि शिष्य विप्र है अर्थात् वैदिक संस्कृति की मान्यताओं के अनुसार शुद्धि और अशुद्धि, स्पृश्य और अस्पृस्य की भेदमयी मान्यताओं से प्रभावित है, उस समय उसकी श्रुति-स्मृति विरुद्ध और विपरीत आचरणों से परीक्षा लेनी चाहिये। जैसे कहा जाये कि, वत्स! यह शैव महाप्रसाद है, इसका पान कर पहले पवित्र हो जाओ। अथवा रति क्रिया के लिये किसी स्त्री के साथ सहवास के लिये प्रेरित किया जा सकता है। यह सब विपरीत और लोक-विरुद्ध

---

१. मा०वि० ४।४३

एवं परानुग्रहव्यग्रतया नित्याद्यपि अयं संक्षेपेण कुर्यादित्याह

नित्याद्यल्पाल्पकं कुर्याद्यदुक्तं ब्रह्मयामले ॥ ४३ ॥
चीर्णविद्याव्रतः सर्वं मनसा वा स्मरेत्प्रिये ।

आचार माने जाते हैं। यदि वह गुरु के आदेशानुसार ऐसा करता है, तो वह परीक्षा में सफल सिद्ध होता है, तो इससे उसकी मन्त्र प्राप्ति या सप्तसत्री की दृढ़ इच्छा शक्ति का परिचय मिलता है। तब उसे दीक्षा दी जा सकती है— यह ऊर्मिशास्त्र का निर्देश है। ऊर्मिशासन का यह मत कड़ी परीक्षा लेने का पक्षधर है। इससे यह अर्थ भी निकाला जा सकता है कि, जो शिष्य इस परीक्षा के बदले गुरु को अर्थ आदि का लोभ देकर विना परीक्षोत्तर्ण किये द्रव्यलौल्य से दीक्षा दे देता है, वह गुरु भी और वह शिष्य भी दोनों ही अयोग्य हैं ॥ ४१-४२ ॥

इस प्रकार अभिषेक विधि पूर्ण कर, विद्याव्रत का पालन कर और विपरीत परीक्षा में उत्तोर्ण होकर जो शिष्य अधिकार प्राप्त कर लेता है, उसके मन में एक व्यग्रता जन्म ले लेतो है कि, दूसरों के कल्याण में अपनी सारी जिन्दगी लगा दूँ। यह परानुग्रहव्यग्रता कहलाती है। इस अवस्था में भो उसे नित्यादि का संक्षेप से हो सही जप करते रहना चाहिये। यहो कह रहे हैं—

नित्यायें १५ मानी जाती है। ये प्रतिपद से सृष्टि क्रम में शुक्ल पक्ष में स्वरों के अनुसार निर्धारित हैं। उनका क्रम इस प्रकार है—

शुक्ल पक्ष —अं—कामेश्वरी, आं—भगमालिनी
इं—नित्यक्लिन्ना, ईं—भेरुण्डा
उ—वह्निवासिनी, ऊं—महावज्रेश्वरी
ऋं—शिवदूती, ॠं—त्वरिता
ऌं—कुलसुन्दरी, ॡं—नृत्या
एं—नीलपताका, ऐं—विजया
ओं—सर्वमङ्गला, औं—ज्वालामालिनी
अं—चित्रा

कृष्ण पक्ष—संहारक्रम में अं 'चित्रा', औं ज्वालामालिनी ओं—

अनु अयं परोक्षणपरोऽपि प्रमादात् कस्मिंश्चिदयोग्यतामजानान एव दीक्षां कुर्वाणः किं दुष्यति नवेत्याशङ्क्याह

देहसंबन्धसंछन्नसार्वज्ञ्यो दम्भभाजनम् ॥ ४४ ॥

अविदन्दीक्षमाणोऽपि न दुष्येद्देशिकः क्वचित् ।

ज्ञात्वा त्वयोग्यता नैनं दीक्षेत प्रत्यवायिताम् ॥ ४५ ॥

बुद्ध्वा……

अवेदने देहसंबन्धसंछन्नसार्वज्ञ्यं हेतुः । दीक्षेतेति लोभादिना ॥ ४५ ॥

सर्वमङ्गला के क्रम से कामेश्वरी तक नित्यायें आदि अं वर्गबीज में समाहित हो जाती हैं। भगवान् शंकर कह रहे हैं कि, प्रिये ! इनका नित्य स्मरण, कवच व संक्षिप्त अर्चन अभिषिक्त आचार्य के लिये भी आवश्यक है। इसी आवश्यकता को ध्यान में रखकर शास्त्रकार स्पष्ट निर्देश दे रहे हैं कि, नित्यादि कर्म अल्पाल्पक रूप से ही सही, नियमित रूप से सम्पन्न करना चाहिये। यह निर्देश ब्रह्मयामल नामक ग्रन्थ में दिया गया है। अथवा विद्याव्रत में निष्णात पुरुष मनसे ही उनका स्मरण करे ॥ ४३ ॥

कभी कभी परीक्षा के क्रम में भी व्यतिरेक पूर्ण स्थिति उत्पन्न हो जाती है। किसी में अयोग्यता रहती है किन्तु उसका पता नहीं चल पाता। प्रमादवश भी ऐसा हो जाता है कि, शिष्य की अयोग्यता की जानकारी नहीं हो पाती। प्रश्नकर्त्ता पूछता है कि, यदि इस स्थिति में ही गुरु दीक्षा दे दे, तो इससे दीक्षा देने वाला दोष का भागी होता है या नहीं ? इस आशङ्का को ध्यान में रखकर शास्त्रकार कह रहे हैं कि,

इस प्रकार का प्रमाद हो जाना स्वाभाविक है। शरीर संकोच का ही परिणाम है। इस संकोच के साहचर्य का यह परिणाम होता है कि, कभी कभी उसकी सर्वज्ञता भी छिप जाती है। यह देह के सम्बन्ध से ही होता है। सारी जानकारी धरी रह जाती है और प्रमाद घटित हो जाता है। शास्त्रकार कहते हैं कि, उस दांभिक शिष्य ने भी तो अपनी अयोग्यता का प्रकाशन सच्चाई के साथ नहीं किया। ऐसी स्थिति में देशिक को कोई दोष नहीं लगता।

एवमपि दीक्षितस्य ज्ञानदानादौ पौनःपुन्येन परीक्षां कुर्यादित्याह

......ज्ञाने शास्त्रसिद्धिगुरुत्वादौ च तं पुनः ।

भूय एव परीक्षेत तत्तदौचित्यशालिनम् ॥ ४६ ॥

तत्र तत्र नियुञ्जीत नतु जातु विपर्ययात् ।

परीक्षेत इत्यत्र च्छेदः। तत्र तत्रेति ज्ञानशास्त्रादौ। विपर्ययादिति तत्तदौचित्यशालित्वविलक्षणात् ॥ ४६ ॥

अयोग्यता की जानकारी होने पर कभी भी दीक्षा नहीं देनी चाहिये। भले ही शिष्य की ओर से विशेष दक्षिणा आदि का लोभ दिया जाय। दैशिक को इस विषय की सावधानी बरतनी चाहिये कि, ऐसा करने से प्रत्यवाय होते हैं ॥ ४४-४५ ॥

वस्तुतः जीवन का बहुमूल्य पदार्थ देने के लिये सर्वोत्तम पात्र की आवश्यकता होती ही है। अतः ज्ञान जैसी मोक्षप्रद सम्पत्ति देने के लिये बार बार परीक्षा लेना आवश्यक है। भले ही वह दीक्षा ले चुका हो। यही कह रहे हैं—

मोक्षप्रद रहस्यमय स्वात्मबोध कराना हो, शास्त्र के महनीय वचनों का उद्घाटन कर उनकी सिद्धि की ओर अग्रसर करना हो और उसको गुरु होने का गुरुतर उत्तरदायित्व सौंपना हो, प्रत्येक अवस्था में भूयः भूयः परीक्षा की आग में तपाकर खरा सोना बनाना अत्यन्त आवश्यक है। दैशिक शिरोमणि गुरुदेव जिन जिन विषयों को उचित समझते हैं, उनमें नैपुण्य प्रदान कर उनमें दीक्षित शिष्य को नियोजित भी कर सकते हैं। उसे विज्ञानवेत्ता बनाना है, शास्त्र सिद्ध करना है या अपना अधिकार देना है, इस बात का औचित्य दैशिक ही जान सकते हैं। इसमें अर्थात् औचित्यज्ञान की इस प्रक्रिया में किसी प्रकार का विपर्यय नहीं होना चाहिये। यह नहीं कि, ज्ञानी बनने की इच्छा वाले को शास्त्रसिद्ध विद्वान् आदि का विपरीत निर्णय हो जाय, इसके लिये सावधान रहने की महती आवश्यकता होती है ॥ ४६ ॥

ननु एवं जिज्ञासान्यथानुपपत्त्या नूनमस्य पारमेश्वरमधिष्ठानमस्ति, तदेव च योग्यत्वमुच्यते इति किमन्येन योग्यत्वायोग्यत्वपरीक्षणेनेत्याशङ्कते

ननु तद्वस्त्वयोग्यस्य तत्रेच्छा जायते कुतः ॥ ४७ ॥
तदीशाधिष्ठितेच्छैव योग्यतामस्य सूचयेत् ।

तत्रेति ज्ञानादौ ॥ ४७ ॥

एतदेवाभ्युपगम्य प्रतिविधत्ते

सत्यं कापि प्रबुद्धासाविच्छा रूढिं न गच्छति ॥ ४८ ॥
विद्युद्वत्पापशीलस्य यथा पापापवर्जने ।

किसी व्यक्ति में लौकिक अलौकिक किसी प्रकार की जानकारी की इच्छा, विना ईश्वरेच्छा के नहीं हो सकती। इसे शास्त्र में अन्यथानुपपत्ति कहते हैं। इससे हम यह निश्चय करते हैं कि, अवश्य ही यहाँ परमेश्वर अधिष्ठित है। यह वैयक्तिक समोहा पारमेश्वरी इच्छा शक्ति का ही उल्लास है। हम इसे ही योग्यता कह सकते हैं। जहाँ पारमेश्वर अधिष्ठान हो, इससे बढ़कर कोई अन्य योग्यता हो ही क्या सकती है। प्रश्न उपस्थित होता है कि, इस योग्यता के रहते अन्य योग्यायोग्यत्व परीक्षा की क्या आवश्यकता ? शास्त्रकार भी कुछ इसी तरह की बात कह रहे हैं—

यह सोचने की बात है कि, जो उस ज्ञातव्य के अयोग्य होगा, उसमें उसकी जानकारी की इच्छा उत्पन्न ही कहाँ से हो सकती है ? यह स्वभावतः उत्पन्न उस व्यक्ति की ज्ञानादि विषयक इच्छा हमें यह सूचित करती है कि, उसमें पारमेश्वर अधिष्ठान है। उसकी इच्छा परमेश्वराधिष्ठित है। यह इच्छा ही इसकी योग्यता है ॥ ४७ ॥

इस अभ्युपगम के आधार पर ही इसका प्रतिविधान कर रहे हैं—

यह तथ्य है और अनुभव की कसौटी पर कसी हुई सत्य बात है कि, ऐसी इच्छा यदि किसी में उत्पन्न होती है, तो वह उसकी एक प्रकार की योग्यता ही है किन्तु यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि, यह इच्छा यदि बिजली

ननु परमेश्वराधिष्ठानात् प्रबुद्धापि एवमिच्छा कथं न प्ररोहं गच्छेदित्याशङ्क्याह

रूढ्यरूढी तदिच्छाया अपि शंभुप्रसादतः ॥ ४९ ॥

अत एव नायं प्रबुद्धायामिह तत्रेच्छायां तदप्ररोहात् ज्ञानादौ पात्रमित्याह

की तरह कौंध कर क्षण में ही विलीन हो गयी और उसमें कोई प्ररोह नहीं उत्पन्न हुआ तो, यह उसकी निश्चित रूप से अयोग्यता ही है।

उदाहरण रूप से हम यह देखते हैं कि, पापाचरण में प्रवृत्त पुरुष के हृदय में भी पाप के अपवर्जन की, पाप के परित्याग की इच्छा बिजलीवत् कौंध कौंध जाती है, किन्तु प्ररोह को प्राप्त नहीं करती। उसके आत्मा की आवाज अन्तर में सुन पड़ती है, पर दुःशीलता से दब जाती है। वह अपनी आदत से बाज नहीं आता एवम् अपने आत्मा की पुकार नहीं सुन पाता ॥ ४८ ॥

इस तथ्य को सुनकर यदि कोई शिष्य यह पूछ बैठता है कि, गुरुदेव! आपने अभी अभी कहा है कि, इच्छा परमेश्वराधिष्ठित होती है। उसी के अधिष्ठान से प्रबुद्ध होकर भी यह इच्छा प्ररोह को क्यों नहीं प्राप्त कर पाती? गुरुदेव कहते हैं कि, वत्स! तुम्हारा यह पूछना स्वाभाविक है। प्ररोह को प्राप्त होना ही चाहिये। किन्तु वत्स! यह तो तुम भूल ही गये हो कि, इच्छा की रूढि या अरूढ़ि ये दोनों सर्वेश्वर शंभु के प्रसाद पर ही निर्भर हैं। यह ध्यान रखना चाहिये कि, 'प्रसाद' का वह व्यक्ति कितना अधिकारी है। यदि ज्ञान की इच्छा प्ररोह को प्राप्त करती है, तो यह निश्चित है कि, वह गुरु की खोज में लग जायेगा। उसमें यियासा (जिगमिषा) उत्पन्न होगी। वत्स! तुम पढ़ चुके हो कि 'ईश्वरेच्छा से ही शिष्य में यियासा उत्पन्न होती है। वह यियासु बनता है। यह प्रसाद का ही उल्लास माना जा सकता है। यदि ऐसा नहीं है, तो इच्छा के उठ जाने मात्र से वह ज्ञान का पात्र नहीं माना जा सकता ॥ ४९ ॥

अप्ररूढतथेच्छाकस्तत एव न भाजनम् ।
यः सम्यग्ज्ञानमादाय गुरुविश्वासवर्जितः ॥ ५० ॥
लोकं विप्लावयेन्नास्मिञ्ज्ञाते विज्ञानमर्पयेत् ।

विप्लावयेदिति विरुद्धाचरणात् । एवमस्मिन्नप्ररूढेच्छाकत्वादयोग्यतया ज्ञाते विज्ञानमेव नार्पयेदित्याह नास्मिन्नित्यादि ॥ ४८-५० ॥

यः पुनरेवंज्ञानार्पणकाले न ज्ञातस्तदुत्तरकालं तु ज्ञातस्तस्य ज्ञानापहरणमेव कुर्यादित्याह

किसी शिष्य में ज्ञान-प्राप्ति की आकांक्षा उल्लसित हुई। उसके अन्तर में चाह जगी कि, मुझे कुछ ऐसा करना चाहिये, जिससे उत्तम गुरु उपलब्ध हों और मैं उनसे कुछ रहस्य की अमूल्य जानकारी पा सकूँ। पर दुर्भाग्य ! उसकी आकांक्षा अङ्कुरित होते ही मुरझा गयी। उसमें प्ररोह नहीं हो सका। ऐसी स्थिति में निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि, वह शिष्य ज्ञान प्राप्ति का पात्र नहीं है। यही कह रहे हैं—

ऐसा शिष्य जिसकी इच्छायें प्ररूढ़ नहीं हो पातीं, उनमें कोई प्ररोह नहीं उत्पन्न हो पाते और अंकुरित होने पर भी उनमें कोपलों के सपने नहीं पल पाते, ऐसी इच्छा वाले ये शिष्य दीक्षा के बाद भी ज्ञानदान के पात्र नहीं होते। पहले ही देशिक की सावधानी इस सम्बन्ध में आवश्यक है। यह अनुभव के आधार पर सच पाया गया है कि, गुरु से सम्यक् ज्ञान तो प्राप्त कर लिया किन्तु गुरुदेव के विश्वास को न प्राप्त कर सका। ऐसा शिष्य अभागा ही माना जा सकता है। वह समाज में विषुव ही उत्पन्न करता है। वह समाज में अपनी गलत छाप छोड़ता है। परम्परागत आम्नायसिद्ध नियमों का उल्लंघन करके वह गुरु परम्परा की जड़ में मट्ठा डालने का काम करता है। इसलिये इसकी जानकारी होने पर उसे रहस्य दीक्षा नहीं दी जानी चाहिये। उसमें यदि विज्ञान का अर्पण किया गया, तो वह उसका दुरुपयोग ही करेगा ॥ ५० ॥

अज्ञातेऽपि पुनर्ज्ञाते विज्ञानहरणं चरेत् ॥ ५१ ॥

एतदेव मतेर्हरणमाह

पुनः पुनर्यदा ज्ञातो विश्वासपरिर्वाजतः ।
तदा तमग्रतो ध्यायेत्स्फुरन्तं चन्द्रसूर्यवत् ॥ ५२ ॥
ततो निजहृदम्भोजबोधाम्बरतलोदिताम् ।
स्वर्भानुमलिनां ध्यायेद्वामां शक्ति विमोहनीम् ॥ ५३ ॥

इस विज्ञान के दुरुपयोग से रोकने के लिये क्या करना चाहिये ? ज्ञान देते समय तो यह ज्ञात ही न हो सका। बाद में जब पता चला, तब तक बात बिगड़ने की नौबत आ गयी ! ऐसी दशा में ज्ञानापहरण कर लेना ही एक मात्र उपाय है। यही कह रहे हैं—

शास्त्रकार स्पष्ट घोषणा करते हैं और विधि का निर्देश भी कर रहे हैं कि, अज्ञान रहने के बाद पुनः ज्ञान हो जाने पर एक मात्र यही उपाय रह जाता है कि, उसके विज्ञान का अपहरण कर लिया जाय ! विद्यापहरण की यह विधि तन्त्र की अपनी विशेष विधि है। इसका उपयोग ज्ञान और शास्त्र के दुरुपयोग को रोकने के लिये ही किया जाता है। बार बार परीक्षा लेने पर जब यह ज्ञात हो गया होता है कि, यह शिष्य विश्वासघात करना चाहता है, या कर ही रहा होता है, उस समय दैशिक शिरोमणि यह प्रयोग करे।

सबसे पहले उस शिष्य का ध्यान करे। चूंकि उसे ज्ञान दे दिया गया है। इसलिये ज्ञान के प्रकाश से स्फूर्त्त और प्रकाशमान सूरज और चाँद के समान ही उसे ध्यान में लाना चाहिये। इसके बाद गुरुदेव अपने हृदय रूपी खिले कमल कोश के ज्ञान से जगमग गगनान्तराल फलक से उदित होने वाली, विश्व को विमुग्धकर मोह-जाल में डाल देने वाली और राहु के समान मलिनकान्ति वाली वामा शक्ति का ध्यान करे। राहु सूर्य ग्रहण का मुख्य कारण है। इसे विधुंतुद भी कहते हैं। शिष्य को सूरज और चाँद के समान ही ध्यान में लाया गया है। इसे ग्रस्त करने के लिये मलिन अर्थात् क्रुद्ध सैंहिकेय ही समर्थ होता है।

वामाचारक्रमेणैनां निःसृतां साध्यगामिनीम् ।
चिन्तयित्वा तया ग्रस्तप्रकाशं तं विचिन्तयेत् ॥ ५४ ॥
अनेन क्रमयोगेन मूढबुद्धेर्दुरात्मनः ।
विज्ञानमन्त्रविद्याद्याः प्रकुर्वन्त्यपकारिताम् ॥ ५५ ॥

पुनः पुनरिति अत्रापि यथा अन्यथाभावो न भवेदिति भावः। वामाचार इति संहारक्रमेणेत्यर्थः। तदुक्तं

उसी स्वर्भानु के सदृश विश्वविमोहिनी वामाशक्ति का अन्तर आकाश तल में उदय होता हुआ राहु रूप गुरुदेव द्वारा ध्यान में प्रत्यक्ष कर लिया गया। अभिचार प्रक्रिया में वामाचारक्रम (संहारक्रम) ही अपनाया जाता है। इस क्रम से हृदय कमल से निकलने वाली वह डरावनी मूरत साध्य शिष्य को ग्रास बनाने के लिये मचलती हुई चल पड़ी है। गुरुदेव के विश्वासघात से व्यथित अन्तर से ही वह प्रेरित है। साध्य को उसने ग्रस ही तो लिया। दैशिक इस विलक्षण ग्रहण को ध्यान की आँखों से देख रहे हैं। साध्य का प्रकाश अब क्रमशः क्षीण हो रहा है। यह क्या ? यह तो खग्रास सूर्यग्रहण सम्पन्न हो गया। गुरुदेव ने अपने दिये मन्त्रज्ञान का हरण कर लिया। अब तो यह सूरज उगने के बाद भी प्रकाश नहीं कर सकेगा। इस अभिचार रूप उपराग द्वारा उसका प्रकाश सदा-सदा के लिये प्रत्यावर्त्तित कर लिया गया है।

यह उस विश्वासघाती शिष्य के दुर्भाग्य का उदय माना जाता है। जिसे ज्ञान का प्रकाश देकर कृतार्थ किया गया था, उसने अपनी कृतघ्नता से अपना ही सर्वनाश करा लिया। करुण और वत्सल दैशिक नहीं, वह शिष्य स्वयं स्वात्मविनाश का उत्तरदायी है। उस दुरात्मा और अब मूढ-बुद्धि का विज्ञान विगलित हो गया। उसके मन्त्र असिद्ध हो गये और उसकी विद्या ने उससे विदा ले ली। यह विज्ञानहरण क्रम है। विवश होकर ही वत्सल दैशिक इस क्रम को अपनाते हैं। इस विषय का आगम प्रामाण्य से प्रतिपादन कर रहे हैं—

'न्यायेन ज्ञानमादाय पश्चान्न प्रतिपद्यते ।
तदा तस्य प्रकुर्वीत विज्ञानापहृतिं बुधः ॥
ततस्तं दीप्तमालोक्य तदङ्गुष्ठाग्रतः क्रमात् ।
नयेत्तेजः समाहृत्य द्वादशान्तमनन्यधीः ॥
अथवा सूर्यबिम्बाभं ध्यात्वा विच्छेद्यमग्रतः ।
स्वर्भानुरूपया शक्त्या ग्रस्तं तमनुचिन्तयेत् ॥
अनेन विधिना तस्य मूढबुद्धेर्दुरात्मनः ।
विज्ञानमन्त्रविद्याद्या न कुर्वन्त्युपकारिताम् ॥
अपराधसहस्त्रैस्तु महाकोपसमन्वितः ।
विधिमेनं प्रकुर्वीत क्रीडार्थं नतु जातुचित् ॥'
(मा० वि० १८।६६) इति ॥ ५५ ॥

"न्याय पूर्वक विधि विज्ञान सहित ज्ञान प्राप्त करने के बाद, जो उसके प्रति प्रतिपन्न नहीं होता, उसका आदर नहीं करता और तदनुरूप आचरण से अपने जीवन का निर्माण नहीं करता ; दैशिक (गुरु) का यह कर्त्तव्य है कि, अपने द्वारा अर्पित ज्ञान का अपहरण कर ले। अपहरण की विधि का निर्देश करते हुए भगवान् कहते हैं कि, प्रिये ! सर्वप्रथम अपने दिये ज्ञान से उसको प्रकाशमान देखकर उसके अंगुष्ठ के अग्रभाग से उसके तेज को ऊपर की ओर ले जाते हुए द्वादशान्त तक पहुँचा कर अनन्यचेता गुरु उस प्रकाश को आत्मसात् कर ले। इस सरल विधि से भी ज्ञानापहरण हो जाता है ।

एक दूसरी विधि का भी निर्देश कर रहे हैं। इसके अनुसार कृतघ्न शिष्य को सूर्यबिम्ब की आभा से भासमान प्रकल्पित करे। यह सोचे कि, इसका ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशमान यह रूप विपरीताचरण के कारण हरण कर लेने योग्य है। यह बात मन में उठते ही राहुरूपिणी संहार शक्ति को प्रेरित कर उसके प्रकाश को ग्रास बना ले। अब वह राहु से ग्रस्त क्षीणकान्ति सूरज के समान हो गया है, ऐसा अनुचिन्तन कर उसका परित्याग कर दे। अब वह गौरवपूर्ण ज्ञान से कभी प्रकाशमान नहीं हो सकता। दिया हुआ ज्ञान अपहृत कर लिया गया है। इस प्रकार उस मूढबुद्धि

ननु आत्मनो ज्ञानक्रिये रूपं तदात्मनो ज्ञानापहरणात् नाश एव स्यात्, नहि अस्माकं काणादादिवत् आत्मज्ञानयोः गुणगुणिभावोऽभिमत इति कथमेतदस्मदागमेऽभिहितमित्याशङ्कते

ननु विज्ञानमात्मस्थं कथं हर्तुं क्षमं भवेत् ।
अतो विज्ञानहरणं कथं श्रीपूर्व उच्यते ॥ ५६ ॥

दुरात्मा के विज्ञान, उसके मन्त्र और उसकी विद्या सभी कुण्ठित कर दिये जाते हैं। उससे किसी का उपकार नहीं हो सकता। यह ध्यान देने की बात है कि, यह प्रक्रिया तभी अपनायी जानी चाहिये, जब समझाने, बुझाने और मना करने पर भी वह न माने। मनमानी से बाज न आये, एकबार नहीं हजारों बार दुराचरण रूप अपराध में लिप्त होता रहे! इस अपराध बोध का उसके हृदय में उदय भी न हो और इस अनर्थाचरण से दैशिक का हृदय व्यथा से तिलमिला उठे तथा उसके सुधार की आशा पूरी तरह क्षीण हो जाये। अन्यथा इसका उपयोग नहीं करना चाहिये। मनोरंजन और खेल के लिये कभी भी इसका उपयोग न करे। क्रीडार्थ इसका प्रयोग सर्वथा निषिद्ध है। इसीलिये यहाँ जातुचित् शब्द का प्रयोग किया गया है॥ ५१-५५ ॥

यहाँ एक शास्त्रीय विमर्श की रहस्यात्मक मान्यता का ऊहापोह आवश्यक हो गया है। त्रिक दर्शन में इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियाँ स्वयं शिव की शक्तियाँ हैं। चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों से ही वे शक्तिमन्त कहलाते हैं। इसे सन्दर्भ दृष्टि से एक वाक्य में कहा जा सकता है कि, ज्ञान और क्रिया दोनों आत्मा के रूप हैं।

दूसरी ओर काणाद दर्शन को लें। 'विशेष' नामक पदार्थ की कल्पना के कारण यह दर्शन वैशेषिक नाम से भी पुकारा जाता है। इस दर्शन में अनन्त आत्माओं का प्रकल्पन करते हैं। इस दर्शन में आत्मा को नित्य द्रव्य मान कर इसमें बुद्धि, सुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न धर्माधर्म आदि को आत्मा का गुण मानते हैं। इससे यह निश्चय होता है कि, आत्मा गुणी है और बुद्धि से उत्पन्न ज्ञान उसका गुण है। इसे गुणगुणीभाव सम्बन्ध कहते हैं।

एतदेव प्रतिविधत्ते

उच्यते नास्य शिष्यस्य विज्ञानं रूढिमागतम् ।
तथात्वे हरणं कस्मात्पूर्णयोग्यत्वशालिनः ॥ ५७ ॥

नहि एतज्ज्ञानस्य शिष्यस्य रूढिमागतं शुद्धतामुपागतमित्यर्थः । रूढ्युपगमे हि परे पूर्णे धाम्नि ऐक्यात्म्यापत्तिसहिष्णुतया श्लाघमानस्य ज्ञानस्य कथङ्कारं हरणमेव स्यात्, एवं हि आत्मनो नाश एव भवेदित्युक्तप्रायम् ॥ ५७ ॥

त्रिक दर्शन के अनुसार आत्मा से ज्ञान को अपहृत नहीं किया जा सकता । अलग करने पर आत्मा के नाश को स्थिति उत्पन्न होने लगेगी । गुणी से गुण हटाया जा सकता है पर स्वयं से स्वयं को नहीं हटाया जकता । जिज्ञासु पूछता है कि, गुरुदेव ! हमारी मान्यताओं के अनुरूप यह ज्ञानापहरण व्यापार नहीं है । फिर यहाँ ऐसा करने का निर्देश क्यों किया गया है ? यह प्रश्न स्वयं शास्त्रकार के अनुसार ही उपस्थापित कर इसका प्रतिविधान कर रहे हैं—

शास्त्रकार कहते हैं कि, सचमुच यह शङ्का तो बिलकुल सही है । आत्मरूप और आत्मावस्थित ज्ञान का अपहरण कैसे किया जा सकता है ? ऐसी स्थिति में श्री पूर्व शास्त्र में विज्ञान-हरण को बात किस आधार पर लिखी गयी है ?

इस शङ्का का समाधान यह है कि, जो ज्ञान उस शिष्य को दिया गया, उसे उसने अभी आत्मसात् हो नहीं किया है । अभी तो वह आम की गुठली को तरह यहाँ पड़ा हुआ है । अभी उसमें उन्मिषितव्यता का भी संस्कार नहीं है । प्ररोह तो निश्चित नहीं है। अभी वह ज्ञान प्राप्त ही नहीं कर सका है । ऐसी स्थिति में ही उसका अपहरण निर्दिष्ट है । यह ध्रुव सत्य तथ्य है कि, यदि ज्ञान आत्मसात् कर लिया गया होता, उसमें प्ररोह आ जाता और तो शिष्य की दिशा ही बदल गयो होती ! स्वात्मसमाहित ज्ञान से वह देशिक की दिव्यता से उद्दीप्त हो उठता, उसमें योग्यता का प्रकर्ष परिलक्षित होता और पूर्ण योग्यता सम्पन्न शिष्य के विज्ञान का अपहरण किसी अवस्था में

नन्वस्योपदेशस्तावत् वृत्त इति किमिति न ज्ञानं रूढिमागतमित्याशङ्क्याह

किंत्वेष वामया शक्त्या मूढो गाढं विभोः कृतः ।
स्वभावादेव तेनास्य विद्याद्यमपकारकम् ॥ ५८ ॥

ननु विलयशक्त्याघ्रातत्वादस्य स्वभावत एव चेत् विद्याद्यमपकारकं, तत् गुरुः किमर्थं विज्ञानापहरणं कुर्यादित्याशङ्क्याह

गुरुः पुनः शिवाभिन्नः सन्यः पञ्चविधां कृतिम् ।
कुर्याद्यदि ततः पूर्णमधिकारित्वमस्य तत् ॥ ५९ ॥

नहीं किया जा सकता। ज्ञान के प्ररोह की प्रौढता में परात्मक पूर्ण पारमेश्वर महाभाव से उसका तादात्म्य हो जाता। उस समय प्रकाशघन परमेश्वर के तादात्म्य की समापत्ति से उत्पन्न उसकी अप्रकल्पनीय शक्तिमत्ता श्रद्धास्पद बन जाती। इसलिये विज्ञान का अपहरण एक समय सापेक्ष प्रक्रिया है। इसका ध्यान रखना चाहिये। इस शङ्का की तब अपेक्षा नहीं रह जाती ॥ ५६-५७ ॥

यह भी एक आश्चर्य की ही बात है कि, दैशिक शिरोमणि से ज्ञान मिले और वह प्ररोह को प्राप्त न हो सके! इस पर कह रहे हैं कि,

गुरूपदेश अमोघ होता है किन्तु यहाँ तो स्थिति ही नितान्त विपरीत थी। विभु की वामाशक्ति से गाढतया विमूढ वह अभागा शिष्य इसे सह न सका। स्वभावतः उसकी मिली चिन्तारत्न रूपी विद्या उसके काम की ही नहीं सिद्ध हुई। उसको अपकारक बनकर ही रह गयी ॥ ५८ ॥

साँप का सूँघ लेना भी खतरनाक माना जाता है। यहाँ तो विलयात्मिका संहारशक्ति ने ही उसे सूँघ लिया है। ऐसे शिष्य के लिये यदि विद्यादि स्वयम् अपकारक हो जाती हैं, तो उसका विनाश एक तरह से अवश्यंभावी है। ऐसी स्थिति में जिज्ञासु पूछता है कि, गुरुदेव! उससे विज्ञान का अपहरण उसका देशिक गुरु क्यों करता है? इस पर कह रहे हैं कि,

अतो यथा शुद्धतत्त्वसृष्टिस्थित्योर्मलात्यये ।
योजनानुग्रहे कार्यचतुष्केऽधिकृतो गुरुः ॥ ६० ॥
शिवाभेदेन तत्कुर्यात्तद्वत्पञ्चममप्ययम् ।
तिरोभावाभिधं कृत्यं तथासौ शिवतात्मकः ॥ ६१ ॥

अत इति पञ्चकृत्यकारित्वेन पूर्णाधिकारित्वात्। तदिति कार्यचतुष्कम्। एवं कृत्यपञ्चककारित्वेन अस्य किं स्यादित्याशङ्कयोक्तं तथासौ शिवतात्मक इति ॥ ६१ ॥

गुरु में और शिव में भेद नहीं होता। इस अभिन्नता के आधार पर दैशिक को भी पञ्चविध कृत्यकारी माना जाता है। सृष्टि, स्थिति, संहार तिरोधान और अनुग्रह रूप इन पाँचों कृत्यों को सम्पन्न करने का पूरा अधिकार गुरुदेव को प्राप्त होता है। यहाँ तो गुरुदेव ने शिष्य पर कृपा कर उसको शुद्धतत्त्व भाव का रहस्य बताकर उसका नव निर्माण ही किया। यह शिष्य के जीवन को नयी सृष्टि का व्यापार था। उसे विद्या-भाव की स्थिति दी और उसके मलों का संहार कर तीसरा कृत्य पूरा किया था। तिरोधान को छोड़ कर चौथा कृत्य गुरु ने अनुग्रह का किया और उसे विज्ञान की दीक्षा दे दी थी। इन चारों स्थितियों में उसने अधिकार का सदुपयोग ही किया था। पर दुर्भाग्य! शिवैक्यसमापत्तिसहिष्णुता उस शिष्य में आ ही न सकी।

ऐसी स्थिति में न चाहते हुए भी गुरुदेव रूप शिव को साधिकार अपने पाँचवें छूटे हुए कृत्य 'तिरोभाव' को अपनाना पड़ा। यह एक अनपेक्षित प्रक्रिया थी। जिस पर अनुग्रह किया गया, उसी पर तिरोभाव का अभिशाप भी टूट पड़ा। यह शिष्य की वह विवशता थी, जो उसे दुर्भाग्यवश झेलनी पड़ी। वह जिसके लिये चुना गया था, वहाँ से उसका तिरोधान हो गया। शिवरूप गुरुदेव के इन पाँचों कृत्यों में से अनुग्रह को वह झेल नहीं सका। उसे तिरोभाव का अभिशाप मिला और पञ्चकृत्यकारी गुरुदेव की शिवतात्मकता का दर्शन भी विश्व को हुआ। इसलिये शिष्य को सदैव

एवं च श्रेयोरूपत्वादेव क्वचिदपि नायं कुप्येदित्याह

अत एव शिवे शास्त्रे ज्ञाने चाश्वासभाजनम् ।
गुरोर्मूढतया कोपधामापि न तिरोहितः ॥ ६२ ॥

अतः शिवात्मकत्वादेव गुरोर्भूतपूर्वगत्या शैवशास्त्रादौ आश्वासभाजनं मूढतया तिरोहितोऽपि शिष्यो न कोपधाम, नास्य गुरुणा कोपः कार्य इत्यर्थः ॥ ६२ ॥

ननु किमेतदुक्तं यद्यस्यैव गुरुः कुपितः स एव संसारी तिरोहितः इत्युच्यते इत्याह

गुर्हि कुपितो यस्य स तिरोहित उच्यते ।
संसारी···

अपनी सीमा और मर्यादा का ध्यान रखना आवश्यक माना जाता है। अनुशासन में रहकर अपने आम्नाय का अनुपालन ही उसका परमकर्त्तव्य है ॥ ५९-६१ ॥

देशिक के इस अप्रतिम और सर्वेश्वर शिव के समान पंचकृत्यकारी रूप के महत्त्व को देखकर यह कहा जा सकता है कि, गुरु साक्षात् श्रेयस् की प्रतिमूर्त्ति ही हैं। इसलिये शिष्य के किसी व्यवहार-शैथिल्य के कारण भी वे कुपित नहीं होते ! यही कह रहे हैं—

वस्तुतः जो स्वयं कल्याण रूप है, सब प्रकार से श्रेयःसाधक है, उसके कुपित होने की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती है। उनके लिये तो तिरोहित शिष्य भी कोप का पात्र नहीं है। वे तो शैव साक्षात्कार की आकांक्षा से, ज्ञान प्रदान करके शिष्य को आगे बढ़ाने की उत्सुकता से एवं शास्त्रनैपुण्य के लक्ष्य की लालसा से शिष्य को सर्वदा आश्वस्त करना चाहते हैं। ऐसे गुरुदेव को मूर्खतावश व्यथित कर देने वाला तिरोहित भी कोपधाम नहीं होता। गुरु का कहाँ अप्रकल्य कल्याणकारी रूप और कोप के कारण कहाँ राजस रूप। गुरुदेव के प्रति ऐसी बात सोची भी नहीं जा सकती ॥ ६२ ॥

सत्यमेवं, सतु गुरुर्निखिलजगदुद्दिधीर्षापरतया परमकारुणिकः परमेश्वर एव। सच सत्यज्ञानमय इति कः कस्य कोपं कुर्यादित्याह

···सतु देवो हि गुरुर्न च मृषाविदः ॥ ६३ ॥

तत एव च शास्त्रादिदूषको यद्यपि क्रुधा ।
न दह्यतेऽसौ गुरुणा तथाप्येष तिरोहितः ॥ ६४ ॥

हिरवधारणे। मृषाविद इति मिथ्याज्ञानरूप इत्यर्थः, तथात्वे भवेदेव कोपस्यावकाश इत्याशयः। तत इति मिथ्याज्ञानरूपत्वाभावादेव। तथापीति वस्तुमहिम्नो दुलँघ्यत्वात् ॥ ६४ ॥

तदेव अस्मद्गुरूणामपि मतमित्याह

यदि ऐसी महत्ता गुरुदेव की है, तो शास्त्र में यह कैसे लिखा गया है कि,

गुरु जिस पर कुपित हो जाता है, वही तिरोहित कहा जा सकता है। संकोच से अभिशप्त वही संसारी भी कहा जाता है।

दूसरा जिज्ञासु कहता है कि, सचमुच शास्त्र में यह लिखा तो गया है फिर भी गुरु का गौरव भाव अप्रतिम है। अपनी दिव्यता के कारण ही वह देव श्रेणी में भी अग्रगण्य है। वह मिथ्या-ज्ञान से कोसों दूर रहता है। मृषावादी होने पर तो क्रोध के लिये वहाँ अवश्य ही अवकाश हो जाता। सारे विश्व के उद्धार की इच्छा के कारण परम कारुणिक गुरुदेव परमेश्वरवत् सत्यज्ञानमय रूप से ही मान्य हैं। मिथ्याज्ञान रूपता के अभाव के कारण ही शास्त्रादिके दूषकों पर भी उनका क्रोध नहीं होता। यद्यपि वे दूषक उनके क्रोध-ज्वाल से दग्ध होने से बच तो जाते हैं किन्तु यह ध्रुवसत्य है कि, ऐसे शास्त्रादि दूषक तिरोहित अवश्य हो जाते हैं क्योंकि यह नियम ही है कि, वस्तु सत्य दुर्लङ्घ्य होता है ॥ ६३-६४ ॥

यही मत हमारे दर्शन के आदरणीय गुरुजनों का भी है। यही कह रहे हैं—

अस्मद्गुर्वागमस्त्वेष तिरोभूते स्वयं शिशौ ।
न कुप्येन्न शपेद्धीमान् स ह्यनुग्राहकः सदा ॥ ६५ ॥

तुह्यर्थे ॥ ६५ ॥

नहि अस्य स्वयमेव तिरोधित्सोरत्रान्यत्किंचित्कर्तव्यमवशिष्यते यदनेनापि कार्यमित्याह

ईशेच्छाचोदितः पाशं यदि कण्ठे निपीडयेत् ।
किमाचार्येण तत्रास्य कार्या स्यात्सहकारिता ॥ ६६ ॥

किं कार्या स्यादिति नात्र सहकारिणा कश्चिदर्थ इत्यर्थः ॥ ६६ ॥

ननु यद्येवं, तच्छिवाभेदिनोऽस्य पञ्चविधकृत्यकारित्वं किं न खण्डचेतेत्याशङ्क्याह

हमारी मान्य प्रत्यभिज्ञात्मक दर्शन-परम्परा में श्रेष्ठ गुरुजनों द्वारा आम्नात आगमों की भी यही मान्यता है। गुरुदेव की क्रोधाग्नि की ज्वाला से बच निकलने वाले तिरोहित शिष्य की तो स्वयं ही दुर्भाग्य-विजृम्भा उसे निगल कर कहीं का नहीं रहने देती। अब उसके ऊपर कोप क्या किया जाये? उस स्वयम् अभिशप्त शिष्य को गुरु अभिशाप क्या दे? वह तो मात्र दया का पात्र होकर रह गया है। दैशिक शिरोमणि गुरुदेव द्वारा वह केवल अनुग्राह्य है ॥ ६५ ॥

ऐसे स्वयं तिरोहिति को अपना लेने वाले शिष्य के लिये उस समय कोई कल्याणकारी कर्त्तव्य भी शेष नहीं रह जाता, जिसे संपादित कर अपनी व्यथा दूर करे। वही कह रहे हैं—

भगवत् इच्छा से प्रेरित वह यदि पाश की बेड़ी को स्वयं ही अपने ही कण्ठ में कील की तरह चुभो ले, तो दूसरा उसके कल्याण का कामी होते हुए भी कल्याण नहीं कर सकता। उस समय आचार्य भी किस प्रकार का सहकार कर सकता है? अर्थात् कोई सहकार नहीं सकता ॥ ६६ ॥

प्रश्न करने वाला पूछ बैठता है कि, श्रीमन्! गुरुदेव तो शिवाद्वयवादी हैं। वे सर्वत्र शिवत्व का ही अनुदर्शन करते हैं। उस शिष्य पर कृपा न

शिवाभिन्नोऽपि हि गुरुरनुग्रहमयीं विभोः ।
मुख्यां शक्तिमुपासीनोऽनुगृह्णीयात्स सर्वथा ॥ ६७ ॥

यदुक्तं तत्र

'अनेन विधिना भ्रष्टो विज्ञानादपरेण न ।
शक्यो योजयितुं भूयो यावत्तेनैव नोद्धृतः ॥'
(मा० वि० १८।६७) इति ॥ ६७ ॥

ननु तर्हि किमर्थं विज्ञानापहरणं कुर्यादित्याद्युक्तमित्याशङ्क्याह

करना उनके पञ्चकृत्यकारित्व-व्रत का एक प्रकार से खण्डन ही माना जा सकता है ! इस आशङ्का का समाधान कर रहे हैं—

गुरुवर्य अद्वय तादात्म्यभाव से भव्य प्रत्यक्ष भूतभावन भगवान् रूप हो हैं। चूंकि वे सर्वेश्वर शिव को अनुग्रहमयी मुख्य शक्ति की उपासना में संलग्न रहते हैं। इसलिये अनुग्रह करने में शिव की तरह ही सर्वसमर्थ होते हैं। श्लोक में प्रयुक्त सर्वथा शब्द गुरु की क्षमता का उद्घाटन करता है। (मा० वि० १८।६७) में यह स्पष्ट उल्लेख है कि,

"इस प्रकार अपर-विज्ञान अर्थात् अधरशास्त्र के आधार पर प्राप्तज्ञान शिष्य को भ्रष्ट कर डालता है। यद्यपि गुरु में अनुग्रह करने की शक्ति का अभाव नहीं है। वह शिष्य को उस महाभाव में स्वयं योजित कर सकता है फिर भी जब तक उसे उस स्तर का अधिकारी नहीं बना लेता, तब तक उसके ऊपर शक्तिपात के अमृत की वर्षा नहीं करता।"

यह उसकी अनुग्रहात्मिका शक्ति के अभाव का सूचक नहीं वरन् अनुग्रह के पथ पर शिष्य को अग्रसर करने के अवसर की प्रतीक्षा का समय होता है ॥ ६७ ॥

प्रश्नकर्त्ता पूछ रहा है कि, यदि गुरुदेव इतने कारुणिक हैं, तो फिर वे विज्ञान का अपहरण क्यों करते हैं ? इस प्रश्न का समाधान कर रहे हैं—

स्वातन्त्र्यमात्रज्ञप्त्यै तु कथितं शास्त्र ईदृशम् ।
न कार्यं पततां हस्तालम्बः सह्यो न पातनम् ॥ ६८ ॥

एवमस्य कृपापरेणैव भाव्यमित्याह

अत एव स्वतन्त्रत्वादिच्छायाः पुनरुन्मुखम् ।
प्रायश्चित्तैर्विशोध्यैनं दीक्षेत कृपया गुरुः ॥ ६९ ॥

स्वतन्त्रत्वादिति एतदेव हि नाम अस्याः स्वातन्त्र्यं यन्निगृहीतस्यापि पुनरनुग्रह इति ॥ ६९ ॥

ननु इतः पतितस्तिरोहित एव उच्यते इत्युक्तम्, एवमसौ ततोऽपि च इतराश्वस्ततया पतितस्तदुभयभ्रष्टत्वादिहापि कथमनुग्राह्यः स्यादित्याशङ्क्याह

स्वातन्त्र्य परमेश्वर की आनन्द शक्ति का ही मूल उत्स है। उसे अपनी स्वातन्त्र्य-शक्ति का प्रदर्शन नहीं करना पड़ता, वरन् उसकी स्वतन्त्रता विश्व को विज्ञप्त होती रहती है। गुरु तादात्म्य भाव से शिवत्व की उपलब्धि कर चुका होता है। उसी ज्ञप्ति के लिये वह ऐसा करता है। शास्त्र उसको शक्ति का उल्लेख करते हैं किन्तु साथ ही यह निर्देश भी देते हैं कि, ऐसा करना नहीं चाहिये। ऐसा कार्य उचित नहीं। गिरने वाले को हाथों का सहारा देना चाहिये। गुरु को पतन का प्रेरक नहीं बनना चाहिये। पतित का उद्धार ही भारतीय शास्त्रीय आदर्श है, पतन नहीं ॥ ६८ ॥

गुरु निरन्तर शिष्य के ऊपर कृपा की वर्षा करता है। कृपा परायण होता है। शास्त्रकार कहते हैं कि,

स्वतन्त्रता का यही सदुपयोग है कि, निगृहीत होने पर भी अनुग्रह किया जाय। गुरु की इच्छा शक्ति से शिष्य त्रुटिपूर्ण मार्ग का परित्याग कर पुनः सन्मार्ग की ओर उन्मुख हो जाता है। ऐसे विज्ञानोन्मुख शिष्यों से प्रायश्चित का आचरण कराने के उपरान्त उसके अध्वा का शोधन कर उन्हें दीक्षा से अनुगृहीत करना चाहिये ॥ ६९ ॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि, षडध्व सिद्धान्त के विपरीत आचरण करने वाला शिष्य जब इस मार्ग से पतित हो जाता है, तो उसे तिरोहित कहने

ऊर्ध्वदृष्टौ प्रपन्नः सन्ननाश्वस्तस्ततः परम् ।
अधःशास्त्रं प्रपद्यापि न श्रेयः पात्रतामियात् ॥ ७० ॥
अधोदृष्टौ प्रपन्नस्तु तदनाश्वस्तमानसः ।
ऊर्ध्वंशासनभाक् पापं तच्चोज्झेच्च शिवीभवेत् ॥ ७१ ॥

एतदेव दृष्टान्तोपदर्शनेव घटयति

लगते हैं। अब उस शिष्य की दशा 'इतोऽभ्रष्टस्ततोऽपि भ्रष्टः' की हो जाती है। पहले वह इतर (अर्थात् अधरशास्त्रीय) मार्ग में आश्वस्त था। उसके बाद इस मार्ग में आया था। यहाँ भी वह तिरोहित हो गया। ऐसी दशा में उसके ऊपर कैसे अनुग्रह किया जाय ? इसी परिप्रेक्ष्य में शास्त्रकार कह रहे हैं कि,

शिष्य सौभाग्यवश अधर मार्ग का परित्याग कर ऊर्ध्व मार्ग में प्रवृत्त हुआ था। इस शास्त्रमाग में प्रपन्न हुआ था। इस गुरुमार्ग का शरण ग्रहण करते हुए भी यहाँ उसके दुर्भाग्य का पुनः उदय हुआ और वह अनाश्वस्त होकर पुनः अधःशास्त्र माग को अपना लिया ! ऐसी स्थिति में वह कल्याण-भाजनता कैसे प्राप्त कर सकता है। पात्रता, विनय, आस्था और एकनिष्ठ साधना से आती है और वही श्रेयः साधिका होती है। उक्त प्रकार के शिष्यों में ऐसी योग्यता का नितान्त अभाव होता है।

इसके विपरीत अधर शास्त्र मार्ग का सांयात्रिक अपनी अवस्था को भाँप कर ऊर्ध्व शास्त्र मार्ग के अमृत को पीने के लिये यदि लालायित होता है और श्रेयः सिद्धि के उद्देश्य से शरणागत हो जाता है, तो वह अधरप्रपत्ति रूपी पाप का परित्याग कर अपने मुक्ति-पथ को प्रशस्त कर लेता है। अब उसका यह कर्त्तव्य हो जाता है कि, वह अपने मानस के अपसंस्कारों को धो डाले, गुरुदेव का अनुग्रह प्राप्त करे और शिवैक्यदार्ढ्य सम्पन्न शिवीभाव का साक्षात्कार कर ले।

इसे दृष्टान्त के माध्यम से स्पष्ट करने के उद्देश्य से शास्त्रकार कहते हैं कि, राजा सर्वोच्च शास्ता होता है। वह कल्याण करने में पूर्ण-समर्थ और

राज्ञे द्रुह्यन्नमात्याङ्गभूतोऽपि हि विहन्यते ।
विपर्ययस्तु नेत्येवमूर्ध्वां दृष्टिं समाश्रयेत् ॥ ७२ ॥

अत एव अस्मच्छास्त्रमप्येवमित्याह

श्रीपूर्वशास्त्रे तेनोक्तं यावत्तेनैव नोद्धृतः ।

एतदेव तात्पर्यतो व्याचष्टे

अत्र ह्यर्थोऽयमेतावत्पूर्वोक्तज्ञानबृंहितः ॥ ७३ ॥
गुरुस्तावत्स एवात्र तच्छब्देनावमृश्यते ।

अविप्रतिपत्तिद्योतकस्तावच्छब्दः ।

अधिकार सम्पन्न श्रद्धास्पद एवं श्रेष्ठ पुरुष होता है। एक व्यक्ति उससे द्रोह करने लगता है। परिणामतः उसे छोड़ कर अमात्यों का तलवा सहला कर कल्याण की कामना करता है। इस प्रक्रिया का परिणाम उसे भुगतना पड़ता है और उसका विनाश ही हो जाता है।

इसके विपरीत आत्म कल्याण कामना से प्रेरित पुरुष सचिव, साचिव्य का परित्याग कर राजा की सेवा में उपस्थित होकर अपना प्रेय और श्रेय दोनों सिद्ध कर लेता है। यही दशा शिष्य की भी होती है। त्रिक मार्ग राज-मार्ग है। सांसिद्धिक गुरु राजा की तरह सर्वानुग्रह का सर्वाधिकारी है। अन्य अधर शास्त्र अमात्य हैं। इनका पथिक अर्थात् अमात्यानुगत पुरुष अपना कल्याण नहीं करा पाता और उसका अधःपात हो जाता है। इसीलिये त्रिक शास्त्र हमेशा यह उपदेश देता है कि, ऊर्ध्व मार्ग का ही आश्रय लेना चाहिये। सांसिद्धिक गुरु ही मोक्ष लक्ष्मी का साक्षात्कार करा देने में संपूर्णतया सक्षम है ॥ ७०-७२ ॥

उपजीव्य शास्त्र श्री पूर्वशास्त्र में त्रिक शास्त्रीय इस दृष्टि का समर्थन 'तेन' शब्द के संकेत द्वारा किया गया है।[1] यद्यपि उसका उद्धरण यहाँ नहीं दिया जा रहा है किन्तु तात्पर्य दृष्टि से उसका कथन यहाँ किया जा रहा है—

---

१. श्री पूर्व शास्त्रम्—१८।६७ २।१२, तेन (तच्छब्दपरामर्श)

एवकारार्थमप्याह

तादृक्स्वभ्यस्तविज्ञानभाजोर्ध्वपदशालिना ॥ ७४ ॥
अनुद्धृतस्य न श्रेय एतदन्यगुरूद्धृतेः ।
अत एवाम्बुजन्मार्कदृष्टान्तोऽत्र निरूपितः ॥ ७५ ॥

इतना सब कुछ कहने का एक मात्र निष्कर्ष यही है कि, जो तथ्य श्रीपूर्व शास्त्र में सम्यक् प्रकार से प्रतिपादित किया गया है, उसके पूर्ण वृंहण के फलस्वरूप पूर्ण ज्ञानवान् गुरु ही मोक्ष मार्ग प्रशस्त करने में समर्थ होता है। ऐसे कारुणिक गुरु द्वारा यदि शिष्य उद्धृत नहीं हुआ, तो उसका दुर्भाग्य ही माना जा सकता है। इस उक्ति में किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति के लिये कोई स्थान नहीं ॥ ७३ ॥

श्लोक ७४ के पूर्व अर्धांश में गुरु के लिये 'सः' सर्वनाम के साथ 'एव' अवधारणार्थक अव्यय प्रयुक्त है। एक में निश्चय व्यक्त करने के साथ ही अन्य का निषेध अर्थ भी इस अव्यय से अभिव्यक्त होता है। इसीलिये शास्त्र-कार इस तथ्य पर बल देना चाहते हैं कि, इस प्रकार स्वभ्यस्तज्ञानवान् प्रज्ञा-पुरुष रूप दैशिक शिरोमणि गुरु 'ही' मोक्षप्रदा दीक्षा देकर मुक्त करने में सक्षम है क्योंकि वह स्वयं ऊर्ध्व पद पर अधिष्ठित है। इसके द्वारा अनुद्धृत शिष्य की श्रेयः सिद्धि नितान्त असम्भव है। इस गुरु के अतिरिक्त अन्य गुरु नहीं, गुर्वन्तर होते हैं। उनसे उद्धार की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

इस सन्दर्भ को कमल और सूर्य के दृष्टान्त से सरलता पूर्वक समझा जा सकता है। यह दृष्टान्त गुरु दीक्षा से ही मोक्ष के सन्दर्भ को व्यक्त करने के लिये जहाँ विवृत किया गया है, उस ग्रन्थ का नाम 'पञ्चिका' है[1]। पञ्चिका को पूर्व पञ्चिका भी कहते हैं। यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। केवल उद्धरणों के आधार पर ही यह माना जाता है कि, यह ग्रन्थ शिव के पञ्च महाभावों को व्यक्त करने के उद्देश्य से ही प्रणीत होगा। शिव की ५ ही शक्तियाँ—चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया मानी जाती हैं। सृष्टि, स्थिति, संहार,

---

१. परात्रीशिका पृ० ९१ 'गुटू' पं० २ (मोतीलाल बनारसी दास)

निरूपित इत्येतद्विवरण एव पञ्चिकायाम् । यदुक्तं तत्र

'दिवाकरकरासारविरहात्संकुचत्कजम् ।
सत्स्वप्यन्यग्रहमहःस्वेति नैव विकासिताम् ॥
एवं शिष्यहृदम्भोजं गुरुपादविवर्जितम् ।
निमोलद्विकसत्येव पुनस्तत्पादपाततः ॥' इति ॥ ७५ ॥

ननु अस्य अन्योऽपि गुरुरस्तु तेनैव गुरुणा कोऽर्थ इत्याशङ्कां दृष्टान्तान्तरेणापि निरवकाशयति

तिरोधान और अनुग्रह रूप पाँच कृत्य भो शिव से ही सम्पन्न होते हैं। यहाँ 'अनुग्रह' रूप पाँचवें कृत्य का सन्दर्भ है। शिव गुरु और ज्ञानवान् गुरु स्वयं शिव ही हाता है। गुरु के अनुग्रह में ही अरविन्द और दिवाकर का दृष्टान्त चरितार्थ होता है। वहाँ अर्थात् 'पञ्चिका' में कहा गया है कि,

"सूर्य की सहस्र सहस्र रश्मियों के सुकुमार संस्पर्श से शतपत्र में एक अभिनव उल्लास होता है और वह खिल उठता है। ज्योंही इन रश्मियों का विश्लेष होता है, वह संकुचित हो जाता है। यों तो सौर मण्डल में चंक्रमण करने वाले ग्रहों से उनकी रश्मियों का अजस्र संपात होता ही रहता है और यह बिश्व उससे प्रभावित भी होता है किन्तु अरविन्द को उनसे किसी प्रकार के आदान-प्रदान को कल्पना भी नहीं की जा सकती। उन सतत संपतित रश्मियों से सरसिज विकसित नहीं होता।

यही दशा शिष्य के हृदय रूपी अरविन्द की होती है। गुरुचरणों की अरुणवर्णी किरणों के अनावर्षण से विवश वह मुकुलित हो उठता है और ज्यों ही वह लाली उसे मिलती है, वह लाल हो उठता है।"

गुरु सूर्य है। अनुग्रह उसका रश्मिसंपात है। शिष्य का हृदय कमल है। वह इसी सूर्य के शक्तिपात से विकसमान होता है। यह इस दृष्टान्त से सिद्ध हो जाता है ॥ ७४-७५ ॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि, इस शिष्य के अन्य गुरु हो सकते हैं। उनसे ही यह कार्य सम्पन्न हो तो अच्छा ही है। केवल उसी गुरु को महत्त्व

त्रिजगज्ज्योतिषो ह्यन्यत्तेजोऽन्यच्च निशाकृतः ।
ज्ञानमन्यत्त्रिकगुरोरन्यत्त्वधरवर्तिनाम् ॥ ७६ ॥

ननु एवमन्तरा चेदस्य गुरोः पिण्डपातो वृत्तः, तदा अनेन किं कार्यमित्याशङ्क्याह

अत एव पुराभूतगुर्वभावो यदा तदा ।
तदन्यं लक्षणोपेतमाश्रयेत्पुनरुन्मुखः ॥ ७७ ॥

अस्य च अत्र लक्षणं

'यः पुनः सर्वतत्त्वानि....।' (मा० वि० २।१०) इत्यादिनोक्तम् ॥ ७७ ॥

देने का क्या उद्देश्य है ? इस आशङ्का को समाहित करने के लिये कारिका का अवतरण कर रहे हैं—

वस्तुतः सबकी तेजस्विता में बड़ा अन्तर होता है । भूर्भुवः और स्वः को अपनी ज्योतिष्मन्त प्रकाशात्मकता से प्रकाशमान करने वाले भासमान भास्कर की आभा का ऊर्जस्वल एवं सर्वातिशायी रूप अलग ही है ।

इसी तरह चन्द्रमा की चाँदनी के चिताकर्षक रूप का अलग ही महत्त्व है । जोत्स्ना से सारा नैश वातावरण दूधिया बन जाता है । कहाँ तिग्म रश्मि की तीक्ष्णतम मञ्जुल मरीचियाँ और कहाँ विधु की सुकुमार विभा का विस्तार ! इसी तरह त्रिकशास्त्र निष्णात सांसिद्धिक एवं प्रतिभावान् गुरु का गौरव पूर्ण ज्ञान और कहाँ अधरवर्त्ती शास्त्र मार्गों की पाशव प्रतिबद्धता ? इस आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि, कसौटी पर खरे किसी श्रद्धेय दैशिक शिरोमणि का आश्रय ग्रहण करना ही श्रेयस्कर है ।

"यथार्थतः समस्त तत्त्वों के तात्त्विक रहस्यों के द्रष्टा देशिक मेरे समान ही होते हैं । ऐसे गुरु साक्षात् शिवरूप ही हैं । ये मन्त्रों की ऊर्जा को प्रकाशमान करने में समर्थ हैं ।" यह उक्ति स्वयं शिव की है । मालिनीविजयोत्तरतन्त्र द्वितीय अधिकार के दशम श्लोक का यही तात्पर्य है । इसी लक्षण से पूर्ण देशिकशिरोमणि का आश्रय ग्रहण करना चाहिये ॥ ७७ ॥

तस्मिंस्तु जीवति तत्त्यागो न कार्य इत्याह

सति तस्मिंस्तून्मुखः सन्कस्माज्जह्याद्यदि स्फुटम् ।
स्यादन्यतरगो दोषो योऽधिकारापघातकः ॥ ७८ ॥

एवमूर्ध्वशासनस्थ एव गुरुराश्रयणीय इति अत्र तात्पर्यम्, सति दोषे परस्परस्यापि त्यागः कार्य इत्याह यदीत्यादि ॥ ७८ ॥

ननु किमत्र लौकिको दोषो ग्राह्यः शास्त्रीयो वेत्याशङ्क्याह

दोषश्चेह न लोकस्थो दोषत्वेन निरूप्यते ।
अज्ञानख्यापनायुक्तख्यापनात्मा त्वसौ मतः ॥ ७९ ॥

इसके साथ ही शास्त्रकार कहते हैं कि, उसके जीते जी, कभी भी उसका तिरस्कार या परित्याग नहीं करना चाहिये। सदा उसके आश्रय में रह कर, उसकी ओर उन्मुख रहकर अपना लक्ष्य देखना चाहिये। यदि मुक्ति का पथ प्रशस्त हो रहा हो और स्वात्मतोष पूर्वक साधना चल रही हो, तो ऐसे गुरु को क्यों छोड़ा जाय ? अर्थात् कभी नहीं छोड़ना चाहिये। ऐसी दशा में भी कोई शिष्य ऐसे गुरुदेव का परित्याग कर बैठता है, तो वहाँ गुरु-परित्याग और अनधिकृत गुर्वन्तर ग्रहण रूप दोष होता है, यह निश्चित है। इससे अधिकार का अपघात होता है। इसे अधिकारापघात दोष कहते हैं। इन तथ्यों से यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि, ऊर्ध्वशासन में अधिष्ठित गुरु ही आश्रयणीय होता है। हाँ, जहाँ दोष के दर्शन होते हों, वहाँ तो परस्पर परित्याग स्वाभाविक हो ही जाता है ॥ ७८ ॥

दोष दो प्रकार के माने जाते हैं—लौकिक और अलौकिक। शास्त्रीय जिज्ञासु यह जानना चाहता है कि, इनमें से यहाँ किस दोष की बात गृहीत की जाय ? शास्त्रकार कह रहे हैं कि,

यहाँ लौकिक दोष का प्रकरण नहीं है। वस्तुतः शास्त्रीय दोष ही दोष की दृष्टि से विचारणीय है। यह सबसे बड़ा दोष है कि, गुरु के पास ज्ञान है परन्तु वह उस ज्ञान का ख्यापन नहीं कर पाता। जानकारी रहने पर भी उसके ख्यापन का असामर्थ्य महान दोष माना जाता है।

शिष्यस्यापि तथाभूतज्ञानानाश्वस्तरूपता ।
मुख्यो दोषस्तदन्ये हि दोषास्तत्प्रभवा यतः ॥ ८० ॥

शास्त्रीयस्यैव दोषस्य स्वरूपं निरूपयति अज्ञानेत्यादिना। अपिशब्दाद्गुरोरिति लभ्यते, तेन गुरोः शिष्यस्य च असौ मुख्यो दोषो मत इति सम्बन्धः। तत्र यावद्गुरोरज्ञानं ज्ञत्वेऽपि ख्यापयितुमसामर्थ्यम्, तत्त्वेऽपि अयुक्तस्य अर्थस्य ख्यापनमिति। अन्ये इति गुरोरविहितानुष्ठानादयः, शिष्यस्य च गुर्वपरिग्रहादयः। हिर्वाक्यालङ्कारे ॥ ८० ॥

गुर्वपरिग्रहादेश्च ज्ञानानाश्वासहेतुकत्वमेव अन्वयव्यतिरेकाभ्यां दृष्टान्तमुखेन द्रढयति

न ध्वस्तव्याधिकः को हि भिषजं बहु मन्यते ।
असूयुर्नूनमध्वस्त-व्याधिः स्वस्थायते बलात् ॥ ८१ ॥

दूसरा महान दोष तत्त्व से असंबद्ध अयुक्त अर्थ का ख्यापन है। अर्थ कुछ दूसरा हो और गुरु कुछ दूसरा कहने लगे, यह उचित नहीं। इससे शास्त्र परम्परा का अपघात होता है। यही दोष शिष्य में भी पाये जाते हैं। गुरु वास्तविक ज्ञान का ख्यापन कर रहा है किन्तु शिष्य उससे आश्वस्त नहीं हो पा रहा है। यह ज्ञान में अनाश्वस्तरूपता दोष होता है। अथवा अज्ञान में आश्वस्त होना भी दोष होता है। ये सब गुरु और शिष्य दोनों में मुख्य रूप से पाये जाने वाले दोष हैं। अन्य दोष इन्हीं दोषों की शैली के चट्टे बट्टे माने जाते हैं ॥७९-८० ॥

गुरु का अपरिग्रह कारण रूप है। इसका कार्य रूप परिणाम है—ज्ञानानाश्वास। इसको हम दो प्रकार से कह सकते हैं। १. जहाँ जहाँ गुरु का अपरिग्रह होता है, वहाँ वहाँ ज्ञान में आश्वास का अभाव होता है। २. जहाँ जहाँ गुरु का अपरिग्रह नहीं है, वहाँ ज्ञान का अनाश्वास भी नहीं है। इन दोनों का उपयोग करते हुए शास्त्रकार दृष्टान्त के माध्यम से इसका स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

एवं ज्ञानसमाश्वस्तः किं किं न गुरवे चरेत् ।
नो चेन्नूनमविश्वस्तो विश्वस्त इव तिष्ठति ॥ ८२ ॥

यथाहि ध्वस्तव्याधिः सर्वो जनः त्वत्प्रसादोपनतप्राणा वयमित्येवं भिषजे बहुमानं कुर्यात्, तं प्रति असूयुरीर्ष्यावान् पुनर्निश्चितमध्वस्तव्याधि-मस्वस्थमपि आत्मानं स्वस्थमिव बलात् मन्यते, तथा ज्ञानसमाश्वस्तः शिष्यो गुरवे किं नाम न आनुगुण्यमाचरेत्, ज्ञानं प्रति अनाश्वस्तस्तु वस्तुवृत्तेन अविश्वस्तोऽपि किं मम गुरुणा कार्यमिति विश्वस्त इव तिष्ठति स्वात्मन्येवं वृथाभिमानं विदध्यादित्यर्थः ॥ ८२ ॥

एक रोगी पुरुष है । उसने औषधि का प्रयोग किया । उसके रोग का निराकरण हो गया । उसकी व्याधि प्रध्वस्त हो गयी । ऐसा कौन सा कृतघ्न स्वस्थ पुरुष होगा, जो इस प्रकार की ओषधियों से स्वास्थ्य लाभ कर वैद्य का आदर नहीं करेगा ? अर्थात् जहाँ जहाँ शुद्ध ओषधियों का रोगानुसार प्रयोग होता है, वहाँ वहाँ स्वास्थ्य लाभ और वैद्य का समादर होता है । यह निश्चय है ।

इसके विपरीत जहाँ व्याधि का नाश नहीं होता, वहाँ वहाँ भिषक् के प्रति असूया का भाव होगा । अर्थात् ऐसा पुरुष चिकित्सक में ही दोष दर्शन करेगा । साथ ही यह प्रचारित भी करने की चेष्टा करेगा, कि मैं तो विना ओषधि प्रयोग के ही स्वस्थ हूँ ।

इन दोनों वस्तु चित्रों को प्रकृत प्रसङ्ग में चरितार्थ कर वस्तु स्थिति का आकलन करना चाहिये । जो गुरु के ज्ञान से समाश्वत होता है, वह गुरुदेव के लिये क्या क्या नहीं कर सकता ? अर्थात् वह सर्वस्व की बाजी भी लगा सकता है । यह अन्वय दृष्टि है । विपरीत इसके जो शिष्य गुरु में अश्रद्धालु होता है, वह ज्ञान की उपलब्धि से निश्चय ही वञ्चित रह जाता है । यह अनाश्वस्त एवम् अविश्वस्त तो होता ही है किन्तु आचरण ऐसा करता है कि, मैं स्वयम् आश्वस्त हूँ । गुरु की जैसे उसे कोई आवश्यकता ही नहीं । वह वृथाभिमान से ग्रस्त लोकवञ्चक शिष्य होता है ॥ ८१-८२ ॥

ननु गुरोः शास्त्रोय एव दोषो ग्राह्यो न लौकिक इत्यत्र किं प्रमाण-मित्याशङ्क्याह

अज्ञानादय एवैते दोषा न लौकिका गुरोः ।
इति ख्यापयितुं प्रोक्तं मालिनोविजयोत्तरे ॥ ८३ ॥
न तस्यान्वेषयेद्वृत्तं शुभं वा यदि वाशुभम् ।
स एव तद्विजानाति युक्तं चायुक्तमेव वा ॥ ८४ ॥

दोष लोक और शास्त्र दोनों दृष्टियों से दूषण के ही कारण होते हैं। गुरु में भी ये दाष आ सकते हैं किन्तु गुरु के लौकिक दोषों की आर ध्यान नहीं देना चाहिये। उसमें शास्त्रीय दोषों को देखकर ही किसी निर्णय पर पहुँचना चाहिये। एतद्विषयक प्रमाण की परीक्षा कर रहे हैं—

गुरु में ज्ञान की ही प्रधानता होनी चाहिये। ज्ञानवान् होना ही गुरु का प्रधान गुण माना जाता है और ज्ञान का अभाव अर्थात् अज्ञान ही उसका सबसे बड़ा दोष माना जा सकता है। अज्ञान से ही सम्बन्धित अन्य शास्त्रीय दाषों की सभावना होती है। यही शास्त्रोय दोष हैं। इनकी गुरु में अवस्थिति नहीं होनी चाहिये।

इनके अतिरिक्त अन्य दोष लौकिक होते हैं। गुरु में यदि ऐसे लौकिक दोष जैसे—नशा सेवन, आलस्य, नींद का आधिक्य आदि हों तो भी उन पर ध्यान नहीं देना चाहिये। इन बातों की जानकारी श्रीमालिनी विजयोत्तर-तन्त्र से होती है। वहाँ इन बातों को चर्चा करने के लिये जो उक्तियाँ दी गयी हैं, उनके अनुसार यही उचित है कि, गुरु के दैनिक चरित्र और व्यवहार, उसके शुभ और अशुद्ध या अशुभ कर्म की खाज-बीन नहीं करनी चाहिये।

गुरु स्वयं इस बात का साक्षी होता है कि, क्या उचित है और क्या अनुचित।[1] क्या उपयुक्त है और क्या अयुक्त। वह इस विषय का विशेषज्ञ होता है। यदि वह सचमुच किसी अकार्य में लिप्त है, या आसक्त है, वह किसी के प्राणों के अपहरण जैसे और द्रव्यों के अपहरण सदृश कार्य में लगा

---

१. श्री मा० वि० १८।७०-७३

अकार्येषु यदा सक्तः प्राणद्रव्यापहारिषु ।
तदा निवारणीयोऽसौ प्रणतेन विपश्चिता ॥ ८५ ॥
विशेषणमकार्याणामुक्ताभिप्रायमेव यत् ।
तेनातिवार्यमाणोऽपि यद्यसौ न निवर्तते ॥ ८६ ॥
तदान्यत्र क्वचिद्गत्वा शिवमेवानुचिन्तयेत् ।

हो, तो विज्ञ शिष्य द्वारा बड़ी ही नम्रता से उसे उस अकार्य से विरत करना चाहिये।

उससे यह विनम्र निवेदन करना चाहिये कि, गुरुदेव अकार्य का यह दुष्परिणाम होता है। प्राण और द्रव्यापहार आदि लौकिक कार्य हैं। आप तो अलौकिक पुरुष शिरोमणि हैं। आप इन कार्यों से विरत रहें, इसी में आप की भलाई और आप की गुरु परम्परा की मर्यादा की रक्षा है। इस प्रकार अकार्य से निवारण करने का प्रयत्न करना चाहिये। मान लीजिये कि,

इस प्रकार को विनम्र प्रार्थना के उपरान्त भी यदि वह उन अकार्यों के आचरण से विरत नहीं होता, तो उसे फिर समझाने को चेष्टा व्यर्थ समझ कर कहीं अन्यत्र चले जाना चाहिये और अब भगवान् भरोसे उसे छोड़ कर शिव के अनुचिन्तन में ही रम जाना चाहिये। इस प्रसङ्ग में कुछ शब्द प्रयोगों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। जैसे,

१—श्लको ८४ में ही 'अन्वेषयेत्' प्रयोग आया है। उसके सम्बन्ध में आगम प्रामाण्य प्रस्तुत कर रहे है—

"प्रपित्सा की स्थिति में जो विद्वान् शिष्य गुरु के सम्यक् आचार-विचार का अनुसन्धान करता है, वही सद्गुरु के सन्निध्य का सौभाग्य प्राप्त कर सकता है। सद्गुरु की प्राप्ति से अनुगृहीत होकर वह शीघ्र ही शिवत्व की उपलब्धि कर सकता है। 'प्रपित्सा' का अर्थ यियासा या 'जिगमिषा' होता है। पद् गत्यर्थक या पत्लृ गत्यर्थक धातुओं से 'पित्सा' सन्नन्त प्रयोग बनता है। इसमें 'प्र' उपसर्ग लगाने से प्रपित्सा शब्द बनता है। यह शिवेच्छा पर

नान्वेषयेदिति । यदुक्तं

'प्रपित्सायां समाचारं गुरोरन्वेषयेत यः ।
स सद्‌गुरुं समासाद्य शीघ्रं शिवमवाप्नुयात् ॥
ऊर्ध्वं तत्पादपतनान्नास्य कांचन कालिकाम् ।
गृह्णीयात्सा मलिनयेच्छिष्यस्येवोज्ज्वलां धियम् ॥' इति ।

स एव विजानातीति तस्यैव शास्त्रापारङ्गमत्वात् । उक्ताभिप्रायमिति प्राणद्रव्यापहारित्वस्य लौकिकत्वात् ॥

निर्भर है। प्रपित्सा से गुरु विषयक अनुसन्धान और गुरु के सामीप्य का लाभ होता है। पतन अर्थ में निष्पन्न प्रपित्सा का अर्थ उदित होते हुए गुरु रूपी सूर्य के रश्मिसंपात की आकांक्षा भी हो सकता है। गुरु की अनुग्रह की किरणें जिस समय शिष्य पर पड़ती हैं, उनमें प्रपित्सा ही होती है। उसमें शिष्य को गुरु के महत्त्व का ही अनुसन्धान करना चाहिये।

जब किरणें ऊपर की ओर उठती हैं, वह अवस्था किरणों के ऊर्ध्व पतन की होती है। सूरज की भुवर्लोक से स्वर्लोक की ओर ऊपर जाने वाली किरणों से भूलोक का कोई लाभ नहीं होता। उसी तरह गुरु का अनुग्रह सम्पात न होकर वह गुरु के गौरव-परिवेश में ही रहे, तो उससे शिष्य को कलुष-कलङ्क-कालिमा का विनाश नहीं होता अपितु उसकी बुद्धि को ही अप्रकाश से मलिन कर देता है।"

दूसरा प्रयोग भी उसी श्लोक में है—

२. स एव तद्विजानाति—वही उस विषय से सम्बद्ध शास्त्रों में पारङ्गत होता है। गुरु ही जानता है कि, यह कार्य युक्त है। या अयुक्त? इसलिये उसी पर छोड़ देना चाहिये।

३. तीसरा प्रयोग है—'उक्ताभिप्रायम्'। उक्त अर्थात् पहले कही गयी लौकिक और शास्त्रीय दोषों की बातों से प्राण और द्रव्य आदि के अपहरण करने की प्रामाणिकता की बात। इस प्रकार के स्पष्टीकरण से ज्ञात हो जाता है कि, यह प्राणों और द्रव्य दोनों का अपहरण करता है॥ ८३-८६ ॥

ननु यद्येवमसौ कार्याकार्यविवेकं न जानोयात्, तत्

'गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते ॥'

इत्यादिदृशा तस्य परित्याग एव क्रियतां, किमन्यत्र गमनेनेत्याशङ्क्याह

न ह्यस्य स गुरुत्वे स्याद्दोषो येनोषरे कृषिम् ॥ ८७ ॥
कुर्याद्व्रजेन्निशायां वा स त्वर्थप्राणहारकः।
तदीयाप्रियभोरुस्तु परं तादृशमाचरेत् ॥ ८८ ॥
यतस्तदप्रियं नैव शृणुयादिति भाषितम्।

यहाँ गुरु विषयक एक जिज्ञासा लेकर जिज्ञासु उपस्थित है। वह कहता है कि, महाभारत के एक प्रसङ्ग में कहा गया है कि,

"जा गुरु स्वात्म में वृथाभिमान रूप अवलेप से अवलिप्त है, कार्य और अकार्य का निर्णय करने में असमर्थ है और उत्पथ अर्थात् लोकशास्त्र विरुद्ध आचार मार्ग में प्रतिपन्न है, उसका परित्याग कर देना चाहिये।"

इस उक्ति के अनुसार उत्पथ प्रतिपन्न गुरु का परित्याग ही श्रेयस्कर है। फिर श्लाक ८।७ को पूर्व अर्धालो में अन्यत्र गमन को बात कहने का क्या रहस्य है ? इसी प्रश्न का समाधान कर रहे हैं—

वस्तुतः शिष्य ने बड़े विनम्र भाव से गुरु को अकार्य से निवारित करने का प्रयत्न किया था। अतः कहा जा सकता है कि, इस विज्ञ और विनम्र शिष्य ने ता उचित कार्य हो किया है। इसका कोई दोष नहीं। यह दाष गुरुत्व के स्तर का हो है। एतद्विषयक एक सूक्ति है—'ऊषरे कृषिं न कुर्यात्'। ऊसर भूमि में खेती नहीं करते। समझाया तो शिष्य को हो जा सकता है। गुरु तो गुरु ही ठहरा। वह शिष्य को बात क्यों मानने लगे। इसलिये योग्य शिष्य को हो कहा गया कि, वह जो नहीं समझता या मानता है, उसे मनाना छाड़ दे। इस अर्थ में गुरु में लगो वह आदत ऊसर बन गयी है। वह ऊसर में खेती कर रहा है।

नच एतदस्मच्छास्त्र एवोक्तमित्याह

श्रीमातङ्गे तदुक्तं च नाधीतं भूमभीतितः ॥ ८९ ॥

भूमभीतित इति ग्रन्थविस्तरभयादित्यर्थः तत् ततः स्वयमेव चर्यापादादेरनुसर्तव्यम् ॥ ८९ ॥

रात की यात्रा भी भयावह होती है। उसमें प्राणों के जाने का भय बना रहता है। लुटेरों द्वारा लूट लिये जाने का भी भय रहता है। इस प्राण और अर्थ हरण करने वाली रात की यात्रा में लिप्त व्यक्ति की तरह ही गुरु स्तरीय व्यक्ति को कुछ कहने की बात है। यदि वह कुछ क्षुब्ध होकर शाप ही पर उतारू हो जाय, तो लेने के देने पड़ जाँय। अतः इस विज्ञ शिष्य के इस उत्तम और उदार भाव को दृष्टि से यही कहा गया है कि, वह कहीं एकान्त में जाकर शिव का ही अनुचिन्तन करे और शैवमहाभाव में भावित होकर स्वात्म उत्कर्ष में संलग्न हो जाय।

योग्य शिष्य गुरु का अप्रिय भी नहीं चाहता। अप्रियभीरु होता है वह। शास्त्र में यह कहा भी गया है कि, वह गुरु का अप्रिय अर्थात् निन्दा या दुर्गुण न सुने। इसलिये किसी अनावश्यक एवम् अनाहूत प्रपञ्च में वह न पड़े और कहीं अन्यत्र जाकर शिवानुध्यान में निमग्न हो जाय। यह बात हमारे शास्त्र में ही कही गयी है[1]। ये सारी बातें श्रद्धा और समयाचार की पराकाष्ठा हैं, यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है ॥ ८७-८८ ॥

ये तथ्य केवल त्रिक परम्परा में ही नहीं कहे गये हैं अपितु इनका अन्य शास्त्रों में भी उल्लेख है। यही कह रहे हैं—

श्री मातङ्ग की भी यही मान्यता है। वहाँ भी इस तरह की बातों का उल्लेख है। आचार्य जयरथ कह रहे हैं कि, उन उक्तियों को मैं यहाँ देना तो चाहता था किन्तु भूमभीति से अर्थात् ग्रन्थ विस्तार के भय से मैं यहाँ नहीं पढ़ रहा हूँ। वहाँ से ही चर्यापाद आदि में आये इस विषय का अध्ययन कर लेना चाहिये ॥ ८९ ॥

---

१. श्रीमा० वि० १८।७२-७३।

ननु यावत्तेनैव नोद्धृत इति किं गुर्वन्तरव्यवच्छेदपरमवधारणम्, उत स्वतोविवेकनिषेधपरमपीत्याशङ्क्याह

यच्चैतदुक्तमेतावत्कर्तव्यमिति तद्ध्रुवम् ।
तीव्रशक्तिगृहीतानां स्वयमेव हृदि स्फुरेत् ॥ ९० ॥

यद्येवं, तत्कृतं गुरुणेत्याशङ्क्याह

उपदेशस्त्वयं मन्दमध्यशक्तेर्निजां क्रमात् ।
शक्तिं ज्वलयितुं प्रोक्तः सा ह्येवं जाज्वलीत्यलम् ॥ ९१ ॥

यहाँ श्लोक ७३ में आये हुए (प्रयुक्त) एकशब्द के सम्बन्ध में तर्क वितर्क प्रस्तुत कर रहे हैं। वह शब्द है—"यावत्तेनैव नोद्धृतः"[1]। इसका अर्थ है, जब तक उसी दैशिक द्वारा उस ज्ञानापहारित शिष्य का उद्धार न कर लिया जाय। इस सन्दर्भ में यह पूछ रहे हैं कि, क्या यह अवधारण (कथन) गुर्वन्तर से व्यवच्छेद परक है अथवा स्वयम् गुरु द्वारा उसके अविवेक को उससे हटाने अर्थ में प्रयुक्त अर्थात् अविवेक निषेध परक है ? इस आशङ्का का समाधान कर रहे हैं—

श्लोक ७३ में और मा० वि० के १८।६७ में प्रयुक्त 'एव' शब्द अवधारणार्थक है। यह अवधारण गुर्वन्तर का निषेध करता है और साथ ही स्वयं गुरु द्वारा शिष्य के अविवेक को नष्ट कर उद्धार करने का निश्चय भी व्यक्त करता है। ऐसी स्थिति में यह कर्त्तव्य है, इस प्रकार का जो अवधारणात्मक उल्लास है, यह निश्चय ही तीव्र शक्तिपात से अनुगृहीत होने वाले शिष्य के हृदय में स्वभावतः स्फुरित होता है। अर्थात् वहाँ प्रयुक्त यह अवधारण गुर्वन्तर व्यवच्छेद परक ही है ॥ ९० ॥

यहाँ यह समस्या सामने आती है कि, यदि किसी की अपेक्षा के बिना स्वतः स्फुरित संज्ञान हो सकता है, तो फिर गुरु की क्या आवश्यकता ? इस पर शास्त्रकार कह रहे हैं कि, यह उपदेश इस उद्देश्य से किया गया है कि, मन्द और मध्य शक्तिपात से उनका जो स्तर बन चुका है, उससे भी

---

१. श्रीमा० वि० १८।६७।

एतदेव दृष्टान्तयति

दृढानुरागसुभगसंरम्भाभोगभागिनः ।
स्वोल्लासि स्मरसर्वस्वं दार्ढ्यायान्यत्र दृश्यते ॥ ९२ ॥

अन्यत्रेति अदृढानुरागे ॥ ९२ ॥

ऊपर उठकर स्वात्मशक्ति में उस ओजस्विनी ऊर्जा को जागृत कर दें ताकि शक्तिसम्भूत बोध के प्रकाश से स्वात्मसंवित् का साक्षात्कार कर शिष्य विपश्चित् अपना जीवन धन्य बना सके ! उसकी प्रतिभा की प्रकाश रश्मियों में ज्ञान जाज्वल्यमान हो उठे। यहाँ 'अलं' शब्द का प्रयोग त्रिक-दर्शन की पूर्णार्थी प्रक्रिया की सम्पूर्णता की ओर संकेत कर रहा है ॥ ९१ ॥

इसको दृष्टान्त के माध्यम से स्पष्ट कर रहे हैं—

स्त्री और पुरुष पहले पृथक् रहते हैं। सामान्य सम्पर्क होने पर भी उनमें पारस्परिक अनुराग की दृढ़ता नहीं होती। वही सम्पर्क यदि परि-स्थिति वश क्रमशः प्रगाढता में परिणत होने लग जाता है, तो दोनों हृदयों में एक स्वतः उल्लासी सर्वसम्बन्धातिशायी स्नेह का समुद्र उमड़ने लग जाता है। यह दो प्रेमियों में और दाम्पत्यसूत्र के बन्धन में बँधने वाले सौभाग्य-शाली दम्पतियों की ऐक्यानुभूति का दार्ढ्य कहलाता है। दृढ अनुराग की रम्यता भरी आवेग संवेग की स्निध तरङ्ग मालिकाओं का मेलन, एक अभिनव उल्लास, एक नये आयाम और एक आभोग भरे विस्तार को जन्म देता है। आनन्दोपभोग-परमास्पद ये प्रेमी युगल, ये चर्याचारी स्त्री पुरुष अब पार्थक्य प्रथा को विस्मृत कर एक हो जाते हैं। यह स्वतः समुल्लसित स्मरसर्वस्व सारभूत परमानन्दसन्दोह की महानुभूति का परम चरम क्षण होता है। सामान्य कामानन्द नहीं होता, यह संभोग का हठ नहीं होता। यह परम प्राप्य 'काम' है, जिसे योगी समाधि में पा लेता है। अब उसे दूसरा कुछ पाना शेष नहीं रह जाता। जहाँ दृढ अनुराग का अभाव है, वहाँ इसका नितान्त अभाव होता है ॥ ९२ ॥

ननु सर्वोऽयमणुवर्गः चित एव परिस्फुरति, सा च सर्वत्रापि अविशिष्टा, तत्कथमिदमसमञ्जसं दृष्टान्तितं यत् कस्यचित् स्वत एव एवंरूपत्वमुल्लसेत्, कस्यचिच्च अन्यदित्याशङ्क्याह

नन्वेष कस्माद्दृष्टान्तः किमेतेनाशुभं कृतम् ।
चित्स्पन्दः सर्वगो भिन्नादुपाधेः स तथा तथा ॥ ९३ ॥

एतदेवोत्तरयति किमित्यादिना । ननु किं नामैतेन दृष्टान्तेन असमञ्जसीकृतम् । हि चित्स्पन्दः सर्वत्र अविशिष्टोऽपि तत्तद्भिन्नोपाधिदौरात्म्यात् तथा तथा विचित्रतामाश्रयेदित्यर्थः ॥ ९३ ॥

तामेव विचित्रतां दर्शयति

भवेत्कोऽपि तिरोभूतः पुनरुन्मुखितोऽपि सन् ।
विनापि देशिकात्प्राग्वत्स्वयमेव विमुच्यते ॥ ९४ ॥

प्रश्न करते हैं कि, यह सारा का सारा अणुवर्ग भी चित् का ही स्फुरण है । उसी चित् तत्त्व से स्फुरित होता है । चित् शक्ति सर्वत्र सामान्य भाव से व्याप्त है । ऐसी दशा में यह दृष्टान्त चरितार्थ नहीं प्रतीत होता । चित् का किसी रूप में असमञ्जस उल्लास नहीं होना चाहिये । वहाँ तो एकत्र स्वतः उल्लास होता है, यह कहा गया है और अन्यत्र अनुल्लास की बात भी कही गयी है । ऐसा क्यों ? इस पर अपने विचार पुनः व्यक्त कर रहे हैं—

शास्त्रकार कह रहे हैं कि, इस दृष्टान्त में कोई असामञ्जस्य नहीं है । प्रश्नकर्त्ता जी, जरा पुनर्विचार करें । इसमें आप को असामञ्जस्य के दर्शन कैसे हो गये ? इस दृष्टान्त ने क्या बिगाड़ा है आपका ? भाई, यह तो एकदम स्पष्ट बात है कि, 'चित्' शक्ति का स्पन्द सामान्यतः सार्वत्रिक होता है । यह प्रपञ्चवैचित्र्यात्मक भेदोल्लास तो उपाधि का ही दौरात्म्य माना जा सकता है । इस औपाधिक भेदवाद से भ्रान्त नहीं होना चाहिये । दृष्टि को विस्तार देने की आवश्यकता का अनुभव कीजिये ॥ ९३ ॥

सन्नपीति प्रागपि योज्यम्। प्राग्वदिति त्रयोदशाह्निकादौ प्रोक्तक्रमेणेत्यर्थः ॥ ९४ ॥

ननु तिरोभूतोऽपि किं सांसिद्धिकज्ञानभाग्भवेदित्याशङ्क्याह

प्रकारस्त्वेष नात्रोक्तः शक्तिपातबलाद्गतः ।
असंभाव्यतया चात्र दृढकोपप्रसादवत् ॥ ९५ ॥

नहि अयमत्र तिरोभूते सांसिद्धिकलक्षणः प्रकार उक्तः, किन्तु प्रकरणात् संभवमात्राभिप्रायेण प्रदर्शितो यदयं तिरोभूतः शक्तिपातबलात् गतो मन्दमन्दप्रायशक्तिपातभागित्यर्थः । असंभावनीयं चैतत् यथाहि राजादिना

उसी वैचित्र्य की चर्चा कर रहे हैं—

कोई शिष्य असावधानी और प्रमादवश तिरोहित हो जाता है। वही औन्मुख्य के प्रभाव से बिना दैशिक के सहारे के स्वयं प्रत्यभिज्ञान के बल पर मझधार का पार पा लेता है। इसमें शर्त्त एक ही है कि, आत्मौन्मुख्य हो। मुक्ति हस्तामलकवत् स्वतः समुपलब्ध हो जाती है। इस विषय की चर्चा तेरहवें आदि आह्निकों में भी है। स्वाध्यायशील जिज्ञासुओं को यथासन्दर्भ उनका अनुशीलन करना चाहिये ॥ ९४ ॥

प्रश्नकर्त्ता पूछता है कि, भगवन्! क्या तिरोहित शिष्य भी सांसिद्धिक ज्ञानवान् हा सकता है? यह ज्ञानापहरण प्रक्रिया की कड़ी का ही एक अन्तिम प्रश्न है। भगवान् शास्त्रकार कहते हैं कि, यहाँ तिरोभूत शिष्य में सांसिद्धिकता का उदय कैसे होता है या हो सकता है? इसका यहाँ संदर्भ नहीं। इसीलिये यहाँ उस लक्षण की उत्पत्ति का कोई उपाय या प्रकार भी प्रदर्शित नहीं किया गया है। यहाँ प्रकरणवश इतना संकेत मात्र किया गया है कि, तिरोभूत का शक्तिपात की मन्दता के कारण उस पथ का पथिक बन सकना कितना कठिन है। कहाँ उसका उत्कर्ष अपेक्षित था और कहाँ वह शक्तिपात के क्रमिक अपकर्ष का शिकार होता गया।

जैसे कोई व्यक्ति किसी का कोप का भाजन बन गया हो, अथवा राजा के क्रोध से कोई व्यक्ति कारागार में डाल दिया गया हो, तो उसका प्रसाद प्राप्त कर कृपापात्र बनना कितना कठिन होता है। कृपा कोप की निवृत्ति पर ही संभव है। कोप और कृपा साथ ही साथ नहीं चल सकते। इसमें कोपभाजन

दृढतया कोपपात्रीकृतस्य कस्यचित् विना परोपरोधं समनन्तरमेव तदीयः प्रसादो न भवेत्, तथा अस्यापि विना देशिकं कथङ्कारं स्वयमेव ज्ञानमाविर्भवेत्। इयता च विषयद्वारेण ज्ञानापहरणमेव विभक्तम् ॥ ९५ ॥

एतच्च गुरोरवश्यं पालनीयमित्याह

इत्येष यो गुरोः प्रोक्तो विधिस्तं पालयेद्गुरुः।
अन्यथा न शिवं यायाच्छ्रीमत्सारे च वर्णितम् ॥ ९६ ॥

श्रीत्रिकसारोक्तमेव पठति

अन्यायं ये प्रकुर्वन्ति शास्त्रार्थं वर्जयन्त्यलन्।
तेऽर्धनारीशपुरगा गुरवः समयच्युताः ॥ ९७ ॥

के लिये किसी का सहारा चाहिये ही। विना अनुरोध या उपरोध के उसके ऊपर प्रसाद रूप कृपा नहीं हो सकती। उसी तरह तिरोहित शिष्य का उद्धार देशिक गुरु-प्रसाद के बिना असंभव ही है। उसमें स्वयं ज्ञान के आविर्भाव की क्षमता का अभाव हो गया होता है। जिसने ज्ञान का अपहरण किया है, वही उसे ज्ञान से समन्वित करने की शक्ति भी रखता है। जो क्रमशः अपकार्य की आर ही फिसलता गया है, उसमें शिवौन्मुख्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि, तिरोहित पुनः गुरु के शरण में आकर ही सांसिद्धिकता की ओर अग्रसर हो सकता है ॥ ९५ ॥

गुरु के भी कुछ नियम होते हैं, जिनका पालन करना अनिवार्य होता है। उन्हीं नित्य पालनीय नियमों के सम्बन्ध में निर्देश दे रहे हैं—

शास्त्रकार विधिवाक्य का प्रयोग कर एक प्रकार से यह निर्देश ही दे रहे हैं कि, गुरु के लिये पालनीय जिस विधि का कथन पहले किया गया है, उसका पालन अनिवार्यतः करना चाहिये। ऐसा न करने पर शिवैक्यसमापत्ति असंभव हो जाती है। श्रीत्रिकसार शास्त्र में भी यह बात कही गयी है ॥९६॥

श्री त्रिकसार शास्त्र के श्लोक का ही यहाँ उपयोग कर रहे हैं। वहाँ कहा गया है कि,

अर्धनारीशपुरेति । यदुक्तं तत्र

'उपरिष्टाद्बिन्दुतत्त्वमीश्वरस्तत्र देवता ।
विधिः समयिनां तत्र कथितस्तव निश्चितम् ।

तदूर्ध्वे अर्धनारीशो महाभुवनसंकुलः ।
स्कन्दयामलतन्त्रे तु अनन्तः परिकीर्तितः ॥

समयाचारभ्रष्टानामाचार्याणां, यशस्विनि ।
निरोधकत्वे संतिष्ठेदित्याज्ञा पारमेश्वरी ।

अन्यायं ये प्रकुर्वन्ति ग्रन्थार्थं नार्थयन्ति ये ।
तेषां तत्र निवासस्तु अन्यायपथवर्तिनाम् ॥' इति ॥ ९७ ॥

जो अन्याय करते हैं और शास्त्र के रहस्य वचनों का अनादर करते हैं, वे अर्धनारीश पुर में निवास करने के लिये बाध्य होते हैं। इसका कारण उनके द्वारा पालनीय समयाचार का उलङ्घन ही है। वे अपने कर्त्तव्य से च्युत हो जाते हैं। अर्धनारीशपुर के सम्बन्ध में आगम प्रामाण्य प्रस्तुत कर रहे हैं—

"ऊपर विन्दुतत्त्व का परिवेश है। वहाँ के देवता ईश्वर हैं। समयी पुरुषों का वहाँ अवस्थान होता है और समय-विधि का वहाँ पूर्णतया परिपालन निश्चित रूप से होता है। भगवान् शङ्कर कह रहे हैं कि, उस विधि का कथन प्रिये पार्वती ! तुमसे किया गया। उसके ऊपर अर्धनारीश का स्थान है। वह असंख्य भुवनों से भरा हुआ अर्धनारीश मण्डल है। स्कन्द यामल तन्त्र में इस मण्डल का उल्लेख है। यह भी अन्ततः तुमसे निवेदित किया गया है। हे यशस्विनि प्रिये ! वह समयाचार से च्युत आचार्यों का अवस्थान है। यह पारमेश्वर समादेश है कि, समयाचार से च्युत आचार्य वहीं निरुद्ध कर रक्खे जाँय। जो आचार्य न्याय सम्मत सिद्धान्तों की उपेक्षा कर अन्याय करते हैं, अथवा जो शास्त्र के अर्थों के प्रति औदासीन्य अपनाते हैं, उनका अन्वर्थतः परिपालन नहीं करते, उन लोगों का वहीं निर्धारित निवास है। ऐसे लोग निश्चित ही अन्याय पथवर्त्ती कहलाते हैं।"

इससे यह सिद्ध होता है कि, गुरु भी स्वैर आचरण नहीं कर सकते। इनके लिये भी शास्त्रों में समयाचार का पालन अनिवार्य माना गया है ॥९७॥

एतच्च न केवलमत्रैवोक्तं, यावदागमान्तरेष्वपीत्याह

अन्यत्राप्यधिकारं च नेयाद्विद्येशतां व्रजेत् ।
अन्यत्र समयत्यागात्क्रव्यादत्वं शतं समाः ॥ ९८ ॥

यदुक्तम्

'अधिकारं न चेत्कुर्याद्विद्येशः स्यात्तनुक्षये ।' इति ।

तथा

'समयोल्लङ्घनाद्देवि क्रव्यादत्वं शतं समाः ।' इति च ॥ ९८ ॥

अत्रैव वाक्यत्रये तात्पर्यतो विषयविभागमाचष्टे

यह बात केवल श्री त्रिकसार शास्त्र में ही नहीं, वरन् अन्यत्र आगमों में भी कही गयी है। वही कह रहे हैं—

अन्य आगमों में भी यह तथ्य कई प्रकार से उक्त है। अधिकार को यदि न प्राप्त किया जा सकेगा, तो उसका परिणाम विद्येशता की प्राप्ति हो सकती है। अन्यत्र यह भी उल्लेख है कि, समय के त्याग से क्रव्यादत्व की प्राप्ति होती है। वह भी एक दो साल के लिये नहीं वरन् पूरे सौ वर्षों तक यह अभिशाप उसे अभिशप्त बनाये रख सकते हैं। इसी तथ्य को एक आगम इस प्रकार वर्णन करता है—

"शास्त्र में निर्धारित अधिकार का उपयोग न करने से शरीरपात होने पर विद्येशत्व की प्राप्ति होती है।"

दूसरी एक उक्ति के अनुसार—

"भगवान् कहते हैं कि, हे प्रिये पार्वति! समय के उल्लङ्घन के परिणाम वस्रूप सौ वर्षों तक क्रव्याद बन कर भोग भोगना पड़ता है।"

यह फलश्रुति बड़ी भयङ्कर है। सौ वर्षों तक क्रव्यादत्व का जीवन अप्रकल्पनीय अपभोग है। ऐसी उक्तियाँ शिवोक्तियाँ नहीं हो सकतीं। सम्प्रदायानुरोध से ही ऐसी बातें कही जा सकती हैं॥ ९८॥

आगमान्तरों की इन उक्तियों से जिस उद्देश्य की सिद्धि का दृष्टिकोण रहा होगा, तात्पर्यतः उन्हें तीन वाक्यों से स्पष्ट किया जा रहा है—

इयत्तत्रत्यतात्पर्यं　सिद्धान्तगुरुरुन्नयः ।
भवेत्पिशाचविद्येशः शुद्ध एव तु तान्त्रिकः ॥ ९९ ॥
षडर्धदैशिकश्चार्धनारीशभुवनस्थितिः　।

उन्नय इति उल्लङ्घितसमय इत्यर्थः । एतच्च उत्तरत्रापि योज्यम् । शुद्ध इति साक्षाद्विद्येशरूपः । तान्त्रिको भैरवायदर्शनादिनिष्ठः ॥

अत्रापि विषयविभागमाह

---

१. सिद्धान्तगुरुरुन्नयः—सिद्धान्तगुरुः+उन्नयः ये दो सामानाधिकरण्य में प्रयुक्त शब्द हैं। इसमें उन्नय शब्द उस गुरु का विशेषण है, जो सम्प्रदाय की मर्यादाओं का और समयाचार का उल्लङ्घन करता है। यदि वह सिद्धान्त गुरु है और समय का उल्लङ्घन करता है, वह पिशाच विद्येश होता है। जयरथ ने ऐसे गुरु को उल्लङ्घित शासन कहा भी है।

२. यदि उन्नय गुरु तान्त्रिक है, तो वह साक्षात् विद्येश होता है। तान्त्रिक गुरु श्रेणी में आने वाले यों तो कई सम्प्रदाय हैं किन्तु यहाँ भैरवीय दर्शन का विशेषतः उल्लेख है। आचार्य जयरथ ने आदि शब्द का प्रयोग कर उनकी निष्ठा की ओर संकेतित किया है।

३. यदि वह उन्नेता षडर्ध दैशिक है अर्थात् प्रत्यभिज्ञा दर्शनादिनिष्ठ गुरु है, तो वह अर्धनारीशभुवन में ही निवास पा सकता है। यहाँ उन्नय शब्द का अन्वय तीनों दृष्टियों के अनुसार समय के उल्लङ्घन करने वाले गुरुओं के साथ अन्वित किया गया है।

इस प्रकार सिद्धान्त गुरु, तान्त्रिक और त्रिक दार्शनिक इन श्रेणियों में आने वाले गुरुजनों की यहाँ चर्चा है। ये लोग भी यह अकार्य करते पाये गये हैं। अपनी सम्प्रदाय-सीमा का उल्लङ्घन करते हैं। ऐसे लोगों के लिये ही यह कहा गया है कि, देहपात के अनन्तर इनको वहाँ अवस्थिति होगी। इन्हें अपनी मुक्ति की चिन्ता करनी चाहिये। यह तीनों तात्पर्य दृष्टि से उन्नीत विभागों का एक मात्र निचोड़ है ॥ ९९ ॥

तात्पर्यतः किये गये इस विषय विभाग का पुनः दो दृष्टियों से विषय-विभाग कर रहे हैं—

एषा कर्मप्रधानानां गुरूणां गतिरुच्यते ॥ १०० ॥
ज्ञानिनां चैष नो बन्ध इति सर्वत्र वर्णितम् ।

इदानीं साधकत्वमभिधातुं तदभिषेके पूर्वोक्तं विधिमतिदिशति

साधकस्याभिषेकेऽपि सर्वोऽयं कथ्यते विधिः ॥ १०१ ॥

---

१. कर्म प्रधान गुरु दृष्टि और २. ज्ञानवान् गुरु दृष्टि। कर्म प्रधान वे गुरु होते हैं, जो बुभुक्षु श्रेणी में आते हैं। पिशाच विद्येश, शुद्ध विद्येश और अर्धनारीश गतियाँ कर्म प्रधान गुरुजनों की होती हैं। इसलिये इन श्रेणियों में आने वाले गुरुजनों को सदा सावधान और सचेत होकर ही जीवन यापन करना चाहिये ताकि किसी प्रकार निर्धारित संप्रदाय-सीमा का अतिक्रमण न'हो सके।

जहाँ तक ज्ञानवान् गुरुजनों का प्रश्न है, वे तो विधि-निषेध से ऊपर उठे हुए स्वयं शिवरूप ही होते हैं। इस स्तर पर बुभुक्षु की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इनके लिये स्वयं मुक्ति सदा तैयार रहती है कि, ये जब भी इच्छा मृत्यु अपनायें, या इस भौतिक देह का परित्याग करें, इन्हें शिवैक्य-समापत्ति रूप त्वरित परिणाम मिल सके।

इन दोनों दृष्टियों से गुरुत्व के संदर्भ का साक्षात्कार हो जाता है। अध्येता यह निर्णय कर लेता है कि, ज्ञानवान् गुरु ही सर्वश्रेष्ठ गुरु होता है। इसके सान्निध्य से ही श्रेयःसिद्धि संभव है ॥ १०० ॥

साधक का साधकत्व भी उसके अभिषेक से ही पूर्ण माना जाता है। यहाँ जिस विधि का निर्देश किया गया है, इसका साधक के अभिषेक में भी प्रयोग होता है। इसका कथन ही अतिदेश होता है। एक विधि का एक क्षेत्र और एक परिवेश होता है। उसको अतिक्रान्त कर यदि कोई देशना अन्यत्र भी लागू होती है, तो वह अतिदेश विधि कहलाती है। विपश्चित् शिष्य हेतु ज्ञानवान् गुरु से दीक्षा लेकर विशिष्ट विधि-पालन का निर्देश शास्त्र कर रहा है। यही विधि साधक के अभिषेक प्रक्रिया में भी प्रवर्त्तित होगी, इसी का अतिदेश किया गया है ॥ १०१ ॥

अत्रापि विशेषमाह

अधिकारार्पणं नात्र नच विद्याव्रतं किल ।
साध्यमन्त्रार्पणं त्वत्र स्वोपयोगिक्रियाक्रमे ॥ १०२ ॥
समस्तेऽप्युपदेशः स्यान्निजोपकरणार्पणम् ।

उपदेश इति । यदुक्तम्

'अनयोः कथयेज्ज्ञानं त्रिविधं सम्यगप्यलम् ।
स्वकीयाज्ञां ददेद्योगी स्वक्रियाकरणं प्रति ॥' इति ।

साधक के अभिषेक में जिस विधि के लागू होने का अतिदेश किया गया है, उसके सम्बन्ध में कुछ विशेष निर्देश कर रहे हैं—

अधिकार का अर्पण कर दैशिक, शिष्य के ऊपर सम्प्रदाय-सञ्चालन का पूरा भार सौंप देता है । यह चर्चा पहले आ चुकी है[1] । यहाँ अधिकार का अर्पण नहीं होता । साधना पूरी होने पर साधक का अभिषेक तो करते हैं परन्तु गुरु अपने अधिकार का अर्पण नहीं करता ।

दूसरी विशेष बात यह है कि, इसमें विद्याव्रत का आचरण नहीं करना पड़ता । केवल साधना की सिद्धि के उद्देश्य से साध्यमन्त्र का अर्पण करने का ही विधान है । इसमें भी इस बात को ध्यान में रखना चाहिये कि, प्रक्रिया के क्रम में उस मन्त्र का ही अर्पण करना चाहिये, जिसकी साधना के उत्कर्ष में उपयोगिता हो ।

तीसरी और सबसे महत्त्वपूर्ण बात है—उपदेश देने की । संसार की सारी बातें एक ओर और उपदेश दूसरी ओर । गुरु द्वारा सर्व विषयक ज्ञान प्रदान करना ही शिष्य के उत्कर्ष का सबसे बड़ा हेतु है । इस विषय में आगम कहता है कि,

"साधक और शिष्य इन दोनों को दृष्टि में रख का ज्ञान का उपदेश करना चाहिये । पर, अपर और परापर अथवा आध्यामित्क, आधिदैविक और आधिभौतिक तीनों प्रकार के ज्ञान उन्हें देना ही चाहिये, जिसे वे सम्यक् रूप

---

१. श्रीत० २३।२५ २. श्रीत० २१।३९

निजोपकरण इति । यदुक्तं

'साधकस्याधिकारार्थमक्षमालादि कल्पयेत् ।
मन्त्रकल्पाक्षसूत्रं च खटिकां छत्रपादुके ॥
उष्णीषरहितं दत्त्वा प्रविश्य शिवसंनिधौ ।
साध्यमन्त्रं ददेत्पश्चात्पुष्पोदकसमन्वितम् ॥ इति ॥ १०३ ॥

एतदेव प्रथमार्धेनोपसंहरति

अभिषेकविधिर्निरूपितः परमेशेन यथा निरूपितः ॥ १०३ ॥

इति शिवम् ॥ १०३ ॥

से स्पष्टतया समझ सकें । शैवमहाभाव में सतत संयुक्त योगी उनको ऐसी आज्ञा प्रदान करे, जिससे अपनी चर्या को सुचारु रूप से चला सकें ।"

इसी तरह निजोषकरणार्पण के सम्बन्ध में भी आगम प्रामाण्य प्रस्तुत कर रहे है—

साधक के अधिकार को स्वरूप प्रदान करने के लिये उसे गुरु सर्वप्रथम आशीर्वाद रूप में एक रुद्राक्ष की माला अर्पित करे । आदि शब्द से उससे सम्बन्धित अन्य सामग्री जैसे जपमालिका आदि के साथ दे । मन्त्र कल्पित अक्षसूत्र, खटिका, छत्र, पादुका आदि भी शिष्य को प्रदान करना आवश्यक है । उसे उष्णीष (पगड़ी) प्रदान करना वर्जित है । इसके बाद मन्त्रमण्डप में प्रवेशकर भगवान् के सान्निध्य में शङ्कर को ही साक्षी मानकर साध्यमन्त्र प्रदान करना चाहिये । गुरु के हाथ में फूल और पवित्र उदक हो तभी शिष्य को उसे अर्पित करते हुए मन्त्र प्रदान करना ही श्रेयस्कर है ।"

उपकरणों के अर्पित करने में भी एक अभिनव अन्तर्दृष्टि है । इससे शिष्य का हृदय श्रद्धा से अभिभूत हो जाता है ॥ १०१-१०२ ॥

प्रस्तुत आह्निक-विषय का उपसंहार श्लोक की अर्धाली से कर रहे हैं और कह रहे हैं कि,

साधक के अभिषेक की विधि का परमेश्वर की निरूपित प्रक्रिया के अनुसार निरूपण किया गया । इति शिवम् ॥ १०३ ॥

श्रीसद्गुरुसेवारससनातनाभ्यासदुर्ललितवृत्तः ।
आह्निकमेतदमलमतिर्व्याकार्षीज्जयरथस्त्रयोविंशम् ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचिते
राजानकजयरथकृतविवेकाख्यव्याख्योपेते
श्रीतन्त्रालोके अभिषेकप्रकाशनं नाम
त्रयोविंशमाह्निकम् ॥ २३ ॥

सद्गुरु-सेवक दुर्ललित-वृत्त रहस्य-रसज्ञ ।
त्रयोविंश आह्निक-विवृति-कृत् जयरथ अर्थज्ञ ॥

× × × ×

हंसः प्रवर्षति परे शिवशक्तिपाते
सिक्तः विमर्शविशदः परमाम्बिकायाः ।
व्याख्यादनुग्रहबलादभिषेक-सूत्रम्
ह्याह्निकं त्रियुतविंशतिसांख्ययोगम् ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य श्रीमदभिनवगुप्तविरचित
राजानकजयरथकृतविवेकाभिख्यव्याख्योपेत
डॉ॰परमहंसमिश्रविरचितनीर-क्षीर-विवेकहिन्दीभाष्यसंवलित
श्रीतन्त्रालोक का तेईसवाँ आह्निक सम्पूर्ण ॥ २३ ॥

॥ शुभं भूयात् ॥

●

अथ

श्रीतन्त्रालोके

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचिते
श्रीराजानकजयरथकृतविवेकाख्यव्याख्योपेते

चतुर्विंशतितममाह्निकम्

यः परमामृतकुम्भे धाम्नि परे योजयेद्गतासुमपि ।
जगदात्मभद्रमूर्तिर्दिशतु शिवं भद्रमूर्तिर्वः ॥ १ ॥

इदानीं द्वितीयार्धेन अन्त्येष्टिविधिमभिधातुमुपक्रमते

अथ

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्य-श्रीमदभिनवगुप्तविरचित

श्रीजयरथविरचितविवेकाभिख्यव्याख्योपेत

डॉ० परमहंसमिश्र 'हंस' कृत-नीर-क्षीर-विवेक हिन्दीभाष्य संवलित

श्रीतन्त्रालोक

का

चौबीसवाँ आह्निक

परमामृतशिवकुम्भ में करते गत-असु-योग ।
भद्रमूर्त्ति जगदात्म शिव, दो शिवत्व शिवयोग ॥

इस आह्निक का आरम्भ गत आह्निक के अन्तिम श्लोक की द्वितीय अर्द्धाली से कर रहे हैं। इस आह्निक में अन्त्येष्टि विधि का उपक्रम है। शास्त्रकार इसे सुनने के लिये अध्येताओं का आवाहन कर रहे हैं। वे कहते हैं—

अथ शाम्भवशासनोदितां
सरहस्यां शृणुतान्त्यसंस्क्रियाम् ॥ १ ॥

तत्र अधिकारिस्वरूपं तावन्निरूपयति

सर्वेषामधरस्थानां गुर्वन्तानामपि स्फुटम् ।
शक्तिपातात्पुराप्रोक्तात्कुर्यादन्त्येष्टिदीक्षणम् ॥ २ ॥
ऊर्ध्वशासनगानां च समयोपहतात्मनाम् ।
अन्त्येष्टिदीक्षा कर्तव्या गुरुणा तत्त्ववेदिना ॥ ३ ॥

जिज्ञासुओ ! इस आह्निक के आरम्भ का उद्देश्य ही यह है कि, शाम्भव शासन में कही गयी रहस्यार्था अन्त्य-संस्क्रिया का परिज्ञान सबको हो जाय। मैं सबको यही अवगत कराने जा रहा हूँ। आप सभी इसे सुनें।

अन्य शास्त्रों में उद्दिष्ट अन्त्येष्टि को विधि में बड़ा आडम्बर है। उससे अन्त्येष्टि के उद्देश्य की पूर्ति नहीं होतो। इसे इष्टि की संज्ञा से विभूषित किया गया है। इसका रहस्य क्या है, इस ओर किसी का ध्यान नहीं गया है। अतः इस उपदेश के माध्यम से मैं उस रहस्य की ओर ही ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा। शास्त्रकार का यही सम्मत है। इसीलिये अन्त्येष्टि के विशेषण के रूप में सरहस्या शब्द का प्रयोग किया गया है। इस अन्त्यकालीन संस्कार का मानव जीवन में बड़ा महत्त्व है। यह बड़ी प्रेरक प्रक्रिया है। इसे अवश्य सुनना चाहिये। इसीलिये शृणुत क्रिया में बहुवचन का प्रयोग भी किया गया है ॥ १ ॥

सर्वप्रथम अधिकारी के स्वरूप का निरूपण कर रहे हैं—

अधर मार्ग जैसे वैष्णव आदि सम्प्रदाय में निष्ठ, शिष्य वृन्द या गुरुवर्ग या इसी श्रेणी के वे सभी लोग, जिनकी अभी दीक्षा नहीं हुई हो या जिनके शक्ति समन्वित रहने पर भी शक्ति का ह्रास हो चुका हो, उनकी अन्त्येष्टि दीक्षा के विधान का यहाँ सम्यक् रूप से उपक्रम किया गया है।

अधरस्थानामिति वैष्णवादीनाम्। शक्तिपातादिति बन्ध्वादिगाढाभ्यर्थनाद्वारकात्। पुरेति मृतोद्धारदीक्षायाम्। ऊर्ध्वशासनगानामिति शैवादीनाम् ॥ ३ ॥

किमत्र प्रमाणमित्याशङ्क्याह

समयाचारदोषेषु प्रमादात्स्खलितस्य हि।
अन्त्येष्टिदीक्षा कार्येति श्रीदीक्षोत्तरशासने ॥ ४ ॥

अत्रैव इतिकर्तव्यतामाह

यत्किंचित्कथितं पूर्वं मृतोद्धाराभिधे विधौ।
प्रतिमायां तदेवात्र सर्वं शवतनौ चरेत् ॥ ५ ॥

इसके अतिरिक्त ऊर्ध्वशासन अर्थात् त्रिक और शैव आदि शास्त्रों में निष्ठा रखने वाले ऐसे आचार्य, विद्वान् या शिष्य वर्ग के लोग आते हैं, जिनके द्वारा समयाचार का उल्लङ्घन हो गया होता है। इनको समयोपहतात्मा कहते हैं। तत्त्ववेत्ता गुरु को उनको दीक्षा भो अधिकार प्राप्त है। अधर और ऊर्ध्व शासनों के मतवादों में जो निष्ठा रखते हैं किन्तु उनसे कहीं न कहीं, कोई न कोई अतिचार या प्रक्रियोपहति या उपघात हो चुका होता है, उन लोगों की अन्त्येष्टि दोक्षा ही मुक्ति का अन्तिम उपाय है ॥ २-३ ॥

इस विषय में आगम प्रामाण्य प्रस्तुत कर रहे हैं—

समयाचार में किसी प्रकार के दोष आ जाने पर, प्रमादवश (लापरवाही से) भी यदि कहीं किसी प्रक्रिया में उपघात उपस्थित हो जाये या दोनों प्रकार के समन्वित सन्दर्भ में ही नियमों का उल्लङ्घन हो जाये, तो उस समय अत्येष्टि दीक्षा अवश्य देनी चाहिये। यह तथ्य श्रीदीक्षोत्तर शासन में लिखा गयी है। उससे यह प्रमाणित हो जाता है कि, यह दीक्षा अनिवार्यत: आवश्यक है ॥ ४ ॥

यहाँ दीक्षा की इति कर्त्तव्यता के सम्बन्ध में अपने विचार प्रस्तुत कर रहे हैं—

अत्र च आगमान्तरीयो विशेष इत्याह

श्रीसिद्धातन्त्रकथितो विधिरेष निरूप्यते ।

तमेवाह

अन्तिमं यद्भवेत्पूर्वं तत्कृत्वान्तिममादिमम् ॥ ६ ॥

संहृत्यैकैकमिष्टिर्या सान्त्येष्टिर्द्वितयी मता ।

मृतोद्धार दीक्षा विधि की पहले चर्चा की जा चुकी है। वहाँ जैसी विधिक प्रक्रिया अपनायी गयी है या विधि सम्बन्धिनी जो बातें कही गयी हैं, वे सभी यहाँ इस अन्त्येष्टि दीक्षा में अपनायी जानी चाहिये। यह ध्यान देने की विशेष बात है कि, मृताद्धार दीक्षा में कुश की प्रतिमा या काष्ठ प्रतिमा बनाकर उस पर ही दीक्ष्य का प्रकल्पन का सारी प्रक्रिया पूरी की जाती है किन्तु यहाँ यह सारा का सारा विधान शव शरीर पर ही पूरा किया जाने का उपदेश किया गया है ॥ ५ ॥

इस सम्बन्ध में अन्य मतवादों में मतभेद होना स्वाभाविक है। इसे मतभेद न कह कर आगमान्तरीय 'विशेष' कह सकते हैं। वही विशेष यहाँ व्यक्त किया जा रहा है—

श्रीसिद्धातन्त्र में एतद्विषयक जिस विधि का निरूपण किया गया है, उसी का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है। सिद्धातन्त्र की उक्ति के अनुसार मृतोद्धार दीक्षा में प्रयुक्त अन्तिम मन्त्रों को पहले ही शुरू में ही प्रयुक्त करना चाहिये। क्योंकि यहाँ दीक्षा के समय तो शवशरीर ही उपलब्ध रहता है। जीवन का कोई लक्षण यहाँ अवशिष्ट नहीं रहता। इसलिये अन्तिम मन्त्र वर्ण आदि का पहले ही प्रयोग अपरिहार्य रूप से करना अनिवार्यतः आवश्यक माना जाता है।

दूसरी बात भी जो विशेषतः महत्त्वपूर्व है, वह है, आदिम मन्त्रवर्ण को अन्त में प्रयुक्त करना आवश्यक है। तीसरा तथ्य है—मन्त्रों का संहार क्रम से उच्चारण। सभी मन्त्रवर्णों में संहार क्रम अपनाकर ही प्रक्रिया को क्रमिक रूप देने का विधान पूरा करना चाहिये। अन्त्य इष्टि

पूजाध्यानजपाप्लुष्टसमये ननु साधके ॥ ७ ॥
पिण्डपातादयं मुक्तः खेचरो वा भवेत्प्रिये ।

का यही तात्पर्य है कि, अन्त्य मन्त्रों-वर्णों से ही इस इष्टि का आरम्भ होता है और संहार क्रम से भी इष्टि-प्रक्रिया का अन्त होता है। इसलिये अन्त्येष्टि शब्द में अन्त्य शब्द साभिप्राय प्रयुक्त अन्वर्थ शब्द है। अतः इसे अन्त्येष्टि कहना उपयुक्त है।

इसे द्वितयी प्रक्रिया भी कहते हैं। इसका कारण यह है कि, यह दीक्षा उसी को दी जाती है, जो समयी हो या पुत्रक हो। समयी और पुत्रक को पहले दीक्षा दी ही गयी होती है किन्तु उसमें किसी प्रकार के दोष आने या उपघात हो जाने पर ही इसकी अन्त्य समय में आवश्यकता पड़ती है और शवशरीर पर इसे सम्पन्न करते हैं।

पूजा में व्याघात उपस्थित होना अच्छा नहीं होता। ध्यान का जो स्वरूप निर्धारित है, उसके अतिरिक्त अन्य अधर पद्धति अपनाना भी ध्यान में दोष उत्पन्न करता है। जप की परिभाषा भी त्रिक के संजल्पात्म स्वरूप में ही चरितार्थ होती है। यह भी निर्दोष ही सम्पन्न करना चाहिये। इन प्रक्रियाओं में जब आप्लोष हो जाये, तो यह समझ लेना चाहिये कि, अनर्थ हुआ। आप्लुष्ट शब्द भी ध्यान देने योग्य है। पूजा, ध्यान और जपादि प्रक्रिया में चिदग्नि की चिनगारियाँ फूटती रहती हैं। प्रमाद होने पर उनसे वृत्तियाँ झुलस जाती हैं। प्लुष्ट का अर्थ ही होता है—झुलसा या जला हुआ या झुलसाया हुआ। 'आ' उपसर्ग इस झुलसाव के चतुरस्र परिवेश का सूचक है। हम कह सकते हैं कि, इस प्रकार के झुलसावगत प्रदाह से प्रभावित समयी ही इस दीक्षा के अधिकारी होते हैं। उन्हें ही यह दीक्षा दी जानी चाहिये। यह ध्यान देने की बात है कि, निर्दिष्ट भाव से और समस्त प्रमादों से सावधान रहते हुए जो साधना में संलग्न है—यदि उसी क्रम में शरीर पात हो गया, तो उस साधक को यह दीक्षा नहीं देनी चाहिये।

आचार्ये तत्त्वसंपन्ने यत्र तत्र मृते सति ॥ ८ ॥
अन्त्येष्टिर्नैव विद्येत शुद्धचेतस्यमूर्धनि ।

इह यन्मन्त्रवर्णादि अन्तिमं तत् पूर्वं, यच्च आदिमं तदन्तिमं कृत्वा एकैकं संहृत्य संहारक्रमेणोच्चार्य येयमिष्टिः, सा अन्तादारभ्य अन्त यावच्च इष्टिरित्यर्थः। सा च समयिपुत्रकयोरेव कार्येत्याह द्वितयी मतेति। अमूर्धनीति मूर्धशब्दस्य देहोपलक्षकतया तदभिमानशून्य इत्यर्थः। अनयोश्च अन्त्येष्ट्यभावे विशेषणद्वारेण हेतूपन्यासः ॥

इस दीक्षा का परिणाम बड़ा ही महत्वपूर्ण होता है। शव शरीर में इधर दीक्षा सम्पन्न हुई, उधर धनञ्जय प्राण ज्यों ही मरणधर्मा को छोड़ उत्तीर्ण हुआ, उसे मुक्ति का वरदान मिल जाता है। भगवान् कहते हैं—प्रिये पार्वति! वह मुक्त न हुआ तो खेचर तो अवश्य ही हो जाता है अर्थात् इस भवबन्धन से विमुक्त होने का एक उत्कृष्ट सोपान उसे उपलब्ध हो जाता है।

तत्व के स्वरूपसत् भाव को प्राप्त हो जाने से जीवन्मुक्त रह कर ही जो सांसारिक व्यवहार को यन्त्रवत् जो रहा होता है, एसे आचार्य की इस विशाल विश्व के किसी भूखण्ड में जहाँ कहीं भी मृत्यु हो जाये, कोई अन्तर नहीं पड़ता। उसकी अन्त्येष्टि की यह प्रक्रिया कभी नहीं अपनायी जा सकती।

जिसकी निष्कलुष चेतना के प्रभाव से ऐसी स्थिति या ऐसा उच्च स्तर उपलब्ध हो जाय, जहाँ चिति अपने चेतन स्वरूप में उसके चेतस् में चैतन्य को चरितार्थ कर रही हो, उस शुद्ध चेतस् पुरुष में देह भाव पूर्णतया समाप्त हो गया होता है। देहाध्यास शून्य उस ज्ञानवान् प्राज्ञ पुरुष को अमूर्द्ध भी कह सकते हैं। मूर्धा शब्द देह के उपलक्षण में भी प्रयुक्त होता है। अमूर्ध अर्थात् देहाध्यास रहित विरजस्क शिवयोग सम्पन्न प्रज्ञा का प्रतीक पावन पुरुष भी यदि कहीं मृत हो जाय, तो उसकी अन्त्येष्टि नहीं की जानी चाहिये। उसकी अन्त्येष्टि का कोई तात्पर्य ही शेष नहीं रह जाता। तत्त्व सम्पन्न और अमूर्ध इन दो विशेषणों का भी यहाँ साभिप्राय प्रयोग किया गया है ॥ ६-८ ॥

न केवलं समयलोपोपहतानामेव एषा कार्या, यावदन्येषामपीत्याह

मन्त्रयोगादिभिर्ये च मारिता नरके तु ते ॥ ९ ॥
कार्या तेषामिहान्त्येष्टिर्गुरुणातिकृपालुना ।
न मण्डलादिकं त्वत्र भवेच्छ्माशानिके विधौ ॥ १० ॥
केचित्तदपि कर्तव्यमूचिरे प्रेतसद्मनि ।
पूजयित्वा विभुं सर्वं न्यासं पूर्ववदाचरेत् ॥ ११ ॥
संहारक्रमयोगेन चरणान्मूर्धपश्चिमम् ।
तथैव बोधयेदेनं क्रियाज्ञानसमाधिभिः ॥ १२ ॥

समय लोप रूप उपघात से उपहत शिष्यों और आचार्यों के अतिरिक्त जो इस श्रेणी में आते हैं, उनकी गणना के साथ कुछ विधि सम्बन्धी निर्देश भी दे रहे हैं—

मन्त्र के प्रयोग और विशेष रूप से अपनायी गयी योग-प्रक्रिया के अभिचारात्मक प्रयोगों द्वारा, जो मृत्यु को प्राप्त हो गये होते हैं, या उसी प्रकार से मार डाले गये होते हैं, वे इस दीक्षा के अधिकारी होते हैं। कृपालु गुरु द्वारा ऐसे लोगों की दीक्षा का भी विधान है। जैसे अन्य इष्टियों में मण्डल आदि निर्माण करते हैं, उस प्रकार से मण्डल आदि निर्माण की कोई आवश्यकता यहाँ नहीं होती। यह सारी श्मशान सम्बन्धी विधि मानी जाती है। श्मशान में मण्डप नहीं बनाया जाता। कुछ विद्वानों के अनुसार प्रेतों के घर रूपी श्मशान में भी मण्डप निर्माण किया जाता है और करना चाहिये।

वहाँ सर्वप्रथम भगवान् भूतभावन की पूजा करनी चाहिये। पूजा के क्रम में जिस तरह मृतोद्धारी दीक्षा में न्यास किये जाते हैं, उसी तरह इस दीक्षा में भी न्यास करना चाहिये। यह आचार श्रेणी का काम है। इसका अवश्य पालन करना चाहिये। न्यास में संहार क्रम अपनाना चाहिये, जो चरण से प्रारम्भ कर मूर्धा पर्यन्त पूरा होता है। क्रिया योग, ज्ञान योग और समाधि प्रक्रिया द्वारा आत्मा के चैतन्य पर पड़े आवरण का निराकरण कर उसका जागरण पूर्ण करना नितान्त आवश्यक होता है ॥ ९-१२ ॥

क्रियाद्येव श्रीकुलगह्वरोक्त्या विभज्य दर्शयति

बिन्दुना रोधयेत्तत्त्वं शक्तिबीजेन वेधयेत् ।
घट्टयेन्नाददेशे तु त्रिशूलेन तु ताडयेत् ॥ १३ ॥
सुषुम्नान्तर्गतेनैव विसर्गेण पुनः पुनः ।
ताडयेत कलाः सर्वाः कम्पतेऽसौ ततः पशुः ॥ १४ ॥

क्रिया आदि को कुलगह्वर शास्त्र के अनुसार अलग अलग कर प्रदर्शित किया जा रहा है—

रोधन, वेधन, घट्टन और ताडन चार क्रियाओं के बाद योजना की क्रिया होती है । योग-सिद्धि रूप इन क्रियाओं से किसी भी पशुभावापन्न आत्मा के आवरण भग्न हो जाते हैं । इन क्रियाओं को व्यावहारिक रूप में आकार प्रदान करना ज्ञान शक्ति पर आधारित है । यह प्रक्रिया पूर्णतया तत्त्वज्ञान पर ही निर्भर करती है । ज्ञान द्वारा क्रिया की सम्पूर्णता में समाधि की सिद्धि अनिवार्यतः सम्पन्न हो जाती है । चारों क्रियाओं को यहाँ विशेष रूप से समझना आवश्यक है—

१. रोधन—दैशिक स्वयं क्रियाज्ञान और समाधि विज्ञान के मूर्त्तिमन्त प्रतीक हैं । सारो न्यास आदि बाह्य विधियों को सम्पन्न कर अब वे आन्तर उत्कर्ष प्रक्रिया को अपना कर स्वात्म प्राणशक्ति से प्रस्तुत पशु-प्राण के जागरण का उपाय करने में प्रवृत्त हो रहे हैं । सर्वप्रथम आचार्य आत्मावस्थित हो रहे हैं । अपने बिन्दुरूप प्राण को महाप्राण-प्रयोग के लिये प्रेरित कर रहे हैं । एक तरह की समाधि में समाहित वे अपने प्राण को विश्व प्राण में संप्रेषित कर देते हैं । इस तरह पशु के उत्क्रान्त और उद्भ्रान्त प्राण का महा-जाल प्रयोग द्वारा अन्वेषण कर आकर्षण शक्ति से आकृष्ट कर स्वात्मप्राण से अभेद सम्बन्ध स्थापित करते हैं । पुनः शक्ति द्वारा पशुप्राणतत्त्व को तादात्म्य द्वारा शुद्ध भी करते हैं और अवरुद्ध भी कर लेते हैं । इस तरह शोधन और रोधन दोनों व्यापार पूर्ण हो जाते हैं । इस आन्तर प्रक्रिया के प्रमाण स्वयं गुरुदेव ही होते हैं ।

उत्क्षिपेद्वामहस्तं वा ततस्तं योजयेत्परे ।
प्रत्ययेन विना मोक्षो ह्यश्रद्धेयो विमोहितैः ॥ १५ ॥
तदर्थमेतदुदितं नतु मोक्षोपयोग्यदः ।
इत्यूचे परमेशः श्रीकुलगह्वरशासने ॥ १६ ॥

---

२. वेधन—इसके बाद वेधन क्रिया का प्रयोग करते हैं। अक्षमाला की मणि के वेधन करने की तरह इस पशु प्राण को भो विद्ध करने से वेधन सिद्ध हो जाता है अन्यथा विन्दु तत्त्व गोल होने के कारण आत्म फलक पर ठहर नहीं पाता, डगर कर भाग खड़ा होता। एक प्रयोग होता है, जिसे 'मध्य धामानुप्रवेश' कहते हैं। यह ध्यान रहे कि, मणि के मध्य में हो विद्ध कर छिद्र बनाते हैं। एक सूत्र है –'मध्यविकासाच्चिदानन्दलाभः'। जिसका मध्यविकास हो चुका है, वही मध्यधाम (केन्द्र) में अनुप्रवेश की प्रक्रिया से परिचित होता है। इस तत्त्व के वेधन के लिये शक्तिबीज का प्रयोग करते हैं। शक्ति बीज को अमृतवर्ण भी कहते हैं। यह बीज बड़ा तीक्ष्ण होता है। इससे अनुविद्ध करने को विधि पूरी हो जाती है।

३. घट्टन—तत्त्व के अनुविद्ध हो जाने पर उसमें पड़ी रौद्रग्रन्थि को छिन्न भिन्न करते हैं। ग्रन्थि को (गाँठ को) खोलने का प्रयोग भाषा में में होता है। आन्तर स्तर पर ग्रन्थि का भेदन होता है। उपनिषद् भी कहती है—'भिद्यते हृदय ग्रन्थिः'। भेदन के समय घट्टन को यह क्रिया नाद क्षेत्र में होती है। नादानुसन्धान से उसमें एक प्रकार का स्पन्द उल्लसित होता है। गुरु नाद स्पन्द से उसे घट्टित करते हैं। इससे एक तरह को ग्राहकता उस प्राण में उत्पन्न हो जाती है।

४. ताडन—यह बड़ा हो वैज्ञानिक क्रम है। नाद के परिवेश में घट्टन की क्रिया पूरो कर आचार्य उसे शक्ति के क्षेत्र में ले जाता है। शक्तिबीज से वेधन और नाद में घट्टन के वाद ताडन को क्रिया शुरू होती है। शक्ति क्षेत्र में त्रिशूल बीज का सर्वातिशायी महत्त्व होता है। इसे पञ्चपिण्डनाथ का आधार-बीज कहते हैं। इसमें लगने वाला विसर्ग चान्द्रमसशिव माना जाता है। घट्टन ओर ताडन के बीच में जयरथ ने एक विशिष्ट क्रिया का उल्लेख किया

इह खलु आचार्यो बिन्दुना प्राणेन महाजालयोगक्रमेण आकृष्टं पाशवं तत्त्वमात्मानं स्वाभेदेन हृदि रोधयेत, तदनु मध्यधामानुप्रवेशेन तत एव प्रभृति ऊर्ध्वोर्ध्वाक्रमणतया शक्तिबोजेन अमृतार्णेन अनुविद्धं विदध्यात्, नाददेशे तदनु घट्टयेत् रौद्रग्रन्थिविभेदनेन स्पन्दं ग्राहयेत्, ततोऽपि त्रिशूल-बीजेन ब्रह्मरंध्रान्तमास्फालयेत्, तदनु परिपूर्णं चान्द्रमसं रूपमुद्वहता सर्वातीत-दशाधिशायिना विसर्गेण

'पुरुषे षोडशकले.............................।'

है। साधना के समय योगी इन प्रक्रियाओं से उन्मना पर्यन्त नित्य नियमतः आन्तर यात्रा करता है। वह योगमार्ग का नियामक बन जाता है। शिष्य के प्राण को घट्टन के बाद ब्रह्मरन्ध्रान्त आस्फालित करता है। इस आस्फालन से मृतक का प्राण गुरु के उत्तम क्षेत्र में सोलह कलाओं से पूर्ण चन्द्र रूप से विकसित हो जाता है।

वहाँ गुरु का प्राणापानवाह उन्मना पर्यन्त एकात्मकरूप से प्रकाशमान होता है। प्राण रूप सूर्य और उसके साथ विसर्ग रूप से संयुक्त विभु अपान का पूर्ण चान्द्रमस रूप भी उल्लसित रहता है। इस अवस्था में अपने चान्द्रमस प्रभाव से शिष्य के प्राण की सारी कलाओं को ताडित करता है। अर्थात् तादात्म्य भाव से उसे आक्रान्त कर लेता है। यह एक प्रकार का पूर्ण आक्रमण होता है।

इस क्रिया का प्रभाव उद्धार्य पशु के शव शरीर पर भी पड़ता है। सोलहों कलाओं के ताडन से पशु प्राण के शव-शरीर के मस्तकीय क्षेत्र में प्रभाव पड़ता है। फल यह होता है कि, पशु-शरीर में कम्पन सा प्रत्यक्ष दीख पड़ जाता है अथवा उसका वामहस्त फड़क उठता है। इससे लोगों में विश्वास की लहर उमड़ पड़ती है। आन्तर प्रक्रिया का यह बाह्य प्रमाण होता है। प्रत्यक्षदर्शियों को सत्य की झलक मिल जाती है। इसे सद्यः प्रत्यय कहते हैं।

५. याजन (योजनिका प्रक्रिया)—इन आन्तर क्रियाओं उपरान्त ज्ञानवान् देशिक पशुप्राण को परमेश्वर के परात्मक रूप में योजित कर देता है। उन्मना के शूलाम्बुजों के मध्य में पर शिव का अवस्थान माना जाता है। गुरु पशुप्राण को उसमें मिला देता है और उसकी मुक्ति हो जाती है।

इत्याद्युक्त्या सर्वाः षोडशापि कलाः पुनः पुनस्ताडयेत स्वाविभेदेन आक्रमेत। येनासौ उद्धार्यपशुः कम्पते, वामं वा हस्तमुत्क्षिपेत्। ततः प्रत्ययोत्पादानन्तरं परे योजयेत् पूर्णसंविदात्मनि अस्य योजनिका कुर्यादित्यर्थः॥ १६॥

यदि नाम अस्य प्रत्ययस्य एकान्ततो मोक्षोपयोगित्वं नास्ति, तत् किमेतेनेत्याशङ्क्याह

साध्योऽनुमेयो मोक्षादिः प्रत्ययैर्यदतीन्द्रियः।

अत्राप्यस्ति शास्त्रान्तरीयो विशेष इत्याह

अन्त्येष्टि यज्ञ सम्पन्न हो जाता है। शास्त्रकार कहते हैं कि, शवशरीर के वामहस्त-कम्पन की क्रिया से सांसारिक मोह मुग्ध प्राणियों को तुरत शास्त्र पर और गुरु पर विश्वास होता है। यह मोक्षोपयोगी क्रिया नहीं अपितु विश्वासोत्पादिका क्रिया होती है। इस योजनिका प्रक्रिया का पूरा वर्णन कुल गह्वर शास्त्र में मिलता है॥ १३-१६॥

प्रश्नकर्त्ता पूछता है कि, भगवन्! इस प्रकार के विश्वास उत्पन्न करने का जो प्रत्ययोत्पादक व्यापार है, इसका कोई उपयोग मोक्षोपाय रूप में नहीं किया जा सकता। यह आप स्वयं कह रहे हैं। ऐसी अवस्था में इसको लिखने या ऐसी प्रत्ययात्मिका क्रिया से क्या लाभ? इस पर शास्त्रकार कह रहे हैं—

वत्स, साध्य (लक्ष्य) तो मोक्ष है, यह सत्य है, किन्तु यह केवल अनुमेय है। गुरु के ऊपर श्रद्धा और आस्था रखने वाला यह मान सकता है कि, गुरु के प्रभाव से मृतक को मुक्ति मिल गयी होगी। जहाँ तक स्थूलदृष्टि से ही किसी वस्तु की वास्तविकता पर विचार करने वाले प्रत्यक्षवादी लोगों का प्रश्न है, वे तो ऐसे विश्वास करने वाले नहीं होते। उनको तो जो सामने दिखेगा, उसे ही सत्य मानेंगे। यहाँ शरीर कम्पन या वामहस्त उत्क्षेपण व्यापार केवल इतने मात्र के लिये उपयोगी है कि, सभी लोग एक स्वर में यह कह पड़ते हैं कि, यह तो असंभव भी संभव हो गया। गुरुदेव अवश्य ही अतीन्द्रिय व्यापार प्रवर्त्तन में सिद्ध हैं।

दीक्षोत्तरे च पुर्यष्टवर्गार्पणमिहोदितम् ॥ १७ ॥

तदेवाह

तद्विधिः श्रुतिपत्रेऽब्जे मध्ये देवं सदाशिवम् ।
ईशरुद्रहरिब्रह्मचतुष्कं प्राग्दिगादितः ॥ १८ ॥

इस सम्बन्ध में भी शास्त्रान्तरीय विशेष मान्यतायें हैं। वही कह रहे हैं—

दीक्षोत्तर शास्त्र में यह कहा गया है कि, गुरुदेव इस प्रक्रिया में पुर्यष्टक[1] का समर्पण भी करते हैं। यह शास्त्रविहित भी है। इसकी विधि का भी उल्लेख शास्त्र में है—

श्रुति (चार) पत्र (दल) अब्ज (कमल) में अर्थात् चार दल वाले कमल में अर्थात् मूलाधार चक्र में, दूसरी दृष्टि से श्रुतिबीज (ॐ) युक्त दल वाले कमल अर्थात् आज्ञा चक्र में मध्य कर्णिका भाग में सदाशिव के साथ ईश, रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा रूप देव चतुष्क को प्रतिष्ठित कर पूजन करना चाहिये। तीसरी दृष्टि से श्रुति पत्र अर्थात् मूलाधार को आधार बनाकर विशुद्ध के मध्य में सदाशिव, अनाहत के मध्य में ईशान, मणि-पूरके मध्य में रुद्र, स्वाधिष्ठान में विष्णु और मूलाधार में ब्रह्मा के आवाहन, स्थापन और पूजन आदि की प्रक्रिया पूरी करनी चाहिये। पूजनान्त में अर्पण आवश्यक विधि मानी जाती है। पुर्यष्टक के शब्द और स्पर्श का अर्पण ब्रह्मा को, रस का अर्पण विष्णु को, गन्ध का अर्पण रुद्र को धी और अहंकृति इन दोनों पुर्यष्टकांशों का अर्पण ईश को, तथा मन का अर्पण सदाशिव को करने का विधान है।

यदि सभी पाँचों चक्रों में पूजा करनी हो, तो मूलाधार में ब्रह्मा को शब्द एवं स्पर्श का अर्पण करना चाहिये। स्वाधिष्ठान में विष्णु को रस का, मणिपुर में रुद्र को गन्ध का, अनाहत में ईशान को बुद्धि और

---

१. बुद्धिरहंकारोमनः शब्दादिपञ्चकञ्च । म०म०

पूजयित्वा श्रुतिस्पर्शौ रसं गन्धं वपुर्द्वयम् ।
ध्यहंकृती मनश्चेति ब्रह्मादिष्वर्पयेत्क्रमात् ॥ १९ ॥

एतेषां तर्पणं कृत्वा शतहोमेन दैशिकः ।
एषा सांन्यासिकी दीक्षा पुर्यष्टकविशोधनी ॥ २० ॥

वपुरिति रूपं ब्रह्मादिषु क्रमादर्पयेदिति । तदुक्तं

'कलाशुद्धचवसाने तु ब्रह्माणं कारणाधिपम् ।
स्वनामप्रणवाह्वानपूर्वं संतर्प्य चार्पयेत् ॥
शब्दस्पर्शौ त्यजेदस्मिन्........................... ।' इति

अहंकार का तथा विशुद्ध में सदाशिव देव को मन का अर्पण करना चाहिये ।

चौथी दृष्टि से पृथक् या शवशरीर पर चतुर्दल कमल का प्रकल्पन कर मृतक के पुर्यष्टक का प्राण के साथ ही आकर्षण कर उपर्युक्त प्रकिया उसी प्रकार पूरी करनी चाहिये ।

इसके बाद तर्पण कर देशिक द्वारा एक माला हवन करना आवश्यक माना जाता है। यह पुर्यष्टक विशोधिनी सांन्यासिकी दीक्षा मानी जाती है ।

यहाँ 'मध्य भी विचारणीय है। मध्य से स्पष्ट रूप से बीच का अर्थ निकल जाता है पर पृथक् चक्र की दृष्टि से आज्ञा ऊर्ध्व धाम, विशुद्ध मध्य धाम (शाक्त धाम) और अनाहत से मूलाधार पर्यन्त चारों चक्र अधः नर भाव के धाम माने जाते हैं। इसी क्रम में पूर्व मूलाधार, दक्ष स्वाधिष्ठान, पश्चिम मणिपुर और उत्तर अनाहत चक्र हैं। इस तरह श्लोक अठारह का अन्वय स्पष्ट हो जाता है ।

इस विषय में आगम प्रामाण्य प्रस्तुत कर रहे हैं—

१. ब्रह्म सम्बन्धी आगम प्रामाण्य—"कला को शुद्धि के उपरान्त समस्त कारणों के स्वामी ब्रह्मा की पूजा करे। प्रणव पूर्वक अपने नाम के साथ

'रसं पुर्यष्टकांशं तु अर्पयेद्विष्णवे सदा।' इति

'प्रणवादि ततो रुद्रमावाह्यास्थाप्य पूजयेत्।
ततोऽस्य विन्यसेद्देवि गन्धरूपे ध्रुवाहुतेः॥' इति

'स्वनाम्ना प्रणवाद्येन ईशमावाह्य पूजयेत्।
संपूज्य हुत्वा संतर्प्य बुद्धयहंकृतिद्व्यंशकम्॥
सदाशिवमथावाह्य मूलमन्त्रं समुच्चरन्।
मनः पुर्यष्टकांशं तु विन्यसेत्कारणेश्वरे॥' इति च॥२०॥

एवमस्य संस्कारमभिधाय, तत्प्रयोजनमाह

आवाहयामि, पूजयामि अर्पयामि तर्पयामि च का उच्चारण कर पुर्यष्टक के शब्द और स्पर्श का अर्पण करना चाहिये।"

२. रुद्रसम्बन्धी—"प्रणवपूर्वक उक्त प्रकार आवाहन, पूजन और तर्पण आदि का संकल्प करने के बाद रुद्र का आवाहन और पूजन कर गन्ध का अर्पण करना उचित है। यह अग्निबीज में एक प्रकार की आहुति ही हो जाती है।"

३. ईशान सम्बन्धी—"उक्त प्रकार की सांकल्पिक विधि से ईशान का आवाहन पूजन कर पुर्यष्टक के दो अंश १. बुद्धि और २. अहंकृति का अर्पण करना चाहिये।"

४. सदाशिव सम्बन्धी—"इसके बाद सदाशिव का आवाहन कर मूल मन्त्र का उच्चारण करते हुए पुर्यष्टक के महत्त्वपूर्ण अंश मन का अर्पण (विन्यास) करना उचित है। सदाशिव सर्वकारणेश्वर माने जाते है।"

इस प्रकार यह पुर्यष्टक विशोधिनी सांन्यासिकी दीक्षा पूरी की जाती है। इस दीक्षा का एक मात्र उद्देश्य साध्य दीक्ष्य की मुक्ति के मार्ग को प्रशस्त करना है। इसे यथावत् संपन्न करना चाहिये॥ १७-२०॥

इस प्रकार संस्कार विधि का उल्लेख करने के बाद उसके प्रयोजन के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त कर रहे हैं—

पुर्यष्टकस्याभावे च न स्वर्गनरकादयः ।
तथा कृत्वा न कर्तव्यं लौकिकं किंचनापि हि ॥ २१ ॥

उक्तं श्रीमाधवकुले शासनस्थो मृतेष्वपि ।
पिण्डपातोदकाद्यादि लौकिकं परिवर्जयेत् ॥ २२ ॥

चो हेतौ । तथेति उक्तेन प्रकारेण ॥ २२ ॥

पुर्यष्टक एक प्रकार का पूर्ण सूक्ष्म शरीर है। स्थूल शरीर तो मात्र आधार होता है, जड़ होता है। मृत्यु के उपरान्त इस सूक्ष्म कारण शरीर की सत्ता में कर्म संस्कार के फल लगते हैं। इनका ही यदि अर्पण करने के बाद अभाव हो गया, तो स्वर्ग और नरक परिणामों की प्रकल्पना का आधार ही समाप्त होना माना जाना चाहिये।

इस प्रक्रिया के पूर्ण कर लेने के बाद कोई लौकिक कार्य जो लोक प्रचलित हैं, उन्हें नहीं करना चाहिये। जितने लौकिक कार्य हैं, वे हीनप्रयोजन-प्रयुक्त होते हैं। जैसे पिण्ड दान, उदकपात आदि क्रियायें प्रेत की संतुष्टि के लिये होती हैं। इनसे उनके मुक्त होने का नहीं अपितु जन्म जन्मान्तरों में उद्भ्रान्त करने वाली संसृति को ही बल मिलता है। मुक्ति की तो कल्पना भी वहाँ नहीं की जाती। इसलिये शास्त्रकार ऐसी हीनोद्देश्य वाली क्रियाओं के विरुद्ध हैं तथा इस मत की पुष्टि के लिये श्रीमाधवकुल नामक शासन को प्रमाण रूप से उपस्थापित करते हैं, जिसमें मरे हुए व्यक्तियों के लिये किसी प्रकार की लौकिक श्राद्धादि क्रिया का निषेध है। हिन्दू समाज के लिये यह एक क्रान्तिकारी विचार दिया गया है। इसके सम्बन्ध में विचारकों का ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है ॥ २१-२२ ॥

स्वशास्त्रविहितं कार्यमेवेत्याह

शिवं संपूज्य चक्रार्चां यथाशक्ति समाचरेत् ।
क्रमात्त्रिदशमत्रिंशत्रिंशवत्सरवासरे ॥ २३ ॥

त्रीति प्रथमचतुर्थयोरुपलक्षणम्, दशमेति एकादशस्यापि ॥ २३ ॥

एतदेव प्रथमार्धेनोपसंहरति

इत्युक्तोऽन्त्येष्टियागोऽयं परमेश्वरभाषितः ॥ २४ ॥

इति शिवम् ॥ २४ ॥

शास्त्रकार प्रचलित रूढिग्रस्त विधियों के प्रचलन से चिन्तित हैं। वे सोच रहे हैं, आडम्बरों के व्यर्थ आकर्षण में कहीं हमारे शास्त्र मार्ग के लोग भी न फँस जाँय। इसलिये माधवकुल शास्त्र का उदाहरण देने के बाद भी निर्देश करते हैं और कहते हैं कि,

ऐसे अवसर पर शिव की पूजा करनी चाहिये। वीर शैव सम्प्रदाय में अब भी मृतक शरीर को विधिवत अभिषेक कर शिव रूप में उसकी पूजा होती है। उसी तरह पहले शिव की पूजा अर्चना करे। पुनः चक्रार्चा (श्लोक १८-२०) के अनुसार ही सम्पन्न करे। यथा शक्ति इस पूजा में भाग ले। तथा इसे मृत्यु के प्रथम, तृतीय, चतुर्थ, दशम और एकादशवें दिन कर लेने के बाद प्रति तीसवें तीसवें दिन सम्भव हो, तो वर्ष के प्रति अमापर्व पर यह चक्रार्चा पूरी होनी चाहिये ॥ २३ ॥

श्लोक के प्रथमार्द्ध से इस आह्निक का उपसंहार कर रहे हैं। दूसरी अर्धाली आगे का सर्ग का प्रारम्भ करने वाली होती है—

यह स्वयं सर्वेश्वर शिव द्वारा भाषित अन्त्येष्टि याग का विधान पूर्ण हुआ। इसे ही मैंने इस शास्त्र का वर्ण्य विषय बनाकर प्रतिपादित किया है। इति शिवम् ॥ २४ ॥

दीक्षावैचक्षण्यप्रथितजयो जयरथाभिख्यः ।
आह्निकमेतच्चतुरं कृतविवृति व्यरचयच्चतुर्विंशम् ।

इति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचिते
राजानकजयरथकृतविवेकाख्यव्याख्योपेते
श्रीतन्त्रालोकविवेकेऽन्त्येष्टिदीक्षाप्रकाशनं नाम
चतुर्विंशतितममाह्निकम् ॥ २४ ॥

चतुर्विंश आह्निक रुचिर दीक्षा वैचक्षण्य ।
जयरथ विवृत मृतेष्टिगत लक्षित वेलक्षण्य ॥

× × ×

विंशं युगोत्तरकलं विमलाह्निकं यत्
व्याख्यायितं क्षमतया चितिरत्न-रिक्थम् ।
हंसेन तत्सुकृपयाऽपरमाम्बिकायाः
काल्याः परामृतवचश्चषकं निपीय ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य श्रीमदभिनवगुप्तपादविरचित
राजानकजयरथकृतविवेकाभिख्यव्याख्योपेत
डॉ०परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीर-विवेक हिन्दी भाष्य संवलित
श्रीतन्त्रालोक का चौबीसवाँ आह्निक सम्पूर्ण ॥ २४ ॥

शुभं भूयात्

●

अथ

श्रीतन्त्रालोके

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचिते
राजानकजयरथकृतविवेकाख्यव्याख्योपेते

पञ्चविंशतितममाह्निकम्

भीममधिष्ठाय वपुर्भवमभितो भावयन्निव यः ।
प्रभवति हृदि भक्तिमतां शिवप्रदोऽसौ शिवोऽस्तु सताम् ॥

इदानीं द्वितीयार्धेन श्राद्धविधिमभिधातुमाह

अथ

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचित
राजानकजयरथकृतविवेकव्याख्योपेत
डॉ० परमहंसमिश्रविरचितनीर-क्षीरविवेक
भाषाभाष्य-संवलित

श्रीतन्त्रालोक

का

पचीसवाँ आह्निक

भीम भयाधिष्ठित शिवद, विश्व-विभावक नित्य ।
भक्त-हृदय-सम्राट् जय, सज्जन-सुमनादित्य ॥

इस नूतन आह्निक के आरम्भ में पूर्व श्लोक की दूसरी अर्द्धाली से श्राद्धविधि के वर्णन की प्रतिज्ञा कर रहे हैं—

अथ श्राद्धविधिः श्रीमत्षडर्धोक्तो निगद्यते ॥ १ ॥

ननु त्रिकदर्शने कुत्र नाम असौ श्राद्धविधिरुक्त इत्याशङ्क्याह

सिद्धातन्त्रे सूचितोऽसौ मूर्तियागनिरूपणे ।

सूचित इति नतु साक्षात् स्वकण्ठेनोक्तः । यदुक्तं तत्र

'मृतकस्य गृहे वाथ कर्तव्यं वीरभोजनम्' । इति ।

'श्राद्धपक्षे तु दातव्यम् ....' । इति च ॥

कस्य कदा केश्चायं कार्य इत्याशङ्क्याह

यह विधि षडर्ध शास्त्रोक्त विधि है। वहां इसकी चर्चा है। यहाँ मैं उसी क्रम और उसी प्रक्रिया को अपना रहा हूँ। उसी, उक्त विधि का ही कथन करने जा रहा हूँ ॥ १ ॥

त्रिक दर्शन में श्राद्ध-विधि का उल्लेख कहाँ हुआ है? एतद्विषयक जिज्ञासा का समाधान कर रहे हैं—

मूर्त्ति-याग निरूपण के प्रसङ्ग में श्राद्ध-विधि की सूचना सिद्धातन्त्र में की गयी है। उसी ग्रन्थ से यह सूचित है। किसी ने कण्ठ से इसका अभिधान नहीं किया है। वहाँ कहा गया है कि,

"मृतक के घर पर ही 'वीर' भोजन कराना चाहिये।"

और यह भी लिखा है कि,

"श्राद्ध पक्ष में (विभिन्न वस्तुओं का) दान करना चाहिये।"

इन दोनों वाक्यों से यह सूचित होता है कि, त्रिक दर्शन में श्राद्धविधि प्रचलित है।

किसका ? किस समय ? और किनके द्वारा इस श्राद्ध-यज्ञ का सम्पादन होना चाहिये ? इस आशङ्का को ध्यान में रखकर कारिकाओं का अवतरण कर रहे हैं—

अन्त्येष्ट्या सुविशुद्धानामशुद्धानां च तद्विधिः ॥ २ ॥
त्र्यहे तुर्येह्नि दशमे मासि मास्याद्यवत्सरे ।
वर्षे वर्षे सर्वकालं कार्यस्तत्स्वैः स पूर्ववत् ॥ ३ ॥
तत्र प्राग्वद्यजेद्देवं होमयेदनले तथा ।

अशुद्धानामिति अन्त्येष्ट्यैव, नतु दीक्षादिना। तत्स्वैरिति तस्य आत्मीयैः शिष्यपुत्रादिभिरित्यर्थः । स इति श्राद्धविधिः ॥

अत्रैव विधिविशेषमाह

ततो नैवेद्यमेव प्राग्गृहीत्वा हस्तगोचरे ॥ ४ ॥
गुरुरन्नमयीं शक्तिं वृंहिकां वीर्यरूपिणीम् ।

अन्येष्टि के द्वारा वीर भोजन अथवा दानादि की इस विधि से अत्यन्त विशुद्ध या अविशुद्ध दोनों श्रेणियों के व्यक्तियों का कल्याण होता है । अतः यह विधि सबको अपनानी चाहिये । तीसरे, चौथे, दशवें दिन, महीने, महीने के प्रथम वत्सर अर्थात् पहले दिन और प्रत्येक वर्ष समय पर इस विधि का सम्पादन करना और शास्त्र के निर्देशानुसार इसे पूरा करना आवश्यक है। अपने परिवार के लोगों का यह कर्त्तव्य है । परिवार के अभाव में आत्मीयजन शिष्य, पुत्र या अन्य व्यक्ति भी इसको कर सकते हैं । जैसा कि, शास्त्र में कहा गया है । देवाधिदेव सर्वेश्वर का यजन होना चाहिये । यज धात्वर्थ में जिन जिन क्रियाओं का आकलन है, उन सबका प्रकल्पन यहाँ होना आवश्यक है । तत्पश्चात् यज्ञीय अग्नि में हवन करना चाहिये ॥ २-३ ॥

अन्त्येष्टि प्रक्रिया सम्बन्धी विशेष विधि का उल्लेख कर रहे हैं—

इसके बाद नैवेद्य को पहले हाथ में लेकर गुरुदेव साक्षात् ओज और ऊर्जामयी वीर्यात्मिका वृंहण करने में समर्थ शक्ति का ध्यान करें। गुरुदेव को जब यह निश्चय हो जाय कि, इस नैवेद्य में वृंहिका शक्ति की ओजस्विता का समावेश हो गया है, उसके बाद विचक्षण गुरुदेव साध्य का अनुचिन्तन करें । साध्य के स्वरूप में आत्मांश के साथ अभी आवरणांश अवशिष्ट रहता

ध्यात्वा तथा समाविष्टं तं साध्यं चिन्तयेत्सुधीः ॥ ५ ॥
ततोऽस्य यः पाशवोंऽशो भोग्यरूपस्तमर्पयेत् ।
भोक्तर्येकात्मभावेन शिष्य इत्थं शिवीभवेत् ॥ ६ ॥

तथा समाविष्टमिति तदेकरूपतामापन्नमित्यर्थः तमिति भोग्यरूपं पाशवमंशम् । इत्थमिति पाशवरूपतापरित्यागात् भोक्त्रैकात्म्यापत्त्येत्यर्थः ॥६॥

एतदेव विभज्य दर्शयति

भोग्यतान्या तनुर्देह इति पाशात्मका मताः ।
श्राद्धे मृतोद्धृतावन्तयागे तेषां शिवीकृतिः ॥ ७ ॥

अन्येति वेद्यरूपतया भोक्तुरतिरिक्तेत्यर्थः ॥ ७ ॥

है । आत्मांश कभी कोई अपेक्षा नहीं करता । उसका भोग्य अंश आवरणांश है । वह उसे संकोच के कारण ही प्राप्त कर चुका है । गुरुदेव उस नैवेद्य को साध्य के भोग की तृप्ति के लिये उसी पाशवांश को प्रदान करे । भोग्यांश की तृप्ति की अवस्था में भोक्तृत्व भाग के जागृत होने तथा परमभोक्ता के साथ ऐकात्म्यभाव के समुदित हो जाने पर शिष्य में शिवीभाव के समुद्भव से उसका सौभाग्योदय हो जाता है । इसे जयरथ की भाषा में 'भोक्त्रैकात्म्यापत्ति' कहते हैं । इस सामान्य यज्ञ से इस असामान्य परिणाम की प्राप्ति का कारण गुरुदेव की साधना होती है । उसी के माध्यम से वे साध्य के पाशव भाव को शाम्भव भाव में परिणत कर देते हैं । नैवेद्य तो मात्र एक व्याज होता है ॥ ४-६ ॥

इसी पाशव अंश का विश्लेषण कर रहें हैं और शिवी-भाव के लिये श्राद्ध के महत्त्व का प्रतिपादन कर रहे हैं—

भोग्यता वस्तुतः वेद्यरूपता के कारण भोक्ता की एक अतिरिक्त शरीर ही होती है। गुरुदेव जिस समय हाथ में नैवेद्य लेकर साध्य का ध्यान करते हैं, वह साध्य का शरीर होता है । उसमें भोग्यरूप उसका पाशव अंश होता है । अन्नमयी वीर्यरूपिणी वृंहिका शक्ति से वह समाविष्ट होता है ।

ननु दीक्षितः पिण्डपातादूर्ध्वं स्वरसत एव शिवीभवेदिति अस्य किमन्त्येष्ट्यादिभिः, तत्रापि समयलोपनिवृत्त्यर्थमेक एवास्तु विधिः, किमेभिर्बहुभिरित्याशङ्क्याह

एकेनैव विधानेन यद्यपि स्यात्कृतार्थता ।
तथापि तन्मयीभावसिद्धचै सर्वं विधिं चरेत् ॥ ८ ॥

चरेदिति मुमुक्षोः ॥ ८ ॥

उसका स्वात्मभाव (भोक्त्रंश) भोग्यांश से भावित न रहकर पाशवांश की तृप्ति के कारण भोक्त्रंश में अर्थात् शिवीभाव में समाहित हो जाता है। इस तरह उसका पाशात्मक अंश नष्ट हो जाता है। इसी लक्ष्य को दृष्टि में रखकर शास्त्रकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि, साध्य का शरीर क्या है ? भोग्यता क्या है और भोक्ता का एक अतिरिक्त अंश वहाँ कैसे संपृक्त रहता है ? भोक्ता का उसके अतिरिक्त जो भी अस्तित्व है, भाव है—वह पाशात्मक है।

श्राद्ध इसी पाशात्मक भाव को समाप्त करता है। यह मृतोद्धारिणी प्रक्रिया बड़ी ही महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। यह अन्तयाग है। इसीलिये इस अन्त्येष्टि कहते हैं। इससे मोक्ष की इच्छा रखने वाले साधकों का उद्धार होता है। इसीलिये इसे मृतोद्धारिणी प्रक्रिया कहते हैं। ऐसे जितने लोग होते हैं, जो अन्त में शिवीभाव का अभिलाष रखते हैं, उनका उद्देश्य इससे पूरा हो जाता है ॥ ७ ॥

जिज्ञासु यह जानना चाहता है कि, दीक्षित शिष्य को तो स्वरसतः शिवीभाव प्राप्त होता ही है अर्थात् उसके समयाचार की क्रिया के क्रमिक आचरण से उसका परिष्कार उसके अपने व्यवहार से ही होता रहता है और अन्त में उसकी मुक्ति होती ही है। इसके लिये इन अन्त्येष्टि आदि प्रक्रियाओं की क्या आवश्यकता ? उसमें भी मुख्यतः उसके समय का लोप न हो, इस उद्देश्य से एक विधि ही अपेक्षित होनी चाहिये। इन बहुत सारी विधियों के आचरण के आदेश का उद्देश्य क्या है ? इस जिज्ञासा की शान्ति के लिये शास्त्रकार कह रहे हैं—

बुभुक्षोस्तु क्रियाभ्यासभूमानौ फलभूमनि ।
हेतू ततो मृतोद्धारश्राद्धाद्यस्मै समाचरेत् ॥ ९ ॥

उक्तं च

'दीक्षाज्ञानविशुद्धानामन्त्येष्टयाप्यमलात्मनाम् ।
तथापि कार्यमीशोक्तं श्राद्धं वै विधिपूरणम् ॥' इति ।

अनेन च श्राद्धादेः प्रयोजनमुक्तम् ॥ ९ ॥

वस्तुतः किसी को कृतार्थता के लिये किसी एक विधान को ही पर्याप्त माना जाता है। तथापि मुमुक्षु को तन्मयी भाव की सिद्धि के लिये समस्त विधियों का आचरण अनिवार्यतः आवश्यक माना जाता है। यहाँ दो बातें सामने लायी गयी हैं और दोनों ही बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। कृतार्थता और तन्मयीभाव सिद्धि के रहस्य को समझने के लिये सावधानी पूर्वक विमर्श में उतरना चाहिये। जिज्ञासु की जिज्ञासा के विन्दु तथा समाधान में विधिलिङ् का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि, समाधान महत्त्वपूर्ण नहीं, आचरण ही महत्त्वपूर्ण होता है ॥ ८ ॥

जो साधक बुभुक्षु होते हैं, उनके लिये शास्त्रकार क्रिया और अभ्यास रूप दो प्रामाणों को भौतिक रूप से फलोत्पत्ति में हेतु मानते हैं। उनका कहना है कि, आचरण और अभ्यास दोनों आधारभूत भूयिष्ठ प्रमाण माने जाते हैं। फल की आधार भूमि को यही दोनों उर्वर बनाते हैं। इससे असंख्य फलों की प्राप्ति होती है। ऐसी स्थिति में बुभुक्षु के उद्धार के लिये मृतोद्धार श्राद्धविधि अपनानी चाहिये। यहाँ समाचरेत् क्रिया यह निर्देश करती हुई प्रतीत होती है कि, इसे सम्यक् रूप से सम्पादित करना ही सुपरिणाम प्रद होता है। इस सम्वन्ध में आगम प्रामाण्य प्रस्तुत कर रहे हैं—

"दीक्षा से प्राप्त ज्ञान से जो साधक विशुद्ध व्यक्तित्व से विभूषित हो चुके हैं, जिनके जीवन में अब अशुद्धि की कल्पना भी नहीं की जा सकती और जिनका आत्मा अत्यन्त निर्मल हो चुका है, उनके कल्याण के लिये भी शैवशास्त्रों में कही गयी श्राद्ध विधि का आचरण करना चाहिये।"

ज्ञानिनस्तु एतन्न किंचिदपि उपादेयमित्याह

तत्त्वज्ञानार्कविध्वस्तध्वान्तस्य तु न कोऽप्ययम् ।
अन्त्येष्टिश्राद्धविध्यादिरुपयोगी कदाचन ॥ १० ॥

ननु अयमाचारो दृश्यते यज्ज्ञानिनामपि मृतिदिनादौ महाजनाश्चक्रार्चादि प्रकुर्वन्ति, तत्किमेतदुक्तमित्याशङ्क्याह

इस उदाहरण से यह सिद्ध होता है कि, जब अत्यन्त शुद्ध और निर्मल आत्मा वालों के लिये भी श्राद्ध अनिवार्यतः आवश्यक है, तो सामान्य लोगों के लिये यह कितना महत्त्वपूर्ण है। श्राद्धद्वारा शिवीभाव ही इसका मुख्य प्रयोजन है ॥ ९ ॥

जहाँ तक ज्ञानवान् पुरुषों का प्रश्न है, उनके लिये यह श्राद्ध उपादेय नहीं होता, यही कह रहे हैं—

ऐसे साधक शिरोमणि जिनको तत्त्वज्ञान की सिद्धि प्राप्त हो गयी होती है, वे धन्य हैं। तत्त्वज्ञान रूपी भासमान भास्कर की चिन्मय मरीचियों से जिनके अज्ञान रूपी अन्धकार का ध्वंस हो गया है, उनके उद्धार की क्या चिन्ता ? वे स्वयं जीवन्मुक्त होते हैं। उनका शरीर यन्त्रवत् चलता रहता है। देहपात होने पर वे अनायास सर्वेश्वर शिव में समाहित हो जाते हैं। यह अन्त्येष्टि प्रयोग, यह श्राद्ध का विधान और इस प्रकार की कोई विधि उन महा प्राज्ञ पुरुषों के लिये उपयोगी नहीं होती। उनके लिये अन्त्येष्टि आदि का आचरण उपादेय नहीं होता ॥ १० ॥

समाज में प्रचलन है कि, ज्ञानी पुरुषों की निर्वाण तिथियाँ उनके मरण दिवस पर मनायी जाती हैं। उस दिन चक्रार्चा आदि की विधि सम्पादित की जाती है। इसके विपरीत आप कहते हैं कि, ज्ञानियों के लिये अन्त्येष्टि आदि की कोई उपयोगिता नहीं है। ऐसा क्यों ? शास्त्रकार इस जिज्ञासा की शान्ति के लिये कारिका का अवतरण कर रहे हैं—

तेषां तु गुरु तद्वर्गवर्ग्यसब्रह्मचारिणाम् ।
तत्सन्तानजुषामैक्यदिनं पर्वदिनं भवेत् ॥ ११ ॥

गुर्विति पर्वदिनविशेषणम् । तद्वर्गः पत्नीपुत्रादिः । वर्ग्यः पुत्रादीनामपि पुत्रादिः । ऐक्यदिनमिति परमेशेन सायुज्यात् मृतिदिनम् ॥ ११ ॥

पर्वशब्दस्य अत्र प्रवृत्तौ निमित्तमाह

यदाहि बोधस्योद्रेकस्तदा पर्वाह पूरणात् ।

आहेति परमेश्वरः, तेन बोधं पूरयतीति पर्वेति ।

शास्त्रकार कह रहे हैं कि, वत्स ! सत्य है । वह दिवस लोग मनाते हैं । यह उस महापुरुष के वर्ग अर्थात् यदि जीवित हों, तो पत्नी, पुत्र आदि अपना कर्त्तव्य मानकर और उस पुरुष को मृति में उसके आदर्शों का स्मरण करने के लिये मनाते हैं । इसके बाद उसके वर्ग्य अर्थात् उसकी पीढी के लोग मनाते हैं । इसके बाद भी उसके साथी या शिष्य या अनुयायी वर्ग के लोग ऐसा करते हैं । यह दिन इनके लिये गुरु दिन अर्थात् महत्त्वपूर्ण दिन होता है । इनकी एकता का दिन होता है । ये समवाय में बैठते हैं और पर्व की तरह इसे मनाते हैं । यह कोई श्राद्ध या आडम्बर या कर्मकाण्ड की प्रक्रिया का प्रतीक नहीं होता वरन् उस वर्ग, वर्ग्य और सन्तान अर्थात् उस आदर्श को मानने वाले लोगों का गुरु दिन या पर्वदिन होता है । ये यह जानते हैं, यही वह दिन है, जिस दिन वे ब्रह्मलीन पुरुष शिवसायुज्य प्राप्त कर सके थे । अतः इसके मनाने में किसी शास्त्रीय विरोध का कारण दृष्टिगोचर नहीं होता ॥ ११ ॥

यह तो मात्र 'मृत दिवस' होता है । इसे पर्व दिवस में क्यों परिगणित करते हैं ? इसका समाधान करते हुए शास्त्रकार कह रहे हैं कि,

वह पर्व दिन ही होता है । पर्व शब्द का यह व्युत्पत्त्यर्थ होता है कि, वह बोध को पूरित करता है । 'बोधं पूरयति इति पर्व' यह पर्व शब्द का विग्रह वाक्य है । जिस समय, जब भी, जिस किसी क्षण बोध का उद्रेक हो जाय, बोध के प्रकाश में तादात्म्य-समापत्ति हो जाय, वह साधारण क्षण नहीं हो सकता, वह सामान्य दिवस नहीं होता, वह जीवन का महनीय समय होता है । इस अधूरे जीवन का सारा अभाव भाव से भव्य हो उठता है ! ध्वान्त

अतश्च ऐक्यदिनवत् तदीयं जन्मदिनमपि तत्सन्तानजुषां पर्वं एवेत्याह

जन्मैक्यदिवसौ तेन पर्वणी बोधसिद्धितः ॥ १२ ॥

अत्रैव विशेषमाह

पुत्रकोऽपि यदा कस्मैचन स्यादुपकारकः ।
तदा मातुः पितुः शक्तेर्वामदक्षान्तरालगाः ॥ १३ ॥

ध्वस्त हो जाता है। अज्ञान का अन्ध-तमस् प्रकाश में परिवर्त्तित हो उठता है! जो नित्य अपेक्षित था, वह साक्षात् प्रत्यक्ष हो जाता है। अत एव ऐसा दिन पर्वदिवस माना जाता है।

यही नहीं, इस निर्वाण पर्व की तरह इस प्रज्ञा-पुरुष का जनन दिवस भी उसके अनुयायियों के लिये पर्व दिन ही होता है। निर्वाण में ईश्वर से ऐक्य स्थापित होता है। अतः वह ऐक्य दिवस माना जाता है किन्तु जन्म दिवस पर पृथ्वी में एक प्रकार का पुलक उत्पन्न होता है। यह परमेश्वर के प्राकट्य-सा होता है। अतः यह दिन भी बोध की प्रक्रिया का उत्स बन जाता है और जयन्ती पर्व के रूप में सर्वत्र मनाया जाता है।

ऐसे महाप्राज्ञ ज्ञानवान् और गौरवशाली पुरुष का जन्म दिन और परमेश्वर सायुज्य रूप तादात्म्य समापत्ति का दिन ये दोनों बोध-सिद्धि के परिणाम-स्वरूप पर्वदिन की तरह अविस्मरणीय होते हैं। जन्म के दिन पृथ्वी पर प्रकाश का पुञ्ज उतर आता है, बोध का उद्रेक हो जाता है और यह धरा-धाम धन्य हो जाता है। देह के त्याग का दिन महाप्रकाश और परम प्रकाश के मिलन का दिन होता है। किसी बुद्ध के महाबोध में समाहित होने का यह पर्व ही होता है। अतः ये दोनों दिवस पारम्परिक रूप से जयन्तियों और परिनिर्वाणदिवसों के रूप में ससमारोह आयोजित किये जाते हैं॥ १२॥

ऐसे आयोजनों के सन्दर्भ में कुछ विशेष कर्त्तव्य के प्रति भी शास्त्रकार उद्बुद्ध कर रहे हैं—

इन दिवसों को मनाने के लिये पहले परेतासु पुरुष के वर्ग और वर्ग्य व्यक्तियों की ही चर्चा को गयी है। शास्त्रकार यहाँ पुत्रक दीक्षा प्राप्त, गुरु-पद पर अवस्थित अथवा कोई साधक भी यदि किसी ऐसे पुरुष के प्रति अपनी

नाडीः प्रवाहयेद्देवायार्पयेत निवेदितम् ।

अपिशब्दात् न केवल गुरुः साधको वा । मातुः पितुरिति गुरो-स्तत्पत्न्या अपि ॥

कृतज्ञता अर्पित करना चाहता है, ऐसे लोगों के लिये भी अपेक्षित कर्त्तव्य का निर्देश कर रहे हैं कि, उस समय वह स्वात्मभित्ति पर निर्मित मणिपूर्ण हृदय-मन्दिर में सुप्रतिष्ठित संविद् भगवती को आराधना में अवस्थित हो जाय। प्राणापानवाह के साम्य समावेश से पारमेश्वर सद्भाव में समाहित कर अपने शरीर से परेतासु के अस्तित्त्व से योजित करने का उपक्रम करे।

शरीर के मूलाधार से अश्विनी मुद्रा द्वारा अपान चन्द्र को प्रेरित कर प्राण सूर्य के प्रकाश का पथ प्रशस्त करे। माता, जनकादि, गुरु और गुरुपत्नी इन चार श्रेणियों में बँटे लोगों में से जिसके प्रति कृतज्ञता का प्रकाशन करना है, उसी के अनुसार प्राणापानवाह को नियन्त्रित करने की प्रक्रिया पुत्रक को अपनानी पड़ती है।

पुत्रक आसन पर बैठ कर सम्बन्धों की सावधानता की दृष्टि से इस आन्तर याग-योग में लगे। इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना नाडियों के प्रवाह पर ध्यान केन्द्रित करे। मान लीजिये, उसे माता को उपकृत करना है और पिङ्गला नाडी चल रही है। उस समय अपनी संवित्तिसाधना के बल पर वह इडा को प्रवाहित करे। उपकरणीय माँ हो, तो उपकार क्षण में इडा का श्वास चक्र चला कर उसका ध्यान करे। गुरुपत्नी के प्रसङ्ग में भी मातृ-प्रक्रिया ही अपनावे। जब पिता और गुरु के प्रति कृतज्ञता अर्पित करनी हो तो पिङ्गला को प्रवाहित करे। आत्मकल्याण के सारे प्रयोग सुषुम्ना के प्रवाह में सम्पन्न करना चाहिये।

यहाँ तक शास्त्रकार ने विधि की बात की। अब मध्यम पुरुष बहुवचन की क्रिया का प्रयोग कर आदेश दे रहे हैं—भोः पुत्रका, गुरवः साधकाश्च यूयम् यद् निवेदितव्यम् अस्तु, तद् तेषु यस्मै समीहध्वे तस्मै अर्पयत। अर्थात् जो कुछ भी संकलित या वांछित है, उस उपकरणीय के लिये आन्तर रूप से अर्पित करो।

न च एतत्स्वोपज्ञमेवोक्तमित्याह

श्रीमद्भरुणतन्त्रे च तच्छिवेन निरूपितम् ॥ १४ ॥

नाडीप्रवाहणे च युक्तिमाह

तद्वाहकालापेक्षा च कार्या तद्रूपसिद्धये ।
स्वाच्छन्द्येनाथ तत्सिद्धि विधिना भाविना चरेत् ॥ १५ ॥

तासां वामादीनां नाडीनां

इस प्रक्रिया से परेतासु के अस्तित्व से एकसूत्रता स्थापित हो जाने पर नैवेद्य का अर्पण अङ्गीकृत हो जाता है और परेतासु तृप्ति का अनुभव करता है। यह अनुभूत सत्य है। पर्व के आयोजन के इस विशिष्ट पक्ष पर विशेष ध्यान देना चाहिये ॥ १३ ॥

यह विचार मनगढन्त और मात्र अपने ज्ञान के प्रचार प्रसार के उद्देश्य से ही नहीं लिखे गये हैं, अपितु आगम प्रामाण्य से भी यह प्रमाणित विचार हैं। यही कह रहे हैं—

श्रीमद् भरुण तन्त्रशास्त्र में स्वयं शिव ने इस तथ्य का निरूपण किया है। जहाँ तक नाडीचक्र के प्रवाह को नियन्त्रित करने की प्रक्रिया का प्रश्न है, यह भी तन्त्रशास्त्रान्तर्गत स्वर-श्वास नियन्त्रण विधि का ही एक अंग है। श्वास अयत्नसाध्य व्यापार है। यह परमेश्वर के अधीन है। संविद् सर्व-प्रथम प्राण रूप में परिणत होती है। गर्भ के चौथे माह प्राणस्पन्द प्रारम्भ हो जाता है। यह संविद्वपुष् परमेश्वर के पर-स्पन्द की ही अनुकृति मानी जाती है, जब साँसें चल पड़ती हैं। किन्तु साधना में इस स्पन्द पर साधक को नियन्त्रण भी करना पड़ता है। इसके अनेक लक्ष्य हैं। यहाँ एकसूत्रता स्थापित कर परेतासु को तृप्त करना ही लक्ष्य माना जाता है।

स्वाभाविक श्वास के क्रम के विपरीत सामयिक अपेक्षा के अनुसार उस ताद्रूप्य की सिद्धि के लिये इसे करना चाहिये। वास्तव में यह समान वायु में कालोदय की वास्तविकता से परिचित सिद्ध साधक की साधना का विषय है। समान वायु हृदय की दश नाडियों में प्रवाहित रहता हुआ भी मुख्यतः

'विषुवद्वासरे प्रातर्दक्षा वहति नाडिका ।
सायमन्यान्तरा मध्या योगिनां तु निजेच्छया ॥'

इत्याद्युक्तं स्वारसिकं वाहकालमपेक्ष्य, यद्वा स्वमहिम्नैव वक्ष्यमाणेन विधिना तत्सिद्धिं विधाय नाडीप्रवाहणं कुर्यादिति तात्पर्यार्थः ॥ १५ ॥

इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना में संचार करता है। इसका सविस्तर वर्णन तन्त्र-सार के आह्निक ६ और श्री तन्त्रालोक के छठें आह्निक में हैं। इसके उक्त सन्दर्भों का स्वाध्याय वहाँ से करना चाहिये। यहाँ इतना जानना आवश्यक है कि, श्वास के अयत्नज व्यापार को यत्न साध्य करने की कला नितान्त अपेक्षित है। यत्नसाध्य नियन्त्रण के भी दो स्तर है। १. स्वाच्छन्द्यतः नियन्त्रण और २. शास्त्रविहित विधि द्वारा नियन्त्रण। स्वाच्छन्द्य को आचार्य जयरथ 'स्वमहिम्ना' शब्द से व्याख्यात करते हैं। यह शक्ति सांसिद्धिक गुरु में स्वयं समुच्छलित हो जाती है, जिससे वह स्वेच्छया इनका परिवर्त्तन कर लेता है। इस समानोदय प्रवाह के विषय में आगम कहता है—

"प्रातःकालीन विषुवद्वासर मेष के सूर्य से परिचालन प्रारम्भ करता है। पहले समान वायु वाम में पुनः दक्ष में प्रवाहित होता है। इसे ही 'नाडिका दक्षा भवति' कहा गया है। सायं काल में सुषुम्ना में प्रवाहित होता है किन्तु योगियों का यह विषुवत्प्रवाह स्वेच्छा से ही सम्पन्न होता है।"

वस्तुतः चार ही विषुवत् होते हैं। १. प्रभात विषुवत्, २. मध्याह्न-विषुवत्, ३. सायं विषुवत् और ४. निशीथ विषुवत्। ये चार संक्रान्तियाँ भी होती हैं। तन्त्र में समानोदय में इनका आकलन और ज्योतिष् शास्त्र में सूर्यचन्द्र की या ग्रहों की गतिशीलता के कारण इनका आकलन होता है। यह सब स्वारसिक वाह काल होता है। योगी अपनी साधना के बल पर इनका स्वयं सञ्चालन कर लेने में समर्थ होता है। इस प्रकार नाडी प्रवाह की वक्ष्यमाण इस विधि का सन्दर्भानुसार यहाँ वर्णन किया गया है ॥ १४-१५ ॥

अत्र च समय्यादेः सर्वस्य स्वशास्त्रोक्त एव विधिन्र्याय्यः, न लौकिक इत्याह

यस्य कस्यापि वा श्राद्धे गुरुदेवाग्नितर्पणम् ।
सचक्रेष्टि भवेच्छ्रौतो नतु स्यात्पाशवो विधिः ॥ १६ ॥

श्रौतविध्यभावे पाशवत्वं हेतुः ॥ १६ ॥

एवमपि अत्र साधकं बाधकं च प्रमाणं दर्शयितुमाह

श्रीमौकुटे तथा चोक्तं शिवशास्त्रे स्थितोऽपि यः ।
प्रत्येति वैदिके भग्नघण्टावन्न स किञ्चन ॥ १७ ॥

प्रसङ्गवश शास्त्रकार यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि, लौकिक विधि लोक प्रचलित विधि है। इसे पाशव विधि कहते हैं। अपने आम्नाय में पाशव प्रयोग निषिद्ध है। प्रत्येक दशा में अपने शास्त्र में विहित विधि का ही प्रयोग करना चाहिये—

जिस किसी का भी श्राद्ध हो, इसमें गुरु, देव और अग्नि का तर्पण अवश्य करना चाहिये। अन्त्येष्टि की प्रक्रिया में चक्रार्चन की क्रिया आवश्यक है। श्रौत अन्त्येष्टि का सारा विधान पाशव प्रक्रिया के अन्तर्गत आता है। इसे हमारा शास्त्र स्वीकार नहीं करता। श्रौत विधि के व्यवहार के निषेध का कारण एक मात्र उसका पाशव भाव ही है ॥ १६ ॥

श्रौत प्रक्रिया के विपरीत आन्तर आधार पर आगमिक विधि अपनाने का आह्वान उस समय का एक क्रान्तिकारी कदम था। इसका विरोध समाज में हुआ होगा। इस सम्बन्ध में साधक और बाधक प्रमाणों की चर्चा कर रहे हैं—

श्रीमौकुट शास्त्र में यह स्पष्ट उल्लेख है कि, जो व्यक्ति शिवशास्त्र के अनुशासन में अवस्थित है और वैदिक विधियों में विश्वास करता है, उसकी दशा उस घण्टे की होती है, जो फूट जाने के कारण प्रयोग के अयोग्य हो जाता है। अब उससे कोई ध्वनि नहीं निकल पाती। लोहे का वह

तथोक्तदेवपूजादिचक्रयागान्तकर्मणा ।
रुद्रत्वमेत्यसौ जन्तुर्भोगान्दिव्यान्समश्नुते ॥ १८ ॥

भग्नघण्टावदिति भग्ना हि घण्टा न स्वं कार्यं कुर्यात्, नापि लौहमित्युभयभ्रष्टतामेव आसादयेदित्यर्थः। अत एवोक्तं न स किंचनेति ॥ १८ ॥

भाविना विधिनेति यदुक्तम्, तदेव दर्शयति

अथ वच्मः स्फुटं श्रीमत्सिद्धये नाडिचारणम् ।

श्रीसिद्धयोगीश्वरीमतोक्तमेव ग्रन्थमर्थद्वारेण पठति

या वाहयितुमिष्येत नाडी तामेव भावयेत् ॥ १९ ॥

लघु मुद्गर, जो ध्वनि का हेतु था, वह भी व्यर्थ हो जाता है। यह मौकुट शास्त्रीय आदेश श्रौत विधि का बाधक और शिवशास्त्रीय आचार का साधक है। रहे कहीं और व्यवहार कहीं अन्यत्र का करे, यह ठीक नहीं होता। इसको उभय भ्रष्टता कहते हैं। ऐसा व्यक्ति कहीं का नहीं रह पाता।

शिवशास्त्रोक्त विधि के अनुसार जो देवाराधन, चक्रयाग और अन्त्येष्टि कर्म करता है, वह रुद्रत्व को प्राप्त करता है एवं दिव्य भोगों का उपभोग करता है। यह मौकुट शास्त्रीय साधक विधि है। अर्थात् बाह्य याग से द्वैत की पुष्टि होती है। अद्वयभाव में बाधा आती है। अतः अद्वय तादात्म्य पोषक आचरण ही सर्वथा श्रेयस्कर है। यह स्वयं सिद्ध हो जाता है ॥ १७-१८ ॥

श्लोक १५ में जिस वक्ष्यमाण भावी विधि की चर्चा है, उसका यहाँ संक्षिप्त उल्लेख कर रहे हैं—

श्रीसिद्धयोगीश्वरी मतानुयायियों के लिये नाडिचारण प्रक्रिया का उल्लेख स्वयं शिव ने किया है। शास्त्रकार कहते हैं कि, मैं उक्त विधि को स्फुटता पूर्वक यहाँ लिख रहा हूँ। अर्थात् उस कथन को मैं अपने शब्दों में व्यक्त कर रहा हूँ।

भावनातन्मयीभावे सा नाडी वहति स्फुटम् ।
यद्वा वाहयितुं येष्टा तदङ्गं तेन पाणिना ॥ २० ॥
आपीड्य कुक्षिं नमयेत्सा वहेन्नाडिका क्षणात् ।

येति मात्राद्युद्देशानुसारं वामाद्यन्यतमा । भावयेदिति वहन्तीम् । यद्वेति अयोगिविषयतया ॥

एवं नाडीविधिमभिधाय, श्राद्धस्य भोगमोक्षदानहेतुत्वमस्तीत्याह

एवं श्राद्धमुखेनापि भोगमोक्षोभयस्थितिम् ॥ २१ ॥
कुर्यादिति शिवेनोक्तं तत्र तत्र कृपालुना ।

साधक जिस नाड़ी को चलाना चाहता है, सर्वप्रथम उसका भावन करे। नाभि केन्द्र से उच्छलित श्वास वायु जिस भाग से अयन कर रहा है, उसको मातृकेन्द्र से अमाकेन्द्र तक पूरी तरह आते जाते आकलित कर ले और यह सोचे कि, हमें क्या करना है ? यदि इच्छित नाड़ी चल रही है, तब तो अनुकूल श्वास ही है। यदि विपरीत नाड़ो चालन करना हो, तो उस भावना से भर उठे कि, अब जिसे मैं चाहता हूँ, वह चलेगी। भावना की तन्मयता के प्रभाव से सचमुच वही नाडी चल पड़ती है।

साधक जिस नाडी को चलाना चाहे, उधर के हाथ से कोख को दबाकर उधर के अङ्ग को उसी ओर झुकावे। इस क्रिया से क्षण भर में वही नाड़ी चलने लगती है। इसमें अपने उद्देश्य को सामने रखना चाहिये। जैसे मातृ-इष्टि है, तो वाम नाड़ो चालन और पितृ-गुरु-इष्टि हो, तो दक्ष नाड़ी चालन करना चाहिये। इसे ही आचार्य जयरथ ने मात्राद्युद्देशानुसार शब्द से व्याख्यायित किया है। योगविषया तो अपने क्रम से ही अयत्नज रूप से चलती है। जिसका योग नहीं है, उसके प्रयोग की ही यह विधि है ॥ १९-२० ॥

श्लोक २१ में आये हुए 'एवं' शब्द का तात्पर्य नाड़ी संचालन विधि को इस प्रकार पूरा कर लेने के पश्चात् अर्थ में है। अर्थात् सर्वप्रथम

ननु दीक्षैव भोगमोक्षसाधिकेत्युक्तम्, तत् कथं श्राद्धाद्यात्मनः चर्या-मात्रादपि एतत्स्यादित्याशङ्क्याह

शक्तिपातोदये जन्तोर्येनोपायेन दैशिकः ॥ २२ ॥
करोत्युद्धरणं तत्तन्निर्वाणायास्य कल्पते ।

एतदेव उपपादयति

उद्धर्त्ता देवदेवो हि स चाचिन्त्यप्रभावकः ॥ २३ ॥
उपायं गुरुदीक्षादिद्वारमात्रेण संश्रयेत् ।

नच इयमस्मदुपज्ञैव युक्तिः, अपितु आगमोऽप्येवमित्याह

उक्तं श्रीमन्मतङ्गाख्ये मुनिप्रश्नादनन्तरम् ॥ २४ ॥

नाड़ी अनुकूल कर लेने के बाद ही श्राद्ध का कार्य किया जाना उचित है। श्राद्ध के माध्यम से भोग और मोक्ष दोनों की अपेक्षित सिद्धि होती है। यह तथ्य आगमों में सन्दर्भवश भगवान् ने यत्र-तत्र स्वयम् उद्घाटित किया है।

यहाँ स्वभावतः एक बात सामने आती है। वस्तुतः दीक्षा के विषय में भी यह कहा गया है कि, दीक्षा से भोग और मोक्ष दोनों की सिद्धि होती है। यहाँ श्राद्धमुखेनापि भोग और मोक्ष की सिद्धि होती है। ऐसा क्यों? श्राद्धविधि तो चर्या मात्र है। चर्या से कहीं मोक्ष मिल सकता है? इस आशङ्का का समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं—

देशिक शक्तिपातोदय के सन्दर्भ में जिन उपायों का आश्रय लेते हैं और प्राणी के उद्धार का प्रयत्न करते हैं, वे सभी उपाय निर्वाणोपयोगी होते हैं। यह देशिक का शिवसंकल्प होता है। इसे विशेष रूप से मन में बैठा लेना चाहिये कि, सर्वोद्धारक तो देवाधिदेव महादेव ही हैं। उसके चिरन्तन महाप्रभाव का अनुचिन्तन अनवरत करते रहना चाहिये। यद्यपि अचिन्त्य है वह प्रभाव! फिर भी गुरु और दीक्षा आदि मोक्ष के द्वार मात्र हैं, यह सोचकर ही इन उपायों का आश्रय ग्रहण करना चाहिये। यह केवल मेरा ही अपना मत नहीं है, अपितु आगम भी यही प्रतिपादित करते हैं।

तत्र मुनिप्रश्नमेव तावदाह

मुक्तिर्विवेकात्तत्त्वानां दीक्षातो योगतो यदि ।
चर्यामात्रात्कथं सा स्यादित्यतः सममुत्तरम् ॥ २५ ॥

प्रहस्योचे विभुः कस्माद्भ्रान्तिस्ते परमेशितुः ।
सर्वानुग्राहकत्वं हि संसिद्धं दृश्यतां किल ॥ २६ ॥

तदुक्तं तत्र

'मुक्तिर्विवेकात्तत्त्वानां क्ष्मादीनां प्रविचारतः ।
दीक्षातोऽन्या सुनिर्णीता क्रियापादकृतास्पदा ॥
योगपादोत्थिता सिद्धा तृतीया सापि शस्यते ।
चर्यामात्रेण संसिद्धा चतुर्थी सा कथं भवेत् ॥
प्रपत्तव्या शिवज्ञाने छिन्द्धचज्ञानाङ्कुरं मम ।' इति ।

श्रीमन्मतङ्गशास्त्र में मुनि के प्रश्न के उत्तर में यह बातें कही गयीं हैं। यहाँ उसी मुनि-प्रश्न को प्रस्तुत कर रहे हैं—

मुक्ति तीन प्रकार से सम्भव है। १. तत्त्वों के विवेक से, २. दीक्षा से और ३. यौगिक प्रक्रिया से। प्रश्न कर्ता मुनि पूछ रहे हैं कि, यदि मुक्ति के ये प्रकार शास्त्रसमर्थित हैं, तो यहाँ चर्यामात्र से मुक्ति की प्राप्ति होती है, यह कहने का आधार क्या है? इस प्रश्न को सुनते ही महादेव, मुस्करा उठे। उन्होंने कहा—नारद! यह भ्रान्ति तुझे कहाँ से उत्पन्न हो गयी? तुझे परमेश्वर के सर्वानुग्रहसामर्थ्य में यह सन्देह कैसे उत्पन्न हो गया? पारमेश्वर शक्तिपात योग्य पात्र में स्वारसिक रूप से परमेश्वर स्वयं करते हैं, यह स्वयं सिद्ध तथ्य है। इसका तुझे निश्चित अनुदर्शन करना चाहिये। इसमें विप्रतिपत्ति या विचिकित्सा नहीं होनी चाहिये। मतङ्गतन्त्र में लिखा हुआ है कि,

"पृथ्वी से प्रारम्भ कर परमेश्वर पर्यन्त ३६ तत्त्वों का विवेक जिसे हो जाता है, उसे मुक्ति के लिये तरसना नहीं पड़ता, वरन् स्वभावतः उसको मुक्ति हो जाती है। दूसरा उपाय दीक्षा है। दीक्षा से अज्ञान का

अत इति प्रश्नानन्तरम् । सममिति अनुगुणम् । दृश्यतामिति नात्र कस्यचिद्विप्रतिपत्तिरित्यर्थः ॥ २६ ॥

एतदेव दृष्टान्तोपदर्शनेनोपपादयति

प्राप्तमृत्योर्विषव्याधिशस्त्रादि किल कारणम् ।
अल्पं वा बहु वा तद्वदनुध्या मुक्तिकारणम् ॥ २७ ॥
मुक्त्यर्थमुपचर्यन्ते बाह्यलिङ्गान्यमूनि तु ।
इति ज्ञात्वा न सन्देह इत्थं कार्यो विपश्चिता ॥ २८ ॥

आवरण नष्ट हो जाता है और मुक्ति हस्तामलकवत् स्वतः साक्षात्कृत हो जाती है। तीसरा प्रकार योग सिद्धि है। यह तृतीय उपाय भी प्रशस्त उपाय है। ऐसी स्थिति में यह चौथा प्रकार कि, चर्या मात्र से भी वह सिद्ध होती है, यह विचार कहाँ से उत्पन्न हो गया? इसका आधार क्या है? नारद कहते हैं भगवन्! शैव महाबोध में समुत्पन्न इस मेरे अज्ञानाङ्कुर को वृक्ष का रूप न लेने दें। इसे यहीं समाप्त कर दें।"

इससे यह सिद्ध है कि, मतङ्गशास्त्र तत्त्व-विवेक, दीक्षा और योग को मुक्ति का उपाय मानता है। यह विचार का विषय है। इस पर गहराई से मन्थन करना आवश्यक है॥ २१-२६ ॥

इसे दृष्टान्त के माध्यम से इस प्रकार समझना चाहिये—

परेतासु को मृत्यु के कारणों के रूप में विष, व्याधि, शस्त्र के आघात आदि माने जा सकते हैं। थोड़ा सा जहर भी प्राणहारक हो जाता है। असाध्य और बहुत दिनों से आने वाली व्याधियाँ भी मृत्युप्रद होती हैं। उसी तरह अनुध्या अर्थात् शक्तिपातलक्षणा भक्ति भी मुक्ति की कारण है। इसमें सन्देह नहीं करना चाहिये। ये दीक्षा आदि बाह्यलिङ्ग हैं। मुक्ति के लिये ये उपचारित होते हैं। इसलिये श्राद्ध और चर्या आदि भी उपचार मात्र हैं, यह समझना चाहिये। इनके अन्तराल में बैठी हुई भक्ति ही मुक्ति की मुख्य कारण है। वस्तुतः उसी का आश्रय ग्रहण करना चाहिये।

इयतैव कथं मुक्तिरिति भक्तिं परां श्रयेत् ।

यथाहि आसन्नमरणस्य मृत्यौ विषादि अल्पं वा बहु वा कारणम्, साक्षादेतन्न कारणम् किंतु भोगक्षय एव, तथा मुक्तावपि

'तस्यैव तु प्रसादेन भक्तिरुत्पद्यते नृणाम् ।' (म० भार०)

इत्यादिदृष्टया शक्तिपातैकलक्षणा अनुध्या भक्तिरेव मुख्यं कारणम् । अमूनि पुनः बाह्यलिङ्गानि दीक्षादीनि तथात्वादेव उपायमात्ररूपतया उपचरितानीत्यर्थः । अतश्च श्राद्धाद्यात्मनः चर्यामात्रादेव कथं मुक्तिः स्यादिति न संशयितव्यम् । किन्तु अत्र भक्तिरेव दाढर्येन आश्रयणीया येनैवं स्यात् । तदुक्तं तत्र

यहाँ एक अन्य मुख्य कारण की ओर ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं। ये विषादि भी साक्षात् कारण नहीं माने जा सकते । ये तबतक मृत्युप्रद नहीं हो सकते, जब तक व्यक्ति का भोगक्षय नहीं होता। मुख्य कारण भोग का क्षय है। इस जीवन के भोग की सञ्चित कर्मों की गठरी खत्म होने पर ही विषादि अपना प्रभाव दिखला पाते हैं, अन्यथा नहीं । जहर खाकर भी लोग बच जाते हैं । शस्त्रों के घात से पीडित भी चङ्गे हो जाते हैं, बड़े से बड़े रोग भी समाप्त हो जाते हैं और रोगी में नये जीवन का संचार हो जाता है। किन्तु भोग के क्षय हो जाने पर छोटे कारणों से भी मृत्यु हो जाती हैं ।

इस सम्बन्ध में महाभारत कहता है कि,

"सर्वेश्वर विभु के प्रसाद से ही साधक में विशेष कृपा से भक्ति भाव का संचार होता है। भक्ति की उत्पत्ति से मुक्ति अनायास सिद्ध हो जाती है।

भक्ति का पर्यायवाची शब्द है 'अनुध्या'। यह शक्तिपात की परिचायिका होती है। व्यक्ति के जितने दीक्षादि बाह्यलिङ्ग होते हैं, बाहरी चिह्न हैं। ये मात्र उपचरित होते हैं। भक्ति से इनकी तुलना नहीं की जा सकती। हाँ यदि श्राद्धादिकर्म में, दीक्षा में और चर्या में भी भक्ति का प्रवाह अनवरत प्रवहमान हो, तो ये सभी मुक्ति में मुख्य कारण हो सकते हैं। अर्थात् शास्त्रकार भक्ति की मुख्यता के ही सन्दर्भ में श्राद्ध आदि की उपयोगिता का भी समर्थन कर रहे हैं। श्री मन्मतङ्ग शास्त्र में एतद्विषक चर्चा इस तरह की गयी है—

'एतस्मिन्नन्तरे नाथः प्रहस्योवाच विश्वराट्।
किमत्र कारणं भ्रान्तेरनुध्यानविवर्शनात् ॥
सर्वानुग्राहकत्वं हि संसिद्धं परमेष्ठिनः।
प्राप्तकालस्य चिह्नानि दृश्यन्तेऽनेकधा यथा ॥
विषरुक्शस्त्रपूर्वाणि नच तान्यत्र कारणम्।
मृत्योर्भोगक्षयाभावात्तद्वदत्रापि निश्चितम् ॥

"इस प्रसङ्ग के क्रमान्तर में चर्या की यह एक ऐसी बात उपस्थित हो आयी, जिसे सुनगुन कर परमेश्वर मुस्करा उठे। उन सर्वेश्वर ने इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया और कहा—साधक वत्स वृन्द ! इस भ्रान्ति की कोई आवश्यकता नहीं। मैं यह मानता हूँ कि, आप के मन में यह सन्देह अनुध्यान पर ध्यान न देने के कारण ही उत्पन्न हुआ है। अनुध्यान पर विशेष ध्यान दें और परमेष्ठी परमेश्वर के सर्वानुग्राहत्व पर विचार करें, तो यह सन्देह अपने आप समाप्त हो जायेगा। सब पर अनुग्रह करना शिव का 'स्व'भाव है। यह सम्यक् रूप से सिद्ध बात है। अनुग्रह रूप शक्तिपात के प्राप्तकाल में कुछ ऐसे लक्षण परिलक्षित होने लगते हैं, जिन्हें देख कर यह जाना जा सकता है कि, यह पुरुष शक्तिपात-पवित्रित हो चुका है।

इस सन्दर्भ में मृत्यु को दृष्टान्त रूप में लें और इस पर विचार करें। किसी को जहर दे दिया जाता है। अधिक विषपान तो मृत्युप्रद होता ही है। उसकी अल्पमात्रा से भी प्राणी मर जाता है। इसी तरह शस्त्रघात से मृत्यु होती है। सामान्य से लेकर असाध्य रोगों से भी मृत्यु होती है। यह व्यवहार में देखा जाता है। किन्तु मुख्य कारण पर किसी का ध्यान नहीं जाता। वस्तुतः भोगक्षय होने पर ही मृत्यु होती है। जीवित है, तो संचित कर्मफल भोग रहा है। कर्मफल पूरा होते ही सामान्यतः मृत्यु हो जाती है। हृदय गति अवरुद्ध हुई नहीं कि मनुष्य मरा नहीं।

जैसे मृत्यु में भोगक्षय सब कारणों का मूल कारण है, उसी तरह श्राद्ध दीक्षा, चर्या आदि के मूल में बैठी हुई भक्ति ही मूल कारण है। भक्ति से ही मुक्ति अधिगत हो जाती है। उभयत्र यही स्थिति है। मृत्यु में जैसे भोगक्षय

अनुध्यानबलावेशाच्चर्याद्याः प्रकटीकृताः ।
मुक्त्यर्थमुपचर्यन्ते बाह्यलिङ्गान्यमूनि तु ॥
निपाताद्यत्स्फुटं चिह्नं भक्तिरव्यभिचारिणी ।
तया शिष्यस्य सततमनिवारितवीर्यया ॥
पुंसः प्रसन्नभावस्य शिवत्वं व्यक्तिमेति हि ।' इति ।

एतदेव प्रथमार्धेनोपसंहरति

उक्तः श्राद्धविधिर्भ्रान्तिगरातङ्कविमर्दनः ॥ २९ ॥

इति शिवम् ॥ २९ ॥

प्रथम कारण है, उसी तरह श्रद्धा-चर्या में भक्ति मूल कारण है । अनुध्यान की अनुपम प्रभावशालिता के फलस्वरूप एक अप्रकल्पनीय आवेश से चर्या मानो चरितार्थ हो जाती है । श्राद्ध उद्धारक बन जाता है और दीक्षा अक्षय-लक्ष्मी को आक्षिप्त कर लेती है । ये सभी मुक्ति के उद्देश्य में उपचरित हो जाती हैं । ऐसे पुरुष में कुछ ऐसे लक्षण आलक्षित होते हैं, जो उस पुरुष को भक्ति के आवेश को सूचित करते हैं । इन्हें शास्त्र की भाषा में 'बाह्यलिङ्ग' कहते हैं । शक्तिपात का प्रथम लक्षण पुरुष की अव्यभिचारिणी भक्ति है । यह स्फुट चिह्न है ।

शिष्य में समुद्रिक्त भक्ति की ओजस्विनी ऊर्जा का अनवरुद्ध महाप्रवाह उसे शैवबोध सिन्धु में आत्मसात् हो जाने का अवसर प्रदान करता है । ऐसे पुरुष में प्रसन्न भावों का एक भव्य सद्भाव समुच्छलित हो जाता है, जो उस भूतभावन के महाभाव से ओतप्रोत कर देता है ।

श्राद्धविधि का आगमिक आचार इस आह्निक का वर्ण्य विषय था । उसे पूरी तरह व्यक्त करने के उपरान्त अब उसका उपसंहार कर रहे हैं—

श्राद्ध के सम्बन्ध में सामाजिक स्तर पर, वैचारिक स्तर पर, कर्म-काण्डीय श्रौत विधान के स्तर पर और साम्प्रदायिक मान्यताओं के अनुरोध के स्तर पर अनेक भ्रान्तियाँ हैं । भ्रान्ति एक प्रकार की विष होती है ।

निखिलशिवशासनोदितविविधविधानैकनिष्ठया सुधिया ।
निरणायि पञ्चविंशं किलाह्निकं जयरथेनैतत् ॥

इति श्रीमन्हामाहेश्वराचार्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचिते
राजानकजयरथकृतविवेकाख्यव्याख्योपेते
श्रीतन्त्रालोकविवेके श्राद्धप्रकाशनं नाम
पञ्चविंशमाह्निकम् ॥ २५ ॥

जहरीला अमृत भी प्राणलेवा बन जाता है। इसके अकल्पित आतङ्कों से समाज को मुक्ति दिलाना तन्त्र और आगम का उत्तरदायित्व है। इसी के परिणामस्वरूप समस्त आतङ्क-कलङ्क-पङ्क को प्रक्षालित करने वाली आगमिक विधि का मैंने इस पचीसवें आह्निक में उल्लेख किया है। यह शास्त्रकार की घोषणा है। शिवानुग्रह से विश्व का कल्याण हो यही कामना है ॥ २९ ॥

पंचविश आह्निक-कृति-कर्त्ता जयरथ विज्ञ !
शैवागम-आचार-विधि-संप्रयोग-सदभिज्ञ !

× × × ×

सांसिद्धिकः शैवसुधाभिषिक्तोऽहं पञ्चविंशाह्निक-भाष्यकारः ।
हंसोऽस्मि जानामि न किं किमर्थं जानति सन्तोऽत्र शिवः प्रमाणम् ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचित
राजानकजयरथकृतविवेकाभिख्यव्याख्योपेत
डॉ॰परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीर-विवेक-भाषाभाष्यसंवलित
श्रीतन्त्रालोक का श्राद्धविधि प्रकाशन
नामक पचीसवाँ आह्निक पूर्ण ॥ २५ ॥

अथ

श्रीतन्त्रालोके

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचिते

श्रीराजानकजयरथकृतविवेकाख्यव्याख्योपेते

षड्विंशतितममाह्निकम्

भवति यदिच्छावशतः शिवपूजा विश्वलाञ्छनं विष्वक् ।
विश्वं जयति स सुमनाः प्रपन्नजनमोचने सुमनाः ॥ १ ॥

इदानीं द्वितीयार्धेन दीक्षितविषयां शेषवृत्तिं वक्तुमाह

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्य श्रीमदभिनवगुप्तपादविरचित

श्रीराजानकजयरथकृतविवेकाख्यव्याख्योपेत

डॉ०परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीरविवेक-

भाषाभाष्य-संवलित

श्रीतन्त्रालोक

का

छब्बीसवाँ आह्निक

जिसकी इच्छा से सतत, शिव पूजा, शिवरूप ।
विश्वात्मन् विष्वक् सुमन, हों प्रपन्न-अनुरूप ॥

आह्निक के आरम्भ में दीक्षित विषय से संबद्ध शेषवृत्ति का कथन करने के लिये गताह्निक के अन्तिम श्लोक की द्वितीय अर्धाली प्रस्तुत कर रहे हैं—

अथोच्यते　　शेषवृत्तिर्जीवतामुपयोगिनो ॥ १ ॥

ननु इह

'दीक्षैव मोचयत्यूर्ध्वं शैवं धाम नयत्यपि ।'

इत्याद्युक्त्या दीक्षामात्रेणैव कार्तार्थ्यमिति किं शेषवृत्त्युपदेशेनेत्याशङ्कां गर्भीकृत्य दीक्षाभेदोक्तिपुरःसरं तत्प्रयोजनं प्रदर्शयति

दीक्षा बहुप्रकारेयं श्राद्धान्ता या प्रकीर्तिता ।
सा संस्क्रियायै मोक्षाय भोगायापि द्वयाय वा ॥ २ ॥

शास्त्रकार कह रहे हैं कि, इस आह्निक में सजीव अर्थात् जीवित व्यक्तियों के लिये शेषवृत्ति का उल्लेख कर रहे हैं। शेषवृत्ति अर्थात् इस जन्म की बची हुयी भोगवृत्ति व्यक्ति निर्बीज दीक्षा से दीक्षित अवस्था में भी अभी जीवन यापन करने की स्थिति में है। इसलिये इस वृत्ति का बड़ा ही महत्त्व है। इस पूरे प्रकरण में शेषवृत्ति का ही, वर्णन कर रहे हैं। प्रसङ्गवश अन्य विषय भी इसमें देखे जा सकते हैं ॥ १ ॥

जिज्ञासु एक नयी जिज्ञासा उपस्थापित कर रहा है। वह कह रहा है कि,

"आगम के अनुसार दीक्षा ही मुक्त करती है और वही शैव महाभाव के ऊर्ध्व धाम तक पहुँचा देती है" इस उक्ति के अनुसार दीक्षा मात्र से शिष्य कृतार्थ हो जाता है। ऐसी स्थिति में शेषवृत्ति के उपदेश की क्या आवश्यकता ? ऊर्ध्व शैवधाम में अवस्थान ही जीवन का एक मात्र उद्देश्य है। वह दीक्षा से पूरा हो जाता है। अन्य उपदेश अनुपयोगी हैं। इस आशङ्का को ध्यान में रखते हुए दीक्षा के कुछ-अन्य भेदों का भी उपदेश करते हुए शास्त्रकार शेषवृत्ति के उद्देश्य का प्रकाशन कर रहे हैं—

अब तक समय-पुत्रक आदि दीक्षाओं से लेकर श्राद्धपर्यन्त दीक्षा का यह वर्णन शिष्य के संस्कार के उद्देश्य की पूर्ति के लिये किया गया है। वस्तुतः संस्कृत शिष्य को ही दीक्षा मोक्ष प्रदान करने में समर्थ है। यह बुभुक्षु

एतदेव प्रपञ्चयति

तत्र संस्कारसिद्धयै या दीक्षा साक्षान्न मोचनी ।
अनुसन्धिवशाद्या च साक्षान्मोक्त्री सबीजिका ॥ ३ ॥
तयोभय्या दीक्षिता ये तेषामाजीववर्तनम् ।
वक्तव्यं पुत्रकादीनां तन्मयत्वप्रसिद्धये ॥ ४ ॥

तत्र एवं प्रकारचतुष्टयमध्यात् या संस्कारनिमित्तमुक्ता दीक्षा बुभुक्षुमुमुक्षुतालक्षणादनुसन्धानविशेषात् साधकादेर्भोगस्य प्राधान्येन तद्व्यवहितत्वात् साक्षान्न मोचनी, याच पुत्रकादेर्भोगव्यवधानायोगात् साक्षान्मोक्त्री मोचिकेत्यर्थः, साच निर्बीजापि भवेदिति तद्व्यवच्छेदायोक्तं सबीजिकेति, नहि निर्बीजायां काचित् शेषवृत्तिरस्ति तस्यां सामयस्यापि पाशस्य शोधितत्वात् । वक्ष्यति च

को भोग भी प्रदान करती है। अथवा मोक्ष और भोग दोनों को प्रदान करने में समर्थ है, इसमें सन्देह नहीं फिर भी शेषवृत्ति के उपदेश का महत्त्व मैं प्रकट कर रहा हूँ ॥ २ ॥

द्वितीय श्लोक में दीक्षा के चार उद्धेश्य निर्धारित किये गये हैं— १. संस्कार, २. मोक्ष, ३. भोग और ४. भोगापवर्ग प्रदत्त्व। इस कथन को विस्तार प्रदान कर रहे हैं—

इनमें से संस्कार मात्र की सिद्धि के लिये जो दीक्षा दी जाती है, वह साक्षात् बन्धन से विमुक्ति प्रदान करने वाली नहीं होती। उसका कारण यह है कि, जो पुरुष मोक्षानुसन्धान या बुभुक्षुता का अनुसन्धान करता है, वह साधक श्रेणी का होता है। संस्कार शुद्धि के उद्देश्य से ली गयी दीक्षा में प्रधानता मात्र भोग की होती है। इससे साधना में व्यवधान पड़ जाता है। परिणामस्वरूप यह साक्षात् विमुक्तिप्रदा नहीं होती।

जहाँ तक मोक्ष दीक्षा का प्रश्न है, यह भी सबीजा और निर्बीजा दो प्रकार की होती है। इसमें निर्बीजा दीक्षा ही साक्षात् मोक्षप्रदा होती है क्योंकि इसमें अंकुरित होने की शक्ति का सर्वथा अभाव हो जाता है। इसी

'तौ सांसिद्धिकनिर्बीजौ को वदेच्छेषवृत्तये ।' (१० श्लो०) इति ।
तया उक्तरूपया द्विप्रकारया दीक्षया ये पुत्रकादयो दीक्षितास्तेषामाजीवं वृत्तिर्वक्तव्या येनैषां निर्विघ्नमेव संविदैकात्म्यं सिद्धयेत् ॥ ४ ॥

ननु इयं नाम शेषवृत्तिरुच्यते यद्भुक्तिमुक्तिनिमित्तं नित्यनैमित्तिकादेरनुष्ठानमिति, तदेतत्साधकः पुत्रको वा किमविशेषेणैव अनुतिष्ठेन्न वेत्याशङ्कयाह

उद्देश्य से इसे निर्बीज दीक्षा कहते ही हैं। इसमें शेष वर्त्तन के उपदेश की कोई आवश्यकता नहीं होती। ऐसे उत्कृष्ट साधक में कोई वृत्तिशेष नहीं रहती। इसमें समयाचार पालन रूप पाश का शोधन हो जाता है। श्लोक १० में इसका स्पष्ट उल्लेख है।

जहाँ तक सबीजिका दीक्षा का प्रश्न है, इसमें भोग की अभिलाषा अभी उल्लसित होती रहती है। इसी अभिलाष भाव की वृत्ति के फलस्वरूप इसका निर्बीजा से व्यवहितत्व सिद्ध होता है। सबीजा बुभुक्षु दीक्षा ही मानी जाती है। भोग और मोक्ष दोनों की भावना से भावित साधकों के लिये शेषवर्त्तन अनिवार्यतः आवश्यक है। ये दोनों प्रकार की दीक्षायें समयी और पुत्रक आदि शिष्यों को दी जाती हैं। इनकी आजीवन अनुवर्त्तना शास्त्र निर्दिष्ट है। आजीवन शेषवर्त्तन कोई व्यर्थ का जल-ताडन जैसा काम नहीं होता। वरन् यह सोद्देश्य सम्पन्न करने से सुखद परिणाम की प्राप्ति होती है। अन्त में ऐसे साधकों का संविदैकात्म्य सिद्ध हो जाता है ॥ ३-४ ॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि, जिसे हम शेषवृत्ति कहते हैं, यह तो आजीवन कर्त्तव्य रूप में उपदिष्ट है। इसमें भुक्ति मुक्ति दोनों उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिये नित्य और नैमित्तिक दोनों कार्य अनिवार्यतः करने ही होते हैं। ऐसी स्थिति में क्या साधक या पुत्रक दोनों को समान रूप से इसे सम्पादित करने की प्रथा है या कोई विशेष विधि पृथक् रूप से उपदिष्ट है ? इनके अनुष्ठान के सम्बन्ध में निर्देश कर रहे हैं—

बुभुक्षोर्वा मुमुक्षोर्वा स्वसंविद्गुरुशास्त्रतः ।
प्रमाणाद्या संस्क्रियायै दीक्षा हि गुरुणा कृता ॥ ५ ॥
ततः स संस्कृतं योन्यं ज्ञात्वात्मानं स्वशासने ।
तदुक्तवस्त्वनुष्ठानं भुक्त्यै मुक्त्यै च सेवते ॥ ६ ॥

इह हि गुरुणा बुभुक्षोर्वा मुमुक्षोर्वा

'त्रिप्रत्ययमिदं ज्ञानं .... ।'

इस क्रम में बुभुक्षु हो या मुमुक्षु, दोनों को अपनी संवित्ति देवता के आन्तर निर्देश, गुरु के आदेश और निर्देश और इस सम्बन्ध में शास्त्र के जो निर्देश हैं—उन्हीं को प्रमाण मानना चाहिये। इन्हीं तीनों दृष्टियों से गुरु समस्त वृत्तियों को संस्कार सम्पन्न बनाने की दीक्षा देता है। शिष्य को इन बातों के वर्त्तन में सदा सावधान रहना ही चाहिये। उन्हीं निर्देशों के अनुसार आचरण करना चाहिये।

प्रत्येक क्षण आत्मानुचिन्तन और अनुसन्धान के बल पर आत्मनिरीक्षण करना चाहिये कि, मैं कितना संस्कृत अर्थात् संस्कार सम्पन्न हो रहा हूँ? इस दिशा में अपेक्षित योग्यता से मैं कितना सम्पन्न अर्थात् योग्य हो रहा हूँ? अपने शासनाम्नाय में स्वीकृत सिद्धान्तों को तुला पर मैं कितना सन्तुलित सिद्ध हो रहा हूँ? इन सबका क्रमिक अनुसन्धान कर स्वात्म की अपनी योग्यता पर सन्तोष का अनुभव हो रहा है या नहीं—यह देखते रहना चाहिये।

यह जागरूक साधक की सावधानता का स्वरूप है। इस स्थिति में परिपक्व होकर मोक्ष का, भोग का अथवा उभयार्थ सिद्धि का अनुष्ठान करना सटीक बैठता है। साधक तदनुसार ही भुक्ति अथवा मुक्ति के आचरणों के नियमों का सेवन करता है।

इस प्रसङ्ग को आगम प्रामाण्य से पुष्ट करते हुए आचार्य यह व्यक्त कर रहे हैं कि, गुरु दीक्षा के समय बुभुक्षु या मुमुक्षु शिष्यों के लिये—"तीन

इत्याद्युक्त्या स्वसंविद्गुरुशास्त्रलक्षणं प्रमाणमधिकृत्य संस्कारसिद्धये या दीक्षा कृता, ततो दीक्षातः स बुभुक्षुर्मुमुक्षुर्वा स्वमात्मानं संस्कृतत्वात् स्वशासने भुक्तौ मुक्तौ वा योग्यं च ज्ञात्वा स्वशासनोक्तस्य नित्यादेरनुष्ठानं सेवते अविशेषेणैव कुर्यादित्यर्थः ॥ ६ ॥

ननु एवं स्वपरामर्शो यस्य नास्ति, तं प्रति किं शेषवृत्तिर्वाच्या नवेत्याशङ्क्याह

आचार्यप्रत्ययादेव योऽपि स्याद्भुक्तिमुक्तिभाक् ।
तत्प्रत्यूहोदयध्वस्त्यै ब्रूयात्तस्यापि वर्तनम् ॥ ७ ॥

विश्वासों पर आधृत यह ज्ञान माना जाता है। इसलिये इसे त्रिप्रत्यय ज्ञान कहते हैं।" ऐसा निर्देश दिया गया है। स्वात्मसंवित्ति, गुरु और शास्त्र यही तीनों प्रत्यय के प्रमाण माने जाते हैं। इन्हीं प्रमाणों के अधिकार में मुमुक्षु, बुभुक्षु शिष्यों के संस्कार के उद्देश्य से हो उन्होंने दोक्षा दी थी। इन्हीं प्रत्ययों को ध्यान में रख कर सभी साधक शिष्य अपने संस्कार और अपनी योग्यता के अनुसार अपने शासनाम्नाय का अनुपालन करते थे। यह सर्वयुगीन पद्धति है, जिसकी शिक्षा दीक्षा गुरु देता था। वर्त्तमान सामाजिक सन्दर्भ में भी यह प्रासङ्गिक है। किन्तु आज इसका सर्वथा लोप हो गया है। इसके विशेष कारण हैं, जिन पर यहाँ विचार व्यक्त करना नितान्त आवश्यक है ॥ ५-६ ॥

प्रश्नकर्त्ता पूछता है कि, उक्त संदर्भों में स्वात्मपरामर्श की मूलतः आवश्यता होती है। जिसके पास ऐसे परामर्श का अभाव हो, उसे यह शेषवृत्ति उपदेष्टव्य है या नहीं ? इस पर शास्त्रकार का कथन है कि,

दैशिक गुरुदेव के प्रत्यय के आधार पर ही दीक्षित होकर साधक स्वानुरूप भुक्ति या मुक्ति की सिद्धि के लिये तत्पर होता है। इसमें यदि कहीं कोई प्रत्यूह हो, विघ्न या बाधा आ पड़े, तो उसको ध्वस्त करने के लिये, उसको निराकृत करने के लिये ऐसे शिष्य को भो शेषवृत्ति का उपदेश देना चाहिये ॥ ७ ॥

एवं गुरुप्रत्ययवत् स्वप्रत्ययोऽपि यस्यास्ति, तस्यापि एषैव वार्तेत्याह

स्वसंविद्गुरुसंवित्योस्तुल्यप्रत्ययभागपि ।
शेषवृत्त्या समादेश्यस्तद्विघ्नादिप्रशान्तये ॥ ८ ॥

यः पुनरेकान्ततः परमेवापेक्षते नैव वा, तस्य किं शेषवृत्त्येत्याह

यः सर्वथा परापेक्षामुज्झित्वा तु स्थितो निजात् ।
प्रत्ययाद्योऽपि चाचार्यप्रत्ययादेव केवलात् ॥ ९ ॥
तौ सांसिद्धिकनिर्बीजौ को वदेच्छेषवृत्तये ।

शेषवृत्तये इति शेषवृत्तिं विधातुमित्यर्थः ॥

जिस साधक में गुरु प्रत्यय के समान ही प्रगाढ स्वात्म-प्रत्यय हो, उसे भी शेषवृत्ति का उपदेश आवश्यक है । यही कह रहे हैं—

स्वात्म संविद् विमर्श का उल्लास साधक के उत्कर्ष का प्रधान हेतु माना जाता है । तीन प्रत्ययों का यह मुख्य प्रत्यय है । इसी के माहात्म्य से गुरु सांसिद्धिक पद पर प्रतिष्ठित होता है । कुछ ऐसे शिष्य होते हैं, जिनमें स्वात्म-प्रत्यय और गुरुप्रत्यय समान रूप से होते हैं । ऐसे साधक और भी सम्माननीय माने जाते हैं । स्वात्मप्रत्यय में अभिमान की दुःसम्भावना का भय बना रहता है पर उभय समानप्रत्यय साधक में यह नहीं होता । ऐसे साधकों के लिये भी इस देशना का महत्त्व है । ये भी शेषवृत्ति के उपदेशों से समादेश्य माने जाते हैं । विशेषरूप से साधना में आये अवरोधों को ध्वस्त करने के लिये यह अत्यन्त आवश्यक हो जाता है ॥ ८ ॥

कुछ ऐसे भी निरीह निरपेक्ष साधक-श्रेष्ठ होते हैं, जिन्हें किसी की अपेक्षा नहीं रह जाती । इसी श्रेणी के अन्तर्गत कुछ ऐसे भी होते हैं, जो यदि अपेक्षा भी करते हैं, तो मात्र परमेश्वर परमशिव के अनुग्रह की ही करते हैं । ऐसे साधकों के लिये शेषवृत्ति का कोई प्रयोजन नहीं है, यही कह रहे हैं—

सर्वथा परापेक्षा का परित्याग कर जो स्वयं स्वात्मप्रत्यय पर ही निर्भर करता है, अथवा ऐसे साधक जो आचार्य-प्रत्यय पर निर्भर रह कर

ननु यद्येवं, तत्किमनयोः काष्ठकुड्यादिवत् वर्तनमुत पामरवदित्याशङ्क्याह

क्रमात्तन्मयतोपायगुर्वर्चनरतौ तु तौ ॥ १० ॥

तत्रैषां शेषवृत्त्यर्थं नित्यनैमित्तिके ध्रुवे ।

काम्यवर्जं यतः कामाश्चित्राश्चित्राभ्युपायकाः ॥ ११ ॥

तदनुरूप जीवन-यापन करते हैं, ये दोनों ही निर्बीज दोक्षा से अनुगृहीत सांसिद्धिक गुरु स्तरीय अधिकारी साधक शिरोमणि हैं। ऐसे महनीय साधकों के लिये शेषवृत्ति की देशना का निर्देश कोई शास्त्र नहीं करता। कोई गुरु या शास्त्रकार ऐसा नहीं कह सकता कि, उसे भी शेषवृत्ति का उपदेश दिया जाय या उससे यह कहा जाय कि, तुम भी शेषवर्त्तन करो ॥ ९ ॥

ऐसे आदर्श सांसिद्धिक पुरुष के व्यक्तिगत आचरण अर्थात् वर्त्तन के सम्बन्ध में यह स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि, कैसे वह रहता होगा ? क्या वह काष्ठ की तरह एकदम जड़वत् बना रहता है ? दीवाल या भित्ति की भाँति दूसरे पर नितान्त निर्भर रहता है ? कहीं ऐसा तो नहीं कि, किसी आलसी, सुस्त अथवा पामर की तरह अप्रकल्पनीय जीवन जी रहा होता हो ? इन जिज्ञासाओं को ध्यान में रखकर शास्त्रकार कारिकाओं का अवतरण कर रहे हैं—

स्वात्मप्रत्ययनिष्ठ सांसिद्धिक और गुरुप्रत्ययनिष्ठ सांसिद्धिक दोनों के व्यवहार को आकलित करने से ज्ञात होता है कि, प्रथम श्रेणी का गुरु सदैव स्वात्मसंविद् तादात्म्य से समुल्लसित रहता है। गुरु प्रत्ययनिष्ठ साधक अनवरत गुरु सेवा में संलग्न रहता है। एक क्षण के लिये भी विरत नहीं होता। इनकी शेषवृत्ति में नित्य और नैमित्तिक कार्य के लिये शास्त्रकार ने ध्रुव शब्द का प्रयोग किया है, अर्थात् ये ऐसे कार्य हैं, जिन्हे सम्पादित करना ही है। इनके लिये कोई काम्य कर्म नहीं होता। कामनायें अनन्त होती हैं, आश्चर्यचकित करने वाला वैचित्र्य उनमें होता है। इनके सम्पादन में भी विविध अभ्युपाय अपनाने पड़ते हैं। अतः इनके आकर्षण से वे दोनों मुक्त होते हैं।

तत्र नित्यो विधिः सन्ध्यानुष्ठानं देवताव्रजे ।
गुर्वग्निशास्त्रसहिते पूजा भूतदयेत्ययम् ॥ १२ ॥
नैमित्तिकस्तु सर्वेषां पर्वणां पूजनं जपः ।
विशेषवशतः किंच पवित्रकविधिक्रमः ॥ १३ ॥
आचार्यस्य च दीक्षेयं बहुभेदा विवेचिता ।
व्याख्यादिकं च तत्तस्याधिकं नैमित्तिकं ध्रुवम् ॥ १४ ॥

जहाँ तक नित्य कर्मविधि का प्रश्न है, यह ऐसे लोगों द्वारा भी किये जाने की व्यावहारिकता मयी विधि मानी जातो है । इसके अनुसार प्रतिदिन के अनिवार्यतः आवश्यक कार्य करने हो चाहिये, जैसे—सन्ध्या कर्म । सन्ध्या पारमेश्वर अनुसन्धान की आधायिका होती है । सम्प्रदायानुसार इसको विधि में अन्तर भी होते हैं । इसे करने से कोई पुण्य नहों होता किन्तु न करने से पाप होता है । यहाँ पाप का तात्पर्य संस्कारक्षीणता रूप आत्मघात से है । देवाराधन भी नित्य कर्म है । इसमें भो सम्प्रदाय भेद से कई विधियाँ अपनायो जाती हैं । गुरुपूजा, अग्निकर्म शास्त्र स्वाध्याय ये सभी नित्य करणोय कार्य हैं । त्रिकदर्शन में होम की परिभाषा भी पृथक् है और इसका विधान भो अलग अलग होता है ।

नैमित्तिक कार्य किसी निमित्त से किये जाते हैं । आत्मकल्याण के लिये, गुरु के कल्याण के लिये, रुग्ण के रोग को निवृत्ति के लिये, पर्व मनाने में प्रचार के उद्देश्य से पूरे किये जाने वाले कार्य, किसी विशेष लक्ष्य की सिद्धि के लिये किये दुष्कर्म और पवित्रक विधि के सारे उपक्रम सभी नैमित्तिक कर्म श्रेणी में आते हैं । आचार्य दैशिक द्वारा दो गयी दीक्षा इसी आधार पर बहुविधा मानी जाती है । इसके अनेकानेक भेद हो जाते हैं । इनको विस्तार प्रदान करने वाली प्रक्रिया भो चूंकि निमित्त के लिये ही की जातो है । अतः नैमित्तिक ही मानो जानी चाहिये ।

गुरु सर्वप्रथम शिष्य को नित्यकर्म की शिक्षा दे । उसे स्पष्ट रूप से यह समझाये कि, इसका उद्देश्य क्या है ? पुनः गुरु उस शिष्य की योग्यता

तत्रादौ शिशवे ब्रूयाद्गुरुर्नित्यविधिं स्फुटम् ।
तद्योग्यतां समालोक्य विततावितत्तात्मनाम् ॥ १५ ॥
मुख्येतरादिमन्त्राणां वीर्यव्याप्त्यादियोग्यताम् ।
दृष्ट्वा शिष्ये तमेवास्मै मूलमन्त्रं समर्पयेत् ॥ १६ ॥

तन्मयतोपायगुर्वर्चनरताविति स्वसंविद्देवीपरामर्शनपरत्वात् स्वगुरु-भक्तेश्च । यदुक्तं प्राक्

अर्थात् उसकी श्रद्धा, सक्रियता, विवेकपूर्ण पद्धति से कार्य सम्पादन की क्षमता, विनम्रता और पात्रता को देखकर उसे मन्त्रों के वैशिष्ट्य के सम्बन्ध में पूरी जानकारी दे। उसे समझाये कि, ये वितत और ये अवितत मन्त्र हैं। कौन मुख्य मन्त्र हैं और कौन अमुख्य ? इनकी शक्ति का क्या स्वरूप है ? इनका वीर्य और इनके प्रभाव कैसे हैं ? इससे शिष्य को अवगत कराये। इतना ज्ञान-संपन्न हो जाने पर गुरु पुनः शिष्य की सक्रियता का आकलन करे। शिष्य के योग्य सिद्ध हो जाने पर ही उसे आराध्य का मूल मन्त्र अर्पित करे। मूल मन्त्र का सर्वाधिक महत्त्व होता है। मूल मन्त्र की वीर्यवत्ता के जागृत हो जाने पर शिष्य का सर्वविध कल्याण सम्पन्न हो जाता है।

यहाँ कुछ शब्दों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। जैसे,

१. तन्मयतोपायगुर्वर्चनरतौ—

यह तन्मयतोपाय और गुर्वर्चनरत दो शब्दों का द्विवचनान्त रूप है। तन्मयता के उपाय का संप्रयोग स्वात्मनिष्ठ सांसिद्धिक करता है। इसमें स्वसंविद् शक्ति का परामर्श परमावश्यक माना जाता है।

इस परामर्श की विधि है। इसका मूल 'प्राक् संवित् प्राणे परिणता' यह उक्ति है। संवित् और प्राणचार के परामर्श का प्रकार गुरु से अधिगत करना चाहिये।

'यस्य स्वतोऽयं सत्तर्कः स सर्वत्राधिकारवान् ।
अभिषिक्तः स्वसंवित्तिदेवीभिर्दीक्षितश्च सः ॥' (४।४३) इति ।
'समयाचारपाशं तु निर्बीजायां विशोधयेत् ।
दीक्षामात्रेण मुक्तिः स्याद्भक्त्या देवे गुरौ सदा ॥'
(१५।३१) इति च ।

जहाँ गुर्वर्चन रति का प्रश्न है—इसके सबसे बड़े प्रमाण तोटक हैं, जिन पर गुरु का शक्तिपात हुआ और वे तोटक छन्दों में वागात्मक चमत्कार के प्रतीक बन गये। उपमन्यु महर्षि बन गये और हनुमान् विश्ववन्द्य बन गये। इस पद्धति में गुरु हाड़मांस का पुतला मात्र नहीं अपितु सूक्ष्मता का साक्षात् विग्रहरूप ब्रह्म होता है।

इस सम्बन्ध में श्रीतन्त्रालोक (४।४३) में पहले भी कहा गया है कि,

जिसके हृदय में इस प्रकार के स्वतः सत्तर्क अर्थात् परामर्श उल्लसित होते हैं, वह सर्वत्र अधिकारवान्, अभिषिक्त और स्वात्मसंवित्ति देवियों से दीक्षित ज्ञानवान् गुरु होता है।"

साथ ही गुरु भक्ति के सम्बन्ध में भी कहा गया है कि,

"निर्बीज दीक्षा में समयाचार रूपी पाश-जाल को जला देने की प्रक्रिया पूरी कर उनका शोधन कर दिया जाता है। इस दीक्षा से हो मुक्ति प्राप्त हो जाती है। इसमें इष्ट में और गुरु में भक्ति का अनवरत उल्लास होता है।"

२. कामाश्चित्राभ्युपायका : —

वस्तुतः काम्यकर्मों का आधार ही काम है। यहाँ काम की पारिभाषिकता के विविध सन्दर्भों को ध्यान में रखना चाहिये। काम्य कर्म की पूर्ति में सांसारिक लोग आश्चर्यजनक चित्र-विचित्र उपाय अपनाते हैं। उनसे कामों की विचित्रता का भी पता चलता है। इनमें नियत निमित्तता नहीं होती। अतः ये नैमित्तिक नहीं कहे जा सकते। इनका यहाँ निषेध ही कर दिया गया है।

कामानां चित्रत्वे चित्राभ्युपायत्वं हेतुः, अत एव नियतनिमित्तत्वाभावा-देषामिह अनभिधानम्। अधिकमिति पुत्रकादेस्तत्रानधिकारात्। तद्योग्यतां समालोक्येति योग्ये हि शिष्ये विततो विधिरुपदेष्टव्यो मुख्यो वा मन्त्रः समर्प्यः, अन्यस्मिंस्तु अन्यथेति ॥ १६ ॥

अत एव आह

तच्छास्त्रदीक्षितो ह्येष निर्यन्त्राचारशङ्कितः।
न मुख्ये योग्य इत्यन्यसेवातः स्यात्तु योग्यता ॥ १७ ॥

३. अधिकम् —

श्लोक १४ में 'अधिक' शब्द का प्रयोग है। यह नैमित्तिक का विशेषण है। सांसिद्धिक गुरु के सन्दर्भ में इसका प्रयोग किया गया है। इसलिये यह स्पष्ट हो जाता है कि, पुत्रक आदि का अधिकार इस नैमित्तिक कार्य में नहीं है। अतः व्याख्यादिक अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य माने जाते हैं। जयरथ सदृश महाव्याख्याकार सांसिद्धिक गुरु श्रेणी में अग्रगण्य माने जा सकते हैं। व्याख्यादि गुरु को विशिष्ट पूजा है।

४. तद्योग्यतां समालोक्य—

श्लोक १५ में इस पूर्वकालिक क्रिया का प्रयोग किया है। वहाँ कहा गया है कि, वितत और अवितत मन्त्रों की व्याप्ति की योग्यता का सूक्ष्म आयाम होता है। ये मन्त्र वहीं अर्पित किये जा सकते हैं, जहाँ इन मन्त्रों की योग्यता का सामानाधिकरण्य हो, इनके धारण की, इनके प्रयोग की क्षमता जिस शिष्य में हो। इसी उद्देश्य से शास्त्रकार ने देशिक के लिये यह निर्देश दिया है कि, पहले शिष्य की योग्यता का आलोकन, आलोचन कर लेना चाहिये। उनके अनुसार किसी को वितत और किसी को अवितत मन्त्र दिये जा सकते हैं ॥ १०-१६ ॥

एतद्विषयक उन बातों की चर्चा कर रहे हैं, जो कभी-कभी सामने आती हैं। शिष्य उस शास्त्र में दीक्षित हो और उसके मन में इस निर्यन्त्र आचार अर्थात् नियन्त्रणरहित, वैकल्पिकता से अप्रभावित आचार के प्रति

साधकस्य बुभुक्षोस्तु साधकीभाविनोऽपिवा ।
पुष्पपातवशात्सिद्धो मन्त्रोऽर्प्यः साध्यसिद्धये ॥ १८ ॥
वितते गुणभूते वा विधौ दिष्टे पुनर्गुरुः ।
ज्ञात्वास्मै योग्यतां सारं संक्षिप्तं विधिमाचरेत् ॥ १९ ॥

शङ्का उत्पन्न हो जाय तो इसे क्या जाना जाय ? शास्त्रकार का विचार है कि, वह मुख्य मन्त्र की धारा में योजित करने योग्य नहीं है । ऐसे शिष्य की योग्यता की परीक्षा की बात पहले को गयी है । शिष्य की इस अयोग्यता को देखकर दैशिक उसे अमुख्य मन्त्रार्पण करे । वहाँ उसकी योग्यता का आपादन सम्भव है । 'अन्य सेवा' शब्द का यही तात्पर्य है कि, उस अमुख्य मन्त्र के सेवन से अर्थात् उसके आचार के फल से शिष्य में योग्यता का आपादान हो जाय ॥ १७ ॥

शिष्य की कई श्रेणियों की चर्चा सन्दर्भवश आती ही रहती है । यहाँ साधक, बुभुक्षु और साधकीभावेच्छु तीन प्रकार के शिष्यों के स्तरीय स्वरूप की चर्चा है । इसके मन्त्रार्पण के सम्बन्ध में कह रहे हैं कि, दैशिक स्वात्मसंविद्शक्ति से उद्बुद्ध पुष्पों को हाथ में लेकर एक आध्यात्मिक परीक्षा का संकल्प करे । उन्हें उन शिष्यों पर पातित करे, प्रक्षिप्त करे और देखे कि, इसका क्या प्रभाव शिष्य पर पड़ता है । यदि कुसुम सम्पात से मन्त्र सिद्ध होने का लक्षण परिलक्षित हो, तो मुख्य मन्त्र का अर्पण उस शिष्य में करे ताकि उसके साध्य की सिद्धि सम्भव हो सके । साध्यसिद्धि ही शिष्य का और उसकी दीक्षा का लक्ष्य होता है । पुष्पसम्पात परीक्षा की विधि का संकेत इस श्लोक से प्राप्त होता है ॥ १८ ॥

चाहे वितत (मुख्य) मन्त्र हो अथवा अवितत (अमुख्य) मन्त्र देने की प्रक्रिया हो दोनों विधियों के सम्प्रयोग का शास्त्रों में निर्देश है । ये दिष्ट विधियाँ दैशिक द्वारा प्रयुक्त होती हैं । यथा सन्दर्भ गुरु इनका प्रयोग करे और फिर शिष्य की योग्यता का आकलन कर यह निश्चय कर ले कि, अब यह शिष्य मन्त्र देने योग्य हो गया है । इसके बाद संक्षिप्त रूप से सार अर्थात् मौलिक रहस्य विधि का आचार अपनाये ॥ १९ ॥

तत्रैष नियमो यद्यन्मान्त्रं रूपं न तद्गुरुः ।
लिखित्वा प्रथयेच्छिष्ये विशेषादूर्ध्वशासने ॥ २० ॥

निर्यन्त्र इति निर्विकल्पः । अन्य इति अमुख्यस्य मन्त्रस्य । साधकस्येति वृत्ततद्दीक्षस्य । साधकीभाविन इति भावितद्दीक्षस्य । गुणभूत इति अवितते । तत्रेति एवं सारविध्याचरणे । ऊर्ध्वशासन इति त्रिककुलादौ ॥ २० ॥

एतदेव उपपादयति

मन्त्रा वर्णात्मकास्ते च परामर्शात्मकाः स च ।
गुरुसंविदभिन्नश्चेत्संक्रामेत्सा ततः शिशौ ॥ २१ ॥

यहाँ इस बात का मुख्यरूप से ध्यान रखना है कि, मन्त्र का एक मान्त्रिक सूक्ष्म ऊर्जा से स्फूर्जित रूप भी होता है। इस महत्त्वपूर्ण तान्त्रिक रहस्य को सामान्य महत्त्व का कभी न माने। इस सम्बन्ध में शास्त्र ने यह नियम निर्धारित किया है कि, उस मन्त्र को लिख कर शिष्य को कभी भी अर्पित न करे। यह विधि विशेषतः ऊर्ध्वशासन में पालनीय है। ऊर्ध्व और अधर शासनों की चर्चा शास्त्र में प्रायः आती रहती है। इस शासन का स्वाध्यायनिष्ठ अध्येता इससे परिचित होता है कि, ऊर्ध्वशासन त्रिक और कुल सदृश शास्त्रों का ही पर्याय है ॥ २० ॥

इस सम्बन्ध में शास्त्रकार आवश्यक जानकारी दे रहे हैं और अपने शिष्यों को यह निर्दिष्ट कर रहे हैं कि, आचरण में इसे चरितार्थ करना ही श्रेयस्कर है—

मन्त्र वस्तुतः दो प्रकार के होते हैं—१. वर्णात्मक और २. परामर्शात्मक। इनमें परामर्शात्मक मन्त्र में दैशिक गुरु की गौरवमयी संविद् शक्ति का तादात्म्य उल्लसित रहता है। परामर्शात्मक मन्त्र के सिद्ध करते समय वह परामर्शमयी गुरु-संवित् शिष्य के अस्तित्व में संक्रमित हो जाता है। इसीलिये सभी शास्त्र परामर्शात्मक मन्त्र सिद्धि पर बल देते हैं। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर सभी शास्त्र और सम्प्रदाय गुरु से प्राप्त मन्त्र को ही महत्त्व देते हैं।

लिपिस्थितस्तु यो मन्त्रो निर्वीर्यः सोऽत्र कल्पितः ।
संकेतबलतो नास्य पुस्तकात्प्रथते महः ॥ २२ ॥

सचेति परामर्शः । सेति परामर्शमयो गुरुसवित् । तत इति गुरुतः निर्वीर्य इति परामर्शकत्वाभावात् । सहि संविदभिन्न एव भवेदिति भावः ॥ २२ ॥

ननु पुस्तकात् मन्त्रवीर्याकथने किं प्रमाणमित्याशङ्क्याह

पुस्तकाधीतविद्याश्चेत्युक्तं सिद्धामते ततः ।

एवं मन्त्राणां वीर्यं एव भरबन्धः कार्य इति अत्र तात्पर्यम् ॥

जहाँ तक लिपिस्थित लिखे या उकेरे या मुद्रित मन्त्रों के सम्बन्ध में जानने की बात है, वह यह है कि, ये मन्त्र निर्वीर्य होते हैं। उनमें परामर्शात्मकता का अभाव होता है। परामर्शात्मक मन्त्र संविदभिन्न होते हैं और वही जीवन में उत्कर्ष की ओर अग्रसर करते हैं। ये निर्वीर्य लिपिबद्ध मन्त्र मन्त्ररूप से केवल कल्पित होते हैं। यदि कोई यह कहे कि, संकेत के बल से ये परामर्शक हो जाते हैं, यह कथन निर्मूल और निराधार है क्योंकि गुरु प्राप्त परामर्श का वहाँ नितान्त अभाव होता है। पुस्तक से परामर्श की प्रथा का प्रथन नहीं हो सकता। उसमें अर्थात् मन्त्र में वह ऊर्जा जो गुरुवक्त्र से प्राप्त होती है, वह नहीं मिल सकती। श्लोक २१ में प्रयुक्त 'सः' परामर्श का सार्वनामिक विशेषण है। उसी में प्रयुक्त 'सा' सर्वनाम परामर्शमयी गुरुसंवित् के लिये आया हुआ है।

उक्त विश्लेषण का यह निष्कर्ष है कि, पुस्तक स्थित मन्त्र के आधार पर कोई मन्त्रसंप्रयोग की प्रक्रिया नहीं अपनानी चाहिये। गुरु से प्राप्त मन्त्र का जप ही जीवन को संवित्-तादात्म्य की महानुभूति से भरने में सर्वथा समर्थ है ॥ २२ ॥

पुस्तक में लिखित या मुद्रित मन्त्रों की ऊर्जा का विस्फूर्जन नहीं होता, उनमें मन्त्रशक्ति नहीं होती, पुस्तक के आधार पर मन्त्र प्रयोग नहीं करना चाहिये—इस प्रभाव के अकथन का क्या प्रमाण है ? इस आशङ्का की दृष्टि से उत्तर का पूर्व अभिव्यंजन कर रहे हैं—

अत एव आह

ये तु पुस्तकलब्धेऽपि मन्त्रे वीर्यं प्रजानते ॥ २३ ॥

ते भैरवीयसंस्काराः प्रोक्ताः सांसिद्धिका इति ।

इति ज्ञात्वा गुरुः सम्यक् परमानन्दघूर्णितः ॥ २४ ॥

तादृशे तादृशे धाम्नि तु पूजयित्वा विधिं चरेत् ।

तादृशे तादृशे धाम्नीति योग्यशिष्योचित इत्यर्थः ॥

श्री सिद्धातन्त्र नामक ग्रन्थ में गुरु से विद्या न प्राप्त कर स्वतः ग्रन्थ के स्वाध्याय के आधार पर विद्वन्मन्य व्यक्तियों के लिये एक ऐसे शब्द का प्रयोग किया गया है, जो इनकी खिल्ली उड़ाता हुआ प्रतीत होता है। वहाँ कहा गया है कि 'भाई! इनका क्या पूछना! ये तो पुस्तकाधीतविद्य हैं"। अर्थात् ऐसे लोगों को गुरुवक्त्र से प्राप्त ऊर्जा की ओजस्विता प्राप्त नहीं होती। ये उपेक्ष्य श्रेणी के ही होते हैं। यहाँ विद्या शब्द की व्यापकता में मन्त्र विद्या का अर्थ भी लिया गया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि, मन्त्रों की वीर्यवत्ता का ही प्राधान्य है। केवल मन्त्रज्ञान महत्वपूर्ण नहीं।

कुछ ऐसे प्रतिभाशाली विद्वान् शिष्य भी समाज में देखे जा सकते हैं, जो अपनी स्वात्मसंवित्ति शक्ति के बल पर ही पुस्तकस्थ या लिपिबद्ध मन्त्रों में स्थित सूक्ष्म ऊर्जाबीज का रहस्य उद्घाटित कर लेते हैं। ऐसे लोग भैरवयोगिनी रूप चित्प्रतिभा के अनुग्रह से गृहीत शक्तिपात-पवित्रित पुरुष होते हैं। भैरवीय संस्कार से सम्पन्न ये प्रज्ञा पुरुष 'सांसिद्धिक' दैशिक श्रेणी के शिष्य श्रेष्ठ पुरुष होते हैं। यह जानकर गुरुदैशिक परमानन्द सन्दोह हिन्दोलित हो उठता है। खुशी से वह नाच सा उठता है। वह उसके साथ शास्त्रानुमोदित योग्यशिष्योचित सद्व्यवहार कर यथा सन्दर्भ उसको समादर प्रदान करता है ॥ २३-२४ ॥

गुप्तिपरेण च अत्र गुरुणा भाव्यमित्याह

यथान्यशिष्यानुष्ठानं नान्यशिष्येण बुध्यते ॥ २५ ॥
तथा कुर्याद्गुरुर्गुप्तिर्हानिर्दोषवती यतः ।
देवीनां त्रितयं शुद्धं यद्वा यामलयोगतः ॥ २६ ॥
देवीमेकामथो शुद्धां वदेद्वा यामलात्मिकाम् ।
तत्र मन्त्रं स्फुटं वक्त्राद्गुरुणोपांशु चोदितम् ॥ २७ ॥

शास्त्रकार का यह निर्देश है कि, शिष्य के जितने अनुष्ठान हैं, वे सभी परम गोपनीय ढङ्ग से सम्पन्न होने चाहिये। अनुष्ठानों की यह प्रथा है कि, एक शिष्य जिस अनुष्ठान का जिस तरह सम्पादन कर रहा होता है, दूसरा शिष्य उसे न जान सके। दीक्षा विधि में इस प्रकार की गोपनीयता अवश्य बरतनी चाहिये। इसे शास्त्र की भाषा में 'क्रियागुप्ति' कहते हैं। गुप्ति में भेद पड़ जाने या गोपनीयता के भङ्ग हो जाने से हानि को सम्भावना होती है। विधि-विधान में व्यवधान उत्पन्न करने वाली दोषपूर्ण प्रथा का प्रवेश नहीं होना चाहिये ॥ २५ ॥

दैशिक गुरु शिष्य की योग्यता के अनुरूप ही देवीत्रितय (परा, परापरा, अपरा) का शुद्ध मन्त्र प्रदान करे अथवा यामलयोग सिद्ध मन्त्र प्रदान करे। इस मन्त्र देने को प्रक्रिया में गुरु ही प्रमाण होता है। केवल एक देवी का भी विशुद्ध मन्त्र या यामलात्मिका देवी का मन्त्र भी दिया जा सकता है। मन्त्र देते समय गुरु यह ध्यान दे कि, मन्त्र का उच्चारण स्फुट हो। मुँह से निःसृत वर्ण अपनी ऊर्जा से ऊर्जस्वल होकर निकल रहे हों और गुरु उन वर्णों का उपांशु उच्चारण कर रहा हो, जिससे मात्र शिष्य ही आकलित कर सके, कोई दूसरा उसे न सुन सके ॥ २६-२७ ॥

अवधार्याप्रवृत्तेस्तमभ्यस्येन्मनसा　　स्वयम् ।
ततः सुशिक्षितां स्थानदेहान्तःशोधनत्रयीम् ॥ २८ ॥
न्यासं ध्यानं जपं मुद्रां पूजां कुर्यात्प्रयत्नतः ।

दोषवतीति यदभिप्रायेणैव

मन्त्र मिल गया। मन्त्र के अनुष्ठान में शिष्य को प्रवृत्त होना है। शिष्य का इस दिशा में प्रवृत्त होना अर्थात् मन्त्रानुष्ठान की प्रवृत्ति। यहाँ प्रवृत्ति शब्द के साथ 'आ' उपसर्ग लगा हुआ है। इसका अर्थ है प्रवृत्तिकाल से ही। इसके बाद अवधार्य यह पूर्वकालिक क्रिया है। सब मिलाकर आप्रवृत्तेः अवधार्य एक वाक्यांश बनता है। इसका निष्कर्षार्थ है कि, मन्त्रानुष्ठान में संलग्न होने के समय से ही शिष्य को मन्त्र का अवधारण कर स्वयम् मानसिक रूप से मन्त्र का अभ्यास शुरू कर देना चाहिये। इसके बाद जैसा कि समयाचार दीक्षा के प्रसङ्ग में आचार पालन की शिक्षा दी गयी है, उस सुशिक्षित सरणी का अनुसरण शिष्य अवश्य करे।

पन्द्रहवें आह्निक में इसका विशद वर्णन है। उसके अनुसार स्थान शोधन की प्रक्रिया पूरी करने के बाद इस अनुष्ठान में लगना श्रेयस्कर माना जाता है। पुनः देह शोधन और उसके साथ ही आन्तर शोधन भी अपेक्षित होता है। इसे शोधनत्रयी कहते हैं। इनका भी अवधारण कर लेना चाहिये कि, अब मैं मन्त्रानुष्ठान में लग रहा हूँ। कहीं कोई अशुद्धि नहीं रह गयी है। सबका शोधन हो गया है। अब न्यास, ध्यान, पूजा, मुद्रा और जप के क्रमानुसार प्रयत्नपूर्वक अनुष्ठान पूरा करना चाहिये। मुद्रा जप के पहले और जप के बाद भी प्रदर्शित की जाती है। पूजा के जितने प्रकार बतलाये गये हैं, उनमें से किसी एक सरणी का अनुसरण करना चाहिये। यह ध्यान रखना चाहिये कि, स्वशास्त्राम्नात सरणी ही हो। दूसरों द्वारा अनुमोदित न हो।

श्लोक २६ में दोषवती शब्द के सन्दर्भ को आगम द्वारा प्रमाणित किया गया है—

'गोपनात्सिद्धिमायाति................।'

इत्यादि अन्यत्रोक्तम् । शुद्धं केवलम् । स्फुटं सशब्दम् । यदुक्तम्

'आत्मना श्रूयते यस्तु तमुपांशुं विजानते ।
परे शृण्वन्ति यं देवि सशब्दः स उदाहृतः ॥'

(स्व० २।१४७) इति ।

आ प्रवृत्तेरिति अनुष्ठानारम्भकालं यावदित्यर्थः । सुशिक्षितामिति पञ्चदशाह्निकोक्तयुक्त्या ॥

इदानीं नित्यविधिं शिक्षयति

तत्र प्रभाते संबुध्य स्वेष्टां प्राग्देवतां स्मरेत् ॥ २९ ॥
कृतावश्यककर्तव्यः शुद्धो भूत्वा ततो गृहम् ।

"मन्त्र के गोपन से सिद्धि प्राप्त होती है ।"

यह आगम कहता है । इसी तरह स्वच्छन्द तन्त्र के (२।१४७) में उपांशु और सशब्द उच्चारण को भी परिभाषित किया गया है । वहाँ कहा गया है कि,

"जो स्वयं सुना जा सके, ऐसा सूक्ष्म उच्चारण या जप उपांशुजप कहलाता है । दूसरे भी जिस मन्दनाद को सुन सकें, वह सशब्द जप कहलाता है ।"

निष्कर्ष रूप से यह जप की प्रक्रिया में योग्यता, मन्त्र ग्रहण, प्रवृत्ति-काल से हो पद्धति आदि का अवधारण, पूर्व शिक्षा के अनुरूप स्थान, देह और प्राण का शोधन, न्यास, पूजा, ध्यान, मुद्रा और जप समय और मन्त्र का उपांशु प्रयोग ये सभी अवश्य कर्त्तव्य और ध्यातव्य विषय हैं ॥ २८ ॥

नित्य कर्म करना प्रत्येक प्राणी का कर्त्तव्य है । उसमें भी जो संयमित और आचार प्रधान जीवन यापन कर चेतना के प्रशस्त पथ का पथिक बनना चाहता है, उसके लिये नित्यविधि पर ध्यान देना महत्त्वपूर्ण है । यहाँ वही कह रहे हैं—

आश्रित्योत्तरदिग्वक्त्रः स्थानदेहान्तरत्रये ॥ ३० ॥
शुद्धिं विधाय मन्त्राणां यथास्थानं निवेशनम् ।
मुद्राप्रदर्शनं ध्यानं भेदाभेदस्वरूपतः ॥ ३१ ॥
देहासुधीव्योमभूषु मनसा तत्र चार्चनम् ।

प्रभात काल में उठना नित्य विधि की पहली शर्त्त है। जो सबेरे उषःकालीन अरुणोदय की प्रेरणामयी किरणों की प्राणीय गुणवत्ता को ग्रहण नहीं करता, वह इस प्रक्रिया को कभी भी पूरी नहीं कर सकता। इसलिये सुबह चार बजे निद्रा का परित्याग कर सावधानीपूर्वक पवित्र भाव से अपने आराध्य इष्टदेव का स्मरण करना चाहिये। इसके बाद शौच, दन्तधावन, स्नान आदि से निवृत्त होकर अपने घर, आश्रय, या कक्ष में आकर स्थान-शोधन, देह-शोधन और प्राण-शोधन की प्रक्रिया आसन पर बैठने के पहले ही पूरी कर लेनी चाहिये। इतना कर लेने से शुद्धि का एक पवित्र वातावरण बन जाता है ॥ २९-३० ॥

शुद्धि विधान के बाद दो बातों का एक साथ उल्लेख यहाँ है। सर्व-प्रथम मन्त्रों का यथा स्थान सन्निवेश। जैसे—

१. परा मन्त्र का शक्तिशूलाम्बुजपदास्पदत्व। २. परापरा का दक्ष शूलाब्ज सन्निवेश और ३. अपरा मन्त्र का विद्याशूलाम्बुज सन्निवेश[1]। दूसरी बात, जिसका यहाँ संकेत है, वह है यथा स्थान शिष्य का अवस्थान। मन्त्रों के साथ शिष्य का अवस्थित होना यह सिद्ध करता है कि, क्रिया में तत्परता आ चुकी है। यह, मन्त्रों को उद्देश्यपूर्वक अवस्थित करने की सरणी है।

इसके बाद मुद्रा प्रदर्शन का क्रम आता है। इससे शक्ति में उद्रेक होता है। मुद्रा प्रदर्शन के बाद ध्यान का क्रम आता है। पुनः ध्यान में स्थित होकर भेदमय और अभेदमय दोनों तरह से विश्वात्मकता पर विचार करना चाहिये। समस्त भेदवाद को अभेद तादात्म्य की दृष्टि से देखना

---

१. स्व २।७१

जपं चात्र यथाशक्ति देवायैतन्निवेदनम् ॥ ३२ ॥
तन्मयीभावसिद्ध्यर्थं प्रतिसन्ध्यं समाचरेत् ।
अन्ये तु प्रागुदक्पश्चाद्दशदिक्षु चतुष्टयीम् ॥ ३३ ॥
सन्ध्यानामाहुरेतच्च तान्त्रिकीयं न नो मतम् ।

ध्यान और पूजा दोनों में विहित है। इससे वैचारिक परिष्कार होने लगता है ॥ ३१ ॥

शरीर, प्राण, बुद्धि, आकाश और पृथ्वी (अग्नि, वायु, अप् भी) में मानसिक पूजन करना अपेक्षित है। छत्तीस तत्त्वों के पिण्ड को हम शरीर मानते हैं। संविद्शक्ति ही प्राण रूप से परिणत होकर इसमें अवस्थित है। इस शरीर के माध्यम से ही विषयानुभव होता है। अहंन्ता उत्पन्न होती है। बुद्धि इसका विवेचन करतो है। मन संकल्प-विकल्प देता है और शब्दादि पञ्चतन्मात्राओं में निहित पञ्चमहाभूतात्मक आमर्श मन से ही सम्पन्न होता है। इस तरह इसमें मानसिक अर्चन पूरा करने में स्वात्म-परिष्कार सम्भव होता है। एक तरह का यह पुर्यष्टक पूजन है। इनमें अवस्थित अनङ्गकुसुमादि योगिनियों की पूजा भी सम्पन्न हो जाती है[1]। पुर्यष्टक में वासना का ह्रास इस पूजन का उद्देश्य है।

इसके बाद जप का क्रम आता है। मन्त्रों की अर्थसत्ता में अनुप्रविष्ट रहते हुए उनकी निश्चित नियमित संख्या में आवृत्ति ही जप है। इससे मन्त्र शक्ति में उद्रेक होता है और जप-कर्त्ता का अस्तित्व पुलकित हो उठता है। जप जितना भी हो, इस तरह जपने के बाद, शक्ति मन्त्र होने पर उसके वाम हस्त में और शक्तिमान् के दक्ष हस्त में समस्त जप का अर्पण करना चाहिये। देवता अर्थात् आराध्य के लिये जप होता है और उसी को निवेदित भी करना चाहिये ॥ ३२ ॥

ऊपर की ये सारी क्रियायें तन्मयी भाव को सिद्धि में सहायक होती हैं। इनका नियमित आचरण अनिवार्यतः आवश्यक माना जाता है।

---

१. यो. हृदयम् ३।१३१-१३२

स्वमतेन पुनराह

यासौ कालाधिकारे प्राक् सन्ध्या प्रोक्ता चतुष्टयी ॥ ३४ ॥
तामेवान्तः समाधाय सान्ध्यं विधिमुपाचरेत् ।
सन्ध्याचतुष्टयीकृत्यमेकस्यामथवा शिशुः ॥ ३५ ॥
कुर्यात्स्वाध्यायविज्ञानगुरुकृत्यादितत्परः ।

एकस्यामिति अन्यथाहि अस्य स्वाध्यायादिविप्रलोपो भवेदिति भावः ॥

शास्त्रकार का निर्देश है कि, प्रत्येक सन्ध्या के समय यह प्रक्रिया अपनायी जानी चाहिये । प्रति कालसन्धि का अवसर सन्ध्या हो होता है । प्राणापानवाह में प्राणापान अनुसन्धि भी सन्ध्या हो कहलाती है । अतः श्वास श्वास में तादात्म्य समापत्ति की प्रक्रिया साधक पूरो करता है किन्तु दूसरे पौराणिक आदि यह भी कहते हैं कि पूर्व, उत्तर, पश्चिम और दक्षिण दिशाओं सहित दश दिशाओं में व्याप्त कालानुसन्धि हो चतुष्टयी सन्ध्या प्रातः, मध्याह्न, सायम् एवं निशीथरूपा होती हैं । यह चारों सन्ध्याओं का प्रचलित क्रम है । सभी लोग इसी क्रम का अनुसरण करते हैं और कर रहे हैं । शास्त्रकार कहते हैं कि, किन्तु हम इस क्रम को स्वीकार नहीं करते हैं । प्रक्रिया की यह मान्यता हमें स्वीकृत नहीं । तन्त्र दर्शन की तान्त्रिकी मान्यता कुछ दूसरी ही है ॥ ३३ ॥

इस विषय में अपने मत का उल्लेख कर रहे हैं—

कालाधिकार में अर्थात् छठें आह्निक में इसकी चर्चा है । इसके अतिरिक्त काल की पौराणिक पद्धति या सूर्य-चन्द्र के उदयास्त पर आवृत ज्योतिःशात्रीय काल गणना के अनुसार सन्ध्या के चार समय निर्धारित किये गये हैं । तन्त्र शास्त्रीय दृष्टिकोण के आधार पर काल विषयक विमर्श शास्त्र में वर्णित है ।[1] यहाँ भी सन्ध्या-चतुष्टयी की चर्चा है । उसी पद्धति को अन्तः समाहित कर

---

१. श्रात० ९।२०१-२०२; मा० १।२९; श्रीत० ६।२४-२७

ननु कथं सन्ध्याचतुष्टयानुष्ठेयं कर्म एकस्यामेव सन्ध्यायां क्रियमाणं परिपूर्ति यायादित्याशङ्क्याह

सन्ध्याध्यानोदितानन्ततन्मयीभावयुक्तितः ॥ ३६ ॥
तत्संस्कारवशात्सर्वं कालं स्यात्तन्मयो ह्यसौ ।

इस सान्ध्यविधि का आचरण करना चाहिये। चारों सन्ध्याओं में वर्णित विधि के अनुसार चार बार इसकी पूर्त्ति में न लग कर एक सन्ध्या में ही चारों को पूरा किया जा सकता है। शिष्य सुविधानुसार ऐसा करे—यहाँ शास्त्रकार स्वयं कह रहे हैं, क्योंकि शिष्य को शास्त्र-स्वाध्याय, विज्ञान-चिन्तन और गुरुसेवा के बहुत सारे कार्य करने पड़ते हैं। चारों सन्ध्याओं में जो समय लगाकर चौगुना समय खपा रहा होता है, वह एक सन्ध्या के समय में पूरा करे। अन्यथा स्वाध्याय न होने से शास्त्र के विप्रलोप की सम्भावना बनी रहती है ॥ ३४-३५ ॥

प्रश्नकर्त्ता पूछता है कि, चार सन्ध्याओं में अनुष्ठेय एक ही सन्ध्या में क्रियमाण होने पर परिपूर्णता को कैसे प्राप्त कर सकता है? शास्त्रकार इसका समाधान कर रहे हैं—

सन्ध्या के मूल में ध्यान का निहितार्थ ही उल्लसित होता है। ध्यान के माध्यम से अनन्त शक्तिमत्ता का तादात्म्य सुस्फुरित होता है। इस तन्मयी भाव की युक्ति से तादात्म्य का एक संस्कार वहाँ उत्पन्न होता है। फलतः काल का एक अखण्ड सद्भाव-भव्य स्वरूप अवभासित हो उठता है। चारों सन्ध्याओं का अस्तित्व काल के खण्डित सद्भाव का सूचक है। इस तादाम्य में काल का अखण्ड उल्लास उस समय अभिनव कालात्मिका लक्ष्मी का शृङ्गार करने लगता है और सन्ध्या के सारे कार्य मानों स्वयं संपूरित होने लगते हैं और सम्पन्न हो जाते हैं। इस तादात्म्य संस्कृति से साधक का स्वात्म परिष्कार भी अपने आप होता रहता है।

इसके बाद अर्थात् सन्ध्या के अनुष्ठान को सम्पन्न कर लेने पर यथेष्ट काल-समय-सीमा के परिवेश में अपने आम्नाय में आम्नात पूजा में उपयोगी पुष्पराशि और आसव आदि सामग्रियों द्वारा पूजा सम्पन्न कर लेता है। इस

ततो यथेष्टकालेऽसौ पूजां पुष्पासवादिभिः ॥ ३७ ॥
स्थण्डिलादौ शिशुः कुर्याद्विभवाद्यनुरूपतः ।
सुशुद्धः सन्विधिं सर्वं कृत्वान्तरजपान्तकम् ॥ ३८ ॥
अर्घपात्रं पुरा यद्वद्विधाय स्वेष्टमन्त्रतः ।
तेन स्थण्डिलपुष्पादि सर्वं संप्रोक्षयेद्बुधः ॥ ३९ ॥
ततस्तत्रैव संकल्प्य द्वारासनगुरुक्रमम् ।
पूजयेच्छिवताविष्टः स्वदेहार्चापुरःसरम् ॥ ४० ॥
ततस्तत्स्थण्डिलं वीध्रव्योमस्फटिकनिर्मलम् ।
बोधात्मकं समालोक्य तत्र स्वं देवतागणम् ॥ ४१ ॥

पूजा के लिये पूर्व निर्धारित पावन भूमि भाग (स्थण्डिल या चत्वर) में शिष्य अपने विभव के अनुसार विशेष समारोह या आयोजन भी कर सकता है। इस तरह शास्त्राचार के अनुपालन में निरत रहने वाला सिद्ध सम्यक् रूप से शुद्ध हो जाता है। सर्वविधि शुद्ध साधक सारी विधियों का सम्यक् रूप से सम्पादन कर आन्तरिक जपादि की २१६०० बार सांसों के संचालन के साथ साधक का आन्तर जप अनवरत सम्पन्न होता रहता है। यहाँ दो बातों की ओर विशेष ध्यान आकर्षित किया गया है—१. स्थण्डिल में सम्पन्न होने वाली स्थाण्डिली नित्यार्चा अवश्य करणीय नित्य कार्य है, और २. आन्तर याग को न जानने वाला बाह्ययाग का अधिकारी नहीं होता ॥ ३६-३८ ॥

ध्यान, पूजा और आन्तर जप कर लेने पर पहले जैसे बताया गया है, उसी तरह—[1] अर्घपात्र को लेकर स्वेष्ट मन्त्र से उसे अभिमन्त्रित करे। उसी अर्घ जल से समस्त सामग्रियों को संप्रोक्षित करना चाहिये। इसके बाद उस स्थण्डिल रूप पावन यज्ञीय भूमि भाग को निर्मल आकाश और स्फटिक के समान पारदर्शी शीशे की तरह चमचमाते चमत्कार की तरह बोधभूमि की

---

१. श्रीत० १५।१४६, २९०-२९५

प्रतिबिम्बतया पश्येद् बिम्बत्वेन च बोधतः ।
एतदावाहनं मुख्यं व्यजनान्मरुतामिव ॥ ४२ ॥

तत इति सन्ध्याद्यनुष्ठानानन्तरम् । स्थण्डिलादावित्यनेन स्थाण्डिली नित्यार्चेति प्रक्रान्तम् । आन्तरेत्यनेन मनोयागमकृत्वा बाह्ययागादावधिकार एव न भवेदिति कटाक्षितम् । पुरेति पञ्चदशाह्निकादौ । वोध्रं विमलम् । तत्रेति बोधात्मके स्थण्डिले । स्वमिति आराधयिषितम् । बोध एव हि बहिः प्रतिफलितस्तथा तया उच्छलित इत्युक्तं बिम्बत्वेनेति प्रतिबिम्बतयेति च । एतदिति प्रतिबिम्बभावात्मतया दर्शनम् ॥ ४२ ॥

दृष्टान्तमेव विभज्य दर्शयति

सर्वगोऽपि मरुद्यद्वद्व्यजनेनोपजीवितः ।
अर्थकृत्सर्वगं मन्त्रचक्रं रूढेस्तथा भवेत् ॥ ४३ ॥

तरह बोधात्मक रूप से प्रतिफलित की तरह देख कर उसमें स्वात्म स्थित आरिराधयिषित देवतावृन्द को प्रतिबिम्बित आकलित करे । प्रतिबिम्ब से बिम्ब का स्वभावतः आकलन होता है । बोधतादात्म्यपरिवृढ योग्य शिष्य इस प्रक्रिया में स्वतः दक्ष होता । जैसे पंखा चलाना ही वायु के आवाहन को प्रत्यक्ष कर देता है, वैसे शिष्य के इस बोधात्मक भाव से मुख्यतः देवावाहन भी सिद्ध हो जाता है ॥ ३९-४२ ॥

व्यजन और वायु का दृष्टान्त यहाँ प्रस्तुत है । उसी को आधार मानकर वस्तुतत्त्व का उपबृंहण कर रहे हैं—

वायु को सर्वग कहते हैं । यह सर्वदा और सर्वत्र बहता ही रहता है, कहीं न कहीं जाता ही रहता है पर जहाँ से जाता है, वहाँ से भी जाता नहीं, रहता ही है । साँसें तो वायु से ही चलती हैं । जब कभी यह सूक्ष्म भाव में आ जाता है, तो उसके लिये पंखे का प्रयोग करते हैं । व्यजन से प्रतीत होता है कि, वायु उपजीवित हो उठता है । उपवीजित होने पर उपजीवित होना समीर का स्वभाव है ।

चतुष्कपञ्चाशिकया　　तदेतत्तत्त्वमुच्यते ।

रूढेरिति स्थण्डिलादावेवंप्ररोहादित्यर्थः । तथेति अर्थकृत् । चतुष्कपञ्चाशिकेति सृष्ट्यादिप्रमेयचतुष्टयाभिधायिना एवंपरिमाणेन ग्रन्थविशेषेणेत्यर्थः ॥

न केवलमेतदत्रैवोक्तम्, यावदन्यत्रापीत्याह

श्रीनिर्मर्यादशास्त्रे　च　तदेतद्विभुनोदितम् ॥ ४४ ॥

मरुत् के समान ही मन्त्र चक्र भी सर्वग होता है। जब हम या साधक अर्थकृत् होता है, अर्थ में प्रवेश करता है, तो मन्त्र भी उपजीवित हो उठता है। मानों चत्वर में मन्त्र संक्रमित हो रहे हैं। चंक्रमित हो रहे हैं। वहाँ एक रूढि में भी मन्त्रात्मक वातावरण का निर्माण हो उठता है। वहाँ की भूमि, वहाँ की वायु और वहाँ के अस्तित्व में मन्त्रात्मकता समाहित हो जाती है। वहाँ की सामग्रियों में मन्त्रकुमुमावली की सुगन्ध भर जातो है। साधक आचार्य और दर्शक सभी मन्त्रों को अदृश्य आकर्षणशीलता में विश्रान्ति का लाभ लेते हैं।

एक ग्रन्थ है; जिसका नाम है—'चतुष्कपञ्चाशिका। चतुष्क पंचाशिका में प्रमेयचतुष्टय के ही सम्बन्ध में उपनिबद्ध पचास कारिकाओं के कारण इस ग्रन्थ का नाम ही 'चतुष्कपञ्चाशिका' है। इस ग्रन्थ में भी इस तथ्य का यथावत् वर्णन किया गया है। यों तो एषणीय, ज्ञेय और कार्य यही तीन प्रमेय मुख्य होते हैं। जब भगवान् स्वयं मेय हो जाता है, तो उसके चौथे प्रमेयत्व रूप को इन तीनों के साथ चतुष्कता सम्भव है। आचार्य जयरथ ने सृष्टि आदि प्रमेय चतुष्टय की चर्चा की है। सृष्टि आदि भी इन्हीं एषणीय, ज्ञेय और कार्यरूप प्रमेयत्रय में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। ये विचार केवल चतुष्कपञ्चाशिका के ही नहीं हैं अपितु अन्यत्र भी हैं। जैसे श्रीनिर्मर्यादशास्त्र में भी स्वयं परमेश्वर शिव ने ही कहा है ॥ ४३-४४ ॥

तदेव अर्थद्वारेण आह

देवः सर्वगतो देव निर्मर्यादः कथं शिवः ।
आवाह्यते क्षम्यते वेत्येवंपृष्टोऽब्रवीद्विभुः ॥ ४५ ॥
वासनावाह्यते देवि वासना च विसृज्यते ।
परमार्थेन देवस्य नावाहनविसर्जने ॥ ४६ ॥

निर्मर्याद इति निर्यन्त्रणः स्वतन्त्र इति यावत् ॥

उसी तथ्य को अपने शब्दों में व्यक्त कर रहे हैं—

समस्त ज्ञान और विज्ञान की ग्राहकता की प्रतीक विश्व कल्याण की कामना से सर्वेश्वर सदृश विश्व दैशिक से यह प्रश्न कर रही हैं कि, देव ! विश्वब्रह्माण्ड की रचनारूप क्रीडा करने वाले सर्वविजिगीषु शिव तो सर्वगत देव हैं, उन्हें 'निर्मर्याद' भी कहा गया है, क्योंकि वे किसी सीमा में समा नहीं सकते। वे असीम है। असीम ही सर्वगत हो सकता है। जैसे—वायु। यह सर्वगत तत्त्व है। स्थूल पदार्थों में सूक्ष्म वायु स्पर्श से परिज्ञात होता है। यह सर्वगत शिव तो इतना सूक्ष्म है कि, इसके साक्षात्कार के लिये साधकों को विविध साधनाओं का आश्रय लेने पर भी वह इन्द्रियगोचर नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में उसका आवाहन कैसे और किस आधार पर पूजादि प्रसङ्गों में उसका आवाहन करते हैं ? फिर विसर्जन भी करते हैं। विसर्जन करते समय क्षमा भी माँगते हैं। प्रभो ! इस रहस्य को उद्घाटित करने की कृपा करें।

इस प्रकार दिव्यशक्तिमयी माँ के प्रश्न सुन कर परमानुग्रहग्रहिल विश्वगुरु ने इसका स्पष्टीकरण करने के उद्देश्य से कहना शुरू किया—देवि ! वासना का ही आवाहन और वासना का विसर्जन होता है। पारमार्थिक दृष्टि से न तो भगवान् का आवाहन होता है, और न ही विसर्जन। निर्मर्याद शब्द में भी यह संकेत है। जिसकी कोई मर्यादा (सीमा) नहीं, वह एक इकाई या एक व्यक्ति की सीमा में नियन्त्रित व्यक्ति की तरह आवाहित नहीं किया जा सकता। इसीलिये वासना ही आवाहन की आधारशिला है ॥ ४५-४६ ॥

वासनात्मकत्वमेव अत्र दर्शयति

आवाहितो मया देवः स्थण्डिले च प्रतिष्ठितः ।
पूजितः स्तुत इत्येवं हृष्ट्वा देवं विसर्जयेत् ॥ ४७ ॥
प्राणिनामप्रबुद्धानां सन्तोषजननाय वै ।
आवाहनादिकं तेषां प्रवृत्तिः कथमन्यथा ॥ ४८ ॥
कालेन तु विजानन्ति प्रवृत्ताः पतिशासने ।
अनुक्रमेण देवस्य प्राप्तिं भुवनपूर्विकाम् ॥ ४९ ॥

वासनात्मकता का ही यहाँ विश्लेषण यहाँ कर रहे हैं—

शिष्य कहता है—'मया देवः आवाहितः' अर्थात् मेरे द्वारा आराध्यदेव का आवाहन किया गया और 'स्थण्डिल में मैंने उन्हें प्रतिष्ठापित किया', 'पूजितः' अर्थात् प्राधान्येन विवक्षित देव की मेरे द्वारा पूजा की गयी । वे पूजित हुए । मैंने उनकी स्तुति (प्रार्थना) की । इतना करने के बाद शिष्य हर्ष से विह्वल हो उठता है और बड़ी आस्था के साथ विर्सजन कर सन्तोष का अनुभव करता है ॥ ४७ ॥

यह सारी प्रक्रिया वासनात्मक ही मानी जा सकती है । इसमें न कोई आता है, न प्रत्यक्षः नैवेद्य ग्रहण करता है और नहीं कोई विसृष्ट या विसर्जित होता दोख पड़ता है । केवल मन यह संकल्प करता है और मानसिक स्तर पर यह सब कुछ किया जाने वाला बाह्य आडम्बर सम्पन्न होता है । इससे जिन व्यक्तियों का अभी बौद्धिक विकास नहीं हुआ है और जो अप्रबुद्ध हैं, उनका सन्तोष हो जाता है। वे इस बात से प्रसन्न हो जाते हैं कि, हमारे यहाँ पूजा हुई । भगवान् आये और हम धन्य हो गये । उनके मन की जो प्रवृत्ति थी, आवाहन, प्रतिष्ठापन, पूजन, नैवेद्यार्पण और विसर्जन में उसका मन रमा था। वह अन्यथा पूरी कैसे होतो ? यह सारे का सारा उपक्रम, वासना से प्रेरित और वासना का प्रतोक था । इससे उनकी वासना की ही सन्तुष्टि होती है ॥ ४८ ॥

ज्ञानदीपद्युतिध्वस्तसमस्ताज्ञानसञ्चयाः ।
कुतो वानीयते देवः कुत्र वा नीयतेऽपि सः ॥ ५० ॥
स्थूलसूक्ष्मादिभेदेन स हि सर्वत्र संस्थितः ।

भुवनपूर्विकामिति

'..............**मते भुवनभर्तरि ।** (मृ० तं०)

इत्याद्युक्तयोजनिकाबलात् तत्तत्तत्त्वभुवनासादनप्रक्रियात्मिकामित्यर्थः ॥

पतिशासन (शैवशासन) में प्रवृत्त साधक समयानुसार और क्रमशः साधना के सन्दर्भों में सिद्ध करते हुए निश्चय रूप से यह जान जाते हैं कि, परमात्मा की प्राप्ति भुवन-पूर्विका ही सम्पन्न होती है। भुवन-पूर्विका पद्धति का संकेत इस शास्त्र के अष्टम आह्निक में है[१] । समस्त अध्वा का ज्ञान प्राप्त कर क्रमशः इनके ईशों में, पुनः देह, प्राण-धी चक्र में और पुनः सब कुछ स्वात्मसंवित्ति में विलापन कर शिवत्व की सम्प्राप्ति हो जाती है। यह चिद्रसका अमृतौघ ही साकार जगद्रूप प्रत्यक्ष है। इसी में भैरव का साक्षात्कार करना चाहिये। यह सब भुवनपूर्विका भगवत्प्रत्ति की भूमिका है। मृगेन्द्रतन्त्र में भी इस सम्बन्ध में उल्लेख है। वहाँ कहा गया है कि, "भुवनभर्त्ता भूतभावन के मतानुसार...यह सम्भव है।"

इस उक्ति के अनुसार योजनिका क्रिया का आश्रय ग्रहण कर उन उन भुवनों की प्राप्ति के बाद विलापन क्रिया से शिव सम्प्राप्ति सम्भव है ४९ ॥

ज्ञान प्रकाशात्मक होता है। बोध को यह शास्त्र हुतभुग् की संज्ञा प्रदान करता है। जैसे दीप के प्रकाश से वेद्य पदार्थों की वेद्यता का साक्षात्कार होता है और अन्धकार का निवारण हो जाता है। उसी तरह बोध के प्रकाश से समस्त संचित अज्ञान का सर्वनाश हो जाता हैं। यह बात समझ में बैठ जाती है कि, सर्वत्र अवस्थित देव न कहीं से आवाहित किये जा सकते है और न कहीं विसर्जित किये जा सकते हैं। स्थूल और सूक्ष्म रूपों में वही सर्वत्र विराजमान परमेश्वर है ॥ ५० ॥

---

१. श्रीत० ८।७।१७,१७७।९।२ ।

आवाहनानन्तरकर्तव्यमुपदेष्टुमाह

आवाहिते मन्त्रगणे पुष्पासवनिवेदनैः ॥ ५१ ॥
धूपैश्च तर्पणं कार्यं श्रद्धाभक्तिबलोचितैः ।
दीप्तानां शक्तिनादादिमन्त्राणामासवैः पलैः ॥ ५२ ॥
रक्तैः प्राक् तर्पणं पश्चात् पुष्पधूपादिविस्तरैः ।

ननु आवाहनानन्तर्येण तर्पणमेव कार्यमित्यत्र किं प्रमाणमित्याशङ्क्याह

आगतस्य तु मन्त्रस्य न कुर्यात्तर्पणं यदि ॥ ५३ ॥
हरत्यर्धशरीरं स इत्युक्तं किल शम्भुना ।

आवाहन को चर्चा पहले की जा चुकी है। यहाँ आवाहन के बाद की प्रक्रिया के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त कर रहे हैं—

मन्त्रों के इन मन्त्र रूप देवताओं के आवाहन के बाद फूलों से, आसव से और धूप के द्वारा उनको तृप्त करना चाहिये। तृप्त करने की क्रिया का नाम ही तर्पण है। अपनी श्रद्धा, भक्ति और शक्ति तीनों दृष्टियों से विचार कर पूरो विधि के अनुसार यह प्रक्रिया सम्पन्न होनी चाहिये। यह ध्यान देने की बात है कि, मन्त्रों के स्तर के अनुसार ही ऊर्जा का और पूजा में प्रयुक्त होने वाले पदार्थों का चयन होना चाहिये। जैसे यदि शक्ति मन्त्र है, या नाद मन्त्र है, या अन्य भी इसी स्तर के मन्त्र हैं; उनका तर्पण पहले आसव से होना चाहिये। इस प्रक्रिया में मांस और रक्त का भी प्रयोग विहित है। इनसे तर्पण करने के बाद ही पुष्पों और धूप आदि से तर्पण किया जाना चाहिये ॥ ५१-५२ ॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि, आवाहन के तुरत उपरान्त तर्पण करना चाहिये, इसका कोई प्रमाण है ? इस प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं—

आवाहित मन्त्र का यदि विहित विधि के अनुसार तर्पण न हो या न किया जाय, तो वह मन्त्र आधे शरीर का अपहरण कर लेता है। इस तथ्य

ननु इह तर्पणार्थं द्रव्यादि उद्दिष्टं, पूजादि पुनः कतरेण कार्यमित्याशङ्क्याह

यद्यदेवास्य मनसि विकासित्वं प्रयच्छति ॥ ५४ ॥

तेनैव कुर्यात्पूजां स इति शम्भोर्विनिश्चयः ।

ननु यद्येवं, तत्कथं शान्तिपुष्ट्यादौ द्रव्यनियमः सर्वत्रैवोक्त इत्याशङ्क्याह

साधकानां बुभुक्षूणां विधिर्नियतियन्त्रितः ॥ ५५ ॥

मुमुक्षूणां तत्त्वविदां स एव तु निरर्गलः ।

का स्वयं मेरे दैशिक गुरु श्री शम्भु ने उपदेश किया था। उन्हीं के आदेश की अभिव्यक्ति यहाँ की गयी है ॥ ५३ ॥

उपर्युक्त पंक्तियों में तर्पण के द्रव्यों का उल्लेख तो है किन्तु पूजादि कर्त्तव्य में किन द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये ? इस जिज्ञासा का समाधान कर रहे हैं—साधक शिष्य के मन में जिन-जिन पदार्थों के प्रति श्रद्धा का आवेश हो, मन में मानसिक धरातल पर विकास या भावोद्रेक को प्रतीति हो, उन-उन द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये। यह भगवान् शम्भु का विनिश्चय है। इसमें सन्देह के लिये कोई स्थान नहीं है ॥ ५४ ॥

प्रश्नकर्त्ता बहुत ही अभिज्ञ पुरुष है। वह यह जानता है कि, शान्ति और पुष्टि आदि कार्यों में प्रयोज्य द्रव्यादि का शास्त्रों में उल्लेख है और उसके लिये नियमादि का भी विधान है। इसीलिये यह पूछ बेठता है कि, शान्ति पुष्टि आदि में यदि द्रव्यादि का नियम है, तो यहाँ भी पदार्थों का नामोल्लेख होना चाहिये ? इस पर कह रहे हैं कि,

साधकों और बुभुक्षु श्रेणी में आने वाले शिष्यों की पूजा प्रक्रिया नियमनियन्त्रित होती है। उसमें तरह-तरह के विधान और उनमें प्रयोज्य द्रव्यादि का भी उल्लेख रहता है। जहाँ तक मुमुक्षु साधकों का तथा तत्त्ववेत्तृत्व सम्पन्न पुरुषों का प्रश्न है, इनके प्रयोगों का कोई नियति नेयन्त्रितत्त्व सम्भव नहीं है। यह उनके ऊपर ही निर्भर करता है। जिससे उनके

ननु एवं विधिविशेषे अत्र किं निमित्त मित्याशङ्क्याह

कार्ये विशेषमाधित्सुर्विशिष्टं कारणं स्पृशेत् ॥ ५६ ॥
रक्तकर्पासतूलेच्छुस्तुल्यतद्बीजपुञ्जवत् ।
सन्ति भोगे विशेषाश्च विचित्राः कारणेरिता ॥ ५७ ॥

तुल्येति रक्तमेव ॥ ५७ ॥

मोक्षे पुनः कश्चिद्विशेषो नास्तीत्याह

हृदयोल्लास में सम्वर्धन होता है, वही प्रयोज्य द्रव्य उनके लिये श्रेयस्कर होता है।

विधि में इस प्रकार के वैशिष्ट्य का हेतु क्या है ? इस आशङ्का को ध्यान में रखकर शास्त्रकार कह रहे हैं कि, जो व्यक्ति विशेष-विशेष कार्यों के सम्पन्न करने का, उनके आधान का अभिलाषो होता है, वह उनसे सम्बन्धित विशेष-विशेष कारणों का अनुसन्धान करता है और उन्हें काम में ले आता है। जैसे कोई व्यक्ति यह चाहता है कि, उसके कपास के पौधों से जो रूई निकले, वह लाल रङ्ग को हो, तो वह उन्हीं बोजों का संग्रह करेगा, जिससे उत्पन्न पौधे लाल रंग की कपास देने वाले हों। रक्त कपास साध्य है। बिनौले जो रक्त कपास के उत्पादक हैं। वे साधन बनते हैं। बोने वाला साधक है। वह अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिये यथेच्छ स्वतन्त्र साधन खोज लेता है। इसोलिये उसे अर्थात् भोगेच्छु साधक को कारणों की परम्परा के अनुकूल विशेषाधानापयुक्त साधन का उपयोग कर लेना चाहिये। यह निश्चय है कि, सांसारिक भोग बड़े ही विचित्र होते हैं। उनमें विचित्र फल सम्पत्ति भी उत्पन्न होती है और विचित्र-विचित्र कारणों से वे प्रेरित होकर ही फलोत्पादक बनते हैं॥ ५५-५७ ॥

मोक्षलक्ष्मी के साक्षात्कार में वैलक्षण्य सम्पन्न विचक्षण साधक के लिये मोक्ष में कोई विशेष नहीं होता। यही कह रहे हैं—

देशकालानुसन्धानगुणद्रव्यक्रियादिभिः ।
स्वल्पा क्रिया भूयसी वा हृदयाह्लाददायिभिः ॥ ५८ ॥
बाह्यैः सङ्कल्पजैर्वापि कारकैः परिकल्पिता ।
मुमुक्षोर्न विशेषाय नैःश्रेयसविधिं प्रति ॥ ५९ ॥

ननु कथं नाम अत्र स्वल्पा भूयसी वा क्रिया विशेषमाधातुं नोत्सहते इत्याशङ्क्याह

देश और काल के अनुसन्धान में उपयोगी गुण, द्रव्य और क्रियाओं आदि का आश्रय योगी को लेना पड़ता है। ये सभी प्रायः हृदय में आनन्द वाद का सम्वर्धन करने वाली होती हैं। हृदयानन्ददायिनी इन क्रियाओं को आकार प्रदान करने में दो प्रकार के कारक काम करते हैं। १. बाह्य कारक और २. संकल्पज कारक। कारक व्याकरण शात्र का कारक नहीं अपितु अन्वर्थ प्रयुक्त क्रिया सम्पादक पारिभाषिक शब्द है। ज्यौतिष शास्त्र में ग्रह भी विशेष योग में कारक की संज्ञा प्राप्त करते हैं। इन कारकों द्वारा परिकल्पित स्वल्पा (कम मात्रा में) या भूयसो (बड़ी मात्रा में) की गयीं क्रियायें नैश्रेयस विधि में किसी विशेष की उत्पादयित्री नहीं होतीं। निष्कर्ष यह कि, साधक विश्व की समस्त क्रिया शीलता से अप्रभावित रहकर अपने चिदावरण को भग्न करने में ही संलग्न रहता है। बाह्य व्यापारों से, आकर्षक और आनन्दप्रद कारकों से और क्रिया की स्वल्पता या भूयसो संभूयमानता से अप्रभावित रहकर एक मात्र अपवर्ग के उदेश्य को ही देखता है और सफल होता है ॥ ५८-५९ ॥

यह स्वाभाविक है कि, क्रिया चाहे छोटी हो या बड़ी मात्रा में की गयी हो, वह अपना प्रभाव डालती ही है। प्रश्नकर्त्ता पूछता कि, इन क्रियाओं में विशेष आधान क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर शास्त्रकार ने यद्यपि थोड़े शब्दों में ही दिया है किन्तु जो कुछ कहा है, वह सूत्र वाक्य है। इनके विशेषार्थ का अनुसन्धान स्वाध्यायशील साधक करते हैं। मुख्य रूप से जब किसी की दृष्टि बाहुल्य में, विस्तार में, भूयस्त्व में और पुष्कल पुंजत्व की

नहि ब्रह्मणि शंसन्ति बाहुल्याल्पत्वदुर्दशाः ।

ननु विचित्रैः कारणैः परिकल्प्यमानापि क्रिया यदि अत्र न विशेष-माधत्ते, तत्किमेषां प्राधान्येन हृदयाह्लाददायित्वमुक्तमित्याशङ्क्याह

चितः स्वातन्त्र्यसारत्वात् तस्यानन्दघनत्वतः ॥ ६० ॥
क्रिया स्यात्तन्मयीभूत्यै हृदयाह्लाददायिभिः ।

तस्येति स्वातन्त्र्यस्य ॥

ओर दौड़ लगाने में ही अपने जोवन की इति श्री कर लेती है, तो वह पुरुष आत्महन या आत्मघाती कहलाता है। इससे बढ़कर और दुर्दशा ही क्या हो सकती है ? यही दशा अपनी निर्धनता या अपनी लघुता के परामर्शक पुरुषों को भी होती है। अपने अभाव को देखकर तड़पने की छटपटाहट उस पुरुष को दोष ग्रस्त बना देती है। यह भी दुर्दशा ही है। बाह्यार्थ चिन्तन से चिरन्तन का अनुसन्धान ध्वस्त हो जाता है। ये दुर्दशायें ब्रह्म के परिवेश में पलने वाले शैव समावेश में समाहित साधकों के ब्रह्म सन्दर्भ में संभूत नहीं होतीं। ऐसा दैशिक समुदाय शंसन करता है। सभी गुरुजन इस अनुभूत सत्य का उपदेश करते हैं। साधक अनवरत इसी सन्दर्भ में साँस लेता है और धन्य हो जाता है।

जिज्ञासु यहाँ एक सुन्दर जिज्ञासा लेकर उपस्थित है। वह जानना चाहता है कि, क्रियायें बाह्य या संकल्पज रूप चित्र विचित्र विविध कारकों से परिकल्प्यमान और उत्पन्न होकर भी यदि किन्हीं विशेषों का आधान नहीं करतीं, तो श्लोक ५८ में उक्त हृदयाह्लादप्रदत्व रूप इनके वैशिष्ट्य का क्या आधार माना जा सकता है ? चित्र विचित्र कारक हृदय में आनन्द सन्दोह का उल्लास करते हैं। यह स्वाभाविक है। किन्तु इनसे परिकल्प्यमान क्रिया विशेषाधान न करे, यह बात ऐसी हो है, जैसे कारण के रहने पर भी कार्य सम्पत्ति न हो। शास्त्रकार इसका सरल समाधान कर रहे हैं—

वस्तुतः चित् स्वतन्त्र शक्ति है। प्रत्यभिज्ञा हृदयम् कहता है—'चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धि हेतुः'। स्वातन्त्र्य को ही आनन्द शक्ति कहते हैं। स्वातन्त्र्यसार होने के ही कारण उसमें आनन्दवाद का उल्लास होता रहता

अत एव एषां चिदानन्दघनमेव रूपं पूजायोग्यमित्याह

शिवाभेदभराद्भाववर्गः श्च्योतति यं रसम् ॥ ६१ ॥

तमेव परमे धाम्नि पूजनायार्पयेद्बुधः ।

एतच्च मयैव अन्यत्र विततयोक्तमित्याह

स्तोत्रेषु बहुधा चैतन्मया प्रोक्तं निजाह्निके ॥ ६२ ॥

है। ऐसी स्थिति में वे ही कारक अपेक्षित हो सकते हैं, जो स्वयं हृदय को आह्लाद से भर दें। ऐसे कारकों से जो क्रिया उत्पन्न होती है, वह एक अद्भुत परिणाम में हो अवसित हो सकती है। वह परिणाम है तादात्म्योपलब्धि ! इसी को शास्त्रकार तन्मयी भूमि कहते हैं। ऐसी क्रिया किसी अन्य विशेष का आधान कर ही नहीं सकती। चिदैक्य समापत्ति रूप उद्देश्य की सिद्धि ही मुमुक्षु का लक्ष्य होता है ॥ ६० ॥

इस कथन से इस निष्कर्ष पर पहुँच जा सकता है कि, ये सारे कारक जैसे भी हों, इनमें जो चिदानन्द घनत्व है, वही पूजा के योग्य अर्थात् आदरणीय है। यही कह रहे हैं—

विश्व में सर्वत्र समुल्लसित समग्र भाववर्ग (वेद्य वर्ग) उसी चिदानन्दघनत्व के पीयूष रस से ओतप्रोत है। साधक साधना के सर्वोच्च स्तर पर जब तन्मयीभूति की चिदग्नि को जागृत कर देता है, तो विश्वव्याप्त चिन्मयता की हिमानी द्रवित होकर साधक को रसार्द्र बना देती है। वह जिस द्रव्य का स्पर्श करता है, उससे चिद्रस का निश्च्योत चूता हुआ अनुभूत होता है। भाववर्ग के इस भव्य रस का अर्चनीय परमधाम में अर्पण कर साधक-सुधीवर्ग धन्य हो उठता है। इससे बढ़कर कोई पूजा नहीं हो सकती। शास्त्रकार अपने व्यक्तिगत आह्निक (दैनन्दिन) पूजा में स्वयं निर्मित श्लोकों द्वारा नित्य स्तुति करते थे। भगवान् अभिनव यह स्पष्ट उद्घोषित कर रहे हैं कि, इस प्रकार की अर्चना प्रक्रिया को मैंने स्वयं अन्यत्र आह्निक स्तोत्रों में विस्तार पूर्वक व्यक्त किया है ॥ ६१-६२ ॥

एतदेवांञ्चित्य दर्शयति

अधिशय्य पारमार्थिकभावप्रसरप्रकाशमुल्लसति।
या परमामृतदृक् त्वां तयार्चयन्ते रहस्यविदः ॥ ६३ ॥

कृत्वाधारधरां चमत्कृतिरसप्रोक्षाक्षणक्षालिता-
मात्तैर्मानसतः स्वभावकुसुमैः स्वामोदसन्दोहिभिः।
आनन्दामृतनिर्भरस्वहृदयानर्घार्घपात्रक्रमात्
त्वां देव्या सह देहदेवसदने देवार्चयेऽहर्निशम् ॥ ६४ ॥

ज्ञानवान् व्यक्तियों द्वारा किये अर्चन के प्रकार का चिन्तन यहाँ तीन श्लोकों में इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

हे भगवती चिति ! रहस्यदर्शी ज्ञानवान् सांसिद्धिक दैशिक गुरु तुम्हारी अर्चना शैवमहाभावरूप परमपीयूषमयी संविद्विज्ञान की ज्ञानरूपा सामग्री से सम्पन्न करते हैं। यह सामग्री उन्हें साधना से उपलब्ध हो जाती है। वे यह अच्छी तरह जानते हैं कि, पारमार्थिक भावों के आन्तर प्रसर के बोधात्मक प्रकाश में अधिष्ठित रहती हुई यह शाश्वत प्रकाश में उल्लसित है। ऐसी सामग्री सर्वजनसुलभ नहीं होती। किन्तु रहस्य द्रष्टा साधकों को उनके आन्तर अन्तरङ्ग में ही यह प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हो जाती है और वे अनवरत अर्चना में संलग्न रहते हैं ॥ ६३ ॥

हे देव ! इस देह रूपी देवालय में परमाम्बा माँ के साथ मैं अनवरत रातदिन तुम्हारी अर्चना करता हूँ। हे देवाधिदेव परमपिता परमेश्वर ! तुम्हीं इसके साक्षी हो ! अर्चना में सर्वप्रथम पूजास्थान की पवित्रता के लिये जल की आवश्यकता होती है, जिससे पूजा स्थल को प्रक्षालित कर स्थान शुद्धि कर ली जाय।

स्थान मी ऐसा हो, जिसमें देहदेवालय की धृति का सामर्थ्य भरा हुआ हो। यह स्थान मूलाधार ही हो सकता है। धरा बीज की ऊर्जा से ऊर्जस्वल यह भूमि, भूः भाग और भुवः भाग की अभिसन्धि में अवस्थित है। पूरा देवालय

नानास्वादरसामिमां त्रिजगतीं हृच्चक्रयन्त्रार्पिता-
मूर्ध्वाध्यस्तविवेकगौरवभरान्निष्पीड्य निःष्यन्दितम् ।
यत्संवित्परमामृतं मृतिजराजन्मापहं जृम्भते
तेन त्वां हविषा परेण परमे संतर्पयेऽहर्निशम् ॥ ६५ ॥

इसी भूमि के आधार पर टिका हुआ है। इस भूमि को चमत्कार शक्ति की प्रोक्षण करने वाली रस-सुधा से क्षालित कर पवित्र कर लिया गया है। 'चमत्कारः इच्छा शक्तिः' इस उक्ति के अनुसार परमात्मा को पूजा में संलग्न परममाहेश्वर की इच्छा शक्ति ही चमत्कृति है, जिसमें श्रद्धा को सुधा ओत-प्रोत है।

इस प्रकार पूजा की आधार भूमि का परिष्कारकर लेने पर पूजा के लिये अब पुष्पों की आवश्यकता होती है। यहाँ परममाहेश्वर के साधक हृदय में स्वात्म-संविदामोदसंदोह से आन्दोलित स्वभावकुसुमों का आन्तर उल्लास हो रहा है। चित्त के चित्ररथोद्यान की कुसुमित क्यारियों में रंग बिरंगे कल्हार आदि के कुसुम खिल रहे हैं। परममाहेश्वर ने इस उद्यान से पुष्कल-पुष्पराशि प्राप्त कर ली है।

अब अर्घपात्र कहाँ खोजने जाँय? वहीं एक अनर्घ बहुमूल्य अर्घपात्र भी उल्लसित हो रहा है। आनन्दवाद के अमृत रस से सराबोर अपना हृदय ही वह अनर्घ अर्घपात्र है। इस प्रकार समस्त सामग्रियों से सुसज्जित माहेश्वर अपनी आस्था का अर्पण करते हुए साक्षात् प्रत्यक्ष उपस्थित आराध्य से अपनी अभिनव पूजा के सम्बन्ध में कह रहे हैं, भगवन्! ऐसे ही अनवरत इस देह देवालय में माँ भगवती के साथ आप की अर्चना करता रहता हूँ॥ ६४॥

आराध्य के लिये नैवेद्य का निवेदन करना पूजा पद्धति का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इस श्लोक के माध्यम से माहेश्वर द्वारा कितना महनीय नैवेद्य अर्पित किया जा रहा है—यह प्रत्यक्ष अनुभूत सा हो रहा है। माँ भगवती को सम्बोधित करते हुए परम माहेश्वर देह-सदन में ही तैयार

इति श्लोकत्रयोपात्तमर्थमन्तर्विभावयन् ।
येन केनापि भावेन तर्पयेद्देवतागणम् ।। ६६ ।।

संवित्परमामृत रूप हविष्य अर्पित करने को अपनी सक्रियता और सजगता का निवेदन कर रहे हैं ।

इस देह सदन में हृच्चक्र रूप एक यन्त्र है । यह यन्त्र ही जीवन का सञ्चालक है । यह शरीर तीन भागों विभक्त है । कमर से नीचे भूः भाग है । इसमें स्वाधिष्ठान और मूलाधार दो चक्र हैं । कमर से ऊपर गले तक भुवः भाग है । इसमें मणिपुर, अनाहत और विशुद्ध तीन चक्र हैं । हृच्चक्र मेरु दण्ड के मध्य में अवस्थित है । अनाहत उसी का प्रतिबिम्ब है । मणिपुर की आग में, अनाहत वायु बीज से पुष्ट होकर विशुद्ध के आकाश खण्ड में ही इस हविष्य का परिपाक हुआ है । भूर्भुवः और स्वः रूप महाव्याहृतित्रय त्रिजगती को प्रतीक है । इस त्रिजगती को हृदय चक्र के यन्त्र से ही जीवन का वरदान मिलता है । नाना प्रकार खट्टे, मीठे और कषायादि आस्वादों की अनुभूति के रस इसमें भरे हुए हैं । ऐसी आस्वादरसमयी इस त्रिजगती को साधक हृद्-चक्र में अर्पित कर देता है । अपने आज्ञा चक्र और सहस्रार की ऊर्ध्वता में अभ्यस्त विवेक को जागृत कर इसको निचोड़ डालता है । परिणामतः उससे विवेकजन्य रहस्यामृत धारा निःष्यन्दमान हो उठती है । यह धार ही संवित्तत्त्व को परमामृत धार मानी जाती है । इसके पीने से मृत्यु का भय नहीं रहता । वृद्धावस्था नहीं आती और आवागमन से छुटकारा मिल जाता है । परम माहेश्वर कह रहे हैं कि, माँ ! मैं ऐसे ही रहस्यामृत आस्वाद्य हविष्य से तुम्हें नित्य तृप्त करने के प्रयत्न में अनवरत लगा रहता हूँ ॥ ६५ ॥

शास्त्रकार कह रहे हैं कि, इन ६३,६४ और ६५ वें तीन श्लोकों से निष्कर्षतः संप्राप्त रहस्यार्थ का आन्तर अनुसन्धान और अनुभावन करते हुए जिस किसी के द्वारा देवताचक्र का भावमय तर्पण किया जा सकता है । यह अवश्य आचरणीय तर्पण विधि है । इसीलिये शास्त्रकार क्रिया में विधि लिङ् का प्रयोग करते हैं ॥ ६६ ॥

मुद्रां प्रदर्शयेत्पश्चान्मनसा वापि योगतः ।
वचसा मन्त्रयोगेन वपुषा संनिवेशतः ॥ ६७ ॥
कृत्वा जपं ततः सर्वं देवतायै समर्पयेत् ।
तच्चोक्तं कर्तृतातत्त्वनिरूपणविधौ पुरा ॥ ६८ ॥
ततो विसर्जनं कार्यं बोधैकात्म्यप्रयोगतः ।
कृत्वा वा वह्निगां मन्त्रतृप्ति प्रोक्तविधानतः ॥ ६९ ॥

इसके बाद मुद्राओं का प्रयाग करना चाहिये। पूजा चार प्रकार से सम्पन्न होती है। १. चार द्वारा (श्वासचार) २. राव (परामर्श) द्वारा, ३. चरु द्वारा और ४. मुद्रा द्वारा। ऊपर के श्लोकों में ३ प्रकार की पूजा का क्रम संकेतित है। इस श्लोक में मुद्रा द्वारा अर्चा की सूचना दी गयी है। मुद्रा आन्तर और बाह्य दोनों प्रकारों से प्रदर्शित कर सकते हैं। वाणी से उनके नामों का उच्चारण भी पर्याप्त है। मन्त्र बोलते हुए भी मुद्रा बनायी जाती है। शरीर के सन्निवेश से बनी मुद्रायें प्रदर्शन का विषय बन जाती हैं ॥ ६७ ॥

आन्तर या बाह्य रूप से मुद्रा प्रदर्शन के उपरान्त जप का क्रम आता है। जपके विषय में चर्चा की जा चुकी है। उपांशु जप ही सर्वोत्तम पद्धति मानी जाती है। जप की माला में बिना माला दिखाये और सुमेरु परिवर्त्तित करते हुए मन्त्र जप करना चाहिये। जप-संख्या का भी ध्यान रखना चाहिये। किसी दिन कम या किसी दिन अधिक मन्त्र जप दैनिक क्रम में व्यतिक्रम उत्पन्न करता है। सन्ध्या में जप करने का प्रयास करना चाहिये। स्वर के अनुसार भी जप होता है। इसे गुरु से समझना चाहिये। जप पूरा होने पर यदि शक्ति-मन्त्र है, तो मां के वामहस्त और यदि शक्तिमन्त मन्त्र है, तो दक्षिण हाथ में निवेदन करना आवश्यक है। यह सब कर्तृतातत्त्व निरूपण के प्रसङ्ग में नवें और तेरहवें आह्निकों में यथासन्दर्भ वर्णित है ॥ ६८ ॥

जप के बाद देवता का विसर्जन करने का क्रम है, त्रिक दर्शन के अनुसार सर्वव्यापी परमात्मतत्त्व का आवाहन और विसर्जन यद्यपि अमान्य

द्वारपीठगुरुव्रातसमर्पितनिवेदनात् ।
ऋतेऽन्यत्स्वयमश्नीयादगाधेऽम्भस्यथ क्षिपेत् ॥ ७० ॥

तयेति परमामृतदृशा । आधारोऽत्र जन्माधारः । यन्त्रेत्यादिना अत्र लौकिकश्चाक्रिकवृत्तान्तोऽपि कटाक्षितः । एतच्च प्राग्व्याख्ययैव गतार्थमिति नह प्रातिपद्येन व्याख्यातम् । श्लोकत्रयोपात्तमर्थमिति परसंविद्विश्रान्ति-लक्षणम् । पुरेति नवमत्रयादशाह्निकादौ अन्यदिति मुख्यम् ॥ ७० ॥

है फिर भी तादात्म्य योग पद्धति के अनुसार यह प्रक्रिया पूरी करते हैं। यह मान्यता भी प्रचलित है कि, जप के बाद दशांश हवन कर मन्त्र की तृप्ति की जाय। होम की त्रिक पद्धति में आन्तर याग का ही महत्त्व है। बाह्य याग का आश्रय लेना निषिद्ध नहीं है। अतएव यहाँ स्पष्ट ही वह्निगा तृप्ति का उल्लेख है। पौराणिक याग में अग्नि को नारायण कहा गया है। त्रिक दर्शन में अग्नि प्रमाता और सूर्य प्रमाण माने जाते हैं। बाह्य अग्नि में समन्त्रक हविष्य अर्पण कर मन्त्र की या आराध्य की तृप्ति करते हैं आन्तर चिदग्निसात् करने पर शांभव सिद्धि प्राप्त होती है। इन सबका विधान शास्त्र में दिया गया है। उसके अनुसार ही समस्त कार्य सम्पादित करना चाहिये।

तत्पश्चात् प्रसाद वितरण करना भी प्रक्रिया का एक अंग है। प्रसाद द्वार देवता, पीठ देवता और गुरुवर्ग के लिये सर्वप्रथम अर्पित करना चाहिये। द्वार देवता में गणेश, लक्ष्मी, बलिवैश्वदेव आदि आते हैं। पीठ देवता के रूप पीठों में प्रतिष्ठपित देवविग्रहों को भी प्रसाद समर्पित करते हैं! यह प्रसाद ही नैवेद्य रूप में अर्पित होता है। गुरुजनों का पृथक् भोगराग रंजित होता है। इस भोज्य नैवेद्य को दूसरे को न दे। गुरु द्वारा उच्छिष्ट अन्न या तो शिष्य स्वयं ग्रहण करे या जल में फेंक दे। भूमिसात् कर दे या आग में भी जला देना उचित है। उत्तम पक्ष यही है कि, स्वयं ग्रहण करे या सारा प्रसाद गहरे जल में छोड देना चाहिये ॥ ७० ॥

अस्य अगाधाम्भः प्रक्षेपणकारणमाह

प्राणिनो जलजाः पूर्वं दीक्षिताः शम्भुना स्वयम् ।
विधिना भाविना श्रीमन्मीननाथावतारिणा ॥ ७१ ॥

भाविनेति एकान्नत्रिंशाह्निकादौ वक्ष्यमाणेन ॥

अन्यभक्षणेन दोष इत्याह

मार्जारमूषिकाद्यैर्यददीक्षैश्चापि भक्षितम् ।
तच्छङ्कातङ्कदानेन व्याधये नरकाय च ॥ ७२ ॥

अगाध जल में नैवेद्य प्रक्षेप का कारण है । अगाध जल में विहार करने वाले मीनादि जलजन्तु स्वयं भगवान् शंभु द्वारा पूर्वदीक्षित माने जाते हैं । भगवान् शिव पूर्व समय में मीननाथ (मत्स्येन्द्रनाथ) के रूप में अवतरित होकर सभी जलीय जीवों को दीक्षित कर चुके हैं । अतएव स्वयं देवाधिदेव द्वारा दीक्षित होने के कारण वे पारम्परिक रूप से दीक्षित माने जाते हैं । इस सम्बन्ध में इसी शास्त्र के २९वें आह्निक में प्रासङ्गिक चर्चा है । उसके अनुसार मछलियों को नैवेद्यार्पण अच्छा माना जाता है ॥ ७१ ॥

अन्य लोगों और जीवों को भी इस नैवेद्य का अर्पण निषिद्ध माना गया है । इसका क्या कारण है—इस विषय में अपने विचार व्यक्त कर रहे हैं—

यदि मानव शरीर में रहकर भी अदीक्षित या मीनों के अतिरिक्त अन्य जीव जिनको कभी दीक्षा नहीं दी गयी है, जैसे बिल्ली और चूहे आदि हैं, इनको यह नैवेद्य खिला देने से दोष उत्पन्न होता है । ये अधम जीव माने जाते हैं । नैवेद्य के इनके द्वारा खा लेने से मन्त्र की सिद्धि में बाधा पड़ती है । यही नहीं इस सम्बन्ध में जो मानसिक शङ्कायें उत्पन्न होती हैं, वे आतङ्क रूप कलङ्क कलमष को जन्म देती हैं । इससे विभिन्न रोगों की उत्पत्ति और नरक-प्राप्ति का भय बना रहता है ।

तदुक्तं

'भुक्तोज्झितं हि यच्चान्नमुच्छिष्टं गुरुदेवयोः ।
रक्षेन्निक्षेपवन्नित्यं न देयं यस्य कस्यचित् ॥

गर्ते चाग्नौ जले कूपे प्रक्षिपेत्प्रयतात्मवान् ।
अदीक्षितैर्यदा भुक्तं मन्त्रसिद्धिर्विनश्यति ॥

अभक्तैस्तस्करभयं लौकिको यदि भक्षयेत् ।
वैकल्यं जायते तस्य दुःखितोऽन्यैश्च पक्षिभिः ॥

मकरैः पुत्रनाशः स्यान्मेषैस्तनयनाशनम् ।
वानरैर्बन्धनं देवि लीढं वा यदि या भवेत् ॥

कहा गया है कि, "भोजन करने के बाद जो अन्न छूट जाता है अथवा गुरुदेव का उच्छिष्ट अन्न अथवा देवता अर्पित जो नैवेद्य होता है, उसको उसी तरह रक्षा होनी चाहिये, जैसे किसी धरोहर या न्यास अथवा अमानत की रक्षा की जाती है। उसे जिस किसी को नहीं दे देना चाहिये। उसे किसी बड़े गर्त्त में प्रक्षिप्त करना ही अच्छा है। यदि ऐसा सम्भव न हो तो आग के भी हवाले उसे कर देना ही श्रेयस्कर है। यदि ऐसा संभव न हो, तो जल में ही फेंक देना चाहिये। कुवें में भी यह डाला जा सकता है। इसमें प्रयत्नपूर्वक सजगता आवश्यक है।

कहीं अदीक्षित लोगों के मुँह में यह महत्वपूर्ण वस्तु पड़ गयी, तो यह निश्चित है कि, मन्त्र की सिद्धि में व्यवधान उपस्थित हो जाता है। अभक्त यदि भुक्त कर ले, तो घर में चोरी का भय होता है। यदि कहीं लोकायतिक सदृश मामूली गँवारू व्यक्ति उसे खा ले, तो उसे आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार के वैकल्य (बेकली-व्याकुलता) सम्भव हैं। इसी तरह अन्य पक्षियों द्वारा उक्त उच्छिष्ट खा लेने पर यजमान को भारी दुःख उठाना पड़ सकता है।

मकर (मगर) या घड़ियाल जैसा जलचर यदि खा लेता है, तो इससे पुत्र नाश की सम्भावना रहती है। यद्यपि झष जाति में ही मकर आते

खरोष्ट्रयोरेव दारिद्रयं शुकैः शोकविवर्धनम् ।
सुखसौभाग्यनाशः स्याल्लीढे मर्कटवाजिभिः ॥
विडालेन विलीढं स्याद् व्याधिराशु प्रवर्तते ।
कलहः शारिकाभिश्च कलविङ्कैर्विशेषतः ॥
काकैर्विदेशगमनं चिल्लया मरणं भवेत् ।
आयुषोऽपि भवेद्धानिरुन्दुरो यदि भक्षयेत् ॥

हैं। गीता में भगवान् ने स्वयं कहा है—'झषाणां मकरश्चास्मि' अर्थात् मैं मछलियों में मकर हूँ। पहले मीननाथ से दीक्षित मत्स्यों की चर्चा की गयी है। लगता है, बाद में मकर मछली श्रेणी में परिगणित होने से बच गया है। यदि कहीं मेढ़े ने इसे खा लिया, तब तो अनर्थ की मात्रा बढ़ जाती है और तनय अर्थात् कुल को विस्तार प्रदान करने वाले संतान का ही विनाश हो जाता है।

भगवान् कहते हैं कि देवि ! यदि वानरों के मुख में यह पवित्र वस्तु पड़ गयी, तो राजभय की सम्भावना उपस्थित हो जाती है। खाने को कौन कहे, उनकी जीभ पर भी यदि यह पड़ जाय और वे उसे चाट भी लें, तो भी अनर्थ की तलवार शिर पर लटकने लगती है।

गधे और ऊँट यदि इसे खा लें, उसका परिणाम भी अशुभ ही होता है। इससे दरिद्रता का भय होता है। शुक शोक-वर्धन का फल देता है इसे चख कर। मर्कट और घोड़े खालें, तो सौभाग्य का नाश होता है। मर्कट शब्द लंगूर, सारस, मकड़ी और लंगूर जैसे लम्बे पुरुषों के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। यहाँ लंगूर अर्थ ही अभिप्रेत है। विडाल जंगली बिल्ली जैसा खतरनाक जीव होता है। इसे बिलाव कहते हैं। इसके खाने से व्याधि उत्पन्न होती है। मैना जाति की सारिका पक्षियों के खाने से कलह उत्पन्न होता है। कलविंक चटक या गौरैया पक्षी को कहते है। इसका भी इस वस्तु को खा लेना विशेष रूप से कलह कारक होता है।

कौवा पक्षियों में चाण्डाल माना जाता है। यदि कौवे इसे खा लें, तो विदेश गमन की सम्भावना होती है। पहले विदेश गमन अच्छा नहीं माना

सारमेयो यदा भुङ्क्ते तदा व्याधिसमुद्भवः ।
गोभिर्विद्वेषणं जायेज्जम्बुकेभ्यो ध्रुवं वधः ॥
व्यभिचारस्तु दाराणां वराहो यदि भक्षयेत् ।
चौरेभ्यस्तु भयं जायेन्नकुलस्तु यदा स्पृशेत् ॥
दुष्टमानुषयोषिद्भिर्नास्तिकैरुपयुज्यते ।
तदा दुःखानि सर्वाणि प्राप्नुवन्त्यपि साधकाः ॥' इति ॥ ७२ ॥

ननु अत्र दीक्षितादीक्षितविभागो नाम विकल्पः, स च निर्विकल्पानां ज्ञानिनां न न्याय्य इति कथमविशेषेणैवैतदुक्तमित्याशङ्क्य आह

जाता था। आजकल इसमें सौविध्य और अर्थ लाभ दोनों है। ऐसा न हो कि, लोग विदेश जाने के लोभ में यह यज्ञीय और निक्षेपवत् रक्ष्य अन्न कौवों को ही खिलाने लगें ! चील तो खाकर मृत्यु प्रदात्री ही सिद्ध होती है।

उन्दुरु बड़े चूहे को कहते हैं, जो नेवले के समान और लम्बी पूँछ वाला जानवर होता है। इसके द्वारा यदि यह अन्न खा लिया जाय तो आयुष्य की हानि होती है। सारमेय कुत्ते को कहते हैं। इसके द्वारा अन्न के खा लेने से भी व्याधि का समुद्भव होता है। गायों से विद्वेष और सियारों के खाने से हत्या हो जाती है।

सूअरों का इसे खा लेना, स्त्रियों में व्यभिचार की भावना उत्पन्न करता है। नेवला का तो छू लेना या सूँघ लेना ही चौरभय उत्पन्न करता है। खा लेने की तो बात ही खतरनाक है। दुष्ट मनुष्यों, कुलटा स्त्रियों और नास्तिकों द्वारा इसका उपयोग कर लेने पर साधक के सामने विपत्तियों के पहाड़ टूट पड़ते हैं। इसलिये इस अन्न को या तो साधक स्वयं खाये, जल में या नदी में डाल दे, भूमिसात् कर दे अथवा आग के हवाले कर दे ॥ ७२ ॥

अतस्तत्त्वविदाध्वस्तशङ्कातङ्कोऽपि पण्डितः ।
प्रकटं नेदृशं कुर्याल्लोकानुग्रहवाञ्छया ॥ ७३ ॥

अत इति मार्जारादिभक्षणस्य एवं प्रत्यवायहेतुत्वात् । विदेति ज्ञानम् । प्रकटमिति यथा न कश्चिदपि एवं पश्येदित्यर्थः । तथात्वे हि सविकल्पोऽपि लोक एवमादध्यादिति शास्त्रीयो विधिरुत्सीदेत् । यद्वा अयं ज्ञानिनं प्रति विचिकित्सते शास्त्रविरुद्धमनेन अनुष्ठितमिति ॥ ७३ ॥

नच एतन्निर्मूलमेव उक्तमित्याह

श्रीमन्मतमहाशास्त्रे तदुक्तं विभुना स्वयम् ।

इस प्रसङ्ग में दीक्षित श्रणो में एक मात्र मीन (मछली) की गणना की गयी है । मनुष्यों में भी दीक्षित और अदीक्षित के विकल्पात्मक दृष्टिकोण उपस्थित किये गये हैं । दीक्षित और अदीक्षित रूप यहाँ विभाजन ही विकल्प है । यह विभाजन निर्विकल्प ज्ञानी पुरुषों में उचित नहीं प्रतीत होता । इसलिये इस विषय का ही स्फोरण कर रहे हैं—

अदीक्षित जीवों के भक्षण से विघ्नों की सम्भावना के कारण समस्त शङ्कातङ्ककलङ्कपङ्क कलुष को ध्वस्त कर देने वाले ज्ञानवान् पण्डितवर्ग कभी भी प्रकट रूप से ऐसा न करे । इसी में लोक कल्याण निहित है । प्रकट रूप से फेंकने पर सारे लोग ऐसा करने लगेंगे, जिससे शास्त्र विधि का उल्लङ्घन न होने लगे । ज्ञानी के प्रति यह विचिकित्सा भी नहीं उत्पन्न होनी चाहिये, जिससे यह कहने का अवसर मिल जाय कि, इन्होंने शास्त्रविरुद्ध कार्य किया है ॥ ७३ ॥

ये कथन निराधार नहीं है । शास्त्रों में सन्दर्भ वश इनका उल्लेख किया गया है । वही कह रहे हैं—

तदेव आह

स्वयं तु शङ्कासङ्कोचनिष्कासनपरायणः ॥ ७४ ॥
भवेत्तथा यथान्येषां शङ्का नो मनसि स्फुरेत् ।
मार्जयित्वा ततः स्नानं पुष्पेणाथ प्रपूजयेत् ॥ ७५ ॥
पुष्पाणि सर्वं तत्स्थं तदगाधाम्भसि निक्षिपेत् ।

तत इति नैवेद्यभक्षणाद्यनन्तरम् ।

आह्निकार्थमेवोपसंहरति

उक्तः स्थण्डिलयागोऽयं नित्यकर्मणि शम्भुदा ॥ ७६ ॥

इति शिवम् ॥ ७६ ॥

श्रीमत नामक महाशास्त्र में स्वयं सर्वेश्वर शिव ने ही यह कहा कि, शङ्का और संकोच के निम्न स्तर से ऊपर उठकर पवित्र जीवन जीने वाले साधक ऐसा कोई काम न करें, जिससे उनके प्रति किसी की अंगुली उठ सके। उनसे आदर्शों की सुरक्षा की ही आशा की जाती है। इसलिये उन्हें मार्जन और स्नानादि रूप नित्य कर्म सम्पादित करने के बाद पुष्पादि का प्रयोग कर पूजा विधि की प्रपूर्त्ति करे। और वह सारी की सारी पूजा सामग्री तथा भोजनादि की उच्छिष्ट सामग्री अगाध जल में ही डाल दे, जिससे किसी को कुछ भी कहने का अवसर ही न मिल सके ॥ ७४-७५ ॥

इतना कहने के बाद आह्निकार्थ का उपसंहार करते हुए शास्त्रकार कह रहे हैं कि,

यह नित्यकर्म के सन्दर्भ में प्रयुक्त स्थण्डिल याग की देशना स्वयं भगवत्पाद शम्भु द्वारा ही प्रतिपादित है। वही इस छब्बीसवें आह्निक में मैंने अपने शब्दों में व्यक्त किया है। इति शिवम् ॥ ७६ ॥

[श्रीमद्गुरुप्रसादासादितपूजासतत्त्वसुहितमतिः ।
षड्विंशमाह्निकमिदं व्याचक्रे जयरथाभिख्यः ॥

इति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचिते
राजानकजयरथकृतविवेकाख्यव्याख्योपेते
श्रीतन्त्रालोकेऽन्त्येष्टिदीक्षाप्रकाशनं नाम
षड्विंशमाह्निकम् ॥ २६ ॥

गुरु से पा पूजादिविधि, स्थण्डिलयाग महार्थ ।
षड्विंशाह्निकविवृति लिख, जयरथ हुआ कृतार्थ ॥

× × × ×

षड्विंशाह्निकभाष्येऽस्मिन् हिते 'हंस'-प्रवर्त्तिते ।
स्पन्दते हृदयाह्लादः परमाम्बा-प्रसादतः ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य श्रीमदभिनवगुप्तपादविरचित
राजानकजयरथकृतविवेकाभिख्यव्याख्योपेत
डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीर-विवेक हिन्दी भाष्य संवलित
श्रीतन्त्रालोक का शेषवृत्तिप्रकाशन नामक छब्बीसवाँ आह्निक पूर्ण
शुभं भूयात्

●

अथ

श्रीतन्त्रालोके

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचिते
राजानकजयरथकृतविवेकाख्यव्याख्योपेते

सप्तविंशतितममाह्निकम्

देवं चक्रव्योमग्रन्थिगमाधारनाथमजम् ।
अपि परसंविद्रूढैः स्पृहणीयं स्पृहणमस्मि नतः ॥

इदानीं द्वितीयार्धेन नित्यावशेषरूपां लिङ्गार्चां वक्तुमाह

अथोच्यते लिङ्गपूजा सूचिता मालिनीमते ॥ १ ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्यविरचित
श्रीराजानकजयरथकृतविवेकाभिख्यव्याख्यापेत
डॉ०परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीर-विवेक-
हिन्दीभाष्य-संवलित

श्रीतन्त्रालोक

का

सत्ताइसवाँ आह्निक

देव ! चक्र-नभ-पर्व-गम-धृति-अधीश अज ईश !
पर-संविद्-आरूढ-जन-इष्ट ! ईप्सु नतशीश ॥

आह्निक का आरम्भ पूर्व स्वीकृत शैली के अनुसार श्लोक की द्वितीय अर्धाली से कर रहे हैं। छब्बीसवें आह्निक का उपसंहार इस श्लोक की प्रथम अर्धाली से हुआ है। उपसंहार का एक क्रम है। उसके तुरत बाद सृष्टि का

सूचितेति

'यजेदाध्यात्मिकं लिङ्गं यत्र लीनं चराचरम् (१८।३)

इत्यादिना ॥ १ ॥

ननु अत्र कस्माल्लिङ्गपूजायाः साक्षादेव न अभिधानं कृतमित्याशङ्क्य आह

ही प्रसार स्वाभाविक है। इसी क्रम के अनुसार इस आह्निक की सृष्टि की जा रही है। आचार्य जयरथ के अनुसार इस नित्यावशेष लिङ्गार्चा का प्रतिपादन करने का यह उपक्रम है। शास्त्रकार कह रहे हैं कि,

यहाँ लिङ्ग पूजा को वर्णन का विषय बनाया जा रहा है। लिङ्गपूजा की सूचना मालिनीमत में उपलब्ध है। यह मालिनी मत मालिनी विजयोत्तरतन्त्र का ही मत है। श्री तन्त्रालोक का वह उपजीव्य ग्रन्थ है। उससे मिलने वाली सूचना पूरी भी हो सकती है और अपेक्षाकृत अधूरी भी। लिङ्गपूजा को वर्ण्य विषय बनाने से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि, अभी यह जिस स्पष्टता के साथ व्यक्त होनी चाहिये थी, उसके विधि विधान को और स्पष्टता से प्रतिपादित करने की अपेक्षा है। यही सोचकर शास्त्रकार लिङ्ग पूजा का वर्णन कर रहे हैं। श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्र के पटल १८ श्लोक ३ में यह कहा गया है कि,

"जिसमें चराचर लीन है, उस आध्यात्मिक लिङ्ग की पूजा करनी चाहिये।"

इस कथन से अन्य लिङ्गों की पूजा का एक तरह से निषेध ही हो रहा है। यह विचारणीय विषय है। अतः शास्त्रकार द्वारा स्वतन्त्र रूप से इस आह्निक में इस विषय के प्रतिपादन की ही सर्वप्रथम प्रतिज्ञा की गयी है ॥ १ ॥

'मालिनी में सूचित लिङ्ग पूजा को वर्ण्य विषय बना रहा हूँ' इस उक्ति का कथन न कर केवल स्वतन्त्र रूप से लिङ्ग पूजाका अभिधान कर रहा हूँ; ऐसा शास्त्रकार ने क्यों नहीं साक्षात् अभिधान किया। किसी मत

एतेषामूर्ध्वशास्त्रोक्तमन्त्राणां न प्रतिष्ठितम् ।
बहिष्कुर्यात्ततो ह्येते रहस्यत्वेन सिद्धिदाः ॥ २ ॥

ननु एषां बहिःप्रतिष्ठया किं स्यादित्याशङ्क्य आह

या ग्रन्थ के विषय का वर्णन करना महान् शास्त्रकार का काम नहीं । यहाँ मालिनी मत से सूचित विषय के कथन का उद्देश्य क्या है ? इस अनुयोग का उत्तर दे रहे हैं—

श्री मालिनीविजयोत्तरतन्त्र सदृशशास्त्र ऊर्ध्व शास्त्र माने जाते हैं। इन शास्त्रों में जो कुछ उक्त है, उसमें मन्त्रात्मकता का मर्म है । उनका एक प्रतिष्ठित रूप है। वही मालिनी मत है। भगवद्-वाक् को परा-ऊर्जा को उसमें प्रतिष्ठा है। उसमें जो प्रतिष्ठित है, उसको स्वयं स्वतन्त्र रूप से प्रतिपादित करने के लिये कहना भो उचित नहीं। इसोलिये मैंने पहले हो यह कहना उचित समझा कि, मैं जो कुछ कहने जा रहा हूँ, यह मालिनी मत है। लिङ्ग पूजा मालिनो मत में प्रतिष्ठित है। मैं उसा मत के सन्दर्भ को ले रहा हूँ। स्वतन्त्र अभिधान कर वर्णन करना निराधार होता। अपमान करना होता और बहिष्कार को तरह होता। यह उचित नहीं। जो जहाँ का है, उसी का मान कर उसका वर्णन करना हो कृतज्ञता है।

इससे उसकी रहस्यात्मक मन्त्रात्मकता को सिद्धि-प्रदता भी सुरक्षित हो जाती है। इस स्पष्ट उक्ति से मेरी सत्यवादिता भी सुरक्षित है और परम्परा-प्राप्त ऊर्ध्वशास्त्रीय मान्यता भो सुरक्षित हो गयो है। इसलिये इस सरणी को अपनाने की यहाँ मेरी देशना भी है कि, जो जहाँ प्रतिष्ठित है, उसे वहीं का मानकर काम करना चाहिये। वहाँ से लिया गया विषय लिङ्ग पूजा है। हमारा स्वतन्त्र आविष्कार नहीं। अपना कहकर स्वतन्त्र अभिधान कर इसका प्रतिपादन यदि किया जाता, तो यह एक तरह से ऊर्ध्वशास्त्रीय पूरी परम्परा का बहिष्कार हो जाता। यह भो ध्रुव सत्य है कि, रहस्यात्मकता के सुरक्षित रहने से ही मन्त्र सिद्धिप्रद होते हैं ॥ २॥

प्रश्न करते हैं कि, इनकी यदि बहिःप्रतिष्ठा को जाय, तो इससे क्या होगा ? इसी का उत्तर दे रहे हैं—

स्ववीर्यानन्दमाहात्म्यप्रवेशवशशालिनीम् ।
ये सिद्धिं ददते तेषां बाह्यत्वं रूपविच्युतिः ॥ ३ ॥

निमित्तान्तरमप्यत्रास्तीत्याह

किंच चोक्तं समावेशपूर्णो भोक्त्रात्मकः शिवः ।
भोगलाम्पट्यभाग्भोगविच्छेदे निग्रहात्मकः ॥ ४ ॥

ननु निग्रहात्मकत्वेन अस्य किं स्यादित्याशङ्क्य आह

मन्त्रों की, स्वात्म की अर्थात् शैवीवाक् की स्वयं प्रतिष्ठित ऊर्जा का एक अननुमेय आनन्द विश्व में और ऊर्ध्वशास्त्रों में भी व्याप्त है। उसके माहात्म्य का प्रकल्पन, मनन और चिन्तन कर उनके परिवेश में प्रवेश करना साधकों का अधिकार है। ऐसी प्रवेश-वश-शालिनी सिद्धि को ये मन्त्र ही देते हैं। उनका बाह्यत्व उनके स्वरूप को ही विनष्ट कर देता है ॥ ३ ॥

इसके और भी कई कारण हैं। वही कह रहे हैं—

इसका एक सर्व प्रमुख कारण शिव का समावेशपूर्णत्व है। शिव शाश्वत समावेशपूर्ण परम तत्त्व है। वह समस्त भावराशि का एक मात्र भोक्ता है। इसीलिये उसे शास्त्र भोक्त्रात्मक कहता है। उसमें भोग के लाम्पट्य का शाश्वतिक उल्लास शोभायमान है। 'लम्पट' शब्द यद्यपि लोक में व्यसन रूप से कामवासनावासित कामुक अर्थ में प्रयुक्त होता है फिर भी यहाँ रम् धात्वर्थ में निहित शाक्त उल्लास में नित्य रममाण अर्थ को ही प्रमुखता देकर उसकी कामेश्वरता की ओर ही संकेत किया गया है। काम, कामेश्वरी और कामेश्वर के आध्यात्मिक महाभाव का भव्यतम रहस्यात्मक रूप वागर्थ के प्रतीक मन्त्रों में भी निहित है, जिसका नित्य अनुभव साधक करता है। उसी महाभाव में शैव विलास लीला का लालित्य भक्त को अनुभूत होता है। यह सारा का सारा रहस्य ऊर्ध्वशास्त्रीय मन्त्रों में भरा हुआ है। शिव के भोक्तात्मक स्वरूप का विच्छेद करने पर वह निग्रहात्मक हो जाता है।

निग्रहात्मक होने का दुष्परिणाम क्या होता है? इस प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं—

शान्तत्वन्यक्क्रियोद्भूतजिघत्सावृंहितं वपुः ।
स्वयं प्रतिष्ठितं येन सोऽस्याभोगे विनश्यति ॥ ५ ॥

स इति स्वयंप्रतिष्ठाता ॥ ५ ॥

शान्ति जहाँ न्यक्कृत अर्थात् अप्रधान हो जाती है, वहाँ एक प्रकार की भूख अर्थात् एक प्रकार की अतृप्ति का उदय होता है। क्या खा लें, क्या पी लें, कितना पा लें और कितना उपभोग कर लें, इस प्रकार को वृत्तियाँ उदित होती हैं। इसे जिघत्सा कहते हैं। अद् भक्षण अर्थ में प्रचलित धातु का यह सन्नत रूप है। जिघत्सा का साक्षात् स्वरूप सांसारिक उपभोग में दृष्टिगोचर होता है। इसका आध्यात्मिक और रहस्यात्मक रूप सृष्टि के आद्यस्पन्द में ही समाहित हो गया था। इसी लिये मेय, वेद्य, और कार्य रूप इस सृष्टि के अनन्त विस्तार में भोग्य भाव की प्रधानता मानी जाती है। इसकी संभूति-भव्यता कूट कूट कर इसमें भरी हुई है। इसका पूर्ण उपभाग एक मात्र सर्व भोक्ता भूतभावन भगवान् भैरव शिव ही करते हैं। यही उनका भोक्त्रात्मक भाव है। इसके लिये सृष्टि के इस अप्रकल्पनीय सीमाहीन उल्लास में शिव ने अपने शैव शरीर को उपवृंहित कर सार्वत्रिक और सर्वोपभोगयोग्य बना लिया है।

इस उपबृंहित रूप को इसमें स्वयं प्रतिष्ठित कर सूक्ष्म रूप से शिव स्वयम् उल्लसित हैं। इस सूक्ष्मता का अनुसन्धान करना चाहिये। साधक इस सूक्ष्मता का स्वात्मभाव से साक्षात्कार करता है। इसका एक अत्यन्त सूक्ष्म एवं रहस्यात्मक रूप वाक् तत्त्व में निहित है। वाक् तत्त्व की प्रतीक मातृका और मालिनी की वर्णराशि है। मन्त्रों में मातृका शक्ति का चमत्कार सबको चमत्कृत करता है। मन्त्रों के अक्षर स्वरूप में विरूपाक्ष का अक्षय अस्तित्व उस उपबृंहित रूप के साथ ही समाहित है। इसी लिये शास्त्र कहता है कि, शिव ने अपना सिघत्सावृंहित रूप मन्त्रों में प्रतिष्ठित कर रखा है। यह ऊर्ध्व शास्त्रीय विषय है। जब इसका निग्रहात्मक रूप आगे आता है, तो उसका यह भोक्त्रात्मक रूप अप्रधान हो जाता है। स्वयं प्रतिष्ठाता परमेश्वर ही वहाँ से अदृश्य हो जाता है। यहाँ विनश्यति का अर्थ नाश होना नहीं, वरन् णश् अदर्शन अर्थ में प्रयुक्त धातु के अनुसार अदर्शन है। वह उस निग्रहात्मक

नच एतद्युक्तिमात्रशरणमेवेत्याह

उक्तं ज्ञानोत्तरायां च तदेतत्परमेशिना ।
शिवो यागप्रियो यस्माद्विशेषान्मातृमध्यगः ॥ ६ ॥

आभोग के घेरे में, उसकी परिधि सीमा में रह सके, इसको संभावना समाप्त हो जाती है ।

यहाँ शान्तत्व, न्यक्कृतत्व, जिघत्सा, उपबृंहित वपु, और आभोग ये पारिभाषिकता को अपेक्षा रखने वाले शब्द हैं। इनका सक्षिप्त स्फोरण सन्दर्भानुसार करने का प्रयत्न किया गया है। शान्तत्व सामरस्यमयी वह अवस्था है, जिस समय शान्त विमर्श स्पन्द रूप अक्षुब्धभाव से स्फुरित होता है। क्षोभ का अवस्था में ही भोक्त्रात्मकता और निग्रहात्मकता के व्यापार सम्भव हैं। स्वाध्यायशील अध्येता को समाहित होकर इसका अनुसन्धान करना चाहिये। इसके मनन चिन्तन से स्वात्मपरिष्कार होता है और परम श्रेय को प्राप्ति होती है ॥ ५ ॥

यह सारी बातें युक्तियों से समर्थित हैं। इनका कोई आधार नहीं है और प्रमाण नहीं है ? इस शङ्का के उत्तर में आगम प्रामाण्य प्रस्तुत कर रहे हैं—

'श्री ज्ञानोत्तरा' में स्वयं परमेश्वर शिव ने यह कहा है। शिव विशेष रूप से यागप्रिय हैं। अतः मातृवर्ग अर्थात् प्रमातावर्ग के मध्यमणि (सुमेरु) के समान अनुल्लङ्घनीय रूप से प्रतिष्ठित हैं। अथवा मध्य (हृदय देश, केन्द्र, स्वात्म स्फुरणशील आन्तर देश) में अवस्थित हैं। इसलिये रहस्य शास्त्रों में जो मन्त्र वर्णित हैं, उन्हें प्राज्ञ पुरुष बाहर न प्रतिष्ठित करे। यहाँ 'जातु' अव्यय का प्रयोग कर शास्त्रकार ने निषेध पर बल दिया है। ऐसा प्रतोत होता है। विशेष रूप से व्यक्तरूप मृद्, धातु, प्रस्तर और रत्न आदि में भो प्रतिष्ठित न करे।

इन श्लोकों 'विशेषात्' शब्द का दो बार प्रयोग करना बहुत महत्त्वपूर्ण है। अपनी उक्तियों पर बल देने के लिये ऐसा करना पड़ता है। पहला 'विशेष' शब्द शिव को मातृमध्यग सिद्ध करने के लिये है। इसका साधना के क्षेत्र में

तस्माद्रहस्यशास्त्रेषु ये मन्त्रास्तान्बुधो बहिः ।
न प्रतिष्ठापयेज्जातु विशेषाद्व्यक्तरूपिणः ॥ ७ ॥

अतिशय महत्त्व है। स्वात्म हृदय की स्फुरता का नादात्मक रहस्य ही मन्त्र है। मातृवृन्द अर्थात् अनन्त प्रमाताओं के हृदय में शाश्वत स्फुरित है। कहा जाता कि, नाद से बढ़कर काई मन्त्र नहीं होता[1]। स्वात्म में प्रतिष्ठित शिव शिव से कोई बड़ा देवता नहीं होता मन्त्र में प्रतिष्ठित तत्त्व शिव है। यही विशेष है। इस शिव को पृथक् प्रतिष्ठा ठीक नहीं।

दूसरे विशेष का भी कुछ ऐसा ही रहस्य है। सांसारिक अनन्त प्रमाता-वर्ग अनन्तानन्त मेय और भोग्योपभोग की कलुषकामना से मुग्ध अणु पुरुष बन कर व्यक्त रूप से उपभोग कर रहा है। इस संकोच को समाप्ति पर वह स्वात्म में प्रतिष्ठित शिव हो जाता है। यही इसका विशेष रहस्य है। यह हमारे दर्शन की मान्यता है कि, उस स्वामस्फुरत्ता रूप मन्त्र में प्रतिष्ठित शिव लिङ्ग को बाहर कभो भो प्रतिष्ठित करना देवापराध है।

श्लोक ६ में प्रयुक्त यागप्रिय शब्द भो महत्त्वपूर्ण है। सन्दर्भ के आधार पर पाठ भेद को बात मन में उठ रही है कि, यह शब्द योगप्रिय होना चाहिये था। लेखकीय क्रम में ओ की मात्रा आ की मात्रा हो गयी है। महार्थमञ्जरीकार ने कारिका ४७ में भावयोग शब्द का प्रयोग किया है और कहा है कि, जिसका जैसा भावयोग होता है, वही उसका देवता होता है। यह भाव योग भी स्वात्म हृदय को स्फुरत्ता हो है। इस आधार पर योग प्रिय शब्द होना चाहिये, ऐसा अनुमान हो रहा है[2]। यदि यह यागप्रिय पाठ ही प्रिय हो तो, इसका विचार इसी सन्दर्भ में चरितार्थ करना पड़ेगा।

याग यज्ञ का पर्यायवाची शब्द है। यह सृष्टि एक महायाग का प्रवर्त्तन ही तो है। पृथ्वी ओर चन्द्र के श्वैत्य और शैत्य को आहुति सूर्य की ऊष्मा

---

१. नय संगति—म० म० का ३७ पृ० ११७

२. श्रोशचीमत—म० म० का० ४७ पृ० ११८–योगस्त्वमसिदेवेशि !
श्रीमद्भ–पश्य मे योगमैश्वरम्

अत एव मृतस्यार्थे प्रतिष्ठान्यत्र योदिता ।
सात्र शास्त्रेषु नो कार्या कार्या साधारणी पुनः ॥ ८ ॥

अत एवेति बहिःप्रतिष्ठानिषेधात् । अन्यत्रेति श्रीमृत्युञ्जयादौ । यदुक्तं

'प्रतिष्ठा वापि कर्तव्या दग्धपिण्डे श्मशानके ।' इति ।

साधारणीति नेत्रमन्त्रादिना ॥ ८ ॥

के प्रज्वलित कुण्ड में निरन्तर पड़ रही है । यही सोम याग है । वाक् श्वास में और श्वास वाक् में हविष्य की तरह शाश्वत रूप से आहुति की तरह अर्पित है । यह वाग्यज्ञ है । जब हम बोलते हैं, तो श्वास नहीं ले सकते क्योंकि वाक्रूपी हविष्य की श्वासरूपी प्राण में आहुति होती है । हृदय में बोध का महाप्रकाश प्रज्वलित है । उसी आग में शैवी अग्निशिखा का उच्छलन होता है । आत्मलिङ्ग भी अग्निनारायण का प्रतिरूप है । उसी में चराचर लीन होता है । यह सब याग है । अन्तर्याग शाश्वत प्रवर्त्तित है । अतः शिव याग-प्रिय हैं ॥ ६-७ ॥

'श्रीमृत्युञ्जय' नामक शास्त्र में यह कहा गया है कि,

"पिण्ड शरीर के जल जाने पर श्मशान में प्रतिष्ठा भी की जानी चाहिये ।"

अभी अभी बाह्य प्रतिष्ठा-निषेध की बातों पर विचार किया गया है । श्री मृत्पुञ्जय की यह उक्ति प्रतिष्ठा का समर्थन सी कर रही है । इस मानसिक ऊहापोह को समाप्त करते हुए शास्त्रकार घोषित कर रहे हैं कि, मृत और दग्ध के कल्याणार्थ जो अन्यत्र प्रतिष्ठा की बात कही गयी है, वह हमारे शास्त्र के अनुसार निषिद्ध है । वह कभी नहीं करनी चाहिये । इस पर बल देते हुए शास्त्रकार ने 'नो कार्या' का स्पष्ट आदेश दिया है । एक विकल्प भी प्रस्तुत करते हुए कह रहे हैं कि, यदि करनी भी हो प्रतिष्ठा, तो वह नेत्रमन्त्र के अनुसार साधारण ढङ्ग से ही करनी चाहिये । नेत्रमन्त्र नेत्रतन्त्र का मूल मन्त्र है ॥ ८ ॥

एवमस्मद्दर्शने बहिःस्थिरप्रतिष्ठानिषेधात् चलेव कार्येत्याह

आ तन्मयत्वसंसिद्धेरा चाभीष्टफलोदयात् ।
पुत्रकः साधको व्यक्तमव्यक्तं वा समाश्रयेत् ॥ ९ ॥

प्रतिमा च अत्र पुत्रकादिभिः किं स्वयमेव कार्या न वेत्याशङ्क्य आह

पुत्रकैर्गुरुरभ्यर्थ्यः साधकस्तु स्वयं विदन् ।
यदि तत्स्थापयेन्नो चेत्तेनाप्यर्थ्यो गुरुर्भवेत् ॥ १० ॥

इस प्रकार हमारे दर्शन की देशना के अनुसार बाह्यलिङ्ग में स्थिर प्रतिष्ठा नितान्त निषिद्ध है, यह सिद्ध हो जाता है। साधारणी क्रिया का जो विकल्प संकेतित है, उसके अनुसार चला प्रतिष्ठा ही स्वीकार्य हो सकती है। यही कह रहे हैं—

एक पुत्रक साधक साधना में संलग्न है। तादात्म्यसमापत्ति के लिये अनवरत प्रयत्नशील है। अभी और साधना अपेक्षित है। उसके हित के उद्देश्य से शास्त्रकार अपनो देशना में थोड़ी छूट सी दे रहे हैं। उनका कहना है कि, जब तक तन्मयत्व की सिद्धि न हो जाय अथवा अभीष्ट फलोत्पत्ति न हो जाय, तब तक व्यक्त अथवा अव्यक्त लिङ्ग का समाश्रयण किया जा सकता है। वह ऐसा कर ले। विधि लिङ् के इस प्रयाग में पार्थिव पूजन सदृश व्यक्त (चल) लिङ्ग के आश्रय की अनुदेशना निहित है ॥ ९ ॥

जहाँ तक व्यक्तलिङ्ग का प्रश्न है। इसकी प्रतिमा पुत्रकादि श्रेणी में आने वाले साधक स्वयं बनायें या नहीं ? इस आशङ्का का समाधान कर रहे हैं—

पुत्रक श्रेणी में आने वाला साधक व्यक्त विग्रह-विधान के लिये गुरु से अभ्यर्थना करे। वे चाहे जैसी व्यवस्था करने के लिये स्वतन्त्र हैं। साधना में संलग्न साधक श्रेणो का अन्य शिष्य यदि जानकार है, तो तदनुसार स्वयं स्थापनमुद्रा से अवस्थान बनाये और स्थापित कर ले। अन्यथा उसके द्वारा भी गुरु अभ्यर्थनीय है। गुरु ही बनवा भी सकता है और स्थापित करा देने में भी समर्थ होता है ॥ १० ॥

गुरुश्चात्र निरोधाख्ये काल इत्थं विभौ वदेत् ।
जीवत्यस्मिन्फलान्तं त्वं तिष्ठेर्जीवावधीति वा ॥ ११ ॥

भाग्यशाली शिष्य है वह, जिसने ऐसा समर्थ दार्शनिक दैशिक की शरण पा ली है। गुरु से उसने प्रार्थया की। यदि योग्य शिष्य स्वयं कर लेता तब तो ठीक ही था। अनवरत क्रिया होती। उसने ऐसा नहीं किया। गुरु के पास गया। इसमें क्रिया का निरोध स्वाभाविक पक्ष है। निरोध यहाँ पारिभाषिक शब्द है[1]। गुरुदेव जब शिष्य के अनुरोध को स्वीकार इस स्थापन प्रक्रिया में प्रवृत्त होते हैं, तो उन्हें तुरत सन्निधान मुद्रा के माध्यम से भगदौन्मुख्य प्राप्त कर वहाँ स्थिरभाव से अवस्थान अपनाना पड़ता है। यही काल निरोधकाल कहलाता है। निरोधिका वृत्ति में वेद्य मात्र व्यपगम हो जाने पर किंचित्कालिक ठहराव होता है और उसके बाद ही नाद में अनुप्रवेश प्राप्त होता है। इसमें भेददशा का आवेश निरुद्ध होता है और स्वात्मसत्ता का अनुसन्धान होता है। इसी काल क्षण में अवस्थित देशिक गुरु स्वात्म संविद्वपुष् परमात्मा शिव से बातें करने लगता है।

परमकारुणिक दैशिक गुरु शिष्य की कल्याण कामना से परमेश्वर से प्रार्थना करता है। गुरु स्वयं शिव रूप ही होता है। इस स्तर पर वह शिव से संवाद करता है। विधिलिङ् को वद धात्वर्थ जन्य प्रयुक्त क्रिया के अनुस्वार विभु से अनुरोध भी करता है कि, भगवन्! शिष्य के अन्तर-अन्तराल में इसके जीवावधि फलान्त पर्यन्त समुल्लसित होने की कृपा करो, जिससे इसका जीवन धन्य हो जाय और अन्त में यह शिव सायुज्य को उपलब्ध हो जाय। गुरु की इस अहैतुकी कृपा के कारण वहाँ प्रतिष्ठा हो जाती है। शिष्य की स्वात्मसंविद् में शैव महानन्द की विजृम्भा का वह माहात्म्य अप्रकल्पनीय भाव से परिष्कृत हो जाता है ॥ ११ ॥

१. श्रीत० २।२७

लिङ्गं च बाणलिङ्गं वा रत्नजं वाथ मौक्तिकम् ।
पौष्पमान्नमथो वास्त्रं गन्धद्रव्यकृतं च वा ॥ १२ ॥
नतु पाषाणजं लिङ्गं शिल्प्युत्थं परिकल्पयेत् ।
धातूत्थं च सुवर्णोत्थवर्जमन्यद्विवर्जयेत् ॥ १३ ॥
न चात्र लिङ्गमानादि क्वचिदप्युपयुज्यते ।
उदारवीर्यैर्मन्त्रैर्यद्भासितं फलदं हि तत् ॥ १४ ॥

जहाँ तक बाह्यलिङ्ग का प्रश्न है, इसमें बाण लिङ्ग विशेष रूप से व्याख्येय है। अन्य लिङ्ग जैसे रत्नज लिङ्ग, मौक्तिक, पौष्प, आन्न, वास्त्र अथवा गन्ध द्रव्य से निर्मित होने चाहिये। बाण लिङ्ग नर्वदा नदो में प्राप्त श्वेत शिव लिङ्ग को भी कहते हैं। मुक्ता निर्मित मौक्तिक, पुष्प का पौष्प, अन्न निर्मित आन्न लिङ्ग कहलाते हैं।

बाण लिङ्ग उत्तर षट्क नामक ग्रन्थ के अनुसार[1] तोन प्रकार के ही माने जाते हैं। वे क्रमशः योनिस्थ, बाण और अन्तरालस्थ इतर नामक लिङ्ग हैं। योगिनी हृदय में स्वयम्भू, बाण, इतर और पर ये चार लिङ्ग चार पीठों में प्रतिष्ठित हैं। मन, अहंकार, बुद्धि और चित्त रूप अन्तः करण के अग्रकोण में मन काम रूप पीठ है। इसमें स्वयंभूलिङ्ग है। दक्षिण कोण के अहंकार रूपी जालन्धर पीठ में परमधामात्मक बाण लिङ्ग है। यह त्रिकोण, क से त पर्यन्त १६ अक्षर समन्वित, लाल बन्धूक रंग के समान रक्त वर्ण माना जाता है[2]। कामराज का वाच्य रूप बाण लिङ्ग होता है। इस लिङ्ग में निर्विकल्प भाव से समावेश हो सर्वोत्तम लिङ्ग पूजा है। श्वेत नार्वदेय शिला की पूजा भो बाण लिङ्ग पूजा मानी जाती है[3]। बाह्य लिङ्ग के रूप में नार्वदेयशिला वाला ही गृहीत करना चाहिये ॥ १२ ॥

अन्यत्र प्राप्य शिला खण्ड निर्मित लिङ्ग की पूजा नहीं करनी चाहिये। किन्तु स्थिर प्रतिष्ठा के लिये पाषाणज लिङ्ग योग्य होते हैं—यह जयरथ स्वीकार करते हैं। यह शिल्पी की शिल्प कला का प्रतीक तो हो सकता है

---

१. उत्तरषट्कम् १।३　१. यो० हृ० १।४६　३. सिद्धान्त शिखामणि ६।२२

तस्यापि स्थण्डिलाद्युक्तविधिना शुद्धिमाचरेत् ।
मन्त्रार्पणं तथैव स्यान्निरोधस्तूक्तयुक्तितः ॥ १५ ॥
अग्नौ च तर्पणं भूरिविशेषाद्दक्षिणा गुरोः ।
दीनादितृप्तिर्विभवाद्याग इत्यधिको विधिः ॥ १६ ॥

किन्तु पूजा के लिये कभी भी इसका प्रकल्पन नहीं किया जा सकता। सुवर्ण के अतिरिक्त अन्य किसी धातु से निर्मित लिङ्ग भी पूजा के लिये वर्जित हैं। इनका परिमाण क्या हो, इनको रूप रेखा और दीर्घ या विस्तार आदि कैसे हों, इन पर विचार करना भी उपयुक्त नहीं है। लिङ्ग पूजा में वही अङ्गी कर्त्तव्य हैं, जो उदात्त शक्तिमन्त मन्त्रों से अभिमन्त्रित होकर ऊर्जा के आगार बन गये होते हैं ॥ १३-१४ ॥

ऐसे बाह्य लिङ्गों में स्थण्डिलादि क्रम समन्वित विधि का प्रयोग आवश्यक होता है। इनकी शुद्धि अत्यन्त आवश्यक है। शुद्धि का आचार भी अपनाना चाहिये। पूर्वोक्त विधि के अनुसार ही उनमें मन्त्रों का अर्पण कर उन्हें वीर्यवान् बनाना भी शास्त्र विधि से विहित है। इनको निरोध-प्रक्रिया पूर्ववत् पूरी करनी चाहिये। इस प्रक्रिया में प्राणचार की कुम्भक युक्ति का आश्रय लेना होता है। बाह्य और आन्तर ऐक्य का यह उपक्रम आधार रूप है। अग्नि नारायण की हविष्यार्पण द्वारा तृप्ति और अन्य देवों की मन्त्रपूत जल से तर्पण करने के उपरान्त गुरु दक्षिणा का अर्पण करना चाहिये। अन्त में गुरुदेव की तृप्ति से ही सारा यज्ञ पूरा मान लिया जाता है। इस प्रसङ्ग में यह व्यक्त करना भी आवश्यक है कि, सारी प्रक्रिया पूरी करने के बाद दीन दुःखियों को भी जिन्हें दरिद्र नारायण कहते हैं; तृप्त करना चाहिये। इसे नित्य विधि के विहित रूप के अतिरिक्त विधि के रूप में स्वीकार करना चाहिये ॥ १५-१६ ॥

सर्वेष्वव्यक्तलिङ्गेषु प्रधानं स्यादकल्पितम् ।
तथा च तत्र तत्रोक्तं लक्षणे पारमेश्वरे ॥ १७ ॥
सूत्रे पात्रे ध्वजे वस्त्रे स्वयम्भूबाणपूजिते ।
नदीप्रस्रवणोत्थे च नाह्वानं नापि कल्पना ॥ १८ ॥
पीठप्रसादमन्त्रांशवेलादिनियमो नच ।
व्यक्तं वा चित्रपुस्तादौ देवदारुसुवर्णजम् ॥ १९ ॥
अथ दीक्षितसच्छिल्पिकृतं स्थापयते गुरुः ।
अथवा लक्षणोपेतमूर्धतत्कर्पराश्रितम् ॥ २० ॥
पङ्क्तिचक्रकशूलाब्जविधिना तूरमाश्रयेत् ।
तल्लक्षणं ब्रुवे श्रीमत्पिचुशास्त्रे निरूपितम् ॥ २१ ॥
तूरे योगः सदा शस्तः सिद्धिदो दोषवर्जिते ।

अव्यक्तलिङ्गों में अकल्पित लिङ्ग ही मनुष्य लिङ्ग माना जाता है। सभी शास्त्रों में उसी की प्रधानता का वर्णन किया गया है। पारमेश्वर शास्त्रों में यथासन्दर्भ इसे सन्दृब्ध किया गया है। सूत्र, पात्र, ध्वज, वस्त्र, स्वयम्भू लिङ्ग, वाणलिङ्ग, नदी के बहाव से निकले हुए लिङ्गों का आवाहन नहीं करना चाहिये। न, ही किसी प्रकल्पन की ही इसमें आवश्यकता है ॥ १७-१८ ॥

जहाँ तक पीठ (कामरूप आदि), प्रसाद, मन्त्रांशक (ॐ नमशिवाय का अ, उ, म, श, इ, व, आ, य, न और म रूप मात्राओं और वर्णों को पृथक् कर मन्त्र के अनुसार नाम प्रदान की विधि)[१] बेला[२] (मध्याह्न, सायम् और निशीथ आदि सन्ध्या के समय, आदि सारे नियम इस सन्दर्भ में अस्वीकार्य हैं। इसी तरह व्यक्तलिङ्ग, चित्रलिखित, पुस्त[१] स्थान का एक प्रकार, (प्राण, देह और बाह्य भेद से तीन, स्थान-भेद में से बाह्य के ११ भेदों का एक भेद) इसमें उरेहा गया लिङ्ग, देवदारु से काष्ठ निर्मित या सुवर्णज सभी प्रकार के व्यक्त लिङ्ग यहाँ मान्य नहीं हैं ॥ १९ ॥

स्थापयेदिति स्वयमेव। नो चेदिति स्वयमज्ञत्वे सतीत्यर्थः। अस्मिन्नति साधके पुत्रके वा। फलान्तं जीवावधीति वा। यदुक्तम्।

'ता तन्मयत्वसंसिद्धेरा चाभीष्टफलोदयात्।' इति।

वास्त्रमिति वस्त्रदावेव कृतसंनिवेशम्। नतु पाषाणजमिति तद्धि स्थिरप्रतिष्ठायां योग्यमित्याकूतम्। अन्यद्विवर्जयेदिति तेन सौवर्णमेव कार्यमित्यर्थः। नात्र लिङ्गमानाद्युपयुज्यते इति, यदभिप्राणैव

'सिद्धैः संस्थापितानां तु न मानादि विचारयेत्।'

इत्यादि उक्तम्। तस्येति लिङ्गस्य। उक्तेति

जीवत्यस्मिन्फलान्तं त्वं तिष्ठेर्जीवावधीति वा।' इति।

भूरिविशेषादिति न तु विशेषमात्रात्। अधिक इति नित्यात्। सूत्र इति अक्षसूत्रे। पात्र इति महति। ध्वज इति खट्वाङ्गादौ। वस्त्र इति यागार्थं परिकल्पिते। मूर्धस्थखण्डम्। चक्रकेत्यावर्तक्रमेण। तदेव पठति तूर इत्यादि। तूरं धातुपात्रादावाकीर्ण आकारविशेषः। आ-२—

मान लिया जाय कि, एक ऐसा शिल्पी है, जो शैवशासन दीक्षा प्राप्त कर चुका हो, और उसके द्वारा कोई सुन्दर व्यक्तिलिङ्ग निर्मित किया गया हो, तो वह स्वीकरणीय माना जाय या नहीं? इस दृष्टि को ध्यान में रखकर शास्त्रकार कहते हैं कि, गुरु उसे स्थापित कर सकता है। अथवा सर्वलक्षण संपन्न, मूर्धा और उसकी कर्परिका के निर्माण के आकर्षण से परिपूर्ण, विभिन्न भूपुर सदृश पंक्तियों, आवर्त्तक्रम से निर्मित चक्र से समन्वित, शूलाब्ज की व्यवस्था से विभूषित यदि तूर में उकेरा गया बाह्यलिङ्ग हो, तो उसका आश्रय लिया जा सकता है। 'तूर' सुवर्णादि धातु पात्र को ही कहते हैं, जिसमें आकृतियाँ उकेरी गयी होती हैं।

तूर के सम्बन्ध में पिचुशास्त्रीय मन्तव्य को शास्त्रकार अपने शब्दों में व्यक्त करते हुए कह रहे हैं कि, तूर में यदि योग का समाश्रयण किया जाय, तो सर्वदा शस्त माना जाता है। यह ध्यान देना चाहिये कि, तूर दोष रहित हो।

---

१. स्व० ८।२, १८-२१ २. श्रीत० ४।२६४ ३. श्रीत० ६।४

दोषानेव अभिधत्ते

जालकैर्जर्जरै रन्ध्रैर्दन्तैरूनाधिकै रुजा ॥ २२ ॥
युक्ते च तूरे हानिः स्यात् तद्धीने याग उत्तमः ।
काम्य एव भवेत्तूरमिति केचित्प्रपेदिरे ॥ २३ ॥

जालकैरिति नवोद्भिन्नैः सूक्ष्मप्रायैः । जर्जरैरिति तैरेव चिरोद्भिन्नैः । ऊनाधिकैरिति द्वात्रिंशतः । रुजेति क्लेदादिरूपया । तद्धीन इति जालकादिरहिते । केचिदिति प्राच्याः ॥ २३ ॥

दोष युक्त होने से यह अप्रशस्य हो जाता है । निर्दोष तूर योग सिद्धि प्रदान करता है, वहीं सदोष तूर[1] सर्वथा अमान्य और अप्रशस्य होता है ॥ २०-२१ ॥

तूर की सदोषता का कथन यहाँ इसलिये आवश्यक है कि, तूर को स्थण्डिल से भी उत्तम माना गया है । ऐसे महत्त्वपूर्ण सिद्धिप्रद बाह्य लिङ्ग के गुणदोष से परिचित कराने के उद्देश्य से ही यहाँ उसके दोषों का कथन कर रहे हैं—

तूर में मकड़ी आदि के जाले न पड़े हों । कभी-कभी कड़ी वस्तुओं की खुरच (कर्कशघर्ष) से भी जालक सा उभर आता है । ऐसा नहीं होना चाहिये । यह पहला दोष है । दूसरा दोष यह है कि, वह जर्जर पात्र न हो, जिसमें लिङ्ग उकेरा गया होता है । जर्जरता के कारण पात्र में छिद्र न उत्पन्न हो गये हों । छेद युक्त तूर निन्द्य माना जाता है । यह तीसरा दोष है । तूर में यदि दर्शन-रचना की गयी है और बत्तिस संख्या से कम या अधिक निर्माण हो गया हो, तो यह चौथा दोष माना जाता है । पाँचवाँ और अन्तिम दोष है कि, धातु के किट आदि बीमारियों, धब्बों और अनाकर्षण रूपी दोषों से समन्वित हों । ऐसे तूर की पूजा सदा हानिप्रद होती है । इन दोषों से रहित तूर ही उत्तम होता है । उसी से योग की सिद्धि होती है। कुछ प्राच्य विद्वानों का मत है कि, तूर नित्य विधि में गृहीत नहीं अपितु काम्यकर्म में ही इसका प्रयोग करना चाहिये ॥ २२-२३ ॥

---

१. श्रात० २।४२-४३

स्वमतमाह

गुरवस्तु विधौ काम्ये यत्नाद्दोषांस्त्यजेदिति ।
व्याचक्षते पिचुप्रोक्तं न नित्ये कर्मणीत्यदः ॥ २४ ॥
श्रीसिद्धातन्त्र उक्तं च तूरलक्षणमुत्तमम् ।
एकादिकचतुष्खण्डे गोमुखे पूर्णचन्द्रके ॥ २५ ॥
पद्मगोरोचनामुक्तानीरस्फटिकसंनिभे ।
एकादिपञ्चसद्रन्ध्रविद्यारेखान्विते शुभे ॥ २६ ॥

शास्त्रकार अपने मत प्रदर्शन के साथ ही साथ एतद्विषयक आगमिक मान्यताओं की समीक्षा भी कर रहे हैं—

इस विषय में प्रामाणिक गुरुवर्ग के (स्वात्मशास्त्रीय पक्ष के) गुरुजन कहते हैं कि, काम्यविधि में जिस समय तूर का प्रयोग किया जाय, यत्नपूर्वक उसकी निर्दोषता की परीक्षा कर लेनी चाहिये । पिचुशास्त्र यह कहता है कि, नित्यकर्म में इस विधि की कोई आवश्यकता नहीं । सिद्धातन्त्र में तूर का लक्षण स्पष्टतापूर्वक निर्दिष्ट है । वहाँ कहा गया है कि, एक खण्डीय, द्विखण्डीय त्रिखण्डीय अथवा चतुष्खण्डीय पात्र लेना चाहिये । इसे कपाल पात्र कहते हैं । इसी पात्र में तूर रचना की जाती है । तूर की गोमुख के समान आकृति का वहाँ उल्लेख है । पूर्णचन्द्र जितना वृत्ताकार आकर्षक और पीयूषवर्षक होता है, तूर भी उतना सुन्दर होना ही चाहिये । कमल, गोरोचन, मुक्ता, स्वच्छ नीर और स्फटिक के समान चित्ताकर्षक तथा पारदर्शितापूर्ण होना चाहिये । उसकी रचना करते समय उसमें छिद्रों के मद्यप्रस्रव-सौविध्य को ध्यान में रखकर निर्धारित स्थानों पर एक, दो, तीन, चार अथवा पाँच रन्ध्रों की व्यवस्था करनी चाहिये ॥ २४-२५ ॥

उसमें शास्त्रोक्त चौदह विद्याओं अथवा परा, परापरा और अपरा विद्याओं की रेखाओं का यथास्थान संन्निवेश होना चाहिये । उसे देखकर मन में शुभ्र का जागरण हो, तो उसकी उत्कृष्टता का आकलन हो जाता है ।

न रूक्षवक्रशकलदीर्घनिम्नसबिन्दुके ।
श्लक्ष्णया वज्रसूच्यात्र स्फुटं देवीगणान्वितम् ॥ २७ ॥
सर्वं समालिखेत्पूज्यं सर्वावयवसुन्दरम् ।

गोमुखेति आकारसादृश्यया, पद्मेत्यादि च वर्णसादृश्याय उपात्तम् । सद्रन्ध्रेति अत्र रन्ध्राणां सत्त्वं मद्यादिनिर्गमनहेतुत्वभावात् । विद्येति चतुर्दश । यदुक्तं तत्र

इसकी संरचना में यह ध्यान भी आवश्यक है कि, वह निर्दोष हो । एतदर्थ इन दोष-विन्दुओं के विशेष निराकरण का प्रयास करना चाहिये—

१. वह रुक्ष न हो, खुरदुरापन उसमें न रह जाये ।

२. वह टेढ़ा-मेढ़ा न रह जाये

३. खण्डित अर्थात् टुकड़ों के जोड़ न हों ।

४. बहुत लम्बा न हो ।

५. निम्न श्रेणी का न हो और उसके तल प्रदेश में गहराई न हो ।

६. उसमें स्थान स्थान प१ िन्दु न रह गये हों । ये संरचना के दोष हैं । तूर में ये रहने न पायें – इसके लिये सावधान रहना चाहिये ।

साधक यदि किसी शिल्पी से तूर प्राप्त करे, तो उस समय भी इन दोषों से रहित निर्दोष तूर ही ले और उसका प्रयोग करे । विशेष रूप से चिकनी वज्रसूची (पतली नुकीली छेनी) से समस्त उपास्य देवियों की आकृतियों को स्फुट संरचना से तूर समन्वित होना चाहिये । शिल्पी का यह परम कर्त्तव्य है कि, सविधि अपनी शिल्प-कला का प्रयोग करे ताकि उससे ललितकला की सृष्टि हो जाये । उसकी पूज्यता का अनवरत आकलन करते हुए उसमें सर्वाङ्ग सुन्दरता का समावेश कर दे ।

सिद्धान्त में इस सन्दर्भ को इन शब्दों में विस्तार पूर्वक और स्पष्ट रूप से व्यक्त करने का अनुग्रह स्वयं सर्वेश्वर शिव द्वारा किया गया है । कहते हैं कि, "हे कृशोदरि ! सर्वप्रथम कपाल (तूर पात्र) की पूरी तरह

'आदौ तावत्परीक्षेत कपालं लक्षणान्वितम् ।
एकखण्डे द्विखण्डे वा त्रिखण्डे वा सुशोभने ॥
चतुष्खण्डे गोमुखे वा पूर्णचन्द्रसमप्रभे ।
पद्माभे रोचनाभे वा नीराभे मौक्तिकप्रभे ॥
प्रवालाभेन्द्रनीलाभे शुद्धस्फटिकसंनिभे ।
विद्यारेखासमायुक्ते एकरन्ध्रे द्विरन्ध्रके ॥
त्रिचतुष्पञ्चके वाथ कर्त्तव्यं शुभलक्षणम् ।
रूक्षे जर्जरिते क्रूरे वक्रे दीर्घे कृशोदरि ॥
बिन्दुभिः खचिते निम्ने न कदाचित् कृतिं कुरु ।
ज्ञात्वा लक्षणसंशुद्धं कपालं सार्वकामिकम् ॥

परीक्षा, अर्थात् जाँच पड़ताल कर यह निर्णय कर लेना चाहिये कि, यह सभी लक्षणों से समन्वित है। उसकी रचना एक खण्ड में ही यदि पूर्ण हो गयी हो, तो फिर क्या पूछना, वह बहुत अच्छा होता है। यदि ऐसा न हो और वह दो खण्डों में निर्मित हो, तो भी कोई बात नहीं। तूर यदि तीन खण्डों मे रचित हो तो भी स्वीकार्य है। यही नहीं, चार खण्डों वाला भी चलता है। वही ले ले। हाँ, उसकी सर्वलक्षण सम्पन्नता का विचार कर लेना चाहिये। गोमुख के समान भी तूर बनाया जाता है। पूर्णिमा में पूरी तरह खिले हुए पीयूषवर्षी पूर्णचन्द्र की तरह वृत्ताकार और आकर्षक होना चाहिये। कमल, गोरोचन, नीर, मुक्ता, प्रवाल, इन्द्रनील और पारदर्शी शुद्ध स्फटिक के समान सुन्दर और आभामय होना आवश्यक है।

चतुर्दश विद्याओं की रेखाओं से समन्वित हों, एक, दो, तीन, चार या पाँच रन्ध्र यथास्थान उसमें अवश्य बनाये गये हों और सर्वलक्षण सम्पन्न शुभ्रता का जागरण करने वाला हो—यह ध्यान रखना चाहिये। यह भी ध्यान रहे कि, उसमें रुक्षता न हो, जर्जरित न हो, क्रूर, वक्र, दीर्घ, जर्जर न हो, और बुन्दकों (बिन्दुओं) से भरे तूर भी प्रयोग में न लाये। हर तरह से सुलक्षणों से परिपूर्ण, समस्त कामनाओं का पूरक शुद्ध कपाल के ऊर्ध्व पुट में उसी विग्रह को उकेरना चाहिये, जो मन में आकलित हो रहा हो। क्षेत्र को चार भागों में

तत्र चोर्ध्वंपुटे कार्या प्रतिमा या मनःस्थिता।
तुर्यांशे तु कृते क्षेत्रे तदन्ते वृत्तमालिखेत्॥
वृत्तान्ते तु पुनर्वृत्तं पुनर्मध्यं त्रिभागिकम्।
तस्य मध्ये पुनः पद्म ज्ञात्वा चक्रे यथा तथा॥
मध्ये देवीं च वा देवं योगिनीभिः परीवृतम्।
श्लक्ष्णया वज्रसूच्या च कार्या चैवाङ्गकल्पना॥'

इत्यादि बहुप्रकारम् ॥ २६-२७ ॥

एतदेव अन्यत्रापि अतिदिशति

एतदेवानुसर्तव्यमर्घपात्रेऽपि लक्षणम् ॥ २८ ॥

तथाच आगमोऽप्येवमित्याह

श्रीब्रह्मायामलेऽप्युक्तं पात्रं गोमुखमुत्तमम्।
गजकूर्मतलं कुम्भवृत्तशक्तिकजाकृति ॥ २९ ॥

शक्तिकजं गुह्यम् ॥ २९ ॥

बाँट देने से चार तुर्यांश एक स्थान पर बनते हैं। उस एक तुर्यांश में वृत्त का निर्माण करे। उससे सटा उसके भीतर दूसरा और उससे भी सटा तीसरा वृत्त उसके भीतर बना दे। उस त्रिवृत्त से आवृत क्षेत्र में पद्म का निर्माण करे। यह एक पद्म चक्र माना जाता है। शिल्पी का यह कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व है कि, वह पूरी जानकारो रहने पर ही इसमें प्रयुक्त होने वाली रेखाओं और मध्य में देवो के स्वरूप को भो अङ्कित करे। यह ध्यान रहे कि, देवो के साय देव-विग्रह को भी उसमें अङ्कित किया जाय। योगिनियों से आवृत देव और देवी के अङ्गों का ऐसा स्फीत और श्लक्ष्ण चित्ताकर्षक टङ्कण वज्रसूची से किया जाय, ताकि मिट न सके" ॥ २६-२७ ॥

उपर्युक्त बातें अन्यत्र भी लागू होती हैं। यही कह रहे हैं—

अर्घपात्र में भी यही विधि और यही लक्षण अनुसर्त्तव्य हैं ! आगम भी यही कहते हैं। श्रीब्रह्मयामल नामक ग्रन्थ में भी यह कहा गया कि, गोमुख पात्र ही उत्तम पात्र माना जाता है। पात्र की यह विशेषता होनी चाहिये

एवं लिङ्गस्वरूपं बहुधा व्याख्याय अक्षसूत्रं निरूपयति

अक्षसूत्रमथो कुर्यात्तत्रैवाभ्यर्चयेत्क्रमम् ।
वीरधातुजलोद्भूतमुक्तारत्नसुवर्णजम् ॥ ३० ॥
अक्षसूत्रं क्रमोत्कृष्टं रौद्राक्षं वा विशेषतः ।
शतं तिथ्युत्तरं यद्वा साष्टं यद्वा तदर्धकम् ॥ ३१ ॥
तदर्धं वाथ पञ्चाशद्युक्तं तत्परिकल्पयेत् ।

वीरधातुर्महाशङ्खः । जलोद्भूतं पद्माक्षम् । तिथयः पञ्चदश । तदर्धं चतुष्पञ्चाशत् । तदर्धं सप्तविंशतिः ॥

कि, उसकी पेंदी या तो हाथी के पेट के समान या कच्छप-उदर के समान ही चिकनी हो । यदि पायेदार हो तो और अच्छा । कुम्भ के समान वृत्ताकार अथवा जन्माधार के समान त्रिकोण और मध्यान्तराल समन्वित हो ॥ २८-२९ ॥

इस प्रकार सन्दर्भों और विषय वैविध्य को ध्यान में रखकर शास्त्रकार ने लिङ्ग आदिका अर्घ-पात्र पर्यन्त वर्णन किया है । यहाँ अक्षसूत्र का निरूपण करने जा रहे हैं—

इस प्रकार उक्त विधियों को पूरी कर लेने के बाद अक्षसूत्र के निर्माण पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिये । अक्ष सूत्र बनाने के उपरान्त उसका विधि पूर्वक पूजन भी करना चाहिये । अक्ष के लिये वीर धातु (महाशङ्ख[1]) का प्रयोग प्रथम विकल्प है । दूसरा विकल्प पद्म (कमल का बीजाक्ष) बोज है । इसे कमलबीज (कमलगट्टे की) माला कहते है । मुक्ता, रत्न और सुवर्ण तीसरे, चौथे और पाँचवें विकल्प के रूप में स्वीकार करते हैं । इनमें क्रमशः सभी उत्तरोत्तर उत्कृष्ट माने जाते हैं । इन सब विकल्पों से भी उत्तम विकल्प रुद्राक्ष माला है । रौद्राक्ष अक्षसूत्र सर्वोत्कृष्ट होता है । इनमें मणियों की संख्या का क्रम भी ध्यान में रखना चाहिये । इनकी संख्या ११५, १०८ अथवा ५४ होनी चाहिये । २७ की संख्या भी गृहीत है । इतनी संख्या

---

१. स्व० २।१५२ ।

अत्रैव व्याप्तिं दर्शयति

वक्त्राणि पञ्च चित्स्पन्दज्ञानेच्छाकृतिसंगतेः ॥ ३२ ॥

पञ्चधाद्यन्तगं चैक्यमित्युपान्त्याक्षगो विधिः ।
शक्तितद्वत्प्रभेदेन तत्र द्वैरूप्यमुच्यते ॥ ३३ ॥

में रुद्राक्ष हों, तो उनसे एक माला की निर्मिति प्रशस्य मानी जाती है। यों कोई ५० रुद्राक्षों की माला बनवा कर भी उस पर जप कर सकता है ॥ ३०-३१ ॥

रुद्राक्ष की एक मणि में ५ मुख प्रशस्त माने जाते हैं। ऐसे रुद्राक्ष को पंचमुखी कहते भी हैं। पहला मुख चित् मुख, दूसरा स्पन्द मुख, तीसरा ज्ञानमुख, चौथा इच्छा मुख, और पाँचवाँ क्रिया मुख माना जाता है ॥ ३२ ॥

एक मणि के पाँच मुख होते हैं। इन पाँचों में पाँचों शक्तियों से गुणा करने पर पचीस संख्या गृहीत होतो है। इसे गुणनफल कहते हैं। पचोस के आदि में सृष्टि क्रम के प्रवर्त्तन के उद्देश्य से एक रुद्राक्ष और अन्त अर्थात् सृष्टि के संहार को प्रदर्शित करने के लिये २५ मणियों के बाद एक मणि पुनः संयुक्त करने से २५+२=२७ मणियों की एक माला बनती है। संहार के बाद एक अक्ष सुमेरु हो जाता है। उसका उल्लङ्घन नहीं करते। इस प्रकार पहली मनियाँ को सृष्टि, २५ मनिकायें स्थिति और अन्तिम को संहार मणि मानते हैं। सृष्टि स्थिति संहार कारिणी यह माला महत्त्व पूर्ण मानी जाती है। आद्यन्त मणियों के मध्य सर्वातीत का ऐक्य ज्ञान पंचविंशति तत्त्वमय होता है। इसीलिये उसे सुमेरु कहते हैं। उसे अनुल्लंघनोय तत्त्व का प्रतीक मानते हैं। पहली मणि में सृष्टि बीज रूप में रहती है। उसके बाद की मणियों का २५ तत्त्वात्मक सृष्टि का उल्लास और अन्तिम मणि में सबका प्रशम और पुनः सर्वातीत सुमेरु रूप! यही तत्त्व रूप धारिणी २७ मणियों की अक्ष-मालिका का मर्म है।

इसके साथ ही ५० मणियों की मालाओं में भी यही विधि अपनायी गयी है। पञ्चवक्त्र की पूरणी संख्या से गुणन करने पर ४५ मणियों में ये पाँच शक्तियाँ पुनः युक्त होती हैं। २ मणियाँ शक्ति शक्तिमान् रूप से और

ततो द्विगुणमाने तु द्विरूपं न्यासमाचरेत् ।
ततोऽपि द्विगुणे सृष्टिसंहृतिद्वितयेन तम् ॥ ३४ ॥
मातृकां मालिनीं वाथ न्यस्येत्खशरसंमिते ।
उत्तमे तु द्वयीं न्यस्येन्न्यस्य पूर्वं प्रचोदितान् ॥ ३५ ॥

दो मणियाँ उपाधि के उल्लास और अनुल्लास रूप आद्यन्त इसमें जुटने से ४९ संख्या तथा ५० वीं ऐक्य रूपिणी सुमेरु मणि होती है। इसमें भी सुमेरु की मुख्यता है। विना उसके उल्लङ्घन किये जप किया जाता है।

२७ संख्या में जब शक्ति और शक्तिमान् के द्वैरूप्य भाव को गुणित करते हैं, तो ५४ मणियों की एक माला बनती है। इस तृतीय भेदमयी मालिका में द्वैरूप्य के गुणन से १०८ मणियों की सबसे अधिक प्रचलित माला बनती है। १०८ मणियों की संख्या का यह एक हेतु है ॥ ३३-३४ ॥

पञ्चाशत् संमित अक्ष माला में शक्ति और तद्वान् के अथवा मातृका मालिनी भाव के आधार पर द्विगुणित करने पर १०० मणियों की माला में मातृका और मालिनी की ५०-५० वर्ण राशि का न्यास कर जप करते हैं। इससे उत्कर्ष की ओर अग्रसर होने का पर्याप्त लाभ मिलता है। सर्वोत्तमा महत्त्व-पूर्ण माला के रूप में ११५ मणियों की अक्षमाला ही मानी जाती है। इसमें भी १०० मणियों में मातृका के ५० और मालिनी के पचास वर्ण न्यस्त होते है। जहाँ तक १५ संख्या का प्रश्न है, इसमें आह्निक १७ के श्लोक ३९-४० के सन्दर्भ में परिगणित १५ तत्त्व न्यस्त करना चाहिये। वहाँ मुख्य रूप से कहा गया है कि,

"मन्त्रपञ्चदशक एवं परा तत्त्व को क्रमशः योजित करे। मन्त्रपञ्च-दशक को विश्लिष्ट करते हुए फिर कहा गया है कि, पिबन्याद्यष्टक के आठ-वर्ण और ६ अस्त्र वर्ण तथा परा विद्या का एकात्मक बीज मन्त्र अर्थात् ८+६+१=१५ वर्णों को जोड़ देने से ११५ मणियों की सर्वोत्तम मालायें होती हैं।"

पिबन्यादि वर्ण में पिब २ हे १ रुरु २ रर २ फट् १ इस तरह २+१+२+२+१=८ वर्ण परिगणित हैं। अस्त्र वर्ण हृदय, शिर, शिखा,

दीक्षायां मुख्यतो मन्त्राँस्तान्पञ्चदश दैशिकः ।
यदि वा तत्त्वभुवनकलामन्त्रपदार्णजैः ॥ ३६ ॥
संख्याभेदैः कृते सूत्रे तं तं न्यासं गुरुश्चरेत् ।
कृत्वाक्षसूत्र तस्यापि सर्वं स्थण्डिलवद्भवेत् ॥ ३७ ॥
पूजितेन च तेनैव जपं कुर्यादतन्द्रितः ।
विधिरुक्तस्त्वयं श्रीमन्मालिनीविजयोत्तरे ॥ ३८ ॥
चक्रवद्भ्रमयन्नेतद्यद्वक्ति स जपो भवेत् ।
यदीक्षते जुहोत्येतद्बोधाग्नौ संप्रवेशनात् ॥ ३९ ॥

कवच, नेत्र और अस्त्र इन छः स्थानों पर सम्प्रदाय और परम्परानुसार स्वीकृत वर्ण होते हैं। पराबीज १ वर्णात्मक होता है। इसे कई प्रकार से परात्रीशका शास्त्र में व्याख्यायित किया गया है। मुख्य रूप से इसे ह् सौः, स्हौः या सौः रूपों में व्यक्त मानते हैं। ये तीन, पराबीज कहलाते हैं। इस तरह पिब आदि आठ, अस्त्रवर्ण छः और पराविद्या एक मिलकर १५ संख्या तथा मातृका-मालिनी के १०० वर्णों में जोड़ने से ११५ मनिकाओं की माला बनतो है। यह सर्वोत्कृष्ट मानो जाती है। दोक्षा-प्रक्रिया में दैशिक यही माला अपनाये, यह शास्त्र का निर्देश है ॥ ३५ ॥

यह भी संभव है कि, सभी तत्त्व, भुवन, कला, मन्त्र, पद, और वर्ण के संख्या-भेदों के अनुसार अक्षमाला के मणियों का निर्धारण कोई देशिक करे। ऐसी अक्षमाला में उन उन तत्त्वों का न्यास भी उसमें करे। इस प्रकार के अक्षसूत्र का प्रयोग करने वाले देशिक अथवा शिष्य के लिये सब स्थण्डिल के समान हो जाता है। षडध्व की वर्णसंख्या के अनुसार निर्मित अक्षसूत्र और उनमें इन तत्त्वों का न्यास और उसका प्रयोग यह विधि विधान हो सर्वत्र स्थण्डिलवत् अनुभूति का साक्ष्य है। इस माला को पूजा स्थण्डिल पूजा के विधान के अनुसार ही करनो चाहिये। इस पर अतन्द्रित रहते हुए विधि के

पञ्चधेति वक्त्रपञ्चकस्य चिदादिशक्तिपञ्चकेन गुणनात् पञ्चविंशतिर्भवतीत्यर्थः। ऐक्यमिति उपाध्यतीतमेकं रूपमित्यर्थः। तद्धि द्विविधमादावुपाधीनामनुल्लासात् अन्ते च उपाधीनां प्रशमयोगत इति। एवं सप्तविंशतिः। उपान्त्येति पञ्चाशदक्षात्मनोऽन्त्यस्य अक्षसूत्रस्य समीपवर्तित्वात्। तत्रेति सप्तविंशतौ। द्विगुणमाने इति चतुष्पञ्चाशदात्मनि। द्विरूपमिति शक्तिशक्तिमदात्मकम्। ततोऽपि द्विगुणे इति अष्टोत्तरशतात्मनि। खशरेति पञ्चाशत्। उत्तमे इति पञ्चदशोत्तरशतात्मनि। द्वयोमिति मातृकामालिनोरूपाम्। पूर्वमिति सप्तदशाह्निके। यदुक्तं तत्र

'पिबन्याद्यष्टकं चास्त्राविकं षट्कं परा तथा।' (४०) इति।

पञ्चदश एते स्युरिति। यदि वेति पक्षान्तरे। उक्त इति एकान्नविंशे पटले। यदुक्तं तत्र

तदानेन विधानेन प्रकुर्यादक्षमालिकाम्।
मणिमौक्तिकशङ्खादिपद्माक्षादिविनिर्मिताम् ॥

अनुकूल मन्त्र जप करना श्रेयस्कर होता है। यह सब श्रीमालिनी विजयोत्तर तन्त्र में स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट है[1]। वहाँ यह उल्लिखित है कि,

"उस समय इसी विधान से अक्षमालिका का निर्माण करे। मणि, मुक्ता-शङ्ख, कमलगट्टा और रुद्राक्ष की मालायें ही प्रशस्य होती हैं। स्वर्ण आदि धातुओं के मनके भी इस काम में लाये जाते हैं। शतार्ध संख्य अर्थात् ५० संख्या के मनकों से एक माला बनती है। इसके अतिरिक्त अपनी बाहुवलय की आकृति के बराबर माला बना कर उसका समालम्भन करना चाहिये। उसमें कुलेश्वर शिव और शक्ति का न्यास कर उसकी पूजा धूप और गन्ध आदि से करनी चाहिये। पूजा पहले करे और शिवशक्ति का निवेश बाद में करे। यह प्रक्रिया उत्तम है। प्रत्येक अक्ष को स्पर्श करते हुए बीजों का उच्चारण पराबीज के पुट में करना अथवा एक पहले अक्ष में प्रत्येक बीज वर्ण का उच्चारण 'क्ष' पर्यन्त करना चाहिये। पराबीज से संपुटित अ से क्ष वर्णों का एक अक्ष में जप करने से वह अक्षमाला अत्यन्त पवित्र और शिवशक्ति-

---

1. श्री मा० वि० १९।७९-८२½

हेमादिधातुजां वाथ शतार्धाक्षमितां बुधः ।
यथा स्वबाहुमात्रा स्याद्वलयाकृतितां गता ॥
तां गृहीत्वा समालभ्य गन्धधूपाधिवासिताम् ।
पूजयित्वा कुलेशानं तत्र शक्तिं निवेशयेत् ॥
प्रत्येकमुच्चरेद्बीजं परावीजपुटान्तगम् ।
प्रस्फुरत्क्षान्तमेकस्मिन्नाद्यक्षे विनियोजयेत् ॥
आद्यणं व्यापकं भूयः सर्वाधिष्ठायकं स्मरेत् ।
द्विविधेऽपि हि वर्णानां भेदे विधिरयं मतः ॥
द्वितोये व्यापकं वर्णं द्वितीयं पूर्ववन्न्यसेत् ।
तृतीयादिषु वर्णेषु फान्तेस्वप्येवमिष्यते ॥

सामरस्यमयी मातृका को दिव्यता से ओतप्रोत हो जाती है। आद्यक्ष में विनियोजन की आज्ञा से 'सुमेरु' के मनके में भी यह विनियोजन हो सकता है।

अ से क्ष वर्ण ५० ही होते हैं। माला के मनकों की संख्या भो ५० ही है। प्रत्येक अक्ष में पराबीज से संपुटित अक्ष मन्त्र का जप करने का अर्थ भी संभव है। मातृका का मूल मन्त्र 'ह्लीं अक्ष ह्लीं' माना जाता है। इसके प्रत्येक मणि के साथ जप करने के कारण हो माला को अक्षमाला कहने लगे, ऐसा प्रतीत होता हे। मातृका का आदि वर्ण अ कार और मालिनी का आदि वर्ण न कार है। ये दोनों व्यापक और सर्वाधिष्ठायक वर्ण माने जाते हैं। इन दोनों वर्ण भेदों में द्वितीय वर्ण क्रमशः 'आ' और 'ऋ' हैं। ये शक्ति के प्रतोक हैं। साथ ही साथ व्यापक भी माने जाते हैं। द्वितीय वर्ण भेद अर्थात् मालिनी के न्यास और जप को भी वही विधि है। मालिनो का मूल मन्त्र 'ह्लीं न फ ह्लीं' है। इसे नादि फान्त वर्ण माला कहते हैं!

इसके बाद शक्ति भाव के अनुस्मरण के साथ पूरी माला को हाथ में बन्द कर शक्ति की दिव्यता से उसे भावित करना चाहिये। यह ध्यान करना चाहिये कि, इस अक्षमाला के केन्द्र में शक्तिबीज का समुल्लास हो रहा है। इस अवस्था में आचार्य स्वयं शैव समावेश में समाहित रहता है। उनकी इस

ततः शक्तिमनुस्मृत्य सूत्राभामेकमानसः ।
अक्षमध्यगतां कुर्यादक्षसूत्रप्रसिद्धये ॥
चक्रवद्भ्रमयन्नेतद्यदेवात्र प्रभाषते ।
तत्सर्वं मन्त्रसंसिद्ध्यै जपत्वेन प्रकल्पते ॥
होमः स्याद्दीक्षिते तद्वद्दह्यमानेऽत्र वस्तुनि ।'
(१९,८३) इति ॥ ३९ ॥

इदानीमुक्तेऽपि पात्रस्य लक्षणे तद्भेदोपदर्शनाय पक्षान्तरमाह

अथवार्घमहापात्रं कुर्यात्तच्चोत्तरं परम् ।
नारिकेलमथो बैल्वं सौवर्णं राजतं च वा ॥ ४० ॥
तस्याप्येष विधिः सर्वः प्रतिष्ठादौ प्रकीर्तितः ।
तन्निष्कम्परसैः पूर्णं कृत्वास्मिन्पूजयेत्क्रमम् ॥ ४१ ॥

निष्कम्परसैरिति वीरसन्धिभिः पञ्चामृतादिभिरित्यर्थः ॥ ४१ ॥

प्रक्रिया से इस माला की 'अक्षमाला' नाम की सार्थकता सिद्ध हो जाती है। इसको चक्र के समान घुमा कर ही जप करते हैं। सुमेरु का उल्लङ्घन नहीं करते। फिर चक्रवत् इसे फेरते और प्रत्येक अक्ष पर मन्त्रोच्चारण करते हुए इसकी आवृत्ति करते हैं। इस एक एक मणि को स्पर्श कर जो मन्त्र हम बोलते हैं—वह तत्काल सिद्ध होता है, इसमें संशय के लिये कोई स्थान नहीं है। इसी क्रिया को जप कहते हैं। यदि दीक्षित पुरुष जप की यह प्रक्रिया अपनाता है, तो एक चमत्कार होता है। इस माला में बोध के हुताशन की ज्वाला जाज्वल्यमान रहती है। उसमें शिष्य के अज्ञान का, उसके उत्कर्ष में आने वाली बाधाओं का और उसके प्रतिकूल तत्त्वों का होम होता रहता है। यह एक दिव्य होम माना जा सकता है" ॥ ३६-३९ ॥

यद्यपि अर्घपात्र के लक्षण के सम्बन्ध में पहले चर्चा की गयी है फिर भी उसके भेद के उपदर्शन के लिये उसके पक्षान्तर का अभिधान कर रहे हैं—

इसके बाद महा अर्घपात्र की कर्म प्रक्रिया के लिये नारिकेल, बिल्व, स्वर्ण अथवा रजत से निर्मित पात्रों की व्यवस्था करनी चाहिये। इसकी विधि

अत्र इतिकर्तव्यतामाह

अधोमुख सदा स्थाप्यं पूजितं पूजने पुनः ।
तत्पात्रमुन्मुखं तच्च रिक्तं कुर्यान्न तादृशम् ॥ ४२ ॥

पूजान्ते तद्रसापूर्णमात्मानं प्रविधाय तत् ।
अधोमुखं च संपूज्य स्थापयेत विचक्षणः ॥ ४३ ॥

पूजितमिति पात्रविद्यादिना । पूजने इति यथेष्टमन्त्रादेः । तादृशमित्युन्मुखम् ॥ ४३ ॥

तत्तच्छास्त्रोदितानि पूजाधारान्तराण्यपि दर्शयितुमाह

खड्गं कृपाणिकां यद्वा कर्तरीं मकुरं च वा ।
विमलं तत्तथा कुर्याच्छ्रीमत्कालीमुखोदितम् ॥ ४४ ॥

का निर्देश सभी प्रतिष्ठा आदि प्रसङ्गों में किया गया है । उस अर्घपात्र को निष्कम्प रस (वीर सन्धि रूप पञ्चामृत आदि) से भरकर पूजा करनी चाहिये ॥ ४०-४१ ॥

अर्घपात्र सर्वदा अधोमुख रखना चाहिये । जब भी पूजा करनी हो, अर्घपात्र की जहाँ आवश्यकता पड़े, वहाँ भले हो उसे उन्मुख कर व्यवहार सिद्ध कर ले किन्तु जब उसके प्रयोग की आवश्यकता न हो, तो उसे अधोमुख रखना हो उचित है । कार्य के समय उसे कभो रिक्त नहीं रखना चाहिये । पूजा के अन्त में उसके रस से अपने को आपूरित कर पुनः उस की पात्रविधा से पूजा कर अधोमुख रख देना चाहिये । यह बुद्धिमान् पुरुष का उत्तरदायित्व है ॥ ४२-४३ ॥

यहाँ विभिन्न शास्त्रों में पूजा के आधार और प्रकार सम्बन्धी अन्तरों पर प्रकाश डाल रहे हैं—

'श्री कालीमुख' नामक शास्त्र में यह लिखा गया है कि, पूजा के उपकरण में तलवार, छोटी कटार, कर्त्तरी (कैंची) और दर्पण भी आवश्यक

श्रीभैरवकुलेऽप्युक्तं कुलपर्वप्रपूजने ।
स्थण्डिलेऽग्नौ पटे लिङ्गे पात्रे पद्मेऽथ मण्डले ॥ ४५ ॥

मूर्तौ घटेऽस्त्रसंघाते पटे सूत्रेऽथ पूजयेत् ।
स्वेन स्वेनोपचारेण सङ्करं वर्जयेदिति ॥ ४६ ॥

स्वेन स्वेनेति गृहस्थाद्युचितेन । यदुक्तं

'गृहे गृहोद्भवैर्द्रव्यैः श्मशाने च तदुद्भवैः ।
विधिवत्पूजनं कार्यं शबलं न समाचरेत् ॥' इति ॥ ४६ ॥

ननु किमनेकैः स्थण्डिलादिभिः पूजाधारैरित्याशङ्कां गर्भीकृत्य विषय-विभागं दर्शयति

हैं। इन्हें अत्यन्त स्वच्छ और निर्मल रखना चाहिये। अर्थात् जंग या मोर्चा लगे सदोष पुराने नहीं अपितु नये चमचमाते उपकरणों का प्रयोग करना चाहिये।

श्री भैरव कुल नामक शास्त्र में यह स्पष्ट उल्लेख है कि, कुलपर्व के पूजन क्रम में स्थण्डिल, अग्नि, वस्त्र, लिङ्ग, पात्र, पद्म, मण्डल, मूर्त्ति, घट, अस्त्रसमुदाय, कलश और सूत्रों में गृहस्थ आदि आश्रमानुकूल पद्धति से पूजा सम्पन्न करनो चाहिये। स्वधर्मोचित पूजोपकरणों में घालमेल नहीं करना चाहिये।

इस सम्बन्ध में आगम प्रामाण्य प्रस्तुत करते हैं—

"घर की पूजा हमेशा घर में उत्पन्न द्रव्यों से ही करनी चाहिये। श्मशान की पूजा श्मशानीय द्रव्यों से करनी चाहिये। पूजा जैसी भी हो, उसमें विधि का परित्याग वर्जित है। यह भी आवश्यक है कि, उपकरणों में सांकर्य न हो—इसका ध्यान आचार्य और शिष्य दोनों को रखना चाहिये ॥ ४४-४६ ॥

कोई यह आशङ्का न करे कि, इन स्थण्डिल अदि उपकरणों और पूजाधारों में काम्यादि सभी कर्म सम्पन्न हो सकते हैं। अतः विषय विभाग का स्पष्ट उल्लेख कर रहे हैं—

यथाप्सु शान्तये मन्त्रास्तद्वदस्त्रादिषु ध्रुवम् ।
शत्रुच्छेदादिकर्तारः काम्योऽतः सङ्करोज्झितः ॥ ४७ ॥

अत इति एषां प्रतिनियतकारित्वात्, तेन शान्तिकामो जल एव पूजां विदध्यात, न अस्त्रादाविति ॥ ४७ ॥

ननु एवमकामस्य पुनः किमेभिर्बहुभिरित्याशङ्क्य आह

अकामस्य तु ते तत्तत्स्थानोपाधिवशाद्ध्रुवम् ।
पाशकर्तनसंशुद्धतत्त्वाप्यायादिकारिणः ॥ ४८ ॥

अथवा पुस्तकं तादृग्ग्रहः शास्त्रक्रमोम्भितम् ।
सुशुद्धं दीक्षितकृतं तत्राप्येष विधिः स्मृतः ॥ ४९ ॥

जैसे यदि काम्य कर्म के अन्तर्गत शान्ति के लिये पूजा सम्पन्न करनी हो, तो उसे निश्चय ही जल में ही सम्पन्न करना उचित है। उसी तरह अस्त्रादि में कभी नहीं करनी चाहिये। शत्रु का उच्छेद भी काम्य कर्म ही है। इसे अस्त्रशस्त्र आदि से कर सकते हैं; जल में कभी नहीं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि, उपकरण सांकर्य कभी भी नहीं होना चाहिये ॥ ४७ ॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि, जो अकाम पुरुष हैं, उनके लिये इन विभिन्न पूजाधारों की क्या उपयोगिता हो सकती है ? इसका यहाँ समाधान कर रहे हैं –

जो कामना रहित हो चुका है, ऐसे अकाम पुरुष को पूजा-स्थान सम्बन्धी उपाधियाँ विशेषरूप से ध्यान देने योग्य हैं। उनके अनुसार ही उत्तमोत्तम परिणाम देखे जाते हैं। जैसे अकाम पुरुष के जो पाश उच्छिन्न नहीं हुए हैं, उनका उच्छेद हो जाता है। जिन तत्त्वों का अभी शोधन नहीं हुआ है, उनका शोधन हो जाता है और उनके आप्यायन का महत्त्व पूर्ण कार्य पूरा हो जाता है। पुस्तक में भी यह पूजा सम्पन्न की जा सकती है। पुस्तक से उसमें प्रतिपादित विषयों को आत्मसात् करने से शक्ति मिलती है। इसे तादृक्-ग्रह कहते हैं।

अथवेति पक्षान्तरे। तादृग्रहःशास्त्रक्रमोम्भितत्वेन च अस्य सर्वसहत्वात् सर्वकर्मस्वपि आनुगुण्यं कटाक्षितम्। कृतमिति लिखितम्॥

एवं लिङ्गस्वरूपमभिधाय, पूजाभेदमधातुमाह

इत्थं स्वयंप्रतिष्ठेषु यावद्यावत्स्थितिर्भवेत्।
विभवैस्तर्पणं शुद्धिस्तावद्विच्छेदवर्जनम्॥ ५०॥

अत एव यदा भूरिदिनं मण्डलकल्पनम्।
तदा दिने दिने कुर्याद्विभवैस्तर्पणं बहु॥ ५१॥

जहाँ तक शास्त्र के क्रम का प्रश्न है, इससे औचित्य को बल मिलता है, सारे अभावों की पूर्त्ति होती है। पुस्तक के आधार से उसमें निर्दिष्ट विषयों का तादृक्-ग्रह तो होता ही है। ये दोनों उद्देश्य महत्त्व पूर्ण हैं। कोई भी यथातथ रूप से ग्रहण भी करे और शास्त्रक्रम का ऊम्भन (उम्भ-पूरणे-ल्युट्) भी हो, तो यह दोहरे लाभ के सदृश होता है। इस विशेषण से इसकी सर्वापूरक क्षमता और सभी कर्मों के प्रति इसके आनुगुण्य का प्रकाशन भी होता है। यह सम्यक् रूप से शुद्ध और दीक्षित व्यक्तियों के लिये लिखित सिद्धान्त की तरह अनुभवनीय दृष्टि है। अकाम पुरुष के स्तर के लिये यह विधि ग्राह्य है॥ ४८-४९॥

इस प्रकार लिङ्ग पूजा के क्रम में यहाँ तक लिङ्ग निर्माण, उसकी प्रक्रिया, तूर लक्षण अर्घपात्र अक्षसूत्र, पूजाधार, काम्यकर्म और अकाम कर्म की चर्चा करने के बाद यहाँ पूजा के भेद पर प्रकाश डाल रहे हैं—

स्वयं प्रतिष्ठित, विविध प्रकार के लिङ्गों में सेतुभूत लिङ्ग की पूजा के क्रम में आराधक की जैसी जैसी स्तरीयता बढ़ती जाती है, भक्ति भावना में जितनी भव्यता आती और उत्कर्ष को प्राप्त करती रहती है, उसी के अनुसार और अपनी क्षमता के अनुसार निरन्तर तर्पण करना चाहिये। इसके परिणाम स्वरूप उतना ही उतना तत्त्वशोधन होता रहता है और आत्म शुद्धि का चिर प्रतीक्षित स्तर प्राप्त हो जाता है। जैसी स्थिति, वैसी ही स्तरीयता, वैसी ही लगन और उतना ही नैरन्तर्य अर्थात् विच्छेदवर्जन।

प्रतिष्ठायां च सर्वत्र गुरुः पूर्वोदितं परम् ।
सतत्त्वमनुसन्धाय संनिधिं स्फुटमाचरेत् ॥ ५२ ॥

विच्छेदवर्जनमिति विच्छेदं परिवर्ज्य अविच्छिन्नमित्यर्थः । अत एवेति अविच्छेदेन तर्पणादेः कार्यत्वात् ॥ ५२ ॥

ननु

'आ तन्मयत्वसंसिद्धेरा चाभीष्टफलोदयात् ।
पुत्रकः साधको व्यक्तमव्यक्तं वा समाश्रयेत् ॥' (९ श्लो०)

क्रिया और परिणाम ऐसी ही निरन्तरता में परिदृश्यमान होते रहते हैं । विच्छेद वर्जन (सातत्य) का परिणाम तदात्म्य और चिदैक्य है, यह प्रत्यक्ष अनुभूत होता है ।

इसलिये जब किसी व्रत की तरह साप्ताहिक, मासिक, अर्द्धवार्षिक या वार्षिक सत्र की तरह मण्डल की प्रकल्पना कर पूजा आरम्भ की जाय, तो अपनी पूरी क्षमता, स्तरीयता, और धन-वैभव के अनुरूप तर्पण करे। इसमें किसी प्रकार की शठता या कृपणताका को आड़े न आने दे। बहु अर्थात् जितना हो सके उतना करे। सभी प्रकार की प्रतिष्ठा में गुरु द्वारा पूर्व में कहे गये समस्त विधि विधान को तत्परतापूर्वक सम्पन्न कराये। इस बात का वह सदा ध्यान रखे कि, जिस तत्त्व की दीक्षा हो, उसके प्राधान्य की दृष्टि से ही कार्य पूरा किया जाय। साथ ही यह भी ध्यान दे कि, साधक की शिव में जिस प्रकार से सम्यक् सान्निध्य की सिद्धि हो, वैसी ही तदनुकूल आचार-चर्या का पालन हो ॥ ५०-५२ ॥

इसी आह्निक के श्लोक ९ में स्थिर प्रतिष्ठा के विरोध के सन्दर्भ में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि,

"जबतक तादात्म्य की सिद्धि न हो जाये, अथवा अपने चिर अभिलषित अभीष्ट की सिद्धि के परिचायक परिणामों का समुदय न हो जाय, पुत्रक या साधक तबतक व्यक्त अथवा अव्यक्त लिङ्ग का आश्रय लेकर अपनी आराधना का सातत्य बनाये रखे"

इत्याद्युक्त्या तत्तदभीष्टसिद्धिपर्यन्तं पुत्रकादीनां लिङ्गादिसमाश्रयणमुक्तम्, अनन्तरं पुनरेभिः किं कार्यमित्याशङ्क्य आह

सिद्धे तु तन्मयीभावे फले पुत्रकसाधकैः ।
अन्यस्मै तद्द्वयादन्यतरस्मै तत्समर्प्यते ॥ ५३ ॥
तस्याप्येष विधिः सर्वस्तदलाभे तु सर्वथा ।
अगाधेऽम्भसि तत्क्षेप्यं क्षमयित्वा विसृज्य च ॥ ५४ ॥
इत्येष स्वप्रतिष्ठानविधिः शिवनिरूपितः ।
परप्रतिष्ठिते लिङ्गे बाणीयेऽथ स्वयंभुवि ॥ ५५ ॥
सर्वमासनपक्षे प्राङ्न्यस्य संपूजयेत्क्रमम् ।

इस कथन से यह सिद्ध होता है कि, जब तक कार्य सिद्ध न हो, तब तक लिङ्ग का समाश्रयण अनिवार्यतः आवश्यक है। प्रश्नकर्त्ता पूछता है कि, सब कुछ सिद्ध हो जाने के बाद, तादात्म्य की स्तरीय श्रेष्ठता प्राप्त करने के बाद और अकामता की स्थिति आ जाने पर भी इन तर्पण आदि बहुविध व्यापारों की क्या आवश्यकता ? इस प्रश्न का समाधान कर रहे हैं—

तन्मयीभाव की सिद्धि रूप सुन्दर अभीष्ट फल की प्राप्ति के बाद पुत्रकों या साधकों द्वारा इस विधि का अर्पण किसी भी पुत्रक या साधक के लिये किया जाय। अन्यतर अर्थात् दूसरे दो में से किसी एक को ही समर्पित किया जाय। इससे सिद्धि के उद्देश्य की पूर्त्ति तो होती ही है, शास्त्र की परम्परा का विस्तार रूप लक्ष्य भी सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार इस विधि को प्राप्त करने वाले पुत्रक का या साधक का यह उत्तरदायित्व होता है कि, वह इस परम्परा को आगे बढ़ाये।

कभी कभी ऐसा भी होता है कि, अभीष्ट परिणाम की प्राप्ति होने पर भी आगे ऐसा कोई योग्य साधक नहीं मिलता, जिसे इस महनीय लिङ्ग को समर्पित किया जाय, ऐसी अवस्था में उस प्रतिष्ठित लिङ्ग को अगाध जल में प्रक्षिप्त कर देना चाहिये। यतः उसमें प्रतिष्ठा हो चुकी है। अतः उसके प्रक्षेप के पहले उससे क्षमा याचना करनी चाहिये। तदनन्तर

एवं तत्समर्पणे योग्यश्चेत् कश्चिन्न लब्धः, तदा तैः किं कार्यमित्याशङ्क्य आह तदलाभ इति। स्वयम्भुवोत्यर्थाद्विधिनिरूपित इति, तदेवाह सर्वमिति ॥ ५३-५५ ॥

ननु स्वयम्भ्वादयो हि शुद्धादशुद्धाद्वा अध्वमध्यादवतीर्णाः, तत्कथमत्र इदं सर्वाध्वोत्तीर्णं संपूजयेदित्याशङ्क्य आह

शुद्धाशुद्धाध्वजाः सर्वे मन्त्राः सर्वः शिवान्तकः ॥ ५६ ॥

अध्वा चेहासने प्रोक्तस्तत्सर्वत्रार्चयेदिदम् ।

आवाहनविसृष्टो तु तत्र प्राग्वत्समाचरेत् ॥ ५७ ॥

विसर्जन करना ही उचित है। यह विधि 'स्वप्रतिष्ठान विधि' नाम से जानी जाती है। स्वयं सर्वेश्वर शिव ने ही इसका निरूपण किया है। यदि लिङ्ग परप्रतिष्ठित है, उस अवस्था में यह विचार भी कर लेना उचित है कि, यह चाहे बाणलिङ्ग या स्वयंभू निरूपित किसी प्रकार का भी क्यों न हो, ध्यानपूर्वक कर्म का सम्पादन करना चाहिये। श्रीत० के २६।३९-४० के अनुसार आसन पक्ष में निर्दिष्ट विधि के अनुरूप पूजा अर्चा होनी चाहिये। आवाहन, न्यास, पूजन तर्पण आदि का क्रम ही पूज्य में भी अपनाया जाना चाहिये ॥ ५३-५५ ॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि, स्वयंभू आदि लिङ्ग शुद्ध अथवा अशुद्ध दोनों प्रकार के अध्वा से ही अवतीर्ण माने जाते हैं। ऐसी स्थिति में इनका पूजन सर्वाध्वोत्तीर्ण शिव के रूप में करने के निर्देश का उद्देश्य क्या है ? इसी प्रश्न का समाधान कर रहे हैं—

वस्तुतः अध्वा भी क्या है ? पूजा के सन्दर्भ में हम द्वार, आसन और गुरुक्रम[1] की बात करते हैं। अपने देह को अर्चा भी शिवताविष्ट अवस्था में करते हैं। यह सब भी शुद्धाशुद्ध अध्वा मध्य से अवतीर्ण हैं। जहाँ तक मन्त्रों का प्रश्न है, ये भी वाक् तत्त्व के विभिन्न स्तरों से प्रादुर्भूत हैं। इसलिये शास्त्र का यही मन्तव्य है कि, शुद्धाशुद्धज सभी मन्त्र पूज्य हैं। 'सर्वः शिवात्मकः' यह सर्वोत्तम सिद्धान्त है। अर्थात् सब कुछ शिव में ही समाहित होता है। यही दृष्टि सर्वोत्तम दृष्टि है।

---

१. श्रीत०२६।४०

नच एतद्युक्तिमात्रसिद्धमेवेत्याह

उक्तं तन्त्रेऽप्यघोरेशे स्वच्छन्दे विभुना तथा।
अथवा प्रत्यहं प्रोक्तमानार्धार्धनियोगतः ॥ ५८ ॥
कृत्वेष्टं मण्डलं तत्र समस्तं क्रममर्चयेत्।

प्रोक्तमानेति

'एवमस्य त्रिहस्तस्य ....।'

इत्याद्यभिहितस्य त्रिहस्तत्वादेः ॥

एतदेव उपसंहरति

बहुप्रकारभिन्नस्य लिङ्गस्यार्चा निरूपिता ॥ ५९ ॥

इति शिवम् ॥ ५९ ॥

अध्वा का परिगणन और प्रकल्पन आसन में भी होता है। इसलिये आसन की अर्चा सभी पक्षों में स्वीकार्य है। आसन ठीक रहे, तो सब कुछ निर्विघ्न सम्पन्न होने की भूमिका बन जाती है। आवाहन, अर्चन और विसर्जन जैसा कि, पहले इनकी चर्चा की जा चुकी है, उसी के अनुसार हमेशा करना चाहिये ॥ ५६-५७ ॥

ऐसा नहीं है कि, केवल तर्क और युक्ति के आधार पर ही ये बातें कहीं जा रही हैं, अपितु इसका एक महत्त्वपूर्ण आधार भी है। यही कह रहे हैं—

अघोरेश और स्वच्छन्द तन्त्रों में स्वयं शिव विभु ने भी इसका कथन किया है। आसन का जो मान (दीर्घ-विस्तार) इन ग्रन्थों में उक्त है, उस मान में या उसके अर्धमान में या उसके भी अर्धमान में इष्ट मण्डल मे आसन प्रकल्पन कर समस्त शास्त्रीय क्रम का अनुवर्त्तन करना चाहिये। वहाँ मान के विषय में कहा गया है कि,

"इस प्रकार इस तीन हाथ के .... ।"

यहाँ यह निर्देश नहीं है कि, यह वचन अघोरेश तन्त्र का है या स्वच्छन्द तन्त्र का। सन्दर्भ संकेत न देने से प्रामाणिकता बाधित होती है ॥

बहुभेदभङ्गिलिङ्गस्वरूपसंविन्निरूपणाचतुरः ।
सप्तविंशं व्यवृणोदाह्निकमेतज्जयरथाभिख्यः ॥

इति श्रीमन्हामाहेश्वराचार्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचिते
राजानकजयरथकृतविवेकाख्यव्याख्योपेते
श्रीतन्त्रालोके लिङ्गार्चाप्रकाशनं नाम
सप्तविंशमाह्निकम् ॥ २७ ॥

आह्निकार्थ के इस प्रकार के विश्लेषण और उपवृंहण के उपरान्त अब इसका उपसंहार कर रहे हैं—

शास्त्रकार यह स्पष्ट कर रहे हैं कि, अनेक प्रकार के भेद प्रभेदों से भिन्न नित्यविधि रूप लिङ्गार्चा का निरूपण मैंने किया। यह लोक-मङ्गल के लिये हो ॥ ५८-५९ ॥

भूरि-भेदमय भव्य, लिङ्गरूपसंवितिविद् ।
जयरथ विरचित नव्य, सप्तविंश आह्निक विवृति ॥

× × × ×

शास्त्राभ्यासात् भवति सुतरां प्रातिभोद्योतदीप्तिः,
कस्यापीह प्रथित-यशसां सद्गुरूणां प्रभावात् ॥
हंसोऽप्यत्राप्रतिहतगतिस्तन्त्रशास्त्रेऽस्ति तस्मात्,
शैवावेशात् शिवति, विवृते सप्तविंशाह्निकेऽस्मिन् ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचित
राजानकजयरथकृतविवेकाभिख्यव्याख्योपेत
डॉ० परमहंसमिश्रकृत नीर-क्षीर-विवेक-भाषाभाष्यसंवलित
श्रीतन्त्रालोक का लिङ्गार्चा प्रकाशन
नामक सताइसवाँ आह्निक परिपूर्ण ॥ २७ ॥
शुभं भूयात्
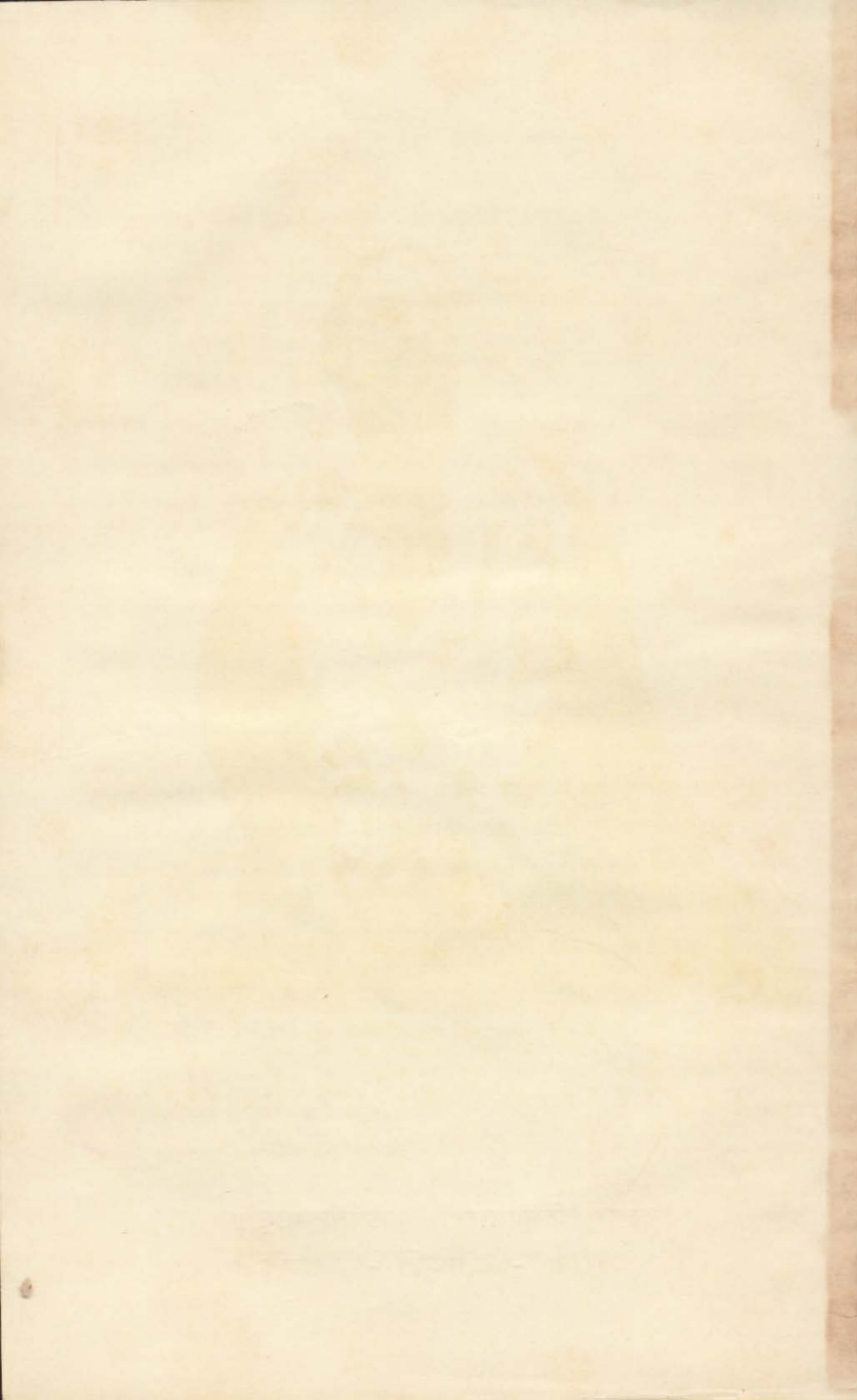
मूलश्लोकादिपंक्तिक्रमः

षोडशतमस्याह्निकस्य

अकारादिपङ्क्तयः	श्लोकसंख्या
अघोराद्यष्टके द्वे च तृतीयं यामलोदयात्	१५५
अघोराद्यष्टकेनेह शोधनीयं विपश्चिता	१५९
अङ्गुलमाने देव्या अष्टादशवैभवेन पदमन्यत्	२२९
अत्रापि न्यासयोगेन शोध्येऽध्वनि तथाकृतेः	१६६
अथवान्योन्यसंज्ञाभिर्व्यपदेशो हि दृश्यते	१२३
अधुनान्यासमात्रेण भूतशुद्धिः प्रजायते	२२५
अनामसंहृतिस्थैर्यत्सृष्टिचक्रं चतुर्विधम्	१५७
अनुग्राह्यास्त्वया शिष्याः शिवशक्तिप्रचोदिताः	७५
अनुसन्धिबलान्ते च समासव्यासभेदतः	८९
अन्यप्रकरणोक्तं यद्युक्तं प्रकरणान्तरे	२२६
अपरादिविधित्रैतादथ न्यासः पदाध्वनः	१३२
अपरं परापरं च परं च विधिमिच्छया	९९
अपवर्गेऽपि हि विस्तीर्णकर्मविज्ञानसंग्रहः कार्यः	१९६
अपि मन्त्राधिकारित्वं मुक्तिश्च शिवदीक्षया	२९३
अल्पाप्याश्रयणोया क्रियाथ विज्ञानमात्रे वा	१९५
अविधिज्ञो विधानज्ञ इत्येवं त्रींशकोदितम्	१७
अविभिन्ने क्रियाज्ञाने कर्मशुद्धौ तथैव ते	१७३
अव्यक्तान्तं स्वरे न्यस्य शेषं शेषेषु योजयेत्	२२२
अशुभस्यैव संशुद्ध्या शुभस्याप्यथ शोधनात्	१६९
अशुभांशविशुद्धौ स्याद् भोगस्यैवानुपक्षयः	३०९
अष्टादशाधिकशतं पुराणि देहेऽत्र चतुरशीतिमिते	१२९
असारत्वात्क्रमस्यादौ नियतिः परतः कला	१२१

मूलश्लोकादिपंक्तिक्रमः

सप्तदशमाह्निकम्

मूलश्लोकादिपंक्तिक्रमः

अष्टादशाह्निकम्

मूलश्लोकादिपंक्तिक्रमः

एकान्नविंशमाह्निकम्

मूलश्लोकादिपंक्तिक्रमः

विंशतितममाह्निकम्

मूलश्लोकादिपंक्तिक्रमः

एकविंशतितममाह्निकम्

मूलश्लोकार्धपंक्तिक्रमः

द्वाविंशतितममाह्निकम्

मूलश्लोकादिपंक्तिक्रमः

त्रयोविंशतितममाह्निकम्

मूलश्लोकादिपंक्तिक्रमः

चतुर्विंशतितममाह्निकम्

मूलश्लोकादिपंक्तिक्रमः

पञ्चविंशतितममाह्निकम्

मूलश्लोकादिपंक्तिक्रमः

षड्विंशतितममाह्निकम्

मूलश्लोकार्धपंक्तिक्रमः

सप्तविंशतितममाह्निकम्

उद्धरणश्लोकादिपंक्तिक्रमः

षोडशतममाह्निकम्

उद्धरणश्लोकादिपंक्तिक्रमः

सप्तदशतममाह्निकम्

उद्धरणश्लोकावपंक्तिक्रमः

अष्टादशतममाह्निकम्

उद्धरणश्लोकादिपंक्तिक्रमः

ऊनविंशतितममाह्निकम्

उद्धरणश्लोकादिपंक्तिक्रमः

विंशतितममाह्निकम्

उद्धरणश्लोकादिपंक्तिक्रमः

एकविंशतितममाह्निकम्

उद्धरणश्लोकादिपंक्तिक्रमः

द्वाविंशतितममाह्निकम्

उद्धरणश्लोकादिपंक्तिक्रमः

त्रयोविंशतितममाह्निकम्

उद्धरणश्लोकादिपंक्तिक्रमः

चतुर्विंशतितममाह्निकम्

उद्धरणश्लोकादिपंक्तिक्रमः

पञ्चविंशतितममाह्निकम्

उद्धरणश्लोकादिपंक्तिक्रमः

षड्विंशतितममाह्निकम्

उद्धरणश्लोकादिपंक्तिक्रमः

सप्तविंशतितममाह्निकम्

विशिष्टशब्दादिक्रमः

शास्त्रक्रमः

गुरवः ग्रन्थकाराश्च

सूक्तिक्रमः

संकेतग्रहः

संकेतः	प्रकेतः	पृष्ठाङ्का
ई० प्र०	ईश्वरप्रत्यभिज्ञा	१२६
नेः त०	नेत्रतन्त्रम्	३४
न्या० सू० भा०	न्यायसूत्रभाष्यम्	१२०
म० भार०	महाभारतम्	४८०
मनु०	मनुस्मृतिः	३३
मा० वि०	श्रीमालिनीविजयोत्तर-तन्त्रम्	६५,६६,८३,१०९,२०६,२३१,३८१,४१८,४२४
मृ० तं०	मृगेन्द्रतन्त्रम्	५१२
शि० सू०	शिवसूत्रम्	१३९
श्रीत०	श्रीतन्त्रालोकः	

अपमुद्रणक्रमः

अशुद्धमुद्रणम्	शुद्धरूपम्	पृष्ठाङ्काः	पंक्तितत्यः
अक्षसूत्र	अक्षसूत्रं	५५३	४
आद्यण	आद्यणँ	५५५	७
एकविंशति	त्रयोविंशति	३९७	१
कथित	कथितं	१५९	२
कालकारमकार	काल-मकार	२७	२०
क्रव्यादत्व	क्रव्यादत्त्वं		१०१
ता०	आ०	५४४	३
दीक्षादा	दीक्षादौ	९१	९
धर्माधर्मौघविच्छेदः	धर्माधर्मौघविच्छेदः	३५	
नियोजत्	नियोजयेत्	३३१	२
भागः	भोगः	९१	४
याजयेत्	योजयेत्	२६४	९
लिङ्गोद्धत्या	लिङ्गोद्धृत्या	३५३	८
विक्षिप्तदीक्षा	तुलादीक्षा	२९६	१९
विमशिता	विमर्शिता	१२९	३
सख्येयं	संख्येयं	२३२	३
सवित्ति	संवित्ति	१३३	
६७-६९	६६-६७	३२	१
१६	२६	३२२	५
स्यादीक्षिते	स्याद् दीक्षिते	५५६	५
ह्यूं	ह्र्र्मूं	२६३	७

●